जातक

[चतुर्थ खण्ड]



अनुवादक
भदन्त आनन्द कौसल्यायन

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

जातक

[चतुर्थ खण्ड]

जातक

[चतुर्थ खण्ड]

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

शक १९१६ : सन् १९९५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशक :
श्री प्रभात शास्त्री
प्रधानमन्त्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

तृतीय बार ११००
मूल्य : ~~१००~~ रुपये ११०

मुद्रक :
सम्मेलन मुद्रणालय
१३, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने संवत् २००८ वि० में जातक के चौथे खण्ड का प्रकाशन किया था। गत कई वर्षों से जातक का यह खण्ड अनुपलब्ध था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने जिज्ञासु अध्येताओं की माँग की सम्पूर्ति हेतु जातक के सभी खण्डों के नये संस्करण निकालने का निश्चय किया है।

बौद्ध-वाङ्मय के पारंगत विद्वान् और प्रसिद्ध हिन्दी लेखक श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी के इस अनुवाद का सर्वत्र स्वागत हुआ है।

विश्वास है, जातक के चौथे खण्ड के अनुबाद का यह नव्य संस्करण भी लोक प्रिय होगा।

वसंत पंचमी — डॉ भगवतीप्रसाद शुक्ल
शनिवार, ४ फरवरी, १९९५ ई० साहित्य-मन्त्री

प्राक्कथन

'जातक' के बंगला अनुवादक श्री ईशानचन्द्र घोष के बारे में पढ़ा था कि बारह वर्ष के लम्बे अर्से में जब उन्होंने 'जातक' अनुवाद का कार्य समाप्त किया तो एक ठण्डी साँस लेकर कहा कि अब यदि शरीरांत हो जाय तो कुछ अफसोस न होगा। मुझे उस समय लगा था कि 'जातक' अनुवाद-कार्य के लिए बारह वर्षों का समय भी कुछ अधिक है और यदि उन्होंने यह कार्य अपने जीवन के एक दम अन्तिम-चरण में ही आरम्भ न किया हो तो उसकी समाप्ति के साथ जीवन की समाप्ति तक का सम्बन्ध जोड़ना भी कुछ अधिक भावुक होना ही है।

उस समय सोचा था कि 'जातक' का हिन्दी अनुवाद इतना समय कभी नहीं लेगा।

किन्तु 'अनुवाद' करना एक कार्य है, उसका प्रकाशित होना उससे सर्वथा भिन्न। अनुवाद-कार्य सापेक्ष दृष्टि से अनुवादकाधीन है, किन्तु प्रकशान-कार्य तो मानो 'भाग्याधीन'।

जातक (प्रथम खण्ड) सन् १९३५ में तैयार हुआ, किन्तु छपा छः वर्ष बाद १९४१ में।

जातक (द्वितीय खण्ड) १९४२ में ही प्रकाशित हो सका।

जातक (तृतीय खण्ड) सन् ४४ में समाप्त हो गया था, किन्तु १९४६ से पहले प्रकाशित नहीं हो सका।

जातक (चतुर्थ खण्ड) सन् ४७ में तैयार था, किन्तु चार वर्ष बाद सन् १९५१ में ही प्रकाशित हो सका।

पहले तीन खण्डों में चार सौ जातक हैं। चौथे खण्ड में सौ और हैं। इस प्रकार चारों खण्डों में पाँच सौ जातक समाप्त हो गये। शेष जातक कुल ४७ हैं। किन्तु वह 'कुल ४७' जातक इतने बड़े-बड़े हैं कि दो खण्डों में भी समाप्त हो जायें तो हो जायें। ३७ जातक पाँचवें खण्ड में और १० जातक छठे खण्ड में देने का संकल्प है।

चतुर्थ खण्ड का प्रकाशन अनुवादक के लिये चाहे जितनी प्रसन्नता का कारण हो, किन्तु वह अपने पाठकों को कदाचित् अपेक्षित सन्तोष नहीं ही दे सकेगा।

चार वर्ष पहले की कागज के 'अकाल' की स्थिति में 'बादामी' कागज को ही 'सुनहरी' कागज मानना पड़ा और 'अनुवादक' तथा 'प्रेस' दोनों की ही 'अनियमित गति' में जितना और जैसा सहयोग संभव था, उसी पर सन्तोष करना पड़ा। पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन में विलम्ब हो ही गया।

खेद है कि प्रयाग और वर्धा की भौगोलिक दूरी और प्रूफ देखने की असंतोषजनक व्यवस्था अथवा अव्यवस्था ने अनेक प्रकार की प्रूफ सम्बन्धी भूलों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया है। शुद्धि-अशुद्धि पत्र की अपेक्षा विज्ञ पाठकों के विवेक पर ही भरोसा करना योग्य जान पड़ता है।

साहित्य-प्रेस को पूरे दो वर्ष तक जातक (चतुर्थ खण्ड) में बझे रहना पड़ा।

जातक (पंचमखण्ड) का अनुवाद हाथ में है। उसके द्रुत-गति से समाप्त हो जाने की आशा है।

अनुवाद-कार्य हुआ तो प्रकाशन भी होगा ही।

—आनन्द कौसल्यायन

सत्यनारायण कुटीर,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग
१-१२-५१

⊙

जातक-सूची

४०१. दसण्णक जातक

"दशण्णकं तिखिणधारं"—यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय पूर्व भार्य्या के आकर्षण के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस भिक्षु की शास्ता ने पूछा—क्या तू सचमुच उद्विग्न है? "भन्ते सचमुच।" "किस के कारण?" "पूर्व-भार्य्या के कारण।" "भिक्षु! यह स्त्री तेरा अनर्थ करने वाली है। पहले भी तू इसके कारण चैतसिक-रोग से मरने जा रहा था। पण्डितों के कारण जीवन-रक्षा हुई।"

इतना कह शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही :—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ब्राह्मण-कुल में पैदा हुये। उसका नाम रखा गया सेनककुमार। वह बड़ा होकर तक्षशिला गया और वहाँ से सभी शिल्प सीख, वाराणसी लौटकर मद्दराज का अर्थ धर्मानुशासक अमात्य हुआ। सेनक-पण्डित कहने पर सकल नगर में चन्द्रमा की तरह, सूर्य्य की तरह प्रसिद्ध था।

उस समय राजा का पुरोहित-पुत्र राजा की सेवा में आया तो सब अलङ्कारों से युक्त, श्रेष्ठ रूपवाली राजा की पटरानी को देख उसपर आसक्त हो गया और घर जाकर निराहार पड़ रहा। मित्रों ने पूछा, तो उसने वह बात बताई।

राजा ने पूछा—"पुरोहित-पुत्र दिखाई नहीं देता। कहाँ है?" जब उसे वह बात पता लगी तो उसने उसे बुलाकर कहा—"मैं सात दिन के लिये इसे तुझे देता हूँ। सात दिन घर में रख। आठवें दिन ले आना।" उस ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उसे घर ले जाकर उसके साथ रमण किया। वे दोनों परस्पर आसक्त हो गये और किसी को भी पता न दे मुख्य द्वार से निकल-भाग दूसरे राजा के राज्य में पहुँचे। किसी को नहीं पता था

कि कहाँ गये ? ऐसा हुआ जैसे नौका से गये हों।

राजा ने नगर में मुनादी कराई। नाना प्रकार से पता लगाने पर भी उसे पता न लगा कि कहाँ गई ? उसके कारण उसके दिल में बड़ा भारी शोक उत्पन्न हुआ। हृदय गरम होकर रक्त बहने लगा। तब उसकी कोख में से खून निकला। बड़ी भारी बीमारी हो गई। बड़े बड़े राज्य-वैद्य भी चिकित्सा नहीं कर सके।

बोधिसत्व ने सोचा, इस राजा को कोई बीमारी नहीं है। भार्य्या दिखाई नहीं देती, इसी से मानसिक-रोग हो गया है। ढङ्ग से इसका इलाज करूँगा। उसने राजा के आयुर और पुक्कुस नाम के बुद्धिमान मन्त्रियों को सम्बोधन कर कहा—"राजा को रानी के न देखने से उत्पन्न मानसिक-रोग के अतिरिक्त और कोई बीमारी नहीं है। राजा हमारा बड़ा उपकारी है। इसलिये ढंग से इसका इलाज करें। राजाङ्गण में तमाशा करवायें और जो आदमी तलवार निगलना जानता हो उससे तलवार निगलवायें। वह तमाशा राजा को झरोखे में बिठाकर दिखलवायें। राजा जब तलवार को निगला जाता हुआ देखेगा तो पूछेगा—"इससे बढ़कर कठिन कोई कार्य्य है ?" तब मित्र आयुर तू कहना—"यह दूँगा, यह कहना इससे भी कठिन है।" तब मित्र पुक्कुस तुझे पूछेगा। तू कहना—"महाराज ! 'देता हूँ' कहकर न देने से वह वचन व्यर्थ होता है। वैसे वचन-मात्र को लेकर न कोई उसके सहारे जीता है, न उसे खाता है, न पीता है। लेकिन जो अपने वचन के अनुसार करते हैं, जो देने को कहा, वह देते ही हैं, यह 'देना' उससे भी कठिन कार्य्य है।" उसके आगे जो करना है वह मैं करूँगा, कह उसने तमाशा कराया।

तब तीनों पण्डित राजा के पास गये और 'महाराज ! राजाङ्गण में तमाशा हो रहा है। उसे देखने वाले का दुःख नहीं रहता। आओ चलें' कह राजा को ले गये और झरोखे खुलवा राजा को तमाशा दिखाया। बहुत जनों को जो जो कला आती थी, उन्होंने दिखाई। एक आदमी तीस अङ्गुल की तेज धार वाली तलवार को निगल रहा था। राजा ने सोचा, इन पण्डितों से पूछूँ कि क्या इससे भी अधिक कोई कठिन कार्य है ? उसने आयुर-पण्डित से प्रश्न करते हुये यह गाथा कही—

दसण्णकं तिखिणधारं असिं सम्पन्नपायिनं,
परिसायं पुरिसो गिलति किं दुक्करतरं इतो,
यदञ्ञं दुक्करं ठानं तम्मे अक्खाहि पुच्छितो ॥१॥

[यह पुरुष दसार्णक देश से प्राप्त, दूसरों का रक्त पीने वालों को प्राप्त, इस तेज धार वाली तलवार को निगलता है। मै पूछता हूँ, यदि हो तो मुझे बताओ कि क्या इससे कठिनतर कोई कार्य्य है ?]

उसने उत्तर देते हुए दूसरी गाथा कहीं—

गिलेय्य पुरिसो लोभा असिं सम्पन्नपायिनं,
यो च वज्जा ददामीति तं दुक्करतरं ततो,
सब्बञ्ञं सुकरं ठानं एवं जानाहि मागध ॥२॥

[हे मगध-गोत्र वाले ! यह समझ कि दूसरों का रक्त पीने वालों को प्राप्त तलवार को आदमी लोभ से निगल सकता है, लेकिन यह जो कहना है कि 'देता हूँ' वह उससे भी अधिक कठिन है। इस 'देना' वचन के अतिरिक्त शेष सब कुछ सुकर है।]

राजा ने आयुर-पण्डित की बात सुन सोचा—"मैं यह देता हूँ' कहना तलवार निगलने की अपेक्षा भी कठिन है। मैंने पुरोहित-पुत्र को कहा कि मैं तुझे अपनी रानी देता हूँ, सो मैंने बड़ा दुष्कर कार्य्य किया। यह सोचने से ही उसके हृदय का शोक कुछ कम पड़ गया। तब उसने दूसरे को 'यह देता हूँ' कहने से भी अधिक कठिन कोई कार्य्य है वा नहीं जानने के लिये पुक्कुस-पण्डित से बातचीत करते हुये तीसरी गाथा कही—

ब्याकासि आयुरो पञ्हं अत्थधम्मस्स कोविदो,
पुक्कुसं दानि पुच्छामि किं दुक्करतरं ततो,
यदञ्ञं दुक्करतरं ठानं तम्मे अक्खाहि पुच्छितो ॥३॥

[अर्थ-धर्म के ज्ञाता आयुर ने प्रश्न की व्याख्या की। अब मैं पुक्कुस से पूछता हूँ कि क्या उससे भी कठिनतर कोई कार्य्य है ? यदि उससे भी कठिनतर कुछ है तो मुझे कहो।]

पुक्कुस-पण्डित ने उसे समझाते हुये चौथी गाथा कही—

न वाचमुपजीवन्ति अफलं गिरमुदीरितं,
यो च दत्वा अवाकयिरा तं दुक्करतरं ततो,
सब्बञ्ञं सुकरं ठानं एवं जानाहि मागध॥४॥

[व्यर्थ मुँह से निकली हुई वाणी को लेकर कोई नहीं जीता। जो 'दूँगा' कहकर दे देता है, वह देना कथन-मात्र से अधिक कठिन है। हे मगध-गोत्र वाले ! यह समझें कि देने के अतिरिक्त शेष सब कुछ सुकर है।]

राजा ने यह बात सुनी तो सोचने लगा— मैंने पुरोहित-पुत्र को पहले कहा कि रानी देता हूँ और फिर अपने कथनानुसार उसे दे दिया। 'मैंने दुष्कर कार्य्य किया' सोचने से उसका शोक और भी कम हो गया। तब उसे यह विचार हुआ कि सेनक-पण्डित से बढ़कर कोई पण्डित नहीं है। मैं उससे यह प्रश्न पूछूंगा। उसने उसे पूछते हुए पाँचवीं गाथा कही—

व्याकासि पुक्कुसो पञ्हं अत्थधम्मस्स कोविदो,
सेनकं दानि पुच्छामि किं दुक्करतरं ततो,
यदञ्ञं दुक्करं ठानं तम्मे अक्खाहि पुच्छितो॥५॥

सेनक ने उत्तर देते हुए छठीं गाथा कही—

ददेय्य पुरिसो दानं अप्पं वा यदि वा बहुं,
यो च दत्वा नानुतपे तं दुक्करतरं ततो,
सब्बञ्ञं सुकरं ठानं एवं जानाहि मागध॥६॥

[पुरुष अल्प वा अधिक दान दे दे, किन्तु यह जो देकर अनुतप्त नहीं होना है, यह देने से भी दुष्कर है। हे मगध-गोत्र वाले ! यह समझें कि इसके अतिरिक्त शेष सब कुछ सुकर है।]

देना, देना और उसके बाद मन में अनुतप्त न होना, बड़ा कठिन है। इसकी कठिनाई वेस्सन्तर जातक[1] में दिखाई गई है। कहा गया है—

"आवु चापं गहेत्वान खग्गं बन्धित्व वामतो,
आनयामि सके पुत्ते पुत्तानं हि बधो दुखो,

---

१. वेस्सन्तर जातक (५४७)

अट्ठानमेतं दुक्खरूपं यं कुमारा विहञ्ञरे,
सतञ्च धम्ममञ्ञाय को दत्वा अनुतप्पति।"

राजा ने बोधिसत्व को बात सुनकर सोचा—मैंने अपने मन से पुरोहित-पुत्र को अपनी रानी दी। अब मैं अपने मन को काबू में नहीं रख सकता हूँ। मैं चिन्ता करता हूँ, कष्ट पाता हूँ। यह मेरे योग्य नहीं है। यदि वह मुझसे स्नेह करती होती तो इस ऐश्वर्य्य को छोड़कर वह भाग न जाती। जो मेरा स्नेह छोड़कर भाग गई है, उस स्नेह-रहित से मुझे क्या? उसके इस प्रकार सोचने से उसका सारा शोक ऐसे लुढ़ककर चला गया जैसे कमल-पत्र पर से जल की बूंद। उसी समय उसका पेट ठीक हो गया। उसने निरोग सुखी हो बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुए अन्तिम गाथा कही—

व्याकासि आयुरो पञ्हं अथो पुक्कुसपोरिसो,
सब्बे पञ्हे अभिभोति यथा भासति सेनको॥७॥

[आयुर ने प्रश्न का उत्तर दिया और तब पुक्कुस पुरुष ने। लेकिन सेनक ने जैसे प्रश्न का उत्तर दिया वह सब से बढ़कर है।]

राजा ने बोधिसत्व की प्रशंसा कर, संतुष्ट हो उसे बहुत धन दिया।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्नचित्त भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय राज-महिषी पूर्व-भार्य्या थी। राजा उद्विग्न-चित्त भिक्षु था। आयुर-पण्डित मौद्गल्यायन। पुक्कुस-पण्डित सारिपुत्र था। सेनक-पण्डित तो मैं ही था।

४०२. सत्तुभस्त जातक

"विब्भन्तचित्तो"—यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय अपनी प्रज्ञा-पारमिता के बारे में कही। वर्त्तमान-कथा उम्मग जातक' में आयेगी।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में जनक नाम का राजा राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए। उसका नाम रखा गया सेनककुमार। उसने बड़े होने पर तक्षशिला में सब विद्यायें सीख वाराणसी लौट राजा से भेंट की। राजा ने उसे अमात्य बनाया और बहुत सम्पत्ति दी। वह राजा को अर्थ और धर्म के बारे में सलाह देता। मधुर-भाषी धर्म-भाषी हो उसने राजा को पाँच शीलों मे प्रतिष्ठित कर, दान में, उपोसथ कर्म में तथा दस कुशल-कर्मों में—इस कल्याण-मार्ग पर आरूढ़ किया। सारे राष्ट्र में बुद्धों की उत्पत्ति जैसा समय हो गया। पक्ष-दिवसों में राजा, उपराजा आदि सभी इकट्ठे होकर धर्म-सभा की व्यवस्था करते। बोधिसत्व तैय्यार धर्मसभा में सरभासन से बैठ बुद्ध के ढङ्ग पर धर्मोपदेश देते। उनका कथन बुद्धों के धर्म-कथन सा ही होता।

एक बूढ़े ब्राह्मण ने धन-भिक्षा माँग-माँग एक हजार कार्षापण इकट्ठे किये। उन्हें एक ब्राह्मण-कुल में रख वह फिर धन-भिक्षा माँगने के लिये निकल पड़ा। उसके चले जाने पर उस कुल वालों ने कार्षापण खर्च कर डाले। उसने लौटने पर कार्षापण माँगे। ब्राह्मण कार्षापण न दे सका। बदले में उसने उसे अपनी लड़की दे दी। ब्राह्मण उसे ले वाराणसी से थोड़ी ही दूर पर एक ब्राह्मण-गाँव में रहने लगा।

उसकी भार्य्या तरुण थी—काम-भोगों से अतृप्त। वह दूसरे तरुण ब्राह्मण के साथ अनाचार करने लगी।

---

१. उम्मग जातक (५४६)

इन सोलह का कभी मन नहीं भरता। किन सोलह का? सागर का सब नदियों से मन नहीं भरता। आग का ईंधन से मन नहीं भरता। राजा का राज्य से मन नहीं भरता। मूर्ख का पाप से मन नहीं भरता। स्त्री का मैथुन-धर्म, अलङ्कारों तथा सन्तान से मन नहीं भरता। ब्राह्मण का मन्त्रों से मन नहीं भरता। ध्यानी का ध्यान-भावना से मन नहीं भरता। शैक्ष का (शिक्षा-) संग्रह से मन नहीं भरता। अल्पेच्छ का धुताङ्ग गुणों से मन नहीं भरता। प्रयत्न-वान् का पराक्रम करने से मन नहीं भरता। धर्म-कथिक का धर्म-चर्चा से मन नहीं भरता। विद्वान् का परिषद् से मन नहीं भरता। श्रद्धावान् का संघ की सेवा से मन नहीं भरता। दाता का त्याग से मन नहीं भरता। पण्डित का धर्म-श्रवण से मन नहीं भरता। चारों प्रकार की **परिषद्**[1] का तथागत के दर्शन से मन नहीं भरता।

उस ब्राह्मणी का भी मैथुन से मन नहीं भरता था। उस ब्राह्मण को निकाल, निश्चिन्त हो पाप कर्म करने की इच्छा से एक दिन वह जाकर पड़ रही। ब्राह्मण ने पूछा—

"भगवती! क्या हुआ?"

"ब्राह्मण! मैं तेरे घर का कामकाज नहीं कर सक रही हूँ। एक दासी ले आ।"

"भगवती! मेरे पास धन नहीं है। क्या देकर लाऊँ?"

"भिक्षा करके धन इकट्ठा करके ले आ।"

"तो भगवती! मुझे रास्ते के लिये भोजन तैय्यार कर दे।"

उसने उसके लिये चमड़े की थैली में सत्तू बाँध दिये।

ब्राह्मण ने ग्राम-निगम राजधानियों में घूमकर सात-सौ कार्षापण इकट्ठे किये। यह समझ कि दासी-दास खरीदने के लिये इतना धन पर्य्याप्त होगा, वह अपने गाँव की ओर लौटा। रास्ते में एक जगह जहाँ पानी की सुविधा थी, थैली खोल, सत्तू खा, फिर थैली के मुँह को बिना बंद किये ही वह पानी पीने के लिये उतरा।

एक वृक्ष के खोखर में एक काला सर्प रहता था। उसने सत्तू की

१ भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिका।

गंध सूँघी तो थैली में घुस, फन फैलाकर सत्तू खाता हुआ पड़ रहा। ब्राह्मण ने लौटकर बिना भीतर देखे थैली को बाँधा और कंधे पर रखकर चल दिया। रास्ते में एक वृक्ष-देवता तने के खोखर में खड़ा होकर यह कह अन्तरधान हो गया—

"ब्राह्मण ! यदि रास्ते में ठहरेगा तो तू मरेगा और यदि आज घर पहुँच जायगा तो तेरी भार्य्या मरेगी।"

देखने पर जब उसे देवता नजर नहीं आया तो वह डर गया और मृत्यु-भय से त्रस्त हो रोता-पीटता बाराणसी-नगर-द्वार पर पहुँचा। वह पूर्णमासी का दिन था—बोधिसत्व के अलंकृत धर्मासन पर बैठ धर्मोपदेश करने का दिन। जनता हाथों में सुगन्धियाँ तथा पुष्प लिये टोलियाँ बना-बनाकर धर्मोपदेश सुनने जा रही थी ! ब्राह्मण ने पूछा—

"कहाँ जा रहे हो ?"

"ब्राह्मण ! आज सेनक पण्डित मधुर स्वर से बुद्ध के ढङ्ग पर धर्मोपदेश करेगा। तू नहीं जानता ?"

उसने सोचा—"धर्म-कथिक पण्डित है। मैं मृत्यु-भय से भयभीत हूँ। पण्डित बड़े भारी शोक को भी दूर कर सकते हैं। मुझे भी वहाँ जाकर धर्मोपदेश सुनना चाहिये।"

वह उनके साथ वहाँ पहुँचा और बोधिसत्व को घेरकर बैठी हुई पंक्ति-बद्ध परिषद् के एक सिरे पर, धर्मासन से थोड़ी ही दूर पर कन्धे पर सत्तू की थैली लिये खड़ा-खड़ा मृत्यु-भय के मारे रोने लगा। बोधिसत्व इस प्रकार धर्मोपदेश दे रहे थे मानों आकाश-गङ्गा उतार रहे हों अथवा अमृत-वर्षा कर रहे हों। जनता प्रसन्न-चित्त हो 'साधु-साधु' कहती हुई धर्मोपदेश सुनती थी। पण्डितों की नजर चारों ओर रहती है। उस समय बोधिसत्व ने पाँच प्रसादों से युक्त प्रसन्न-नेत्रों को उघाड़कर चारों ओर की परिषद् पर नजर डाली और उस ब्राह्मण की ओर देखकर सोचा—"यह इतनी परिषद् प्रसन्न-चित्त हो 'साधु-साधु' कहकर धर्मोपदेश सुन रही है। लेकिन यह एक ब्राह्मण दुखी हो रो रहा है। इसके मन में इसे रुला सकने वाला शोक होगा। खटाई से ताम्बे का जंग छुड़ाने की तरह, कमल के पत्ते से पानी की बूँद गिराने की तरह, इसे यहीं शोक-रहित प्रसन्नचित्त करके धर्मोपदेश

सुनाऊँगा।"

उसने उसे सम्बोधन कर 'ब्राह्मण ! मेरा नाम सेनक-पण्डित है। मैं अभी तेरा शोक दूर करूँगा। विश्वास करके कहो,' कह उससे बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

बिब्भन्तचित्तो कुपितिन्द्रियोसि
नेत्तेहि ते वारिगणा सवन्ति,
किं ते नट्ठं किं पन पत्थयानो
इधागमा ब्राह्मण इङ्घ ब्रूहि॥१॥

[हे ब्राह्मण ! तेरा चित्त भ्रान्त है, तेरी इन्द्रिय (आँखें) कुपित हैं। तेरे नयनों से आँसू बहते हैं। तेरा क्या नष्ट हो गया है, अथवा तू क्या चाहता है ? यह बता कि तू यहाँ किस कारण से आया है ?]

अपने शोक का कारण कहते हुये ब्राह्मण ने दूसरी गाथा कही—

मीयेथ भरिया वजतो ममज्ज
अगच्छतो मरणं आह यक्खो,
एतेन दुक्खेन पवेधितोस्मि
अक्खाहि मे सेनक एतमत्थं॥२॥

[यक्ष (=वृक्ष-देवता) ने कहा है कि आज घर पहुँचने पर मेरी भार्य्या की मृत्यु हो जायगी और न पहुँचने पर मेरी अपनी। हे सेनक ! मैं इस दुख से काँप उठा हूँ। मुझे इसका कारण समझाओ।]

बोधिसत्व ने ब्राह्मण की बात सुन समुद्र पर जाल फैलाने की तरह बुद्धि रूपी जाल फैलाकर देखा कि प्राणियों के मरने के अनेक कारण हो सकते हैं—समुद्र में डूबकर भी मरते हैं, वहाँ समुद्री-मछलियों द्वारा पकड़े जाकर भी मरते हैं, नदी में गिरकर भी मरते हैं, मगरमच्छों द्वारा पकड़े जाकर भी मरते हैं, वृक्ष से गिरकर भी मरते हैं, काँटा चुभने से भी मरते हैं, नाना प्रकार के शस्त्रों के प्रहार से भी मरते हैं, विष खाकर भी मरते हैं, फाँसी पर लटककर भी मरते हैं, प्रपात से गिरकर भी मरते हैं और अति शीत आदि अथवा नाना प्रकार के रोगों से रोगी होकर भी मरते ही हैं। इन कारणों में से किस एक कारण से आज यह ब्राह्मण रास्ते में रहने पर स्वयं मरेगा और घर पहुँचने पर इसकी भार्य्या ? यह सोचते हुए उसने ब्राह्मण के

कंधे पर थैली देखकर उपाय-कुशलता-ज्ञान से समझा कि उस थैली में एक साँप दाखिल हो गया होगा। जिस समय यह ब्राह्मण सत्तू का प्रातराश करके थैली का मुँह बिना बाँधे ही पानी पीने गया होगा उसी समय यह साँप सत्तू की गंध पाकर प्रविष्ट हो गया होगा। ब्राह्मण भी पानी पी आकर बिना यह जाने कि थैली में साँप घुस गया है, उसका मुँह बाँध, लेकर चल दिया होगा। यदि यह शाम को रास्ते में ठहरकर निवास-स्थान पर सत्तू खाने के लिए थैली को खोलकर हाथ डालेगा तो साँप इसके हाथ पर डंक मार-कर इसका प्राणान्त कर देगा। यह इसका रास्ते में ठहरने पर मृत्यु का कारण होगा। यदि घर पहुँचेगा तो थैली भार्य्या के हाथ में जायगी। वह अन्दर का सामान देखने के लिये थैलो खोलकर हाथ डालेगी। तब साँप उसे डसकर मार डालेगा। यह इसके आज घर पहुँचने पर भार्य्या की मृत्यु का कारण होगा।

तब उसे सूझा—यह साँप काला होगा, शूर और निर्भय। यह ब्राह्मण के शरीर से टकराता हुआ इतनी असुविधा सहकर भी थैली में हिला-डुला नहीं। ऐसी परिषद् में यह भी प्रकट नहीं होने देता कि वह है भी? इसलिए यह साँप काला होगा, शूर और निर्भय। यह बात भी उसने दिव्य-चक्षु से देखने वाले की तरह उपाय-कुशलता ज्ञान से ही जानी। इस प्रकार मानो पंक्तिबद्ध परिषद् के बीच में खड़े होकर साँप को थैली में प्रविष्ट होते देखा हो। बोधिसत्व ने उपाय-कुशलता-ज्ञान से ही निश्चयकर ब्राह्मण के प्रश्न का उत्तर देते हुये तीसरी गाथा कही—

वहूनि ठानानि विचिन्तयित्वा
यमेत्थ वक्खामि तदेव सच्चं,
मञ्ञामि ते ब्राह्मण सत्तुभस्तं
अजानतो कण्हसप्पो पविट्ठो ॥३॥

[बहुत-सी बातों का विचार करके जो मैं कहता हूँ वही सत्य है। ब्राह्मण ! मैं समझता हूँ कि तेरे बिना जाने सत्तू की थैलो में साँप घुस गया है।]

यह कहकर प्रश्न किया-—

"ब्राह्मण ! इस थैली में सत्तू है?"

"पण्डित ! है ।"

"आज प्रातराश के समय सत्तू खाये ?"

"पण्डित ! हाँ ।"

"कहाँ बैठकर ?"

"जंगल में वृक्ष के नीचे ।"

"सत्तू खाकर पानी पीने गया तो क्या थैली का मुंह बंद किया था ?"

"पण्डित ! नहीं बाँधा था ।"

"पानी पी आकर थैली देखकर बाँधी थी ?"

"पण्डित ! बिना देखे बाँधी थी ।"

"ब्राह्मण ! मैं समझता हूँ जब तू पानी पीने आया तो तेरी अजानकारी में ही सत्तू-गन्ध के कारण साँप थैली में घुस गया । और तू इस प्रकार यहाँ आया । इसलिए थैली उतारकर लोगों के सामने रख और उसका मुंह खोल, उलटी ओर खड़े होकर एक डण्डा ले थैली को पीट । जब उसमें से फन-फैलाये फुंकार मारता हुआ काला सर्प निकलेगा तो तू उसे देखकर निस्संशय होगा ।"

यह कह उसने चौथी गाथा कही—

आदाय दण्डं परिसुम्ह भस्तं
पस्सेलमूगं उरगं द्विजिव्हं,
छिन्दज्ज कङ्खं विचिकिच्छितानि
भुजङ्गमं पस्स पमुञ्च भस्तं ॥४॥

[डण्डा लेकर थैली को पीट और दो चिह्न वाले साँप को थैली में से निकलता देख । संशय और सन्देहों को छोड़ । सर्प को देख । थैली का मुंह खोल ।]

ब्राह्मण ने बोधिसत्व की बात सुनी तो उसे रोमाञ्च हुआ और उसने भय के मारे वैसा ही किया । साँप भी जब उसके फण पर डण्डा पड़ा तो निकलकर लोगों के सामने खड़ा हुआ । उस बात को प्रकट करने के लिये शास्ता ने पाँचवीं गाथा कही—

संविग्गरूपो परिसाय मज्झे
सो ब्राह्मणो सत्तुभस्तं पमुञ्चि,
अथ निक्खमी उरगो उग्गतेजो,
आसीविसो सप्पो फणं करित्वा ॥५॥

[रोमाञ्चित हो उस ब्राह्मण ने सभा के बीच में सत्तू की थैली खोली। तब महातेजस्वी विषैला सर्प फन उठाकर बाहर आया।]

साँप फन निकालकर बाहर आया तो बोधिसत्व का (कहना) सर्वज्ञ बुद्धि की भविष्यद्-वाणी-सा प्रतीत हुआ। जनता ने सहस्रों वस्त्रों को उछाला। अंगुलियाँ बजाईं। मूसलाधार वर्षा की तरह रत्नों की वर्षा हुई। लाखों 'साधुकार' दिये गये। ऐसा धड़ाका हुआ जैसे महापृथ्वी फट गई हो। यह इस प्रकार बुद्ध की तरह प्रश्न का समाधान, न जाति के बल से, न गोत्र के बल से, न कुल के बल से, न प्रदेश-बल से, न यश-बल से और न धन-बल से (ही सम्भव है)। यह किसका बल है? यह प्रज्ञा का बल है। प्रज्ञावान् आदमी विपश्यना-भावना की वृद्धि कर, आर्य-मार्ग का द्वार खोल अमृत महानिर्वाण में प्रवेश पाता है। वह श्रावक पारमिता, प्रत्येक-बुद्ध पारमिता तथा सम्यक् सम्बोधि-पारमिता को भी प्राप्त करता है। अमृत महा-निर्वाण तक ले जाने वाले धर्मों में प्रज्ञा ही मुख्य हैं, शेष सारे धर्म गौण हैं। इसीलिए यह कहा गया है—

पञ्ञा हि सेट्ठा कुसला वदन्ति
नक्खत्तराजारिव तारकानं,
सीलं सिरी चापि सतञ्च धम्मो,
अन्वायिका पञ्ञवतो भवन्ति ॥६॥

[पण्डित-जन जैसे तारों में चन्द्रमा, उसी प्रकार प्रज्ञा को ही श्रेष्ठ कहते हैं। शील, श्री तथा सत्पुरुषों का धर्म प्रज्ञावान् के पीछे चलते हैं।]

बोधिसत्व के इस प्रकार प्रश्न का समाधान करने पर एक सपेरे ने साँप को मुँह बाँध और उसे पकड़ ले जाकर जंगल में छोड़ा। ब्राह्मण ने राजा के पास पहुँच 'जय' बुला हाथ जोड़ राजा की स्तुति करते हुए आधी गाथा कही—

सुलद्धलाभा जनकस्स रञ्ञो,
यो पस्सति सेनकं साधुपञ्ञं।

[राजा जनक के लिये यह बड़ा ही सौभाग्य (=लाभ) है कि उसे श्रेष्ठ-प्रज्ञ सेनक-पण्डित का दर्शन होता है।]

राजा की स्तुति कर थैली से सात-सौ कार्षापण ले बोधिसत्व की प्रशंसा कर उसे भेंट करने की इच्छा से डेढ़ गाथा कही—

विवत्तच्छदोनुसि सब्बदस्सी
आणन्नुते ब्राह्मण भिंसरूपं,
इमानि मे सत्त सतानि अत्थि
गण्हाहि सब्बानि ददामि तुय्हं,
तयाहि मे जीवितमज्जलद्धं
अथोपि भरियायमकासि सोत्थिं॥६-७॥

[क्या तू खुला कपाट सर्वदर्शी है ? ब्राह्मण ! तेरा ज्ञान महान् है ? ये मेरे पास सात सौ (कार्षापण) हैं। हे ब्राह्मण ! मैं ये सब तुझे देता हूँ, ग्रहण कर। तेरे ही कारण आज मुझे जीवन मिला और भार्या का भी कल्याण हुआ।]

'यदि मेरे पास एक लाख (कार्षापण) होते तो वह भी देता। मेरे पास इतना ही धन है। यह सात सौ (कार्षापण) ले' कह उसने बार-बार आग्रह किया। यह सुन बोधिसत्व ने आठवीं गाथा कही—

न पण्डिता वेतनमादियन्ति
चित्राहि गाथाहि सुभासिताहि;
इतोपि ते ब्रह्मे ददन्तु वित्तं
आदाय त्वं गच्छ सकं निकेतं॥८॥

[पण्डित जन सुन्दर सुभाषित गाथाओं के बदले में वेतन नहीं लेते हैं। हे ब्राह्मण ! यहाँ (मेरे पास) से भी तुझे धन मिले। इसे लेकर अपने घर जा।]

इतना कह बोधिसत्व ने ब्राह्मण को हजार कार्षापण पूरे करते हुए कार्षापण दिला पूछा—

"ब्राह्मण ! तुझे धन-भिक्षा के लिये किसने भेजा ?"

पण्डित ! "भार्य्या ने ।"

"तेरी भार्य्या वृद्धा है वा तरुणी है ?"

पण्डित ! "तरुणी है।"

"तो वह दूसरे के साथ अनाचार करती है। निर्भय होकर अनाचार करने के लिये उसने तुझे (बाहर) भेजा। यदि इन कार्षापणों को लेकर घर जायगा, तो बड़े दुःख से प्राप्त किये हुये यह कार्षापण वह अपने जार को दे देगी। इसलिए तू सीधा घर न जाकर गाँव के बाहर किसी वृक्ष की जड़ में अथवा अन्यत्र कहीं कार्षापण रख कर गाँव में प्रवेश करना।"

वह गाँव के पास पहुँचा और एक वृक्ष की जड़ में कार्षापण रख शाम के समय घर गया। उस समय उसकी भार्य्या जार के साथ लेटी थी। ब्राह्मण ने दरवाजे पर खड़े होकर पुकारा—"भगवती !" उसने उसकी आवाज पहचान दीपक बुझा दिया और ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने के समय दूसरे को निकाल दरवाजे में खड़ा किया। फिर घर में घुस थैली को खाली देख पूछा—"ब्राह्मण ! भिक्षाचार में तुझे क्या मिला ?"

"एक हजार मिले।"

"लेकिन वह है कहाँ ?"

"चिन्ता मत कर। अमुक स्थान पर रखा है। प्रातःकाल ले आऊँगा।"

उसने जाकर जार को कहा। वह निकलकर वैसे ही उठा लाया जैसे स्वयं रखा हो।

ब्राह्मण ने दूसरे दिन जाकर जब कार्षापण नहीं देखे तो बोधिसत्व के पास गया। बोधिसत्व ने पूछा—"ब्राह्मण ! क्या बात है ?"

पण्डित ! "कार्षापण नहीं दिखाई देते।"

"क्या तू ने भार्य्या को बताये ?"

"हाँ पण्डित !"

बोधिसत्व ने यह समझ कि उसके जार ने ही लिये होंगे पूछा—

"ब्राह्मण ! तेरी भार्य्या के सुपरिचित ब्राह्मण हैं।"

पण्डित ! "हैं।"

"तेरे भी हैं ?"

पण्डित ! "हैं ।"

बोधिसत्व ने उसे सात दिन का खर्चा देकर कहा—"जा पहले दिन सात अपने और सात भार्य्या के चौदह ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर भोजन करा। अगले दिन से एक-एक कम करके सातवें दिन एक अपने और एक भार्य्या के दो ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर मुझे बताना कि तेरी भार्य्या की ओर से कौन एक ब्राह्मण निमन्त्रित होकर सातों दिन लगातार आया है।"

ब्राह्मण ने वैसा कर बोधिसत्व से कहा—पण्डित ! मैंने सातों दिन लगातार खाने वाले ब्राह्मण को पहचान लिया। बोधिसत्व ने उसके साथ आदमी भेजे और उस ब्राह्मण को बुलवाकर पूछा—

"अमुक वृक्ष के नीचे से तूने इस ब्राह्मण के हजार कार्षापण लिये।"

"पण्डित ! नहीं लिये ?"

"तू नहीं जानता कि मैं सेनक-पण्डित हूँ; मँगवाता हूँ तेरे कार्षापण !"

उसने डर के मारे स्वीकार किया—मैंने लिये हैं।

"कहाँ रखे हैं ?"

पण्डित ! "वहीं रखे हैं।"

बोधिसत्व ने ब्राह्मण से पूछा—

"ब्राह्मण ! तुझे वही भार्य्या चाहिये, अथवा दूसरी ?"

पण्डित ! "वही।"

बोधिसत्व ने आदमी भेजकर ब्राह्मण, कार्षापण और ब्राह्मणी को मँगवाया। फिर चोर-ब्राह्मण के हाथ से ब्राह्मण को कार्षापण दिलाये; और उसे राजदण्ड दिला नगर से निकलवा दिया। ब्राह्मणी को भी राजदण्ड दिला, ब्राह्मण को बहुत ऐश्वर्य दे उसे अपने पास ही बसा लिया।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला आर्य (- सत्यों) को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में बहुतों ने स्रोतापत्ति आदि फलों का साक्षात् किया। उस समय ब्राह्मण आनन्द था। देवता सारिपुत्र था। परिषद् बुद्ध-परिषद्। सेनक-पण्डित तो मैं ही था।

४०३. अट्ठिसेन जातक

"येमे अहंनजानामि" यह शास्ता ने आलवी के आश्रय अग्गालव चैत्य में विहार करते हुये कुटिया बनाने की शिक्षा के बारे में कही। वर्त्तमान-कथा उक्त **मणिकण्ठ जातक**[1] में आ ही गई है। शास्ता ने उन भिक्षुओं को बुला—'भिक्षुओ ! पूर्व समय में जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुये थे, बाहरी-प्रव्रज्या द्वारा प्रव्रजितों ने, राजाओं द्वारा कहे जाने पर भी यह समझ कि याचना दूसरों को अप्रिय लगती है, बुरी लगती है, याचना नहीं की' कह पूर्वजन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व एक निगम में ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए। नाम रखा गया अट्ठिसेनकुमार। उसने बड़े होने पर तक्षशिला में सब शिल्प सीखे, फिर काम-भोगों में दोष देख, ऋषियों के प्रव्रज्या-क्रम के अनुसार प्रव्रजित हो अभिञ्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त कर, चिरकाल तक हिमालय प्रदेश में रहा। फिर निमक-खटाई का सेवन कर, बस्ती की ओर आ, वाराणसी पहुँचा और उद्यान में रह, अगले दिन भिक्षाटन करते हुये राजाङ्गन पहुँचा। राजा ने उसके रंगढंग से प्रसन्न हो उसे बुलवाया और महल के ऊपर पलँग पर बिठलवाया। फिर भोजन खिलाया और भोजनानुमोदन सुनकर प्रसन्न हो बोधिसत्व से वचन ले उसे राजोद्यान में बसाया। राजा दिन में दो-तीन बार सेवा में जाता था। एक दिन धर्म-कथा से प्रसन्न हो कहा—"राज्य से लेकर जिस चीज की भी आवश्यकता हो कहें।"

बोधिसत्व ने नहीं कहा—यह मुझे दो। दूसरे याचक जो-जो चाहते माँगते—यह दें। यह दें। राजा निस्संकोच देता ही था। एक दिन उसने सोचा—दूसरे याचक-भिखमंगे याचना करते हैं, हमें यह दें, यह दें। आर्य्य

---

१. मणिकण्ठ जातक (२५३)

अट्ठिसेन ने जिस समय उन्हें कहा गया तब से कभी याचना नहीं कीं। यह प्रज्ञावान् है, उपाय-कुशल है। मैं इसे पूछूंगा।

उसने एक दिन प्रातराशन के बाद जा, प्रणाम कर एक ओर बैठ दूसरों के याचना करने और उसके याचना न करने का कारण पूछते हुए पहली गाथा कही—

ये मे अहं न जानामि अट्ठिसेन वणिब्बके,
ते मं सङ्गम्म याचन्ति कस्मा मं त्वं न याचसि॥१॥

[हे अट्ठिसेन! जिन याचकों को मैं नहीं जानता हूँ, वह मेरे पास आकर मांगते हैं। तू मुझ से क्यों नहीं मांगता ?]

यह सुन बोधिसत्व ने दूसरी गाथा कही—

याचको अप्पियो होति याचं अददमप्पियो,
तस्माहं तं न याचामि मा मे विद्देसना अहू॥२॥

[याचना करनेवाला अप्रिय होता है, मांगने पर न देनेवाला अप्रिय लगता है। इसलिये मैं याचना नहीं करता हूँ कि कहीं मेरे मन में वा मेरे साथ विद्वेष न हो।]

उसकी बात सुन राजा ने तीसरी गाथा कही—

योचे याचनजीवानो काले याचं न याचति,
परञ्च पुञ्ञा धंसेति अत्तनापि न जीवति॥
यो च याचनजीवानो काले याचं हि याचति,
परञ्च पुञ्ञं लब्भेति अत्तनापि च जीवति॥
न वे दिस्सन्ति सप्पञ्ञा दिस्वा याचमागते,
ब्रह्मचारि पियोमेसि वरं त्वं भञ्घमिच्छसि॥३-५॥

[जो भिक्षा-जीवी उचित समय पर याचना नहीं करता, वह दूसरे के पुण्य को नष्ट करता है और स्वयं भी (सुख से) नहीं जीता है। जो भिक्षा-जीवी उचित समय पर भिक्षा मांगता है, वह दूसरे को पुण्य-लाभ कराता है और स्वयं भी (सुख से) जींता है। प्रज्ञावान् जन किसी भिक्षु को आया देख द्वेष नहीं करते हैं। ब्रह्मचारि! तू मेरा प्रिय है। जो कुछ मांगना चाहे वह मांग।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने राज्य देने की बात कहे जाने पर भी कुछ

याचना नहीं की। लेकिन जब राजा ने अपना विचार प्रकट कर दिया तो बोधिसत्व ने भी प्रव्रजित-चर्य्या स्पष्ट करने के लिये कहा—"महाराज! याचना, गृहस्थों काम-भोगियों के लिये ठीक है, प्रव्रजितों के लिये नहीं। प्रव्रजित को चाहिये कि प्रव्रजित होने के समय वह गृहस्थों से भिन्न शुद्ध जीविका वाला हो।" उसने प्रव्रजित की चर्य्या को प्रकट करते हुए छठीं गाथा कही—

न वे याचन्ति सप्पञ्ञा धीरो वेदितुमरहति,
उद्दिस्स अरिया तिट्ठन्ति एसा अरियानं याचना॥६॥

[प्रज्ञावान् याचना नहीं करते हैं, पण्डित को (स्वयं) यह जानना चाहिये। आर्य्य-जन (भिक्षा के) उद्देश्य से (मौन) खड़े (भर) हो जाते हैं। यही आर्य्यों की याचना है।]

राजा ने बोधिसत्व की बात सुन 'भन्ते! यदि बुद्धिमान् सेवक अपनी बुद्धि से ही विश्वस्त को देने योग्य देता है तो मैं भी आपको यह देता हूँ' कह सातवीं गाथा कही—

ददामि ते ब्राह्मण रोहिणीनं
गवं सहस्सं सह पुङ्गवेन,
अरियो हि अरियस्स कथं न दज्जा
सुत्वान गाथा तव धम्मयुत्ता॥७॥

[हे ब्राह्मण! मैं तुझे पुङ्गवों के साथ सहस्र रोहिणी गौवें देता हूँ। यह कैसे हो सकता है कि तुम्हारी धार्मिक गाथायें सुनकर आर्य्य, आर्य्य को न दे।]

ऐसा कहने पर बोधिसत्व ने 'महाराज! मैं अकिंचन प्रव्रजित हूँ। मुझे गौवों की अपेक्षा नहीं' कह अस्वीकार किया। राजा उसके उपदेशानुसार चल दानादि पुण्यकर स्वर्ग-गामी हुआ। वह भी ध्यान-लाभी हो ब्रह्म-लोक में पैदा हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में बहुत से लोक स्रोतापत्ति फल आदि में प्रतिष्ठित हुए। उस समय राजा आनन्द था। अट्ठिसेन तो मैं ही था।

४०४. कपि जातक

"यत्थवेरी निवसति" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के पृथ्वी-प्रवेश के बारे में कही। उसके जमीन में समा जाने पर धर्म-सभा में बातचीत चली—'आयुष्मानो! देवदत्त अपने अनुयायियों-सहित विनाश को प्राप्त हुआ।' शास्ता ने आकर पूछा—'भिक्षुओ! बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो?' 'अमुक बात-चीत।' 'भिक्षुओ! वह अपने अनुयायियों सहित केवल अभी विनाश को प्राप्त नहीं हुआ, पहले भी हुआ है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व बन्दर की योनि में पैदा हुए। अपने पाँच-सौ अनुयायियों के साथ वह राजा के बाग में रहते थे। देवदत्त भी बन्दर की योनि में पैदा हो पाँच-सौ अनुयायियों के साथ वहीं रहता था। एक दिन जब पुरोहित बाग से नहा-सजकर बाहर निकल रहा था, एक चञ्चल बन्दर ने पहले से जा बाग के दरवाजे के तोरण पर बैठ उसके ऊपर पाखाना कर दिया। जब ऊपर देखने लगा तो मुँह में गिरा दिया। उसने रुककर कहा—"अच्छा देखूँगा तुम्हारी करतूत" और बन्दरों को डराकर तथा नहाकर चला गया। बोधिसत्व को सूचना मिली कि पुरोहित ने बन्दरों से बैरकर उन्हें डराया है। उसने सारे हजार के हजार बन्दरों को कहलवाया कि जहाँ बैरी रहता हो वहाँ नहीं रहना चाहिये। सारे बन्दर-समूह को भागकर अन्यत्र चला जाना चाहिए। बात न मानने वाले (देवदत्त) ने सोचा कि मैं अपने अनुयायियों के साथ पीछे विचार करूँगा और भागा नहीं। बोधिसत्व अपने अनुयायियों को साथ ले जंगल में जा घुसे।

एक दिन धान कूटने वाली दासी ने धूप में फैलाये अपने धानों को खाने वाली एक बकरी को जलती लकड़ी से मारा। उसके शरीर में आग लग गई। उसने भागते-भागते एक हस्ति-शाला के साथ बनी घास

की झोपड़ी की दीवार से अपना शरीर रगड़ा। घास की झोपड़ी में आग लग गई। घास की झोपड़ी से हस्ति-शाला में जा लगी। शाला में हाथियों की पीठ जल गई। हस्ति-वैद्य हाथियों की चिकित्सा करने लगे। पुरोहित भी बन्दरों को पकड़वाने का उपाय सोचता घूमता था।

राजा की सेवा में आने पर राजा ने पूछा—"आचार्य्य ! बहुत से हाथियों को जख्म हो गये। हस्ति-वैद्य चिकित्सा करना नहीं जानते हैं। क्या तुम कोई दवाई जानते हो ?"

"महाराज ! जानता हूँ।"

"क्या है ?"

"महाराज ! बन्दर की चर्बी।"

"कहाँ पायेंगे ?"

"उद्यान में बहुत बन्दर हैं।"

राजा ने आज्ञा दी—"उद्यान में बन्दरों को मारकर चर्बी लाओ।" धनुर्धारियों ने जाकर सभी पाँच-सौ बन्दरों को तीरों से बींधकर मार दिया। एक ज्येष्ठ बन्दर भाग निकला। उसे भी तीर लगा, किन्तु वह वहीं न गिर जहाँ बोधिसत्व रहते थे, वहाँ पहुँचकर गिरा। बानरों ने देखा कि हमारे निवास-स्थान पर पहुँचकर मरा है। उन्होंने उसके चोट खाकर मरने की बात बोधिसत्व से कही। बोधिसत्व ने आकर बन्दरों के बीच बैठ 'पण्डित का कहना न मान बैरियों के बीच रहने वाले इसी प्रकार नष्ट होंगे' प्रकट करने के लिये बन्दरों को उपदेश देते हुए यह गाथायें कहीं—

यत्थ वेरी निवसति न वसे तत्थ पण्डितो,
एकरत्तिं दि रत्तं वा दुक्खं वसति वेरिसु॥
दिसो वे लहुचित्तस्स पोसस्स अनुविधीयतो,
एकस्स कपिनो हेतु यूथस्स अनयो कतो॥
बालो च पण्डितमानी यूथस्स परिहारको,
सचित्तस्स वसं गन्त्वा सयेथायं यथा कपि॥
न साधु बलवा बालो यूथस्स परिहारको,
अहितो भवति ञातीनं सकुणानं व चेतको॥
धीरो च बळवा साधु यूथस्स परिहारको,

हितो भवति ञातीनं तिदसानं व वासवो ॥
यो च सीलञ्च पञ्ञञ्च सुतञ्चत्तनि पस्सति,
उभिन्नमत्थञ्चरति अत्तनो च परस्स च ॥
तस्मा तुलेय्यमत्तानं सीलपञ्ञासुतामिव,
गणं वा परिहरे धीरो एको वापि परिब्बजे ॥१-७॥

[पण्डित को चाहिये कि जहाँ बैरी रहता हो, वहाँ एक-रात दो-रात भी वास न करे, क्योंकि वैरी के साथ रहने से दुःख होता है। अस्थिर-चित्त पुरुष का अनुकरण करने वाले का वह (अस्थिर-चित्त) शत्रु होता है। एक बन्दर के कारण सभी बन्दरों की हानि हुई। जो मूर्ख है लेकिन अपने को पण्डित समझता है वह यदि समूह का नेता होता है तो वह अपने चित्त के वशीभूत हो इस बन्दर की तरह मरता है। मूर्ख शक्तिमान् हो तो भी उसका समूह का नेता होना अच्छा नहीं। क्योंकि वह अपनी जाति वालों का ही अहितकारी होता है, जैसे बोलने वाला तीतर अन्य तीतरों का। धैर्य्यवान् हो और शक्तिमान् तो उसका समूह का नेता होना अच्छा है। क्योंकि वह अपनी जाति वालों का हितकारी होता है, जैसे इन्द्र देवताओं का। जो देखता है कि उसमें शील है, प्रज्ञा है और ज्ञान है, वह दोनों का हित करता है, अपना भी और दूसरों का भी। इसलिये अपने को तोले कि अपने में शील, प्रज्ञा तथा ज्ञान है या नहीं? यदि हो तो फिर चाहे गण का नेतृत्व करे चाहे अकेला घूमे।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने कपि-राज होकर भी विनयानुकूल चर्य्या कही।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। उस समय बात न मानने वाला बन्दर देवदत्त था। उसकी परिषद भी देवदत्त-परिषद थी। पण्डित कपिराज तो मैं ही था।

४०५. वकब्रह्म जातक

"द्वासत्तति" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय बक-ब्रह्मा के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस ब्रह्मा का मत हो गया था कि यह लोक नित्य है, ध्रुव है, अच्युत है। इससे पृथक् कोई दूसरी लोक की मुक्ति या निर्वाण नहीं है। निचले-लोकों में उत्पन्न इस ब्रह्मा ने पहले ध्यानों की भावना की थी। इससे वह बेहप्फल-लोक में पैदा हुआ। वहाँ पाँच-सौ कल्प आयु बिताकर सुभकिन्ह लोक में पैदा हुआ। वहाँ चौसठ कल्प आयु बिताकर आठ कल्प आयु वाले आभस्वर-लोक में रहा। वहीं उसका उक्त मत हो गया। क्योंकि ब्रह्मलोक से ऊपर का उसे न मरना याद था न पैदा होना। उन दोनों को न देख सकने के कारण ही ब्रह्मा का यह मत हुआ।

भगवान् ने अपने चित्त से ब्रह्मा के चित्त-वितर्कों को जाना और जैसे कोई बलवान् आदमी सिकुड़ी हुई बाँह को फैला दे अथवा फैली हुई बाँह को सिकोड़ ले, इस प्रकार (भगवान्) जेतवन में अन्तर्धान होकर ब्रह्मलोक में प्रकट हुए। ब्रह्मा ने भगवान् को देखा तो बोला—"मित्र ! आ मित्र ! स्वागत है। चिरकाल में मित्र ! यहाँ आना हुआ। मित्र ! यह नित्य है, यह ध्रुव है, यह शाश्वत है, यह अच्युत है, यह संपूर्ण है, यह न उत्पन्न होता है, न जीर्ण होता है, न मरता है, न इसका पतन है, न पैदाइश। इससे बढ़कर और कहीं कोई मोक्ष नहीं है।" ऐसा कहने पर भगवान् ने बक-ब्रह्मा को यह कहा—"हे बक-ब्रह्मा ! आप अविद्या के फेर में पड़े हैं। तभी तो आप जो अनित्य है उसे नित्य कहते हैं...और इससे बढ़कर मुक्ति के रहते हुए 'इससे बढ़कर मुक्ति नहीं है' कहते हैं।" यह सुन ब्रह्मा यह (भगवान्) 'तू ऐसा कहता है तू ऐसा कहता है' कहकर मेरा पीछा करते हैं, सोच जैसे कोई चोर थोड़ी ही चोट पड़ने पर 'क्या मैं ही चोर हूँ, क्या मैं ही चोर हूँ, अमुक भी चोर

है, अमुक भी चोर है' कहता हुआ सब साथियों के नाम कह देता है, उसी प्रकार भगवान् के इस्लाम से डरकर अपने दूसरे साथियों के नाम कहता हुआ पहली गाथा बोला—

द्वासत्तति गोतम पुञ्ञकम्मा
वसवत्तिनो जातिजरं अतीता,
अयमन्तिमा वेदगू ब्रह्मपत्ति
अस्माभिजप्पन्ति जना अनेका॥१॥

[हे गौतम ! हम यहाँ बहत्तर जने ऐसे हैं, जो पुण्यकर्मा हैं, जो वशवर्ती हैं, जो जन्म तथा बुढ़ापे को पार कर चुके हैं । हे वेदज्ञ ! यह अन्तिम ब्रह्म-प्राप्ति है । अनेक जन हमारा जाप करते हैं ।]

उसकी बात सुन शास्ता ने दूसरी गाथा कही—

अप्पं हि एतं न हि दीघमायु
यन्त्वं बक मञ्ञसि दीघमायु,
सतं सहस्सानं निरब्बुदानं
आयु पजानामि तवाहं ब्रह्मे॥२॥

[हे बक-ब्रह्मा ! जिस आयु को तू दीर्घ आयु समझता है वह अधिक नहीं है, थोड़ी ही है । हे ब्रह्मा ! मैं तेरी सौ-हजार निरब्बुद[1] वर्षों की आयु जानता हूँ ।]

यह सुन बक-ब्रह्मा ने तीसरी गाथा कही—

---

१. १०×१०=१०० सतं
सतं×१०=सहस्सं
सतसहस्सं×१००=कोटि
कोटि सतहसस्सं×१००=पकोटि
पकोटि सहस्सं×१००=कोटिप्पकोटि
कोटिप्पकोटिसतसहस्सं×१००=नहुतं
नहुत सतसहस्सं×१००=निन्नहुतं
हुश्यार गणक इतनी ही गणना कर सकता है। इसके आगे की गणना बुद्ध गणना का विषय है। उसमें—
निन्नहुत सतसहस्सानं×१००=अब्बुदं
अब्बुदं×२०=निरब्बुदं
सतसतसहस्सं निरब्बुदं=सतसहस्सं अहहं

अनत्तदस्सो भगवाहमस्मि
जातिजरं सोकमुपातिवत्तो,
किम्मे पुराणं वतसीलवत्तं
आचिक्ख मे तं यमहं विजञ्ञं ॥३॥

[हे भगवान् ! यदि तुम कहते हो कि मैं अनात्मदर्शी हूँ, मैं जन्म, बुढ़ापे और शोक को पार कर गया हूँ तो मुझे मेरा पूर्व का शील और व्रत कहो जिसे सुनकर मैं जान लूं ।]

तब भगवान ने पूर्व जन्म की कथाओं का उल्लेख करते हुए चार गाथायें कही—

यं त्वं अपायेसि बहू मनुस्से
पिपासिते घम्मनि सम्परेते,
तं ते पुराणं वतसीलवत्तं
सुत्तप्पबुद्धोव अनुस्सरामि ॥४॥

[जो तूने धूप से क्लान्त बहुत से प्यासे मनुष्यों को पानी पिलाया था, मैं तेरे उस व्रत-शील को ऐसे ही स्मरण करता हूँ जैसे सोकर उठने पर आदमी स्वप्न को स्मरण करता है ।]

यं एणिकूलस्मिं जनं गहीतं
अमोचयी गटहकनिय्यमानं,
तं ते पुराणं वतसीलवत्तं
सुत्तप्पबुद्धोव अनुस्सरामि ॥५॥

[जो तूने उस एनि (नदी) के किनारे पकड़े लिये जाते हुये जनों को छुड़वाया, मैं तेरे उस व्रत-शील को ऐसे ही स्मरण करता हूँ जैसे सोकर उठने पर आदमी स्वप्न को स्मरण करता है ।]

गङ्गाय सोतस्मिं गहीतनावं
लुद्देन नागेन मनुस्सकप्पा,
अमोचयी त्वं बलसा पसय्ह
तं ते पुराणं बतसीलवत्तं
सुत्तप्पबुद्धोव अनुस्सरामि ॥६॥

[गङ्गा के स्रोत में फँसी हुई नौका को मनुष्यों को नष्ट करने की

इच्छा वाले रौद्र नाग से बलपूर्वक छुड़ाया, मैं तेरे उस व्रत-शील को ऐसे ही स्मरण करता हूँ जैसे सोकर उठने पर आदमी स्वप्न को स्मरण करता है।]

कप्पो च ते बद्धचरो अहोसिं
सम्बुद्धिवन्तं वतिनं अमञ्ञं,
तं ते पुराणं वतसीलवन्तं
सुत्तप्पबुद्धोव अनुस्सरामि ॥७॥

[मैं तुम्हें बुद्धिमान् और व्रती मानकर (जब तुम केशव तपस्वी थे) तुम्हारा कप्प नाम का शिष्य हुआ, मैं तुम्हारे उस व्रत-शील को ऐसे ही स्मरण करता हूँ जैसे सोकर उठने पर आदमी स्वप्न को स्मरण करता है।]

उसने शास्ता के कथन से अपने कर्मों का स्मरण कर तथागत की स्तुति करते हुए अन्तिम गाथा कही—

अद्धा पजानासि ममेतमायुं
अञ्ञम्पि जानासि तथा हि बुद्धो,
तथा हि तायं जलितानुभावो
ओभासयं तिट्ठति ब्रह्मलोकं ॥८॥

[निश्चय से तुम मेरी इस आयु को जानते हो, तथा अन्य बातों को भी जानते हो, इसलिए बुद्ध हो। इसी से तुम्हारा यह प्रकाश ब्रह्मलोक को प्रकाशित किये हुए है।]

इस प्रकार शास्ता ने अपने ब्रह्मगुणों को प्रकट करते हुए धर्मोपदेश के (चार) आर्य-सत्यों को प्रकाशित किया। सत्यों के प्रकाशित होने पर दस सहस्र ब्रह्माओं का चित्त आस्रव-मुक्त हो गया। इस प्रकार भगवान् बहुत से ब्रह्माओं के सहायक हो, ब्रह्मलोक से जेतवन आये। वहाँ उक्त प्रकार से वही धर्म-कथा भिक्षुओं को कह जातक से मेल बैठाया। उस समय केशव तपस्वी बक-ब्रह्मा था, और कप्प ब्रह्मचारी तो मैं ही था।

———

सातवाँ परिच्छेद

२. गन्धार वर्ग

४०६. गन्धार जातक

"हित्वा गामसहस्सानि. . ." यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय भैषज्य-संग्रह करने सम्बन्धी शिक्षा-पद के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

यह घटना राजगृह में घटी। आयुष्मान् पिलिन्दवच्छ ने विहार से विशेष सम्बन्ध रखने वाले परिवारों को मुक्त करने के लिये राज-भवन में पहुँच ऋद्धि-बल से राजा के प्रासाद को स्वर्णमय कर दिया। मनुष्यों में श्रद्धा पैदा हुई। उन्होंने स्थविर के पास पाँच प्रकार की भैषज्य भेजी। उसने वह अपने अनुयायियों को दे दी। उसके अनुयायी बाहुलिक थे, बहुत चीजों को बटोरकर रखने वाले। जो-जो मिला, उसे बरतनों में भी, घड़ों में भी, पात्रों में भी, थैलियों में भी भरकर छिपा दिया। आदमियों ने देखा तो उन्हें गुस्सा आया—यह झूठे श्रमण हैं। भीतर से कोठी-वाले हैं। शास्ता ने यह समाचार सुना तो "जो रोगी भिक्षुओं के लिये...... ..(भैषज्य) हैं" शिक्षापद की घोषणा कर कहा—"भिक्षुओ! प्राचीन समय में जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, पण्डितों ने जो (बुद्ध-शासन से) बाहरी तौर पर प्रव्रजित थे और जो पाँच शीलमात्र की रक्षा करने वाले थे, नमक के कंकर को भी दूसरे दिन के लिये रखनेवालों की निन्दा की है। तुम इस कल्याण-कारी शासन मे प्रव्रजित हो दूसरे तीसरे दिन के लिये इस प्रकार संग्रह करते हुए अनुचित कर रहे हो।" यह कह पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में गन्धार राष्ट्र में बोधिसत्व गन्धार-नरेश के पुत्र होकर

पैदा हुए। पिता के मरने पर राजगद्दी पर बैठ धर्म से राज्य करने लगे। मध्य प्रदेश के विदेह राष्ट्र में विदेह नामक राजा राज्य करता था। उन दोनों राजाओं ने एक-दूसरे को नहीं देखा था। तो भी वे मित्र थे। उनका परस्पर दृढ़ विश्वास था। (उस समय मनुष्यों की आयु अधिक होती थी—तीस हजार वर्ष जीते थे।)

एक दिन गन्धार-राजा पूर्णिमा-उपोसथ के दिन शील लेकर (प्रासाद के) ऊँचे तल्ले पर बिछे श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा। खुली खिड़की से पूर्व दिशा की ओर देखता हुआ अमात्यों को धार्मिक बातचीत सुना रहा था। उस समय आकाश को लाँघते हुए पूर्ण चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया। चन्द्र-प्रभा अन्तर्धान हो गई। अमात्यों को चन्द्रमा का प्रकाश नहीं दिखाई दिया। उन्होंने चन्द्रमा के ग्रसे जाने की बात राजा से कही।

राजा ने चन्द्रमा को देखते हुए सोचा—"यह चन्द्रमा बाहरी क्लेश से क्लिष्ट होकर प्रभाहीन हो गया। मेरे लिये भी यह राज-परिवार उपक्लेश ही है। यह मेरे लिये उचित नहीं है कि मैं राहु द्वारा गृहीत चन्द्रमा की तरह प्रभाहीन हो जाऊँ। शुद्ध आकाश में चमकने वाले चन्द्रमा की तरह राज्य का त्यागकर प्रव्रजित होऊँगा। मुझे दूसरे को उपदेश देते रहने से क्या लाभ? कुल और गण से पृथक् हो अपने ही को उपदेश देता हुआ विचरूँगा। यही मेरे अनुकूल है।"

तब उसने राज्य अमात्यों को सौंपते हुए कहा—"जो चाहो सो करो।" वह राज्य छोड़, ऋषियों के प्रव्रज्या-क्रम के अनुसार प्रव्रजित हो, ध्यान-लाभ कर ध्यान-सुख भोगता हुआ हिमालय में रहने लगा।

विदेहराज ने व्यापारियों से अपने मित्र का कुशल-समाचार पूछा। उसने यह सुनकर कि वह प्रव्रजित हो गया सोचा—"मेरा मित्र प्रव्रजित हो गया तो मैं राज्य करके क्या करूँगा?" उसने सात योजन के मिथिला नगर के राज्य, तीन सौ योजन के विदेह राष्ट्र के सोलह हजार ग्रामों में भरे हुए भण्डार और सोलह हजार नाटक-स्त्रियों को छोड़ दिया, और (वृक्षों से) गिरे फलों का आहार करता हुआ समचर्य्यापूर्वक विचरने लगा।

वे दोनों समचर्य्यापूर्वक विचरते हुए आगे चलकर एक जगह मिले; किन्तु, एक-दूसरे को पहचाना नहीं। प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रहने लगे।

विदेह-तपस्वी गन्धार-तपस्वी की सेवा में रहता ।

वे दोनों पूर्णिमा के दिन एक वृक्ष के नीचे बैठे धार्मिक बातचीत कर रहे थे ! उस समय आकाश में प्रकाशित चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया । विदेह-तपस्वी ने सोचा, क्या कारण है कि चन्द्र प्रभाहीन हो गया है ? चन्द्रमा को राहु द्वारा ग्रसा देख पूछा—"आचार्य्य ! यह कौन है जिसने चन्द्रमा को ग्रस कर प्रभाहीन कर दिया है ?"

"शिष्य ! यह चन्द्रमा का एक उपक्लेश है जो उसे चमकने नहीं देता। मैंने भी राहु ग्रसित चन्द्रमा को देखा तो सोचा कि जैसे यह शुद्ध चन्द्र-मण्डल बाहरी उपक्लेश से प्रभाहीन हो गया, उसी प्रकार मेरे लिये यह राज्य भी उपक्लेश है। इसके पहले कि यह मुझे राहु के चन्द्रमा को प्रभाहीन करने की तरह प्रभाहीन कर दे मैं प्रव्रजित हो जाऊँ । इसी राहु-ग्रसित चन्द्रमा का ख्याल कर राज्य छोड़ मैं प्रव्रजित हुआ ।"

"आचार्य्य ! क्या तुम गन्धार-नरेश हो ?"

"हाँ, मैं हूँ ।"

"आचार्य्य ! मैं भी विदेह राष्ट्र में मिथिला नगर में विदेह राजा था। हम एक-दूसरे को न-देखे मित्र थे न ?"

"तुझे क्या ख्याल हुआ ?"

"मैंने जब यह सुना कि तुम प्रव्रजित हो गये तो प्रव्रज्या के गुण देख और तुम्हारा ध्यान करके ही प्रव्रजित हुआ ।"

तब से वे अति प्रसन्नचित्त हो (वृक्ष से) गिरे फलों को खाकर रहने लगे। वहाँ दीर्घ काल तक रह नमक-खटाई खाने के लिये हिमालय से उतर एक प्रत्यन्त-ग्राम में आये। मनुष्यों ने उनकी चर्य्या से प्रसन्न हो भिक्षा दी और उन्हें वचन-बद्ध कर जंगल में रात्रि-निवास के योग्य स्थान आदि बना वहीं बसाया । रास्ते में भोजन करने के लिये पानी के सुभीते की जगह पर पर्ण-कुटी बनवा दी । वे प्रत्यन्त ग्राम में भिक्षा माँग वहाँ बैठकर भोजन करते और फिर अपने निवास-स्थान को चले जाते ।

वे मनुष्य उन्हें भोजन देते तो कभी पत्ते पर नमक देते, कभी पत्ते का दोना बाँधकर उसमें नमक देते और कभी बिना नमक का आहार भी देते । एक दिन उन्होंने पत्तों के दोने में बहुत-सा नमक दिया । विदेह-तपस्वी

ने नमक ले बोधिसत्व के भोजन करने के समय उसे बहुत-सा दे और अपने यथोचित ले शेष नमक को 'नमक न मिलने के दिन काम में आयगा' सोच पत्ते के दोने में बाँध, घास की बत्ती के बीच में रख दिया।

एक दिन बिना नमक का आहार मिला तो विदेह-तपस्वी ने गन्धार-तपस्वी को उसका भिक्षा-पात्र दिया और घास की बत्ती में से नमक लाकर कहा—"आचार्य्य ! नमक लें।"

"आज तो लोगों ने नमक नहीं दिया, तुझे कहाँ से मिला ?"

"आचार्य्य ! एक दिन पहले लोगों ने बहुत नमक दे दिया था। मैंने 'नमक न मिलने के दिन काम आयेगा' सोच शेप नमक रख दिया।"

बोधिसत्व ने उसे डांटा—"मूर्ख ! तीन सौ योजना का विदेह राष्ट्र छोड़कर प्रव्रजित हुआ और अकिञ्चन होकर अब नमक की कंकरी में तृष्णा पैदा करता है ?" उसे उपदेश देते हुए बोधिसत्व ने पहली गाथा कही—

हित्वा गाम सहस्सानि परिपुण्णानि सोळस,
कोट्ठागारानि फीतानि सन्निधिंदानि कुब्बसि॥१॥

[हजारों गाँव और सोलह हजार स्मृद्ध भरे हुये भण्डारों को छोड़कर अब संग्रह करता है।]

गंधार-तपस्वी की इस प्रकार की निन्दा उसे सहन नहीं हुई। उसने विरोधी बन कहा—"आचार्य्य ! तुम अपना दोष नहीं देखते। तुम मेरा ही दोष देखते हो। क्या तुम यह सोचकर प्रव्रजित नहीं हुए थे कि मुझे किसी दूसरे को उपदेश देने से क्या लाभ, मैं अपने को ही उपदेश दूँगा ? तुम मुझे अब किस लिये उपदेश देते हो ?" उसने दूसरी गाथा कही—

हित्वा गन्धारविसयं पहूतधनधानियं,
पसासनातो निकखन्तो इधदानि पसाससि॥२॥

[धन-धान्य से भरा हुआ गन्धार राज्य छोड़कर दूसरों को उपदेश देने से विरक्त हुये। अब फिर उपदेश देते हो ?]

यह सुन बोधिसत्व ने तीसरी गाथा कही—

धम्मं भणामि वेदेह अधम्मो मे न रुच्चति,
धम्मं मे भणमानस्स न पापमुपलिप्पति॥३॥

[मैं विदेह-तपस्वी को धर्म कहता हूँ, मुझे अधर्म अच्छा नहीं

लगता । मुझे धर्म कहने से पाप नहीं लगता ।]

विदेह-तपस्वी ने बोधिसत्व की बात सुन कहा--"आचार्य्य ! हितकर बात कहनी हो तो भी दूसरे को चोट पहुँचा कर गुस्से करके नहीं कहनी चाहिये । तूने मुझे कुंद उस्तरे से मूँड़ने की तरह बहुत कर्कश बात कही ।" उसने चौथी गाथा कही--

येनकेनचि वण्णेन परो लभति रुप्पनं,
महत्थियम्पि चे वाचं न तं भासेय्य पण्डितो ॥४॥

[पण्डित को चाहिये कि यदि दूसरे को किसी प्रकार का भी दुःख होता हो तो बड़ी हितकर बात भी न कहे ।]

तब बोधिसत्व ने पाँचवीं गाथा कही--

कामं रुप्पतु वा मा वा भुसं वा विकिरिय्यतु,
धम्मं मे भणमानस्स न पापमुपलिप्पति ॥५॥

[चाहे दुखी हो चाहे न हो, चाहे कथन को भूसे की तरह बिखेर दे. मुझे धर्म कहने से पाप नहीं लगता ।]

यह कह और उपदेश देने के लिये निम्नलिखित दो गाथायें कही--

नो चे अस्स सका बुद्धि विनयो वा सुसिक्खितो,
वने अन्धमहिसोव चरेय्य बहुको जनो ॥६॥
यस्मा च पन इधेकच्चे आचारम्हि सुसिक्खिता,
विनीतविनया धीरा चरन्ति सुसमाहिता ॥७॥

[यदि (किसी की) अपनी बुद्धि न हो और उसने रहन-सहन का उचित ढंग भी न सीखा हो तो वैसे जन उसी प्रकार विचरते हैं, जैसे वन में अन्धा भैंसा । इसीलिए यहाँ कुछ सुशिक्षित, सुविनीतजन संयत ढंग से विचरते हैं ।]

यह सुन विदेह-तपस्वी ने कहा--"आचार्य्य ! अब से मुझे उपदेश दिया करें । मैंने असहनशील होने के कारण आपको जो कहा, सो क्षमा करें ।"

वे एक साथ रहकर फिर हिमालय ही को चले गये । वहाँ बोधिसत्व ने विदेह-तपस्वी को योग के लिये आधार बताया । उसने उसका अभ्यास कर अभिञ्ञा तथा समापत्तियों को प्राप्त किया । वे दोनों ध्यान लाभी हो ब्रह्मलोकपरायण हुए ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला जातक का मेल बैठाया । उस समय विदेह-तपस्वी आनन्द था । गन्धार राजा मैं ही था ।

४०७. महाकपि जातक

"अत्तानांसङ्कमं कत्वा..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय जाति-उपकार के बारे में कही। (वर्त्तमान) कथा भद्दसाल जातक[1] में आयेगी। उस समय धर्मसभा में बात चली—"आयुष्मानो ! सम्यक् सम्बुद्ध जाति-उपकार करते हैं।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ ! बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ ! न केवल अभी तथागत ने जाति उपकार किया है, पहले भी किया ही है," कह पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व बन्दर की योनि में पैदा हुये। वह शक्ति बल वाला, पाँच सौ हाथियों के बराबर बल वाला, अस्सी हजार बन्दरों के साथ हिमालय में रहता था। वह गङ्गातट पर टहनी-शाखा वाला, घनी छायावाला, घने पत्तों वाला तथा पर्वत के शिखर की तरह ऊँचा एक आम का वृक्ष था। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि न्यग्रोध वृक्ष था। उसके मधुर फल दिव्य रसगन्ध सदृश थे और बड़े-घड़े जितने बड़े-बड़े। उसकी एक शाखा के फल थल पर गिरते थे और एक के फल गङ्गाजल में। दोनों शाखाओं के बीच के फल वृक्ष की जड़ में गिरते थे।

बन्दर-समूह को लेकर वहाँ फल खाते-खाते बोधिसत्व ने एक समय यह सोचा कि उस वृक्ष के जो फल पानी में गिरते हैं उनके कारण हमें खतरा हो सकता है। तब से उसने पानी के ऊपर की शाखा के सारे-के-सारे फल या तो फूल रहते ही या आम्बी रहते ही खिलवा देने या गिरवा देने आरम्भ किये। ऐसा होने पर भी अस्सी हजार वानरों की दृष्टि से ओझल, दोने से ढका रहा एक पका फल नदी में गिरा और नदी के ऊपर तथा नीचे जाल बँधवा कर जल क्रीड़ा करने वाले वाराणसी-नरेश के ऊपर के जाल में जा

---

१. भद्दसाल जातक (४६५)।

लगा। राजा दिन भर खेल कर जब शाम को जाने लगा तो मच्छुओं ने जाल उठाया और उस फल को देख बिना यह जाने कि यह कैसा फल है राजा को दिखाया।

राजा ने पूछा—"इस फल का क्या नाम है?

"देव! नहीं जानते हैं।"

"कौन पहचान सकेंगे?"

"देव! वन-चर मनुष्य।"

उसने जंगली मनुष्यों को बुलवा कर उनसे यह मालूम किया कि यह पका आम है। फिर छुरी से काटकर पहले जंगली मनुष्यों को खिलाया और तब स्वयं खाया। उसने स्त्रियों तथा अमात्यों को भी दिलवाया। पके आम का रस राजा के सारे शरीर में व्याप गया।

उसने रसतृष्णा के वशीभूत हो जंगली मनुष्यों से पूछा कि वह वृक्ष कहाँ? उन्होंने बताया कि हिमालय प्रदेश में नदी के तट पर है। राजा ने बहुत-सी नावों को बँधवाया और जंगली मनुष्यों के बताये रास्ते से धार के ऊपर की ओर बढ़ा। यह नहीं कहा जा सकता कि कितने दिन लगे। क्रमशः वहाँ पहुँच कर जंगली मनुष्यों ने राजा से कहा—"देव यह वह वृक्ष है।"

राजा ने नौका रुकवा दी और बहुत-से मनुष्यों को साथ ले पैदल वहाँ पहुँचा। वृक्ष की छाया में शैय्या बिछवा दी। फिर पके आमों के नाना प्रकार के बढ़िया रसों का आनन्द लेता रहा। चारों ओर पहरा खड़ा कर दिया गया और आग जला दी गई। आदमियों के सो जाने पर आधी रात के समय बोधिसत्व अपने साथियों सहित आ पहुँचे। अस्सी हजार बानर एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदते हुये आम खाने लगे।

राजा की आँख खुली तो बानर-सेना को देख उसने लोगों को जगाया और धनुर्धारियों को आज्ञा दी—"इन्हें घेर कर मारो जिससे यह फल खाने वाले बानर भाग न सकें। कल आम और बानर-मांस खायेंगे।" धनुर्धारियों ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और वृक्षों को घेर तीर तान कर खड़े हो गये। उन्हें देख मृत्युभय से भयभीत बानर (जो भाग नहीं सकते थे) बोधिसत्व के पास आये और काँपते हुए खड़े होकर कहने लगे—"देव! क्या करें? धनुर्धारी वृक्ष घेरे खड़े हैं कि भागने वाले बानर को मारेंगे।"

बोधिसत्व ने वानरों को आश्वासन दिया—डरो मत। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। फिर एक सीधी ऊपर की ओर जाने वाली शाखा पर चढ़ा। उसने नदी की ओर बढ़ी हुई शाखा पर झुक, उसके सिरे पर पहुँच, कूद पड़ा। वह धनुष भर चौड़ा स्थान कूद, नदी के किनारे एक झाड़ पर आया। फिर ऊपर चढ़ उसने अंदाजा लगाया कि जितना स्थान मैं कूद आया हूँ वह इतना होगा। उसने एक बेत को उसकी जड़ से काट सीधा किया और हिसाब लगाया कि इतना हिस्सा वृक्ष में बँधेगा और इतना हिस्सा आकाश में रहेगा। उसने इन दो का तो हिसाब लगाया, किन्तु अपनी कमर बाँधने के हिस्से की ओर ध्यान नहीं दिया।

उसने वह लता ली और एक सिरा गङ्गा तट पर स्थित वृक्ष से बाँध कर दूसरा अपनी कमर से बांधा। फिर हवा से कटे बादल की तरह जोर से धनुष भर जगह कूदा। लेकिन, क्योंकि उसे कमर में बाँधने लायक लता का ध्यान नहीं रहा था, इसलिए वह वृक्ष तक नहीं पहुँच सका। तब उसने दोनों हाथ फैलाकर आम की शाखा को दृढ़तापूर्वक पकड़ वानरों को इशारा किया—शीघ्र मेरी पीठ पर से होते हुये सकुशल निकल जाओ। अस्सी हजार वानर बोधिसत्व को नमस्कार कर क्षमा माँग ऊपर से निकल गये।

उस समय देवदत्त भी बन्दर होकर उन्हीं के बीच में था। उसने सोचा यह अपने शत्रु से बदला लेने का समय है। वह ऊपर की शाखा पर चढ़ा और जोर से उसकी पीठ पर गिरा। बोधिसत्व का हृदय फट गया। बोधिसत्व के हृदय में चोट लगी। बड़ी पीड़ा हुई। वह भी दुःख मात्र देकर निकल गया। बोधिसत्व अकेले रह गये।

राजा ने जागते रह कर वानरों और बोधिसत्व की सारी करनी देखी और सोचा—इसने पशु होकर भी अपनी जान की परवाह न कर परिषद का कल्याण किया। उसने रात के बीतने पर प्रातःकाल होने पर बोधिसत्व से प्रसन्न हो निश्चय किया कि इस कपिराज को मारना उचित नहीं। इसे कौशल से उतार कर पालूँगा। उसने गङ्गा में नौकाओं का समूह खड़ा करवाया और सीढ़ी बँधवा बोधिसत्व को आहिस्ता से उतरवाया। फिर पीठ पर काषायवस्त्र बँधवा, नदी के जल से स्नान कराया और खाँड का शरबत पिलवाया। जब शरीर निर्मल हो गया तो सहस्रपाक तैल से मालिश कराई

और शैंय्या पर भेड़ का चमड़ा बिछवा उस पर लिटाया। तब स्वयं नीचे आसन पर बैठ पहली गाथा कही —

अत्तानं सङ्कमं कत्वा यो सोत्थिं समतारयि,
किं त्वं तेसं किमो तुय्हं होन्ति एते महाकपि ॥१॥

[हे महाकपि ! तूने अपने को खतरे में डालकर जो इन्हें सकुशल अपने ऊपर से पार उतारा सो तू इनका क्या लगता है और यह तेरे क्या लगते हैं ?]

यह सुन बोधिसत्व ने राजा को उपदेश देते हुए शेष गाथायें कहीं—

राजाहं इस्सरो तेसं यूथस्स परिहारको,
तेसं सोकपरेतानं भीतानं ते अरिन्दम ॥२॥
उल्लङ्घयित्वा अत्तानं विस्सट्ठ धनुनो सतं,
ततो अपरपादेसु दलहं बद्धं लतागुणं ॥३॥
छिन्नब्भमिव वातेन नुण्णो रुक्खं उपागमिं,
सोहं अप्पभवं तत्थ साखं हत्थेहि अग्गहिं ॥४॥
तं मं वियायतं सन्तं साखाय च लताय च,
समनुक्कमन्ता पादेहि सोत्थिं साखा मिगागता ॥५॥
तं मं न तपते बन्धो वधो मे न पतेस्सति,
सुखमाहरितं तेसं येसं रज्जमकारयिं ॥६॥
एसा ते उपमा तं सुणोहि अरिन्दम
रञ्ञा रट्ठस्स योग्गस्स बलस्सनिगमस्स च,
सब्बेसं सुखमेत्थब्बं खत्तियेन पजानता ॥७॥

[हे राजन् ! मैं उन तुझ से डरे हुये शोकाकुलों का राजा हूँ। मैं उनका ईश्वर हूँ। मैं गण का नायक हूँ। मैंने सौ धनुष भर छलांग मार कर दूसरी ओर दृढ़तापूर्वक लता को बाँधा और हवा से टूटे हुए बादल की तरह उड़कर वृक्ष की ओर लौटा। लेकिन पहुँच न सकने के कारण मैंने हाथ से शाखा को पकड़ा। इस प्रकार मैं शाखा और लता के बीच में फैला था और बन्दर मेरे ऊपर से चलकर सकुशल चले गये। इसलिये मुझे न यह बन्धन कष्ट देता है और न मरना ही कष्ट देगा; क्योंकि मैंने जिन पर राज्य किया मैं उनके सुख का कारण हुआ। हे राजन् ! यह तेरे लिये उपमा है,

इसे सुन। जो बुद्धिमान् क्षत्रिय (=राजा) है उसके द्वारा राष्ट्र को, रथों को, सेना को, निगम-वासियों को—सब को सुख प्राप्त होना चाहिये।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा को उपदेश देते हुए तथा अनुशासन करते हुये काल किया। राजा ने अमात्यों को बुलवाया और आज्ञा दी कि इस कपि-राज की दाह-क्रिया राजाओं की सी की जाय। उसने स्त्रियों को भी आज्ञा दी कि तुम लाल वस्त्र पहन कर, खुले बाल, हाथों में मसाल लेकर कपिराज के पीछे-पीछे श्मशान-भूमि तक जाओ।

अमात्यों ने लकड़ी की सौ गाड़ियाँ ले चिता बनवाई और राजाओं की दाह-क्रिया की ही तरह बोधिसत्व की दाह-क्रिया कर उसकी खोपड़ी को राजा के पास ले गये। राजा ने बोधिसत्व की दाह-क्रिया के स्थान पर चैत्य बनवाया और दीप जलाकर गन्धमालादि से पूजा की। फिर खोपड़ी को सोने में जुड़वा, बल्लम पर रखवा उसे आगे कर गन्धमालादि से पूजता हुआ वाराणसी गया। फिर उसे राजद्वार में रख सारे नगर को सजवा सप्ताह भर पूजा कराई।

फिर (शरीर-) धातु ले, उस पर चैत्य बनवा जीवन भर गन्धमालादि से पूजता हुआ वह राजा बोधिसत्व के उपदेश के अनुसार चल दानादि पुण्य करता हुआ धर्मानुसार राज्य चला स्वर्ग-गामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। तब राजा आनन्द था। दुष्ट कपि देवदत्त था। परिषद, बुद्ध-परिषद थी। कपिराज तो मैं ही था।

———

४०८. कुम्भकार जातक

"अम्बाहमद्दं वनमन्तरस्मिं. . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कामुकता के निग्रह के बारे में कही। कथा पाणीय जातक[1] में आयेगी।

क. वर्त्तमान कथा

उस समय श्रावस्ती में पाँच सौ मित्र प्रव्रजित हो करोड़ों बिछे घर में रहते थे। उनके मन में आधी रात को कामुकता के संकल्प पैदा हुये। शास्ता रात में तीन बार, दिन में तीन बार, रात-दिन में छः बार ध्यान देकर अपने शिष्यों की रक्षा वैसे ही करते थे जैसे मुर्गी अण्डे की, चंवरी पूँछ की, माता अपने प्रिय-पुत्र की तथा काना अपनी एक आँख की। जिस-जिस समय कामुकता का संकल्प पैदा होता, वह उसी समय उसका दमन करते। उस दिन आधी रात के समय जेतवन का ध्यान करते हुए उन भिक्षुओं के संकल्प-विकल्पों की बात जान सोचा कि इन भिक्षुओं के मन में यदि यह संकल्प बढ़ गया तो अर्हत्व के हेतु को काट डालेगा। अभी उनके कामुकता के संकल्प को नष्ट कर उन्हें अर्हत् बनाऊँगा। (शास्ता) गन्धकुटी से निकले और आनन्द स्थविर को बुलवाकर आज्ञा दी--"आनन्द! करोड़-बिछे घर में रहने वाले सभी भिक्षुओं को इकट्ठा करो।" उन्हें इकट्ठा करा स्वयं बिछे बुद्धासन पर विराजमान हो कहा—"भिक्षुओं! मन के भीतर के संकल्प-विकल्पों के वशीभूत नहीं होना चाहिये। कामुकता वृद्धि पाने पर शत्रु की तरह महाविनाश का कारण होती है। भिक्षु को चाहिये कि वह थोड़ी भी कामुकता का दमन करें। पुराने पण्डितों ने जरा सी चीज को देखने से मन में पैदा हुए काम-संकल्प का दमन कर प्रत्येक-बुद्धत्व को प्राप्त किया।" इतना कह पूर्वजन्म की कथा कही।

---

१. पाणीय जातक (४५९)।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व वाराणसी नगर के द्वार-ग्राम में कुम्हार के कुल में पैदा हुए। बड़े होने पर कुटुम्बवाले ही एक पुत्र और पुत्री प्राप्त कर कुम्हार का काम कर स्त्री-पुत्र का पालन करते थे।

उसी समय कालिङ्ग-राष्ट्र के, दन्तपुर नगर में करण्डु नाम का राजा रहता था। उसने बहुत से अनुयायियों के साथ उद्यान में जाते हुए फलों के भार से लदा हुआ एक आम का वृक्ष देखा। उसने हाथी के कन्धे पर बैठे ही बैठे हाथ बढ़ाकर एक आम तोड़ लिया और उद्यान में जा मङ्गल-शिला पर बैठ जिन्हें देना उचित था उन्हें दे, आम खाया। राजा के लेने के बाद से बाकियों ने भी यह समझा कि लेने चाहिये, अमात्यों तथा ब्राह्मण-गृहपति आदि ने आमों को गिराकर खाया। पीछे आने वालों ने वृक्ष पर चढ़ मोगरीं से पीट शाखाओं को तोड़-मरोड़ कच्चे आमों को भी गिराकर खाया।

राजा दिन भर उद्यान में क्रीड़ा करता रह कर शाम को सजे सजाये हाथी के कन्धे पर बैठ कर चला। जाते समय उस वृक्ष को देख हाथी पर से उतर वृक्ष के नीचे जा वृक्ष की ओर देखते हुए सोचने लगा—प्रातःकाल इसे देखने से मन नहीं भरता था, फलों के भार से लदा हुआ यह सुन्दर लगता था। अब फल-रहित तोड़ा मरोड़ा असुन्दर लगता है। फिर उसने दूसरे फल-रहित आम्र-वृक्ष की ओर देखा और सोचा—यह फल-रहित होने से मुण्ड-मणि पर्वत की तरह सुन्दर लगता है लेकिन यह फल-युक्त होने से ही इस दुर्दशा को प्राप्त हुआ। यह गृहस्थी भी फलवाले वृक्ष की तरह है। प्रव्रज्या फलरहित वृक्ष के समान है। धनवाले को ही भय है। अकिञ्चन को भय नहीं। मुझे भी फल-रहित वृक्ष की तरह होना चाहिये। इस प्रकार फलित-वृक्ष का ध्यान कर वृक्ष के नीचे खड़े ही खड़े (अनित्य, दुःख, अनात्म) तीनों लक्षणों पर विचार कर विपश्यना-भावना में वृद्धि की। उसने खड़े-खड़े प्रत्येक-बोधि ज्ञान को प्राप्त कर बार-बार सोचा— माता की कोख रूपी कुटिया का मैंने नाश कर दिया, तीनों भवनों में जन्म की संभावना छिन्न-

भिन्न हो गई, संसार-रूपी कूड़े-कचड़े का स्थान शुद्ध कर दिया, आँसुओं के समुद्र को सुखा दिया, हड्डियों की चार-दीवारी टूट गई। अब फिर मेरा जन्म नहीं होगा। इस प्रकार सोचता हुआ वह सब अलङ्कारों से सजा सजाया खड़ा रहा।

अमात्य बोले--"महाराज ! खड़े-खड़े बहुत देर हो गई।"

"हम राजा नहीं हैं, हम प्रत्येक-बुद्ध हैं।"

"देव, प्रत्येक-बुद्ध तुम्हारे जैसे नहीं होते।"

"कैसे होते हैं ?"

"उनके मुँह-सिर के बाल मुँड़े होते हैं। वे हवा से नष्ट बादल और राहु से मुक्त चन्द्रमा की तरह होते हैं। वे हिमालय में नन्दमूल पर्वत पर रहते हैं। देव, प्रत्येक-बुद्ध ऐसे होते हैं।"

उसी समय राजा ने हाथ उठाकर अपने सिर को स्पर्श किया। तुरन्त गृहस्थ-वेष अन्तर्धान हो गया और श्रमण-वेष प्रकट हुआ।

"तीचीवरञ्च पत्तो च वासि सूची च बन्धनं,
परिस्सावणेन अट्ठेते युत्तयोगस्य भिक्खुनो॥"

[योगी भिक्षु के तीन चीवर, एक पात्र, एक छुरी-कुल्हाड़ी, एक सूई, एक काय-बन्धन और पानी छानने का कपड़ा—यह आठ (परिष्कार) होते हैं।]

उक्त प्रकार वर्णित परिष्कार उसके शरीर से लगे ही प्रकट हुए। उसने आकाश में खड़े हो जनता को उपदेश दिया और आकाश-मार्ग से उत्तर-हिमालय में नन्दमूल पर्वत को चला गया।

गन्धार राष्ट्र में भी तक्षशिला नगर में नग्गजी नाम का महाराज रहता था। उसने प्रासाद के ऊपर सुन्दर आसन पर बैठे-बैठे एक स्त्री को देखा। वह एक-एक हाथ में एक-एक कङ्गन पहने थोड़ी दूर बैठी सुगन्धी पीस रही थी। उसने देखा एक-एक हाथ में एक-एक कङ्गन होने के कारण न रगड़ होती है न आवाज। तब उसने दहने हाथ का कङ्गन बायें हाथ में पहन लिया और दहने हाथ से सुगन्धी को समेटती हुई पीसने लगी। दहने हाथ का कङ्गन दूसरे (से मिलने) के कारण आवाज करनें लगा। राजा ने उन दो कङ्गनों को परस्पर रगड़ खाते और आवाज करते देख सोचा—"यह

कङ्गन अकेला था तो रगड़ नहीं खाता था, अब दूसरे के कारण रगड़ खाता है और आवाज करता है। इसी प्रकार यह प्राणी भी अकेले-अकेले न रगड़ खाते हैं न आवाज करते हैं। दो तीन होने से रगड़ खाते हैं, आवाज करते हैं। मैं कश्मीर-गन्धार के दो राज्यों के निवासियों पर फैसले देता हूँ। मुझे भी चाहिये कि मैं अकेले कङ्गन की तरह होकर दूसरों पर फैसले न दे अपना ही विचार करता हुआ रहूँ।" (इस प्रकार) रगड़ खाने वाले कङ्गन का ध्यान कर उसने बैठे ही बैठे तीनों लक्षणों का विचार कर विपश्यना की वृद्धि करते हुए प्रत्येक-बोधि ज्ञान प्राप्त किया।. . .शेष पूर्ववत्।

विदेह राष्ट्र के मिथिला नगर में निमि राजा रहता था। प्रातःकाल के भोजन के बाद वह मन्त्रिगण से घिरा हुआ खिड़की के सामने खड़ा-खड़ा गली में देख रहा था। एक चील ने सूनी दुकान से एक माँस का टुकड़ा उठाया और आकाश में उड़ी। इधर-उधर के गीध आदि पक्षी उसे घेर उससे भोजन छीनने के लिये उसे चोंच से बींधने लगे, परों से मारने लगे और पंजों से मर्दन करने लगे। चोटों को न सह सकने से उसने मांस को छोड़ दिया। दूसरे पक्षी ने ले लिया। पक्षियों ने चील को छोड़ उसका पीछा किया। उससे भी छूटा, तो दूसरे ने ग्रहण किया। उसे भी उसी तरह कष्ट देने लगे। राजा ने उन पक्षियों को देख सोचा—"जिस जिसने माँस का टुकड़ा लिया उसे उसे ही दुःख रहा, जिस जिसने छोड़ा उसे ही सुख मिला। इन पाँच काम-भोगों को भी जो-जो ग्रहण करता है उसी को दुःख होता है, दूसरे को सुख। ये काम-भोग बहुतों के लिये साधारण है; मेरे पास तो सोलह हजार स्त्रियाँ हैं। मुझे उस चील की तरह जिसने मांस के टुकड़े को छोड़ दिया पाँच काम-भोगों को त्याग सुखपूर्वक रहना चाहिये।" उसने ठीक-ठीक विचार कर खड़े ही खड़े तीनों लक्षणों का ध्यान कर विपश्यना भावना की वृद्धि की और प्रत्येक-बोधि को प्राप्त किया।. . .शेष पूर्ववत्।

उत्तर-पञ्चाल राष्ट्र में कम्पिल नगर में दुर्मुख नाम का राजा था। प्रातःकाल के भोजन के बाद सब अलङ्कारों से सजा-सजाया वह अपने अमात्य-गण के साथ झरोखे के सामने खड़ा-खड़ा राजाङ्गन की ओर देख रहा था। उसी समय ग्वालों ने ब्रज का द्वार खोला। वृषभ ब्रज से निकले तो कामुकता के वशीभूत हो उन्होंने एक गौ का पीछा किया। वहीं एक

नुकीले सींगों वाले बड़े साण्ड ने दूसरे साण्ड को आते देखा तो काम-मात्सर्य्य के वशीभूत हो नुकीले सींग से उसकी जाँघ में प्रहार किया। चोट के जोर से आँते बाहर निकल आईं। वहीं उसका प्राणान्त हो गया। राजा ने यह देख सोचा—"पशुओं से लेकर यह सारे प्राणी कामुकता के कारण कष्ट पाते हैं। यह वृषभ कामुकता के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ। दूसरे भी प्राणी कामुकता के ही कारण काँपते हैं। मुझे चाहिये कि मैं इन प्राणियों को हिला देने वाले काम-भोगों को छोड़ दूँ।" उसने खड़े ही खड़े तीनों लक्षणों का ध्यान कर विपश्यना में वृद्धि की और प्रत्येक-बोधि प्राप्त की।...... ....शेष पूर्ववत्।

एक दिन वे चारों प्रत्येक-बुद्ध भिक्षाटन के समय का ख्याल कर, नन्दमूल पर्वत से निकल, अनोतप्त सरोवर पर नागलता की दातुन कर, शौच से निवृत्त हो, मनोशिलातल पर खड़े हुये। उन्होंने (चीवर) पहन पाँच चीवर लिये और बुद्धि-बल से आकाश में उड़ पाँच वर्णों के बादलों का मर्दन करते हुये जाकर वाराणसी नगर के द्वार-ग्राम से थोड़ी ही दूर उतरे। वहाँ एक आराम की जगह पर चीवर पहन, पात्र ले द्वार-ग्राम में प्रवेश किया और भिक्षाटन करते हुये बोधिसत्व के गृह-द्वार पर पहुँचे।

बोधिसत्व ने उन्हें देखा तो प्रसन्न हुये और घर में लिवा लाकर बिछे आसन पर बिठाया। फिर दक्षिणोदक दे, बढ़िया भोजन परोसा और एक ओर बैठ संघ-स्थविर को प्रणाम कर पूछा—"भन्ते! आपकी प्रव्रज्या बहुत सुशोभित है। इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं। छबि-वर्ण सुन्दर है। किस बात का ध्यान कर आपने इस भिक्षु-जीवन (प्रव्रज्या) को ग्रहण किया।" संघ-स्थविर की तरह औरों के भी पास जाकर पूछा। उन चारों ने 'मैं अमुक राष्ट्र में, अमुक नगर में, अमुक राजा था' आदि कह कर अपनी-अपनी अभिनिष्क्रमण-कथा कही और (उन्होंने उसके साथ) क्रमशः एक गाथा कही :—

अम्बाहमद्दं　　वनमन्तरस्मिं
नीलोभासं　फलितं　संविरूलहं,
तमद्दसं　　फलहेतु　विभग्गं
तं दिस्वा भिक्खाचरियं चरामि ॥१॥

[मैंने वन में आम के वृक्ष को देखा। वह हरा था। वह फलयुक्त

था। वह उठा हुआ था। मैंने देखा कि वह फल के कारण तोड़-मरोड़ दिया गया है। उसे देखकर मैं भिक्षु हो गया ॥ १ ॥]

सेलं सुमट्ठं नरवीरनिट्ठितं
नारी युगं धारयि अप्पसद्दं,
दुतियञ्च आगम्म अहोसि सद्दो
तं दिस्वा भिक्खाचरियं चरामि ॥२॥

[चतुर कारीगर के बनाये हुये कङ्गनों की जोड़ी को नारी ने एक-एक हाथ में एक करके धारण किया तो वे निःशब्द थे। लेकिन दोनों के एक हाथ में आ जाने से शब्द हुआ। उसे देखकर मैं भिक्षु हो गया ॥ २ ॥]

दिजं दिजं कुणपमाहरन्तं
एकं समानं बहुका समेच्च,
आहारहेतु परिपातयिसु
तं दिस्वा भिक्खाचरियं चरामि ॥३॥

[मांस का टुकड़ा ले जाने वाले एक पक्षी को बहुत से पक्षियों ने आकर मार गिराया। उसे देखकर मैं भिक्षु हो गया ॥ ३ ॥]

उसमाहमद्दं यूथस्स मज्झे
चलक्ककुं वण्णबलूपपन्नं,
तमद्दसं कामहेतु वितुन्नं
तं दिस्वा भिक्खाचरियं चरामि ॥४॥

[मैंने वर्ण-बल से युक्त वृषभ को गो-यूथ के बीच में देखा। फिर काम-भोग के कारण उसी वृषभ को मरा देखा। उसे देखकर मैं भिक्षु हो गया ॥४॥]

बोधिसत्व ने एक-एक गाथा सुन एक-एक प्रत्येक-बुद्ध की स्तुति की— "भन्ते ! यह ध्यान आप ही के योग्य है।" उन चारों जनों से उपदिष्ट धर्म-कथा सुनकर, प्रत्येक-बुद्धों के चले जाने पर, उसने प्रातःकाल का भोजन कर चुकने पर, सुखपूर्वक बैठ भार्य्या को बुलाया—"भद्रे ! यह चारों प्रत्येक-बुद्ध राज्य छोड़ प्रव्रजित हुये। ये अकिञ्चन हो, बाधा-हीन हो प्रव्रज्या-सुख का आनन्द लेते हैं। मैं नौकरी से जीविका चलाता हूँ। मुझे गृहस्थी से क्या ? तू पुत्रों का पालन करती हुई घर में रह।" यह कह दो गाथायें कहीं—

करण्डुनाम कलिङ्गानं गन्धारानञ्च नग्गजी,
निमिराजा विदेहानं पञ्चलानञ्च दुम्मुखो,
एते रट्ठानि हित्वान पब्बजिंसु अकिञ्चना ॥५॥

सब्बेपि मे देवसमा समागता
अग्गि यथा पज्जलितो तथेविमे,
अहम्पि एकोव चरिस्सामि भग्गवि
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥६॥

[कलिङ्ग-नरेश करण्डु, गन्धार-नरेश नग्गजी, विदह-नरेश निमि और पञ्चाल-नरेश दुम्मुख--ये चारों नरेश राष्ट्रों को छोड़ अकिञ्चन हो प्रव्रजित हुये ॥५॥ यह सब प्रज्वलित अग्नि की तरह शोभायमान देवताओं की तरह आये। हे भग्गवी ! मैं भी इन काम-भोग रूपी उपाधियों को छोड़ अकेला विचरूँगा ॥६॥]

उसकी बात सुनी तो वह बोली--"स्वामी ! जब से प्रत्येक-बुद्धों की धर्म-कथा सुनी तब से मेरा भी चित्त घर में नहीं लगता।" उससे यह गाथा कही—

अयमेव कालो न हि अञ्ञो अत्थि
अनुसासिता मे न भवेय्य पच्छा,
अहम्पि एका चरिस्सामि भग्गव
सकुणीव मुत्ता पुरिसस्स हत्था ॥७॥

[यही समय है, दूसरा नहीं। बाद में कोई उपदेष्टा न मिलेगा। मैं भी भग्गव ! पुरुष के हाथ से मुक्त पंछी की तरह अकेली विचरूँगी ॥७॥]

बोधिसत्व उसकी बात सुन चुप रहे। उसने बोधिसत्व को चकमा दे बोधिसत्व से भी पहले प्रव्रजित होने की इच्छा से कहा—"स्वामी ! जल लेने जाती हूँ। बच्चों को देखना।" वह घड़ा लेकर जाती हुई की तरह निकली और भागकर नगर की सीमा पर तपस्वियों के पास पहुँच प्रव्रजित हुई। बोधिसत्व को जब मालूम हुआ कि वह नहीं आयेगी तो स्वयं बच्चों का पालन-पोषण किया।

आगे चलकर उनके कुछ बड़े होने पर, होश संभालने पर, उनकी परीक्षा लेने के लिये बोधिसत्व ने भात पकाते हुए एक दिन भात को कुछ

कच्चा रखा, एक दिन थोड़ा गीला रखा, एक दिन अच्छी तरह पकाया, एक दिन बहुत गीला रखा, एक दिन अलूना रखा, एक दिन बहुत नमक डाल दिया। बच्चे बोले—"तात ! आज भात कच्चा है, आज बहुत गीला है, आज अच्छी तरह पका है, आज अलूना है और आज बहुत नमक है।" बोधिसत्व ने उत्तर दिया "हाँ तात !" और सोचने लगे कि यह बच्चे अब कच्चा, पक्का, अलूना और बहुत-नमकीन जान गये। अब यह अपनी सामर्थ्य से जीते रहेंगे। मुझे प्रव्रजित होना चाहिये।

उन बच्चों रिश्तेदारों को दे उन्हें सौंपा—"अम्म ! तात ! इन बच्चों का अच्छी तरह पालन करना।" रिश्तेदारों को रोता ही छोड़ नगर से निकल ऋषियों के प्रव्रज्या क्रम से प्रव्रजित हो, वह नगर के सीवान पर ही रहा। एक दिन उसे वाराणसी में भिक्षा माँगते हुये परिव्राजिका ने देख लिखा। वह प्रणाम कर बोली—"आर्य ! मालूम होता है बच्चों का तुमने अंत कर दिया।" बोधिसत्व ने उत्तर दिया—"मैंने बच्चों को नष्ट होने नहीं दिया। मैंने बच्चों को भला-बुरा पहचानने योग्य होने पर प्रव्रज्या ग्रहण की। तू उनकी चिन्ता न कर, प्रव्रज्या में प्रसन्न रह।" उसने (यह) अन्तिम गाथा कही—

आमं पक्कञ्च जानन्ति अथो लोणं अलोणकं,
तमहं दिस्वान पब्बजिं चरेव त्वं चरामहं ॥८॥

[वे कच्चा-पक्का जानते हैं और नमकीन तथा अलूना भी। यह देखकर प्रव्रजित हुआ था। तू (सुख से) भिक्षाचर्य्या में रत रह। मैं भी भिक्षाचर्य्या में रत हूँ। ॥८॥]

इस प्रकार उस परिव्राजिका को उपदेश दे, उत्साहित किया। उसने भी उपदेश ग्रहण किया और बोधिसत्व को प्रणामकर जहाँ इच्छा थी, वहाँ गई। उस दिन के बाद फिर उन्होंने एक-दूसरे को नहीं देखा। बोधिसत्व ध्यान प्राप्त हो ब्रह्मलोकगामी हुये।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर, जातक का मेल बैठाया। सत्यों के प्रकाशन के अन्त में पाँच सौ भिक्षु अर्हत्व को प्राप्त हुये। उस समय पुत्री उत्पलवर्णा थी, पुत्र राहुलकुमार, परिव्राजिका राहुल-माता और प्रव्रजित तो मैं ही था।

———

४०९. दळ्हधम्म जातक

"अहञ्चे दळ्हधम्माय . . ." यह शास्ता ने कोसम्बी के घोसिताराम में विहार करते समय राजा उदेन की भद्रवती हस्तिनी के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस हस्तिनी को जो परिधान मिला और उदेन का राजवंश यह **मातङ्ग जातक**[1] में प्रकट होगा। एक दिन नगर से निकलते समय उस हस्तिनी ने देखा कि आर्य्यगण-सहित भगवान् अनुपम बुद्ध-रश्मि के साथ नगर में भिक्षार्थ प्रवेश कर रहे हैं। उसने भगवान् के चरणों में गिरकर रोते हुये प्रार्थना की—"भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं। सर्वलोक का निस्तार करने वाले हैं। उदेन ने जो कि राजवंश का है, जिस समय मैं तरुण थी, जिस समय मैं उपयोगी थी, यह समझ कि 'इसी की सहायता से मुझे जीवन, राज्य और देवी मिली' मुझे प्रिय जान बहुत आदर किया। सब अलङ्कारों से अलङ्कृत किया। (मेरे) खड़े होने के स्थान को अलंकृत कर, सुगन्धित करा, ऊपर स्वर्ण-तारों वाला चन्दवा तनवा, चारों ओर सुन्दर कनात खड़ी करवा, सुगन्धित तेल का दीपक जलवा, धूप की थाली रखवा, लीद करने की जगह पर सुनहरी कड़ाह रखवा, मुझे चित्रित आस्तरण पर खड़ा किया। मुझे नाना प्रकार के राजकीय श्रेष्ठ भोजन दिलवाये। लेकिन अब जब मैं बूढ़ी हो गई हूँ, काम करने में असमर्थ हो गई हूँ, तो वह सब आदर-सत्कार बन्द कर दिया। अनाथ, निराश्रित होकर जंगल में केवड़ा खाकर जी रही हूँ और कोई मुझे शरण देनेवाला नहीं। उदेन को मेरे गुण का ध्यान दिलाकर मेरा पहले जो आदर-सत्कार होता था, उसे फिर जारी करा दें।"

शास्ता ने कहा—"तू जा, मैं तेरे राजा को कहकर तेरा आदर-सत्कार पूर्ववत् करा दूंगा"; और वे राजा के निवास-स्थान पर गये। राजा ने तथागत को महल के भीतर लिवा, उस भिक्षु-संघ को जिसमें तथागत मुख्य थे, महादान

१. मातङ्ग जातक (४९७)

दिया। भोजनानन्तर अनुमोदन करते समय शास्ता ने पूछा—"महाराज ! भद्रवतिका कहाँ है ?"

"भन्ते ! पता नहीं।"

"महाराज ! उपकारी का आदर-सत्कार कर, वृद्धावस्था में उसे वापिस नहीं लेना चाहिये। कृतज्ञ, उपकार को याद रखने वाला होना चाहिये। भद्रवतिका इस समय बूढ़ी हो गई है, जरा-जीर्ण। वह अनाथ हो जंगल में केवड़ा खाकर जीती है। उसे बुढ़ापे में अनाथ करना तुम्हारे लिये अनुचित है।"

इस प्रकार तथागत ने भद्रवती के गुण कह राजा से कहा कि उसका सारा आदर-सत्कार पूर्ववत् कर दें। इतना कहकर वे चले गये। राजा ने वैसा किया। तथागत से भद्रवतिका के गुण कहकर उसका पुराना आदर-सत्कार पूर्ववत् करा दिया, यह बात सारे नगर में फैल गई। भिक्षु-संघ में भी यह बात प्रकट हो गई। भिक्षुओं ने धर्म-सभा में बात चलाई—"आयुष्मानो ! शास्ता ने भद्रवतिका के गुण कहकर उसका पुराना आदर-सत्कार पूर्ववत् करा दिया" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ ! यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?"

"अमुक बातचीत।"

"भिक्षुओ ! न केवल अभी, तथागत ने पहले भी इसकी गुण-गाथा कहकर इसके नष्ट आदर-सत्कार को पूर्ववत् कराया था।" इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में दळ्हधम्म नामक राजा राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व अमात्य-कुल में पैदा हो बड़े होने पर उस राजा की सेवा में रहने लगे। बोधिसत्व को उस राजा से बहुत ऐश्वर्य्य मिला। वे अमात्य-रत्न पद पर प्रतिष्ठित हुए। उस समय उस राजा के पास एक ओट्ठिव्याधि (?) हस्तिनी थी, शक्तिशालिनी महाबलवती। एक दिन में वह सौ योजन चली जाती थी। राजा के संदेश-वाहक का कार्य्य करती थी। संग्राम में युद्ध करके शत्रु का मर्दन करती थी। राजा ने यह सोच कि यह मेरा बहुत उपकार करती है, उसे सब अलङ्कार दे, उसका वह सब आदर-सत्कार किया जो राजा

उदेन ने भद्रवतिका का किया था। फिर उसके वृद्ध-दुर्बल हो जाने पर राजा ने उसका सब आदर-सत्कार (वापिस) ले लिया। तब से वह अनाथ होकर जंगल में घास-पत्ते खाकर जीने लगी।

एक दिन राजकुल में जब बर्तनों की कमी पड़ गई तो राजा ने कुम्भकार को बुलाकर कहा—"बर्तनों की कमी है।" "देव! गोबर लाने की गाड़ी में जोतने के लिए बैल नहीं मिलते।" राजा ने उसकी बात सुनकर पूछा—"हमारी ओट्ठि-व्याधिनी हथिनी कहाँ है?"

"देव! स्वेच्छा से जहाँ-तहाँ चरती है।"

राजा ने उसे उस कुम्हार को दे दिया—"अब से उसे जोत कर गोबर ढोओ।" कुम्हार ने "देव! अच्छा" कह वैसा ही किया।

एक दिन उसने नगर से निकलते समय देखा कि बोधिसत्व नगर में प्रवेश कर रहे हैं। वह बोधिसत्व के चरणों में गिर पड़ी और बोली—"स्वामी जब मैं तरुण थी, तो राजा ने मेरे अनेक उपकारों का ख्याल कर मुझे बहुत ऐश्वर्य्य दिया था। अब बुढ़ापे में सब बन्द कर दिया और मेरी ओर ध्यान भी नहीं देता है। मैं अनाथ हो जंगल में घास-पत्ते खाती हुई जीती हूँ। इस प्रकार मुझ दुखी को अब गाड़ी में जोतने के लिये दे दिया। तुम्हें छोड़ और कोई मुझे शरण देनेवाला नहीं। मैंने राजा का जो उपकार किया, वह तुम्हें ज्ञात है। अच्छा हो, यदि मेरा नष्ट आदर-सत्कार पूर्ववत् करा दें।" उसने तीन गाथायें कहीं—

अहञ्चे दळहधम्माय वहन्ती नाभिराधयिं,
नुदन्ती उरसि सल्लं युद्धे विक्कन्तचारिणी॥१॥
नह नून राजा जानाति मम विक्कम-पोरिसं,
संगामे सुकतन्तानि दूतविप्पहितानि च॥२॥
सानूनाहं मरिस्सामि अबन्धु अपरायिनी,
तदा हि कुम्भकारस्स दिन्ना छकणहारिका॥३॥

[यदि मैं, जो सन्देश ले जा रही हूँ, जो छाती पर बन्धे हुये शल्य आदि को शत्रु पर चलाती रही हूँ तथा युद्ध में पराक्रम दिखाती रही हूँ (राजा) दळहधम्म के चित्त को प्रसन्न नहीं रख सकती, (तो कौन रख सकेगी?) राजा निश्चय से मेरे पौरुष-विक्रम को जानता है, जो संग्राम में

मैंने सुकृत किये और जो संदेश-वाहन के कार्य्य किये। वह मैं, अब बन्धु-विहीन होकर निराश्रित मरने जा रही हूँ। मुझे राजा ने गोबर उठाने के लिये कुम्भकार को दे दिया ॥१-३॥]

बोधिसत्व ने उसकी बात सुनकर कहा—"तू चिंता मत कर। मैं राजा से कह कर तेरा आदर-सत्कार पूर्ववत् कराऊँगा।" इस प्रकार उसे आश्वासन दे, नगर में प्रवेशकर, प्रातःकाल के भोजन के बाद राजा के पास जाकर बात-चीत चलाई—"महाराज, क्या अमुक नाम की तुम्हारी ओट्ठिव्याधि (?) ने अमुक-अमुक स्थान पर छाती में शल्य बाँधकर संग्राम नहीं जीता था? अमुक दिन गर्दन में संदेश बाँधकर भेज देने पर सौ योजन नहीं गई थी? तुम ने भी उसे बहुत ऐश्वर्य्य दिया था, वह अब कहाँ है?"

"उसे मैंने कुम्हार को गोबर ढोने के लिये दे दिया।"

"महाराज! क्या तुम्हारे लिये, यह ठीक है कि तुमने उसे कुम्हार को गाड़ी में जोतने के लिये दे दिया?" पूछ उसे उपदेश देने के लिये चार गाथायें कही—

यावतासिंससति पोसो तावदेव पवीणति,
अत्थापाये जहन्तिनं ओट्ठिव्याधिं व खत्तियो ॥१॥
यो पुब्बे कतकल्याणो कतत्थो नावबुज्झति,
अत्था तस्स पलुज्जन्ति ये होन्ति अभिपत्थिता ॥२॥
यो पुब्बे कतकल्याणो कतत्थोमनुबुज्झति,
अत्था तस्स पवड्ढन्ति ये होन्ति अभिपत्थिता ॥३॥
तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता,
सब्बे कतञ्ञुनो होथ चिरं सग्गम्हि ठस्सथ ॥४॥

[कोई-कोई (मूर्ख) आदमी जब तक किसी से कुछ आशा रखता है, तभी तक उसे पोसता है और उपयोग घटने पर वह उसे उसी तरह छोड़ देता है जैसे राजा ओट्ठिव्याधि को ॥१॥ जो अपने पर पूर्व-काल में किये गये उपकार को याद नहीं रखता, उसकी मनोकामनायें नष्ट हो जाती हैं ॥२॥ जो अपने पर पूर्व-काल में किये गये उपकार को याद रखता है, उसकी मनोकामनायें वृद्धि को प्राप्त होती हैं ॥३॥ इसलिये जितने यहाँ आये हैं, उन

सब को मैं यह भले की बात कहता हूँ कि सब कृतज्ञ रहो और चिरकाल तक स्वर्ग में वास करो ॥४॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा से आरम्भकर सभी उपस्थित लोगों को उपदेश दिया। यह सुन राजा ने ओट्ठिव्याधि का आदर-सत्कार पूर्ववत् कर दिया। वह बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल दानादि पुण्यकर्म कर स्वर्ग-परायण हुआ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय ओट्ठिव्याधि भद्रवतिका थी। राजा आनन्द था और अमात्य तो मैं ही था।

---

४१०. सोमदत्त जातक

"यो मं पुरे पच्चुदेति"—यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय एक वृद्ध के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उसने एक श्रामणेर को प्रव्रजित किया। श्रामणेर उसका उपकारी था। वह किसी रोग से मर गया।। बूढ़ा उसके मरने पर रोता-पीटता घूमता था। उसे देख भिक्षुओं ने धर्म-सभा में बात-चीत चलाई—"आयुष्मानो! अमुक वृद्ध श्रामणेर के मर जाने से रोता-पीटता घूमता है। प्रतीत होता है कि यह मरणानुस्मृति-कर्म-स्थान से रहित है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ! इस समय बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो?" "अमुक बात-चीत" कहने पर शास्ता ने कहा—"भिक्षुओ! न केवल अभी यह उसके मरने पर रोता है, पहले भी उसके मरने पर रोता था।" यह कह शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ने शक्र-पद लाभ किया। एक काशी-निगमवासी श्रेष्ठ ब्राह्मण काम-भोगों को छोड़ हिमालय में प्रविष्ट हो, ऋषियों के ढंग से प्रव्रजित हो, जङ्गल के फलमूल खाकर जीता था। एक दिन फल-मूल लेने गया, तो जंगल में एक हाथी के बच्चे को देख उसे अपने आश्रम ले आया। उसने उसे पुत्रवत् समझ उसका नाम सोमदत्त रखा और घास-पत्ते खिलाकर उसे पालने लगा।

वह आयु बढ़ने पर बड़े शरीर का हुआ। एक दिन बहुत अधिक खा लेने से उसे अजीर्ण रोग हो गया। तपस्वी उसे आश्रम में छोड़ फल-मूल

लेने के लिये गया। उसके लौटकर आने के पूर्व ही हाथी-बच्चा मर गया। तपस्वी फल-मूल लेकर लौटा तो उसने यह देखा कि और दिन तो मेरा पुत्र मेरा स्वागत करता था, आज दिखाई नहीं देता, कहाँ गया, रोते हुए पहली गाथा कही :—

यो मं पुरे पच्चुदेति अरञ्ञे दूरमायतो,
सो न दिस्सति मातङ्गो सोमदत्तो कुहिं गतो ॥१॥

[जो मेरा दूर जङ्गल में ही स्वागत करता था, वह लम्बे शरीर वाला मातङ्ग दिखाई नहीं देता। कहाँ गया ? ॥१॥]

इस प्रकार रोते हुए आकर जब उसे चंक्रमण-भूमि के सिरे पर पड़ा हुआ देखा तो उसका गला पकड़ रोते हुए दूसरी गाथा कही—

अयं वा सो मतो सेति अल्लपिकव छिज्जितो,
भूम्या निपतितो सेति अमरावत कुञ्जरो ॥२॥

[टूटी लता की तरह भूमि पर गिरा हुआ यह हाथी मरा हुआ पड़ा सोता है ॥२॥]

उसी समय शक्र ने संसार पर दृष्टि डाली तो देखा कि यह तपस्वी स्त्री-पुत्र को छोड़कर प्रव्रजित हुआ, किन्तु अब हाथी-बच्चे को पुत्र मान रोता है। 'इसके मन में संवेग उत्पन्न कर इसे होश में लाऊँगा' सोच वह आश्रम पर आया और आकाश में स्थित हो तीसरी गाथा बोला—

अनगारियुपेतस्स विप्पमुत्तस्स चेतसो,
समणस्स न तं साधु यं पेतमनुसोचसि ॥३॥

[जो अनागारिक है, जो मुक्त-चित्त है, जो श्रमण है, उस तेरे लिये यह अच्छा नहीं कि तू मृत के लिये सोचे ॥३॥]

तपस्वी ने उसकी बात सुन चौथी गाथा कही—

संवासेन हवे सक्क मनुस्सस्स मिगस्स वा,
हदये जायती पेमं तं न सक्का असोचितुं ॥४॥

[हे शक्र ! चाहे मनुष्य हो या पशु हो, साथ रहने से हृदय में प्रेम पैदा हो जाता है। यह नहीं हो सकता कि उसके लिये सोच न हो ॥४॥]

उसे उपदेश देते हुए शक्र ने दो गाथायें कही—

मतं मरिस्सं रोदन्ति ये रुदन्ति लपन्ति च,
तस्मा त्वं इसि मा रोदि रोदितं मोघमाहु सन्तो ॥५॥
कन्दितेन हवे ब्रह्मे मतो पेतो समुट्ठहे,
सब्बे सङ्गम्म रोदाम अञ्ञमञ्ञस्स ञातके ॥६॥

[जो भी रोते पीटते हैं वे मृत को रोते हैं वा मरने वालों को रोते हैं। इसलिए हे ऋषि ! तू मत रो। सन्त पुरुषों ने रोने को व्यर्थ बताया है ॥५॥ हे ब्राह्मण ! यदि रोने पीटने से मृत-व्यक्ति जी जाय, तो हम सभी इकट्ठे होकर परस्पर एक-दूसरे के रिश्तेदारों को रोयें ॥६॥]

तपस्वी ने शक्र की बात सुन होश सँभाली और शोक-रहित हो, आँसू पोंछ, शक्र की स्तुति करते हुए शेष गाथायें कहीं--

आदित्तं वत मं सन्तं घतसित्तं व पावकं,
वारिना विय ओसिञ्चं सब्बं निब्बापये दरं ॥१॥
अब्बही वत मे सल्लं सोकं हदयनिस्सितं,
यो मे सोकपरेतस्स पुत्तसोकं अपानुदि ॥२॥
सोहं अब्बूळ्हसल्लोस्मि वीतसोको अनाविलो,
न सोचामि न रोदामि तव सुत्वान वासव ॥३॥

[घी पड़ी हुई आग की तरह मैं जल रहा था। तूने पानी से आग बुझा देने का तरह सारी पीड़ा को दूर कर दिया ॥१॥ जिसने मुझ शोकाकुल के पुत्र-शोक को दूर कर दिया उसने मेरे हृदय में लगे हुये शोक रूपी शल्य को निकाल दिया ॥२॥ हे वासव ! तेरी बात सुनकर मैं अब शल्य-रहित हूँ, शोक-रहित हूँ, निर्मल हूँ। इसलिये अब मैं न सोच करता हूँ, न रोता पीटता हूँ ॥३॥]

इस प्रकार शक्र तपस्वी को उपदेश दे अपने स्थान को गया। शास्ता ने यह धर्म देशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय हाथी का बच्चा श्रामणेर था, तपस्वी बूढ़ा था, और शक्र तो मैं ही था।

४११. सुसीम जातक

"कालानि केसानि पुरे अहेसुं"—यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय महाभिनिष्क्रमण के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस समय भिक्षु धर्म-सभा में बैठे शास्ता के अभिनिष्क्रमण की प्रशंसा कर रहे थे। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ ! बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत।" "भिक्षुओ ! इसमें कुछ आश्चर्य्य नहीं है कि अनेक कल्पों, कोटि-लक्ष वर्षों तक पारमिताओं को पूर्ण करने के बाद मैंने अब महाभिनिष्क्रमण किया है; मैंने (तो) पहले भी तीन सौ योजन के काशी-राष्ट्र के राज्य को छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया।" इतना कह शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उस राजा के पुरोहित की पटरानी की कोख में आये। उसके पैदा होने के दिन ही वाराणसी-नरेश का पुत्र भी पैदा हुआ। उनके नामकरण के दिन बोधिसत्व का नाम रखा गया सुसीम कुमार और राजपुत्र का ब्रह्मदत्त कुमार। वाराणसी राजा ने यह सोच कि यह मेरे पुत्र के साथ एक ही दिन पैदा हुआ है, बोधिसत्व को मंगवाकर दाई को दिलवाया। दोनों का पालन एक साथ हुआ। वे दोनों बड़े होने पर सुन्दर देवकुमारों के वर्ण के हुए और तक्षशिला जा सारी विद्यायें सीखकर आये।

राजपुत्र युवराज था तो भी बोधिसत्व के साथ-साथ ही खाता-पीता, बैठता और सोता था। पिता के मरने पर उसने बोधिसत्व को बहुत ऐश्वर्य्य

दे पुरोहित-पद पर नियुक्त किया। फिर, एक दिन नगर सजवाकर, देवेन्द्र शक्र की तरह अलङ्कृत ऐरावत सदृश श्रेष्ठ हाथी के कन्धे पर बैठ और बोधिसत्व को अपने पीछे बिठाकर नगर की परिक्रमा की। उसकी मां पुत्र को देखने की इच्छा से झरोखे में खड़ी थी। उसने नगर की परिक्रमा करके आते हुये अपने पुत्र के पीछे बैठे पुरोहित को देखा, तो उस पर आसक्त हो गई। वह खाना-पीना छोड़कर शयनागार में जा पड़ रही—यह नहीं मिलेगा तो यहीं मर जाऊँगी।

राजा ने माता को नहीं देखा तो पूछा कि मेरी माता कहाँ है? सुना—बीमार हो गई है। वह उसके पास गया और प्रणाम करके पूछा—"माँ, क्या बीमारी है?" वह लज्जा के मारे न कह सकी। वह आया और राजसिंहासन पर बैठ उसने अपनी पटरानी को बुलवाकर कहा—"जा माँ की बीमारी जानकर आ।" उसने जाकर पीठ मलते हुये पूछा—स्त्रियाँ स्त्रियों से बात नहीं छिपाती हैं। उसने उससे वह बात कह दी। दूसरी ने भी जाकर राजा से वह बात कही।

राजा बोला—'हो, उसे जाकर सान्त्वना दे। पुरोहित को राजा बनाकर उसे पटरानी बनाऊँगा।' उसने जाकर उसे सान्त्वना दी। फिर राजा ने पुरोहित को बुलवाकर यह बात कही और कहा—"मित्र! मेरी माँ को प्राण-दान दे। तू राजा होगा। वह पटरानी बनेगी। मैं उपराजा।" वह बोला—"ऐसा नहीं कर सकता।" किन्तु उसके बार-बार आग्रह करने पर फिर उसने स्वीकार कर लिया।

राजा पुरोहित को राजा और माता को पटरानी बना स्वयं उपराजा बना। उनके साथ-साथ रहते, आगे चलकर बोधिसत्व गृहस्थी से उदासीन हो काम-भोगों को छोड़ प्रव्रज्या की ओर झुक गया। वह काम-रति में लीन न हो अकेला रहता, अकेला बैठता और अकेला सोता। वह ऐसा हो गया जैसे कारागार कोई कैद हो या पिंजरे में पड़ा कोई मुर्गा हो।

तब बोधिसत्व की पटरानी ने देखा—"यह राजा मेरे साथ रमण नहीं करता। अकेला रहता है। अकेला बैठता है। अकेला सोता है। यह तरुण है, जवान है मैं बूढ़ी हूँ। मेरे सिर में सफेद बाल दिखाई देते हैं। मैं ऐसा करूँ कि झूठ-मूठ राजा को यह कह कर कि देव! तेरे सिर में सफेद बाल

दिखाई देते हैं, राजा को बचन-बद्ध कर अपने साथ अभिरमण कराऊँ।" एक दिन उसने राजा के सिर में से कुछ चुनती हुई की तरह हो कहा--"देव ! आप बूढ़े हो गये । आपके सिर में एक सफेद बाल दिखाई देता है ।"

"तो प्रिय ! इस सफेद बाल को उखाड़ कर मेरे हाथ पर रख।"

उसने उसके सिर से एक बाल उखाड़ा और अपने सिर से भी एक सफेद-बाल उखाड़, उसके सिर के बाल को छोड़, अपने सिर के बाल को उसके हाथ पर रख दिया। बोधिसत्व उसे देखते ही डर गया। उसके सोने की पटरी जैसे ललाट से पसीना टपकने लगा। उसने अपने आपको उपदेश देना आरम्भ किया--"सुसीम ! तू बालक से बूढ़ा हो गया। इतनी देर तक गूँह में पड़े सूअर की तरह काम-भोग के दलदल में फँसे रहकर उस दलदल को नहीं छोड़ सका। क्या यह तेरा काम-भोगों को छोड़, हिमालय में जा, प्रव्रजित हो, ब्रह्मचर्य्य-वास का समय नहीं है ?" उसने पहली गाथा कही--

काण्ठानि केसानि पुरे अहेसुं
जातानि सीसम्हि यथापदेसे,
तानज्ज सेतानि सुसीम दिस्वा
धम्मं चर ब्रह्मचरियस्स कालो॥१॥

[जहाँ पहले काले बाल थे, वहाँ अब श्वेत बाल हो गये हैं। सुसीम ! उन श्वेत बालों को देख धर्माचरण कर। यह ब्रह्मचर्य्य का समय है ॥१॥].

इस प्रकार बोधिसत्व के ब्रह्मचर्य्यवास का गुण कहने पर पटरानी डरी। "मैंने इसके मन में लोभ पैदा करना चाहा, किन्तु वैराग्य ही पैदा किया।" उसने प्रव्रज्या की ओर से उसका मन मोड़ने के लिये शरीर का सौन्दर्य्य वर्णन करते हुए दो गाथायें कहीं--

ममेव देव पलितं न तुय्हं
ममेव सीसं मम उत्तमङ्गं,
अत्थं करिस्संति मुसा अभाणिं
एकापराधं खम राजसेट्ठ॥२॥

दहरो तुवं दस्सनीयोसि राज
पठमुग्गतो होहि यथा कलीरो,
रज्जञ्च कारेहि ममञ्च पस्स
माकालिकं अनुधावी जनिन्द ॥३॥

[हे देव ! मेरे ही (सिर के) बाल सफेद हुये हैं, तुम्हारे नहीं। मेरे ही सिरके, मेरे ही सिर के। मैं मतलब सिद्ध होगा, सोच झूठ बोली। हे राज-श्रेष्ठ ! मेरे इस एक अपराध को क्षमा करें ॥२॥ हे राजा ! तू तरुण है, तू दर्शनीय है। तू प्रथम-वयस में ऐसा सुशोभित हो जैसे नया बाँस। हे जनेन्द्र ! राज्य-सञ्चालन कर और मेरा ख्याल कर। जिसका समय नहीं है, उस ओर मत दौड़।

सत्व ने उसकी बात सुनी तो कहा—"भद्रे ! तू वही बात कहती है जो होने वाली है। आयु बीतने के साथ यह काले बाल बदलकर सन की छाल की तरह सफेद हो जायेंगे। मैं देखता हूँ कि नीलोत्पल सदृश सुकुमा कञ्चनवर्ण उत्तम यौवन से युक्त क्षत्रिय कन्याये भी आयु बीतने पर विवर्ण हो जाती हैं और उनकी कमर झुक जाती है। भद्रे ! यह संसार ऐसा ही परिवर्तनशील है।" फिर उक्त बुद्धलीला से धर्मोपदेश देते हुये यह गाथायें कहीं—

पस्सामि वोहं दहरिं कुमारिं
सामट्ठपस्सं सुतनुं सुमज्झं,
काळापवाळाव पवेल्लमाना
पलोभयन्तीव नरेसु गच्छति ॥४॥
तमेन पस्सामि परेन नारिं
आसीतिकं नावुतिकंव जच्चा,
दण्डं गहेत्वान पवेधमानं
गोपाणसीभोग्गसमं चरन्ति ॥५॥

[मैं देखता हूँ कि एक तरुणी जिसका पार्श्व सुन्दर है, जिसका शरीर सुन्दर है, जिसका मध्यभाग सुन्दर है, हवा से चञ्चल काली लता की रह हाव-भाव बनाकर मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करती हुई जाती है। फिर उसी स्त्री को देखता हूँ कि जब वह अस्सी या नब्बे वर्ष की हो

जाती है तो वह लकड़ी लेकर, टूटे शहतीर की तरह काँपती हुई चलती है ॥४-५॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने रूप का विपरिणाम दिखाकर गृहवास में अपनी अरुचि प्रकट करते हुये ये गाथायें कहीं--

सोहं तमेवानुविचिन्तयन्तो
एको सयामि सयनस्स मज्झे,
अहम्पि एवं इतिपेक्खमानो
न गेहे रमे ब्रह्मचरियस्स कालो ॥६॥
रज्जुवालम्बनीचेसा यागेहे वसतो रति
एतम्पि छेत्वान वजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥७॥

[इस बात की चिन्ता करता हुआ मैं शयनासन पर अकेला सोता हूँ। मेरे साथ भी यही होगा सोच मैं अब गृहवास नहीं करना चाहता। यह मेरा ब्रह्मचर्य वास का समय है। गृह-बास में जो काम-रति है वह (रोगी के लिये करवट पलटने में सहायक होने वाली सुख-दायक) लटकती हुई रस्सी के समान है। धीर-पुरुष इसे भी काटकर काम-सुख का त्याग कर प्रव्रजित हो जाते हैं ॥६-७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने काम-भोगों का रस और उनका दुष्परिणाम प्रकट कर, बुद्ध-लीला से धर्मोपदेश दिया। फिर मित्र को बुला उसे राज्य सौंप दिया, तथा रोते-पीटते रिश्तेदारों और मित्रों के लिये ऐश्वर्य्य को छोड़ हिमालय में प्रवेश किया। वह ऋषियों के क्रम से प्रव्रजित हो ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर ब्रह्मलोकगामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, सत्यों को प्रकाशितकर, बहुत अमृत-पान करा जातक का मेल बैठाया। उस समय पटरानी राहुल माता थी। मित्र राजा आनन्द था। सुसीम राजा तो मैं ही था।

४१२. कोटिसिम्बलि जातक

"अहं दससतं व्यामं"—यह कथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कामुकता के निग्रह के बारे में कही। कथा **पाणीय-जातक**[1] में आयेगी। इस कथा में भी शास्ता ने करोड़ों बिछे बिहार में रहने वाले, काम-वितर्क से अभिभूत पाँच सौ भिक्षुओं को देख संघ को इकट्ठा कराकर कहा—"भिक्षुओं ! खतरे की जगह से डरना चाहिये। काम-वितर्क बढ़कर आदमी को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे वन में वट आदि के वृक्ष दूसरे वृक्ष को। इसीलिये पूर्व समय में कोटिसिम्बलि (वृक्ष) पर रहने वाले देवता ने जब एक पक्षी को बड़ का बीज़ खाकर अपने वृक्ष की शाखाओं में बीट करते देखा तो यह सोच डर गया कि इसी से मेरा निवास-स्थान उजड़ेगा।"

इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व कोटिसिम्बलि में वृक्ष-देवता होकर पैदा हुये। एक गरुड़-राज ने डेढ़ सौ योजन का शरीर बना, अपने पंखों की हवा से समुद्र-जल को दो हिस्सों में बाँट एक हजार याम चौड़े नागराज को पूँछ से पकड़ा। फिर उसके मुँह में जो शिकार था, उसे छुड़ा, वन के ऊपर-ऊपर कोटि-सिम्बलि की ओर उड़ा।

नागराज ने लटकते-लटकते अपने आप को छुड़ाने के लिये अपने फन को एक बरगद के पेड़ में अटका, उससे लिपटकर पकड़ लिया। गरुड़-राज के महाबलवान् होने के कारण और नाग-राज का शरीर बहुत बड़ा होने के कारण वह बरगद उखड़ गया। नाग-राज ने वृक्ष को नहीं छोड़ा। गरुड़ बरगद के पेड़ के साथ नागराज को ले, कोटि-सिम्बलि पहुँचा। वहाँ नागराज

---

१. पाणीय जातक (४५९)

को वृक्ष के तने पर लिटा, उसका पेट फाड़ कर उसकी चर्बी खाई और बाकी चमड़ी को समुद्र में फेंक दिया।

उस न्यग्रोध-वृक्ष पर एक चिड़िया रहती थी। वह बरगद के पेड़ के फेंक जाने पर उड़कर कोटि-सिम्बलि की शाखाओं में जा बैठी। वृक्ष-देवता ने उसे देखते ही सोचा—यह चिड़िया मेरे वृक्ष के टहने पर बीट कर देगी। उससे बरगद का पेड़ या पिलक्क (?) का पेड़ उगकर सारे वृक्ष पर फैल जायगा और मेरा निवास-स्थान उजड़ जायगा। वह डर से काँपने लगा। उसके काँपने से कोटि-सिम्बलि भी जड़ तक काँपने लगा। गरुड़-राज ने उसे काँपते देख उसका कारण जानने के लिए दो गाथायें कहीं—

अहं दसतंत व्यामं उरगमादायमागतो,
तञ्च मञ्च महाकायं धारयं नप्पवेधसि॥१॥
अथ इमं खुद्दकं पक्खिं अप्पयं सतरं मया,
धारयं ब्याधसे भीतो कमत्थं कोटिसिम्बलि॥२॥

[मैं हजार-व्याम के साँप को लेकर आया। उस और मुझ महाशरीर वाले के बैठने पर भी (तू) नहीं काँपा ? अब इस छोटे से पक्षी के बैठने पर, जो मुझ से बहुत ही थोड़े माँस वाला है, हे कोटिसिम्बलि ! तू डर से क्यों काँपता है ? ॥१-२॥]

इसका कारण बताते हुये देव-पुत्र ने चार गाथायें कहीं—

माँसभक्खो तुवं राज फलभक्खो अयं दिजो,
अयं निग्रोधबीजानि पिलक्खदुम्बरानि च,
अस्सत्थानि च भक्खेत्वा खन्धे मे ओदहिस्सति॥३॥
ते रूक्खा सं विरूहन्ति मम पस्से निवातजा,
ते मं परियोनन्धिस्सन्ति अरुक्खं मं कीरस्सरे॥४॥
सन्ति अञ्ञेपि रुक्खासे मूलिनो खन्धिनो दुमा,
इमिना सकुण ज़ातेन बीजमाहरित्वा हुता॥५॥
अज्झारूळ्ह हाभिवड्ठान्ति ब्रहन्तम्पि वनस्पतिं,
तस्मा राज पवेधामि सम्पस्संनागतं भयं॥६॥

[हे गरुड़-राज ! तू माँसाहारी है। यह फल खाने वाला पक्षी है। यह न्यग्रोध या पिलक्ख (?) अथवा गूलर के फल खाकर मुझ पर उनके बीजों की बीट

कर देगा ॥१॥ तब हवा-पानी से सुरक्षित वे वृक्ष मेरी शाखाओं में बढ़ेंगे और वे बढ़कर मुझे नष्ट कर देंगे ॥२॥ दूसरे भी वृक्ष हैं, जिनकी जड़ें थीं, जिनके तने थे; किन्तु जिन्हें इस पक्षी ने बीज लाकर नष्ट कर दिया ॥३॥ उगने पर यह दूसरी बड़ी वनस्पति से भी बढ़ जाते हैं। हे गरुड़-राज ! मैं इसीलिये अनागत भय को देख कर काँपता हूँ ॥३-६॥]

वृक्ष-देवता की बात सुन गरुड़ ने अन्तिम गाथा कही—

सङ्क्येय्य सङ्कितब्बानि रक्खेय्यानागतं भयं,
अनागतभया धीरो उभो लोके अवेक्खति ॥७॥

[खतरे की बात में खतरा माने। भावी-भय से रक्षा करे। धीर पुरुष भावी-भय (के कारण) से बचता हुआ दोनों लोकों की रक्षा करता है ॥७॥]

यह कह गरुड़-राज ने अपने प्रताप से उस पक्षी को उस वृक्ष से उड़ा दिया।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला, 'खतरे की बात में खतरा मानना चाहिये' कह सत्यों को प्रकाशित कर, जातक का मेल बैंठाया। सत्यों की समाप्ति पर पाँच सौ भिक्षु अर्हत्व-फल में प्रतिष्ठित हुये। उस समय गरुड़-राज सारिपुत्र था। वृक्ष-देवता तो मैं ही था।

———

४१३. धूमकारि जातक

"राजा अपुच्छि विधुरं"—यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कोशल-नरेश के अतिथि सत्कार के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक समय उसने परम्परागत योद्धाओं का सत्कार-सम्मान न कर नये आगन्तुकों का सत्कार-सम्मान किया। उसके इलाके में विद्रोह उठ खड़ा होने पर पुराने योद्धाओं ने यह सोचकर युद्ध नहीं किया कि सत्कार-प्राप्त आगन्तुक योद्धा युद्ध करेंगे। 'पुराने योद्धा युद्ध करेंगे' समझ आगन्तुक नहीं लड़े। विद्रोहियों ने राजा को पराजित कर दिया। राजा ने पराजित होने पर समझा कि नवागन्तुकों का सत्कार-सम्मान करने के दोष के कारण ही ऐसा हुआ। उसने श्रावस्ती लौटकर सोचा—"मैं दस-बल (=बुद्ध) से जाकर पूछूँगा कि मैं ही ऐसा करने से पराजित हुआ अथवा पूर्व समय में दूसरे राजा भी पराजित हुये?" वह प्रातःकाल का भोजनकर जेतवन गया और शास्ता को प्रणामकर वह बात पूछी। शास्ता ने 'महाराज! न केवल तुम पराजित हुए, पुराने राजा भी नव आगन्तुक का सत्कार-सम्मान करने के कारण पराजित हुए' कह पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कुरु राष्ट्र में इन्द्र-पत्त (=इन्द्रप्रस्थ) नगर में युधिट्ठिल (=युधिष्ठिर) गोत्र का धनञ्जय नामक कुरु-राज राज्य करता था। तब बोधिसत्व उसके पुरोहित-कुल में पैदा हुये। बड़े होने पर तक्षशिला जा, सब शिल्प सीख, इन्द्रप्रस्थ लौटे। पिता के मरने पर पुरोहित-पद

पा राजा के अर्थ-धर्मानुशासक हुए। उनका नाम हुआ विधुर (=विदुर) पण्डित।

उस समय धनञ्जय राजा ने पुराने योद्धाओं की कदर न कर नवागन्तुकों का ही आदर-सत्कार किया। उसके इलाके में विद्रोह उठ खड़ा होने पर जब राजा युद्ध के लिये गया तो न पुराने लड़े कि 'नये लड़ेंगे' और न नये लड़े कि 'पुराने लड़ेंगे'। राजा हार गया और इन्द्रप्रस्थ लौटकर सोचने लगा कि नवागन्तुकों का आदर-सत्कार करने के कारण ही मेरी हार हुई। एक दिन उसे विचार आया कि विधुर पण्डित से यह पूछना चाहिये कि मैं ही आगन्तुकों का सत्कार करने के कारण पराजित हुआ अथवा मुझ से पूर्व दूसरे भी राजा पराजित हुये? उसने विधुर पण्डित के राजसेवा में आने पर यह प्रश्न पूछा। उसके पूछने का ढंग प्रकट करने के लिये शास्ता ने यह आधी गाथा कही—

राजा अपुच्छि विधुरं धम्मकामो युधिट्ठिलो,

[धर्म-कामी राजा युधिष्ठिर ने विधुर से पूछा।]

अपि ब्राह्मण जानासि को एको बहुसोचति॥१॥

[ब्राह्मण! क्या तू जानता है कि कौन है जो अकेला बहुत चिन्ता करता है?]

यह सुन बोधिसत्व ने कहा—"महाराज! आपका शोक क्या शोक है? पूर्व समय में धूमकारी नाम का एक ब्राह्मण था। वह बकरियों का एक बड़ा रेवड़ ले, जंगल में उन्हें एक जगह रख, वहाँ आग और धुआँ कर बकरियों को पालता हुआ तथा दूधादि खाता हुआ रहता था। वहाँ कुछ सुनहरे रंग के हिरन आये। उसके मन में स्नेह पैदा हुआ, तो जो आदर-सत्कार वह बकरियों का करता था, वह हिरनों का करने लग गया। शीतकाल में हिरन भागकर हिमालय चले गये और बकरियाँ नष्ट हो गईं। जब उसे हिरन दिखाई न दिये तो वह शोक से पाण्डु-रोगी हो गया और मर गया। वह आगन्तुकों का आदर-सत्कार कर, तुम्हारी अपेक्षा सौ गुने, हजार गुने शोक को प्राप्त हो, कष्ट पा नष्ट हुआ।" उसने यह उदाहरण ला दिखाते हुये यह गाथायें कहीं—

ब्राह्मणो अजयूथेन बहूतेजो वने वसं
धूमं अकासि वासेट्ठठो रत्तिन्दिवमतन्दितो ॥१॥
तस्स तं धूमगन्धेन सरभा मकसट्टिता,
वस्सावासं उपगच्छुं धूमकारिस्स सन्तिके ॥२॥
सरभेसु मनं कत्वा अजायो नावबुज्झथ,
आगच्छन्ती वजन्ती वा तस्स ता विनस्सुं अजा ॥३॥
सरभा च सरदकाले पहीनमकसे वने
पाविसुं गिरिदुग्गानि नदीनं पभवानि च ॥४॥
सरभे च गते दिस्वा अजा च विभवं गता,
किसो च विवण्णो आसि पण्डुरोगी च ब्राह्मणो ॥५॥
एवं यो सं निरं कत्वा आगन्तुं कुरुते पियं,
सो एको बहुसोचति धूमकारीव ब्राह्मणो ॥६॥

[बकरियों के रेवड़ के साथ बहुत-सा ईंधन ले ब्राह्मण बन में रहता था। वह वासेट्ठ आलस्य-रहित हो रात दिन धुआँ करता था। उस धुएँ से आकर्षित होकर मक्खी-मच्छर से तंग आये हुये हिरन वर्षाकाल में उस धूमकारी के पास चले आये। उसने हिरनों को मन में स्थान दे, बकरियों को भुला दिया, उनके आने जाने की खबर रखनी छोड़ दी, जिससे वे नष्ट हो गईं ॥१-३॥ शीत ऋतु आने पर जब बन में मच्छर नहीं रहे तो हिरन उन पर्वतों तथा कन्दराओं में चले गये जहाँ से नदियाँ निकलती थीं। जब ब्राह्मण ने देखा कि हिरन चले गये और बकरियाँ मर गईं तो ब्राह्मण (चिन्ता के कारण) कृश तथा दुर्वर्ण हो गया और उसे पाण्डु-रोग हो गया। इसी प्रकार (महाराज!) जो अपने का अनादर कर आगन्तुक को प्यार करता है, वह अकेला धूमकारी ब्राह्मण की तरह बहुत चिन्ता करता है ॥४-६॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा को समझाकर कहा। उसको भी समझ आई, तो उसने उस पर प्रसन्न हो बहुत धन दिया। उसके बाद से अपनों का ही आदर करते हुये दानादि पुण्य कर स्वर्ग-परायण हुआ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय कुरु-राज आनन्द था। धूमकारी प्रसेनजित् कोसल। विधुर पण्डित तो मैं ही था।

---

४१४. जागर जातक

"कोध जागरतं सुत्तो . . . . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक उपासक के बारें में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह स्रोतापन्न आर्य-श्रावक गाड़ियों के काफले के साथ श्रावस्ती से कान्तार-मार्ग पर हो लिया। काफले के सरदार ने एक ऐसे स्थान पर जहाँ पानी की सुविधा थी, पाँच सौ गाड़ियों को खुलवाया और खाद्य-भोज्य तैय्यार करवा डेरा डाल दिया। आदमी जहाँ-तहाँ लेट कर सो रहे। उपासक काफले के सरदार के पास एक वृक्ष के नीचे टहलने लगा। उस समय पाँच सौ चोर नाना प्रकार के शस्त्र ले, काफले को लूटने के विचार से उसे घेरकर खड़े हो गये। जब उन्होंने उस उपासक को टहलते देखा तो यह सोच कि उसके सो जाने पर लूटेंगे, जहाँ तहाँ खड़े हो गये। वह भी रात्रि के तीनों पहर टहलता ही रहा। प्रातःकाल होने पर चोरों के पास जो पत्थर-मुगद्र आदि थे उन्हें फेंक, चोर यह कहते हुये चले गये कि 'हे काफिले के सरदार! इस प्रमाद-रहित जागते रहने वाले पुरुष के कारण तुम्हारे प्राण बचे और तुम अपनी सम्पत्ति के स्वामी बने रहे। इसका सत्कार करना।' मनुष्यों ने समय से उठ कर उन पत्थर-मुगद्र आदि को देखा जिन्हें चोर छोड़ गये थे और जाना कि इसके कारण ही हमारे प्राण बचे। उन्होंने उपासक का सत्कार किया। उपासक भी इच्छित स्थान पर पहुँच, काम समाप्त कर श्रावस्ती लौटा। जेतवन जाकर तथागत की पूजाकर, एक ओर बैठने पर तथागत ने पूछा—"उपासक! क्या कारण है दिखाई नहीं दिये?" उपासक ने वह समाचार कहा। शास्ता ने—"उपासक! न केवल तूने ही जागते रहकर विशेष लाभ प्राप्त किया, किन्तु पूर्व काल के पण्डितों ने भी जागते रहकर विशेष-गुण को

प्राप्त किया" कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही--

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ब्राह्मणकुल में पैदा हुए। बड़े होने पर तक्षशिला जा, सब शिल्पों को सीख, वापिस आया। गृहस्थी में रह आगे चलकर गृहस्थी त्याग ऋषि-प्रव्रज्या ले, शीघ्र ही ध्यानभिज्ञा प्राप्तकर हिमालय प्रदेश में रहने लगा। वहाँ निवास करते समय बिना सोये सारी रात टहलता रहता। चंक्रमण-भूमि के सिरे पर स्थित वृक्ष पर रहने वाले देवता ने उस पर प्रसन्न हो उससे प्रश्न पूछते हुये पहली गाथा कही--

कोध जागरतं सुत्तो कोध सुत्तेसु जागरो,
को ममेतं विजानाति को तं पटिभणाति मे ॥१॥

[कौन है जो जागे हुओं में सोया हुआ है ? कौन है जो सोये हुओं में जागा हुआ है ? कौन है जो मेरे इस प्रश्न को जानता है ? कौन है जो मुझे उत्तर देगा ? ॥१॥]

बोधिसत्व ने उसकी बात सुन--

अहं जागरतं सुत्तो अहं सुत्तेसु जागरो,
अहमेतं विजानामि अहं पटिभणामि ते ॥२॥

[मैं जागे हुओं में सोया हुआ हूँ। मैं सोये हुओ में जागा हुआ हूँ। मैं यह जानता हूँ। मैं तुझे उत्तर दूँगा ॥२॥]

यह गाथा सुन देवता ने फिर कहा--

कथं जागरतं सुत्तो कथं सुत्तेसु जागरो,
कथं एतं विजानासि कथं पटिभणासि मे ॥३॥

[जागे हुओं में सोये कैसे हो ? सोये हुओं में जागे हुए कैसे हो ? यह कैसे जानते हो ? मुझे उत्तर कैसे दोगे ?]

इस प्रश्न के पूछे जाने पर बोधिसत्व ने इसका उत्तर देते हुए कहा--

ये धम्मं नप्पजानन्ति सञ्ञमो ति दमो ति च,
तेसु सुप्पमानेसु अहं जग्गामि देवते ॥४॥

येसं रागो च दोसो च अविज्जा च विराजिता,
तेसु जागरमानेसु अहं सुत्तोस्मि देवते ॥५॥
एवं जागरतं सुत्तो एवं सुत्तेसु जागरो,
एवमेतं विजानामि एवं पटिभणामि ते ॥६॥

[जो धर्म से अनभिज्ञ है और संयम तथा दमन को नहीं जानते हैं, हे देवता ! उन सोते हुओं में मैं जागता हूँ। जिनके राग, द्वेष और अविद्या नष्ट हो गई है, हे देवता ! उन जागे हुओं में मैं सोता हूँ। इस प्रकार मैं जागते हुओं में सोया हुआ हूँ और इस प्रकार सोये हुओं में जागा हुआ हूँ। इस प्रकार यह जानता हूँ और इस प्रकार उत्तर देता हूँ ॥५–६ ॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के उत्तर देने पर देवता ने प्रसन्न हो उसकी स्तुति करते हुए अन्तिम गाथा कही—

साधु जागरतं सुत्तो साधु सुत्तेसु जागरो,
साधुमेतं विजानासि साधु पटिभणसि मे ॥७॥

[ठीक ही तू जागने वालों में सोया है। ठीक ही तू सोये हुओं में जागा हुआ है। ठीक ही तू यह जानता है। ठीक ही तू मुझे उत्तर देता है ॥७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व की स्तुति कर देवता अपने विमान को चला गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय देवता उत्पल-वर्ण था और तपस्वी तो मैं ही था।

---

४१५. कुम्मासपिण्ड जातक

"न किरत्थि. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मल्लिका देवी के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह श्रावस्ती के एक बड़े माली की लड़की थी। सुन्दर, रूपवाली, महापुण्यवती। सोलह वर्ष की आयु के समय वह अन्य कुमारियों के साथ पुष्पाराम जाती थी। जाते समय तीन कुल्माष के लड्डू फूल की चंगेर में रखे लिये जाती थी। नगर से निकलते समय उसने देखा कि भगवान् जिनके शरीर से प्रभा निकल रही है, भिक्षु-संघ सहित नगर में प्रवेश कर रहे हैं। उसने कुल्माष के तीनों लड्डू भेंट किये। शास्ता ने चातुर्महाराजिक देवताओं द्वारा दिये पात्र में स्वीकार किये। उसने तथागत के चरणों में प्रणाम किया और बुद्ध-भक्ति से प्रमुदित हो एक ओर खड़ी हुई। शास्ता उसे देख मुस्कराये। आयुष्मान् आनन्द ने सोचा कि तथागत क्यों मुस्कराये और उनसे प्रश्न किया। शास्ता ने मुस्कराहट का कारण बताते हुए कहा कि इन कुल्माष के लड्डुओं के (दान के) फल-स्वरूप यह कुमारी आज ही कोशल-नरेश की पटरानी होगी। कुमारी भी पुष्पाराम गई।

उसी दिन अजातशत्रु से युद्ध करके कोशल-नरेश युद्ध में पराजित हो भाग आया था। वहाँ से घोड़े पर चढ़कर आते हुए उसने उसका गायन सुना और उस पर आसक्त हो घोड़े को आराम की ओर मोड़ा। पुण्यवती कुमारी राजा को देख कर भागी नहीं। उसने आकर घोड़े को लगाम से पकड़ लिया। राजा ने घोड़े की पीठ पर बैठे ही बैठा पूछा—"स्वामी-वाली है वा नहीं ?" जब उसे पता लगा कि 'स्वामी-वाली' नहीं है तो वह घोड़े से उतरा और हवा-धूप से थका होने के कारण उसने थोड़ी देर उसकी गोद में लेटकर विश्राम किया। फिर घोड़े की पीठ पर बिठा, सेना-सहित नगर में प्रवेश किया। उसे उसके घर भेज, शाम को बड़े सत्कार-सम्मान के साथ उसके घर से मँगवा,

रत्नों के ढेर में बिठा, अभिषिक्त कर, पटरानी बनाया। तब से वह राजा की प्रिया थी, मनभाविनी थी, पूर्व-उठना आदि पाँच सद्गुणों से युक्त थी और पति को देवता मानने वाली थी। बुद्धों को भी प्रिय थी। यह बात कि शास्ता को कुलमाष के तीन लड्डू देने से उसे यह सम्पत्ति मिली, सारे नगर में फैल गई। एक दिन धर्म-सभा में बात चली। "आयुष्मानो! मल्लिका देवी बुद्धों को तीन कुलमाष-पिण्ड देकर उसके प्रताप से उस दिन पटरानी हो गई। ओह! बुद्ध-गुण की महानता!" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो?" 'अमुक बात-चीत' कहने पर शास्ता ने कहा—"भिक्षुओ, इसमें आश्चर्य्य नहीं है कि एक सर्वज्ञ-बुद्ध को तीन कुलमाष-पिण्ड देने से मल्लिका कोशल-नरेश की पटरानी बन गई। क्यों? बुद्धों के गुण की महानता के कारण। पुराने पण्डितों ने प्रत्येक बुद्धों को बिना निमक का, बिना तेल का, बिना शक्कर का कुलमाष दिया, और उसके फल से वह दूसरे जन्म में तीन सौ योजन के काशी-राष्ट्र की राज्य-श्री के स्वामी हुये।" इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व एक दरिद्र कुल में पैदा हुए। बड़े होने पर वह एक सेठ के पास मजदूरी करके पेट पालने लगा। एक दिन उसने बाजार से कलेवे के लिये चार कुलमाष के लड्डू लिये। उन्हें ले वह खेत पर जा रहा था कि उसने चार प्रत्येक-बुद्धों को भिक्षार्थ वाराणसी की ओर आते देखा। उसने सोचा—ये भिक्षार्थ वाराणसी जा रहे हैं और मेरे पास ये चार कुलमाष के लड्डू हैं, ये मैं इन्हें दे दूँ। यह सोच वह उनके पास गया और प्रणाम कर बोला—"भन्ते! मेरे पास ये चार कुलमाष के लड्डू हैं। मैं ये आपको देता हूँ। भन्ते! कृपाकर इन्हें ग्रहण ही करें। यह पुण्य-कर्म दीर्घ-काल तक मेरे हित-सुख के लिये होगा।" उनकी स्वीकृति जान उसने बालू को ऊँचा कर चार आसन तैय्यार किये, उनके ऊपर टहनियाँ बिछा, उन पर प्रत्येक-बुद्धों को क्रमानुकूल बिठाया। फिर दोने में पानी ला, दक्षिणोदक गिरा, चारों पात्रों में कुलमाष के चार लड्डू रख, प्रणाम किया और प्रार्थना

की—"भन्ते ! इस दान के प्रताप से दरिद्र-गृह में जन्म न हो और यह दान सर्वज्ञता-ज्ञान का कारण हो।"

प्रत्येक-बुद्ध भोजन कर, भोजनान्तर दानानुमोदन कर, उड़कर नन्दमूलपर्वत को चले गये। बोधिसत्व ने हाथ जोड़, प्रत्येक-बुद्धों के प्रति प्रीति-भाव को मन में स्थान दिया और उनके आँख से ओझल हो जाने पर खेत पर गया। जब तक वह जीता रहा तब तक उसने उस दान का स्मरण किया। मरने पर उस दान के फल-स्वरूप वह वाराणसी-नरेश की पटरानी की कोख से पैदा हुआ। उसका नाम रखा गया ब्रह्मदत्त कुमार। जब वह पाँव से चलने लगा, तभी उसने पूर्वजन्म के ज्ञान से पूरे जन्म के सारे वृत्तान्त को ऐसे देखा जैसे कोई शीशे में मुँह की छाया देखे कि कैसे वह इसी नगर में मजदूर हो खेत पर जा रहा था, कैसे उसने प्रत्येक-बुद्धों को कुल्माष के चारों लड्डू दे, उस दान के फल-स्वरूप यहाँ जन्म ग्रहण किया।

बड़े होने पर वह तक्ष-शिला गया और सब विद्यायें सीख, आकर पिता को दिखाईं। पिता ने सन्तुष्ट हो युवराज बना दिया। आगे चलकर पिता के मरने पर वह राजा हुआ। कोशल-नरेश की उत्तम रूपवान् कन्या लाई गई जो उसकी पटरानी बनी। छत्र धारण करने के दिन सारा नगर देव-नगर की तरह सजाया गया।

नगर की प्रदक्षिणा कर वह सजे प्रासाद पर चढ़ा। वहाँ ऊँचे तल्ले पर, ऊँचे श्वेत-छत्र वाले सिंहासन पर बैठ, उसने एक ओर घेर कर खड़े अमात्यों को, एक ओर खड़े नाना प्रकार की भेष-भूषा से युक्त ब्राह्मण-गृहपतियों को, एक ओर खड़े नाना प्रकार की भेंट लिये नागरिकों को तथा एक ओर खड़ी अलङ्कृत देवाप्सराओं सदृश सोलह हजार नर्तकियों को देखा। तब उसने इस अति मनोरम श्री-वैभव को देखते हुए अपना पूर्व-कर्म याद कर सोचा कि यह स्वर्ण-खचित कञ्चन-माला वाला श्वेत-छत्र, ये अनेक सहस्र हाथी, घोड़े तथा रथ-वाहन, ये मणि-मुक्ता से भरे हुए भण्डार, ये नाना प्रकार के धान्यों से भरी महा-पृथ्वी, तथा ये देवप्सराओं के समान नारियाँ; सब श्री-वैभव किसी दूसरे के पास से नहीं प्राप्त हुआ है, यह उन चार प्रत्येक-बुद्धों को दिये गये कुल्माष के चार लड्डुओं के ही दान से प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार उसने प्रत्येक-बुद्धों के गुण को याद कर अपना कर्म प्रकट किया। पूर्व-कर्म की याद से उसका सारा शरीर प्रीति से भर गया। उसने प्रीति से भीग कर जनता के सामने उदान-गीत गाते हुए दो गाथायें कहीं—

न किरत्थि अनोमदस्सिसु
परिचरिया बुद्धेसु अप्पिका,
सुक्खाय अलोणिकाय च
पस्स फलं कुम्मासपिण्डिया ॥१॥
हत्थिगवास्सा च ये बहु
धन धञ्ञं पठवी च केवला,
नारियो चिमा अच्छरूपमा
पस्स फलं कुम्मासपिण्डिया ॥२॥

[प्रत्येक-बुद्धों की सेवा अल्प-फल-दायिनी नहीं होती। सूखी, अलूनी, कुलमाष के लड्डुओं के (दान के) फल को देखो ॥१॥ ये मेरे बहुत से हाथी, गौवें और घोड़ें, घनधान्य, सारी की सारी पृथ्वी तथा अप्सराओं सदृश नारियाँ—कुलमाष के लड्डुओं के (दान के) फल को देखो ॥२॥]

बोधिसत्व ने भी अपने छत्र-धारण करने के उत्सव के दिन जो प्रीति और आनन्द हुआ, उससे प्रेरित होकर इन दो गाथाओं से उदान-गीत गाया। तब से सभी—बोधिसत्व की नर्तकियाँ भी, शेष गन्धर्व आदि नृत्याकार भी, अन्तःपुर के जन भी, नगर-निवासी भी, नगर के बाहर रहने वाले भी पीने की जगहों पर रहने वाले भी तथा अमात्यों में भी—यह हमारे राजा का प्रिय-गीत है समझ, इसे ही गाने लगे।

इस प्रकार समय बीतने पर उस पटरानी के मन में इच्छा हुई कि उस गीत का अर्थ जाने। लेकिन वह बोधिसत्व से पूछने का साहस नहीं कर सकती थी। एक दिन राजा ने उसके किसी गुण पर प्रसन्न हो कहा—"भद्रे ! वर माँग। तुझे वर देता हूँ।"

"अच्छा ! देव ! माँगती हूँ॥"

"हाथी घोड़े आदि में से तुझे क्या दूँ ?"

"तुम्हारे कारण मेरे पास कोई चीज ऐसी नहीं है जो न हो। मुझे

इन चीजों की अपेक्षा भी नहीं है। यदि देना ही चाहते हैं तो अपने गीत का अर्थ बता दें!"

"भद्रे ! यह वर लेकर तू क्या करेगी? कोई दूसरा वर ले ले।"

"देव ! किसी दूसरे वर से मुझे प्रयोजन नहीं है। यही माँगती हूँ।"

"भद्रे ! अच्छा बता दूँगा। लेकिन तुझे अकेली को ही एकान्त में नहीं बताऊँगा। बारह योजन की वाराणसी में मुनादी फिरा कर, राजद्वार पर रतन-मण्डप बनवा, रतन-सिंहासन बिछवा, अमात्य-ब्राह्मण, नागरिकों तथा सोलह-हजार स्त्रियों के बीच में रतन-सिंहासन पर बैठकर कहूँगा।" उसने 'अच्छा देव!' कह स्वीकार किया।

राजा ने वैसी तैय्यारी करवाई और जनता के बीच में रतन-सिंहासन पर वह ऐसे विराजमान हुआ जैसे देवताओं के बीच में इन्द्र। देवी ने भी सब अलङ्कारों से अलङ्कृत हो, स्वर्णासन बिछवा, एक ओर आँख की कोर से देखा और फिर उस आसन पर बैठकर कहा—"देव ! अपने प्रसन्न होकर गाने वाले गीत का अर्थ मुझे आकाश में चन्द्रमा उजागर करने की तरह कहें।" उसने तीसरी गाथा कही—

अभिक्खणं राजकुञ्जर
गाथा भाससि कोसलाधिप,
पुच्छामि तं रट्ठवड्ढन
बालहं पीतिमनो पभाससि ॥३॥

[हे कुशलकर्मों के स्वामी ! हे राज-कुञ्जर ! हे राष्ट्रवर्धन ! जिस गाथा को तुम अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर बार-बार कहते हो, मैं उस गाथा (के अर्थ) को पूछती हूँ ॥३॥]

उन गाथाओं का अर्थ प्रकट करते हुए बोधिसत्व ने चार गाथायें कहीं—

इमस्मिं येव नगरे कुले अञ्ञतरे अहुं,
परकम्मकरो आसिं भतको सीलसंवुतो ॥१॥
कम्माय निक्खमन्ताहं चतुरो समणे अद्दसं,
आचारसीलसम्पन्ने सीतीभूते अनासवे ॥२॥
तेसु चित्तं पसादेत्वा निसीदेत्वा पण्णसन्थते,
अदासिं बुद्धानं कुम्मासं पसन्नो सेहि पाणिहि ॥३॥

तस्स कम्मस्स कुसलस्स इदं मे एदिसं फलं,
अनुभोमि इदं रज्जं फीतं धरणि मुत्तमं ॥४॥

[इसी नगर में मैं एक कुल में पैदा हुआ था। मैं दूसरों के काम करके पेट पालने वाला सदाचारी मजदूर था। खेत पर जाते समय मैंने चार श्रमणों को देखा जो आचार-शील से युक्त थे, जिनकी रागादि अग्नि शान्त हो गई थी, जो अनास्रव थे। उनके प्रति मन में श्रद्धा पैदा कर मैंने उन (प्रत्येक-) बुद्धों को बिछे पत्तों पर बिठा, अपने हाथ से प्रसन्न-मन हो कुल्माष दिया। यह उसी कुशलकर्म का ऐसा फल है कि मैं श्रेष्ठ पृथ्वी के समृद्ध राज्य को भोग रहा हूँ ॥१-४॥]

इस प्रकार बोधिसत्व को अपने कर्म-फल को विस्तार से कहते सुन प्रसन्न-चित्त देवी बोली—"महाराज! यदि आप इस प्रकार दान फल को प्रत्यक्ष जानते हैं, तो अब से एक भी भात-पिण्ड होने पर उसमें से धार्मिक श्रमण ब्राह्मणों को देकर ही भोजन करें।" उसने बोधिसत्व की स्तुति करते हुये यह गाथा कही—

दद भुञ्ज च मा च पमादो
चक्कं वत्तय कोसलाधिप,
मा राज अधम्मिको अहु
धम्मं पालय कोसलाधिप ॥५॥

[हे कुशलकर्मों के स्वामी! दान दे और स्वयं भोग कर। प्रमाद मत कर। इस प्रकार (धर्म-) चक्र चला। हे राजन् अधार्मिक मत हो। हे कोशलाधिप! धर्म का पालन कर ॥५॥]

बोधिसत्व ने उसकी बात स्वीकार करते हुए यह गाथा कही—

सोहं तदेव पुनप्पुनं
वटुमं आचरिस्सामि सोभने,
अरियाचरितं सुकोसले
अरहन्तो मे मनापा पस्सितुं ॥६॥

[हे शोभने! मैं फिर-फिर उसी मार्ग का अनुसरण करूँगा, जिस पर हे सुकोशले! आर्य्यों ने अनुसरण किया है। मैं अरहन्तों को देखना चाहता हूँ ॥६॥]

इतना कह देवी के सौंदर्य की ओर देखते हुए राजा ने कहा—"भद्रे ! मैंने अपने पूर्व-जन्म का कुशल-कर्म तुझे विस्तार पूर्वक बता दिया। इन स्त्रियों में एक भी ऐसी नहीं है जो रूप में अथवा हाव-भाव में तेरे समान हो। तूने कौन-सा कर्म किया कि तुझे यह (रूप-) सम्पत्ति प्राप्त हुई ?" राजा ने यह पूछते हुए गाथा कही—

देवी विय अच्छरूपमा मज्झे नारिगणस्स सोभसि,
किं कम्ममकासि भद्दकं केनासि वण्णवती सुकोसले॥७॥

[हे भद्रे ! तू नारियों के बीच में ऐसी शोभा देती है, जैसे कोई अप्सरा हो। हे सुकोशले ! तूने क्या कर्म किया था कि तू सुन्दर हुई ? ॥७॥]

उसने पूर्व-जन्म का कुशल-कर्म बताते हुए शेष दो गाथायें कहीं —

अम्बट्ठकुलस्स खत्तिय
दास्याहं परपिस्सया अहुँ,
सञ्ञता धम्मजीविनी
सीलवती च अपापदस्सना॥१॥
उद्धटभत्तं अहं तदा
चरमानस्स अदासि अहं भिक्खुनो,
वित्ता सुमना सयं अहं
तस्सकम्मस्स फलं ममेदिसं॥२॥

[मैं एक क्षत्रिय-कुटुम्बी की दासी थी, जिसका काम दूसरों की आज्ञा पर जहाँ-तहाँ काम पर जाना था। मैं संयत थी, धर्म-जीवी थी, शीलवान् थी और थी निष्पाप। तब मैंने अपने हिस्से का भात भिक्षाचार के लिये घूमते हुए भिक्षु को दिया। उस समय मैं सन्तुष्ट तथा प्रसन्न-चित्त रही। यह मेरे उसी कर्म का ऐसा फल है ॥१-२॥]

इस प्रकार दोनों ने अपने-अपने पूर्व-कर्म को विस्तार से कहा और तब से चारों नगर-द्वारों पर, नगर के बीच में, तथा निवास-द्वार पर छः राजशालायें बनवा सारे जम्बुद्वीप में घोषणा कर महादान दिया। वे दोनों सदाचारी रह, उपोसथ-कर्म कर मरने पर स्वर्ग-गामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय देवी राहुल-माता थी। राजा तो मैं ही था।

४१६. परन्तप जातक

"आगमिस्सति मे पापं. . . ." यह शास्ता ने वेळु वन में विहार करते समय देवदत्त द्वारा किये गये वध के प्रयत्न के बारे में कही ।

क. वर्त्तमान कथा

उस समय धर्म-सभा में बात-चीत चली—"आयुष्मानो ! देवदत्त तथागत के मारने का ही प्रयत्न करता है। उसने धनुषधारियों को नियुक्त किया, शिला फिकवाई तथा नालागिरि हाथी छुड़वाया। इस प्रकार वह तथागत के नाश का ही उपाय करता है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ यहाँ बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ?" 'अमुक बात-चीत' कहने पर "भिक्षुओ, न केवल अभी, किन्तु उसने पहले भी मेरे वध के लिये प्रयत्न किया है। किन्तु, यह मुझ में त्रास-मात्र भी पैदा नहीं कर सका, उसने स्वयं ही दुःख अनुभव किया" कह तथागत ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उसकी पटरानी की कोख से पैदा हुए। तक्षशिला में सब विद्यायें सीखीं। सब प्राणियों की आवाज पहचानने का मन्त्र सीखा। उसने आचार्य्य की शिक्षा ध्यान से ग्रहण की और वाराणसी लौट आया। पिता ने उसे युवराज बनाया, तो भी वह पिता को मरवा डालना चाहता था। इसलिये वह उसे देखना भी नहीं चाहता था।

अपने दो बच्चों के साथ एक गीदड़ी रात को जब आदमी लेट गये थे, बिना आवाज किये नगर में घुसी। बोधिसत्व के प्रासाद में शयनागार के पास ही एक शाला थी। वहाँ एक मुसाफिर अपने जूतों को पैरों की ओर भूमि पर रखे, एक तख्ते पर लेटा था। उसे अभी नींद नहीं आई थी। तब गीदड़ी के बच्चे भूख के मारे चिल्लाये। उनकी माँ बोली—"तात ! शोर

न करो। इस शाला में एक आदमी अपने जूतों को जमीन पर रख तख्ते पर लेटा है। वह अभी सोया नहीं है। उसके सो जाने पर उसके जूते लाकर तुम्हें खाने को दूँगी।"

बोधिसत्व ने मन्त्र-बल से उसकी बोली समझ ली और शयनगृह से निकल, झरोखा खोल कर पूछा—"यहाँ कौन है ?"

"देव ! मैं एक मुसाफिर हूँ।"

"तेरे जूते कहाँ हैं ?"

"देव ! भूमि पर।"

"उठाकर ठिकाने रख लो।"

यह सुन गीदड़ी को बोधिसत्व पर क्रोध आया।

फिर एक दिन वह उसी नगर में घुसी। एक मदमस्त आदमी पानी पीने के लिये पुष्करिणी में उतर रहा था। वह गिर कर डूब गया और साँस रुक जाने से मर गया। वह दो वस्त्र पहने था। उसके वस्त्र में एक हजार कार्षापण और अंगुली में अंगूठी थी। उस समय भी जब बच्चे भूख के मारे रोने लगे तो वह बोली—"तात ! शोर मत करो। इस पुष्करिणी में आदमी मर गया है। उसके पास अमुक-अमुक चीज है। वह मर कर सीढ़ियों पर ही पड़ा है। तुम्हें उस आदमी का माँस खिलाऊँगी।"

बोधिसत्व ने यह सुना तो उस शाला में आवाज दी—"कौन है ?" एक आदमी उठकर बोला—"देव ! मैं हूँ।" बोधिसत्व ने आज्ञा दी—"जा इस पुष्करिणी में मरे मनुष्य के वस्त्र में से हजार-कार्षापण और अंगुली में से अंगूठी लेकर उसकी लाश को पानी में ऐसा डुबो दे कि फिर ऊपर न उठ सके।" उसने वैसा किया।

गीदड़ी को फिर क्रोध आया, बोली—"पहले दिन मेरे पुत्रों को जूते नहीं खाने दिये। आज मुर्दा नहीं खाने दिया। अच्छा, आज से तीसरे दिन एक शत्रु-राजा आकर नगर को घेरेगा। तब तेरा पिता तुझे युद्ध के लिये भेजेगा। वहाँ तेरा सिर काटेंगे। तब तेरी गर्दन का खून पीकर बदला चुकाऊँगी। तू मेरे साथ बैर बाँधता है, अच्छा देखूंगी।" वह इस प्रकार धमकी देती हुई, पुत्रों को ले नगर से निकली।

तीसरे दिन शत्रु-राजा ने आकर नगर को घेरा। राजा ने बोधिसत्व से कहा—"जा तात! उसके साथ युद्धकर।"

"देव! मैंने कुछ देखा है। जाने की हिम्मत नहीं होती। मृत्यु का भय है।"

"मुझे तेरे मरने न मरने से क्या? तू जा ही।"

बोधिसत्व ने 'अच्छा देव!' कहा और जिस द्वार पर शत्रु-राजा खड़ा था उससे न निकल, दूसरा दरवाजा खुलवाकर अनुयाइयों सहित उस से निकले। बोधिसत्व के बाहर जाते ही सारा नगर खाली-सा हो गया। सब उसके साथ ही बाहर निकल गये। वह एक अनुकूल जगह पर छावनी डाल पड़ रहा।

राजा ने सोचा—"युवराज नगर खाली कर सेना लेकर भाग निकला। शत्रु-राजा नगर घेरे खड़ा है। अब मेरा प्राण नहीं बचेगा।" उसने जान बचाने के लिये अपनी रानी, पुरोहित तथा परन्तप नाम के एक सेवक को साथ लिया और रात को भेष बदल भागकर जंगल में जा घुसा।

बोधिसत्व ने जब सुना कि वह भाग गया तो नगर में दाखिल हो युद्ध किया और शत्रु-राजा को भगा कर राजा बन गया। उसका पिता भी नदी के तट पर झोपड़ी बना, फल-मूल खाकर दिन काटने लगा। राजा और पुरोहित फल-मूल लेने के लिये जाते। परन्तप-दास देवी के साथ झोपड़ी में रहता। वहाँ भी राजा से देवी को गर्भ रह गया।

निरन्तर साथ रहने से देवी ने परन्तप के साथ अनाचार किया। एक दिन वह परन्तप से बोली—"राजा को पता लगने पर न तू बचेगा, न मैं, इसलिये उसे मार डाल।" "कैसे मारूँ?" "यह तुझसे खड्ग और नहाने का वस्त्र उठवा कर नहाने जाता है। वहाँ नहाने की जगह पर इसे असावधान देख, खड्ग से सिर काट डालना और फिर शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर जमीन में गाड़ देना।" उसने स्वीकार किया।

एक दिन अकेला पुरोहित ही फल-मूल के लिये गया। वह राजा के नहाने की जगह थोड़ी ही दूर पर स्थित एक वृक्ष पर चढ़ कर फल तोड़ता था। राजा परन्तप को नहाने का वस्त्र और खड्ग देकर नहाने के लिये नदी-तट पर गया। वहाँ उसे असावधान पा 'मारूँगा' सोच, परन्तप ने गर्दन पकड़, तलवार उठाई। वह मृत्यु-भय से चिल्लाया। पुरोहित ने

आवाज सुन, परन्तप को राजा को मारते देखा तो डर के मारे शाखा छोड़, वृक्ष से उतरा और एक झाड़ी में छिप कर जा बैठा। परन्तप ने उसका शाखा से उतरने का शब्द सुना। उसने राजा को मार कर जमीन में गाड़ दिया। फिर सोचने लगा कि यहाँ पर शाखा छोड़ने का शब्द हुआ था, यहाँ कौन है ? उसे कोई न दिखाई दिया। वह नहा कर चला आया। उसके चले जाने पर पुरोहित जहाँ बैठा था वहाँ से निकला। यह मालूम कर कि राजा का शरीर टुकड़े-टुकड़े कर गाड़ दिया है, वह नहा कर अपने मारे जाने के डर से अन्धे की शकल बनाकर पर्णकुटी में आया। उसे देख परन्तप ने पूछा—"ब्राह्मण ! क्या किया ?" उसने अज्ञ की तरह उत्तर दिया—"देव ! मैं अपनी आँखे गँवा आया हूँ। विषैले सर्प वाले जंगल में एक बाम्बी के पास खड़ा था। वहाँ किसी विषैले सर्प ने मुझ पर फुंकार मारी होगी।" परन्तप ने सोचा—"यह मुझे पहचानता नहीं है, 'देव' कहता है। मैं इसे सांत्वना दूँगा।" वह बोला—"ब्राह्मण ! चिन्ता न कर। मैं तेरा पालन करूँगा।" उसने उसे फल-मूल दे सन्तुष्ट किया।

तब से परन्तप-दास ही फल-मूल लाता। देवी ने भी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के बढ़ने पर एक दिन सुख-पूर्वक बैठी हुई देवी ने प्रातःकाल के समय परन्तप-दास से धीरे से पूछा—

"राजा को मारते समय तुझे किसी ने नहीं देखा ?"

"मुझे किसी ने नहीं देखा। हाँ, शाखा छोड़ने का शब्द सुनाई दिया। वह शाखा मनुष्य ने छोड़ी या किसी पशु ने छोड़ी, पता नहीं। यदि कभी मुझे कोई खतरा होगा तो उस शाखा छोड़ने के स्थान से ही पैदा होगा।" उसने देवी के साथ बात-चीत करते हुए पहली गाथा कही—

आगमिस्सति मे पापं आगमिस्सति मे भयं,
तदा हि चलिता साखा मनुस्सेन मिगेन वा ॥१॥

[मुझ पर विपत्ति आयेगी, मुझे भय उत्पन्न होगा। उस समय मनुष्य या पशु द्वारा शाखा हिली थी ॥१॥]

वे समझते थे कि पुरोहित सोता है। लेकिन पुरोहित ने जागते रहकर उनकी बात-चीत सुनी। एक दिन पुरोहित ने जब परन्तप-दास फल-मूल के लिये गया था, अपनी ब्राह्मणी को याद कर विलाप करते हुए

दूसरी गाथा कही—

भीरुया नून मे कामो अविदूरे वसन्तिया,
करिस्सति किसं पण्डुं साव साखा परन्तपं ॥२॥

[उस थोड़ी ही दूर रहने वाली भीरू के लिये मेरे मन में जो कामना पैदा हुई है, वह मुझे वैसे ही दुबला और पाण्डु-वर्ण कर देगी जैसे शाखा परन्तप की ॥२॥]

इस प्रकार ब्राह्मण केवल गाथा कहता था, अर्थ नहीं कहता था। इसलिये देवी इस गाथा का मतलब नहीं समझती थी। उसने पूछा— "ब्राह्मण ! क्या कहता है?" वह बोला—"ऐसे ही कुछ देखा है।" फिर एक दिन तीसरी गाथा कही—

सोचयिस्सति मं कन्ता गामे वसमनिन्दिता,
करिस्सति किसं पण्डुं साव साखा परन्तपं ॥३॥

[मेरी अनिन्दित कान्ता ग्राम (=वाराणसी) में रहती हुई मेरी चिन्ता करेगी। वह उसे कृश और पाण्डु-वर्ण कर देगी, जैसे शाखा परन्तप को ॥३॥]

फिर एक दिन चौथी गाथा कही—

तया मं हसितापङ्गि मिहितानि भणितानि च,
किसं पण्डुं करिस्सन्ति साव साखा परन्तपं ॥४॥

[हे कृष्ण-वर्ण अक्षि-कोण वाली ! तेरा मन्द-हास्य और मधुर-भाषण मुझे कृश और पाण्डु वर्ण कर देगा, जैसे शाखा परन्तप को ॥४॥]

आगे चल कर कुमार बड़ा होकर सोलह वर्ष का हो गया। ब्राह्मण ने उसे लकड़ी का सिरा पकड़ाया और नहाने की जगह पहुँच आखें खोल कर देखा। कुमार बोला—"ब्राह्मण ! तुम अन्धे हो न ?"

"नहीं मैं अन्धा नहीं हूँ। इस उपाय से जान बचाये हूँ। अपने पिता को जानता है ?"

"हाँ, यह मेरा पिता है।"

"नहीं, यह तेरा पिता नहीं है। तेरा पिता वाराणसी-राजा था। यह

तुम्हारा दास है। इसने तुम्हारी माता के साथ अनाचार किया और तुम्हारे पिता को मारकर इस जगह गाड़ दिया।" उसने हड्डियाँ खोद कर दिखाई। कुमार को बड़ा क्रोध आया। उसने पूछा—"अब क्या करूँ?"

"जो उसने तेरे पिता के साथ इस जगह किया, वही कर।" उसने सब समाचार कह कुमार को कुछ दिन तलवार चलाना सिखाया।

एक दिन कुमार ने खड्ग और नहाने का वस्त्र लेकर कहा—"तात! नहाने चलें।" परन्तप 'अच्छा' कह उसके साथ गया। जब वह नहाने के लिये उतरा तो उसने दाहिने हाथ में तलवार और बायें हाथ में उसका बाल पकड़कर कहा—"तूने इसी स्थान पर, मेरे चिल्लाते हुये पिता को बालों से पकड़कर मारा था। मैं भी तेरे साथ वैसा करूँगा।" उसने मृत्यु से भयभीत हो रोते-पीटते दो गाथायें कहीं—

आगमा नून सो सद्दो असं सी नून सो तव,
अक्खानं नून तं तेन यो तं साखमकम्पयि ॥१॥
इदं खो तं समागम्म मम बालस्स चिन्तितं,
तदाहि चलिता साखा मनुस्सेन मिगेनवा ॥२॥

[निश्चय से वह (शाखा-) शब्द तुम्हारे पास गया, उसी ने तुम्हें सुनाया। निश्चय से जिस (शाखा-) शब्द ने उस शाखा को हिलाया, उसी ने वह बात तुम्हें कही ॥१॥ मेरा पूर्व का यह चिन्तन (कि इस शाखा से मुझे भय होगा) तुम तक पहुँच गया। उस समय मैंने नहीं जाना कि यह शाखा मनुष्य द्वारा हिलाई गई वा पशु द्वारा ॥२॥]

उस समय कुमार ने अन्तिम गाथा कही—

तथेव त्वं अवेदेसि अवञ्चि पितरं मम,
हन्त्वा साखाहि छादेन्तो आगमिस्सति मे भयं ॥३॥

[इस प्रकार तुझे मेरे पिता को धोखा दे, मारकर यह ज्ञान हुआ कि इन शाखाओं में छिपा हुआ भय मुझे प्राप्त होगा ॥३॥]

उसे यह कहा और वहीं समाप्त कर गाड़ दिया। फिर ऊपर शाखाओं से ढक दिया। तलवार धोकर स्नान किया और झोपड़ी पर पहुँच पुरोहित को सूचना दी कि वह मर गया। फिर माता का परिहास तीनों

जनों ने सोचा यहाँ क्या करेंगे ? वे वाराणसी ही चले गये। बोधिसत्व छोटे भाई को राज्य दे, दानादि कर्म करते हुए स्वर्ग-गामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला (आर्य-) सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बिठाया। उस समय पिता राजा देवदत्त था। पुरोहित आनन्द था। पुत्र-राजा तो मैं ही था।

आठवाँ परिच्छेद

१. कच्चानि वर्ग

४१७. कच्चानि जातक

"ओदातवत्था..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक मातृ-सेवक उपासक के बारे में कही—

क. वर्त्तमान कथा

श्रावस्ती में वह तरुण बड़ा सदाचारी था। पिता की मृत्यु पर उसने माता को ही अपना देवता समझा। वह मुँह धोने के लिये दातुन, नहाने के लिये जल-देना और धोना आदि सेवा तथा यवागु-भात आदि देकर माता को पालता था। एक दिन माँ बोली—"तात! तुझे दूसरे भी घर के काम हैं। अपने समान जाति-कुल की एक कुमारी ग्रहण कर ले। वह मेरी भी सेवा करेगी और तू भी अपना काम कर सकेगा।"

"माँ! मैं अपने हित-सुख की कामना से तुम्हारी सेवा करता हूँ। दूसरा कौन कर सकेगा?"

"तात! कुल-वृद्धि-कर्म करना चाहिये।"

"मुझे गृहस्थी नहीं चाहिये। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा। तुम्हारे बाद प्रव्रजित हो जाऊँगा।"

उसकी माता ने बार-बार कहा। जब उसकी इच्छा नहीं हुई, तो वह बिना उसकी स्वीकृति के ही समान जाति-कुल से एक लड़की ले आई। वह माता की ओर से उदासीन नहीं हुआ और उसके साथ रहने लगा। उसने भी सोचा मेरा स्वामी बड़े उत्साह से माँ की सेवा करता है, मैं भी यदि ऐसे ही करूँगी तो उसकी प्रिया हो जाऊँगी। वह अच्छी तरह माँ की

सेवा करने लगी। उसने जब देखा कि वह अच्छी तरह माँ की सेवा करती है, तो उसे जो-जो मधुर खाद्य-भोज्य मिलता वह उसी को ला-ला कर देता। आगे चलकर उसने सोचा, यह जो-जो मधुर भोजन लाता है, मुझे ही देता है, शायद माँ को निकाल देना चाहता हो। मैं इसे निकालने का उपाय करूँगी। इस प्रकार अनुचित ढङ्ग से विचार कर एक दिन उसने कहा—"स्वामी! तुम्हारे बाहर चले जाने पर तुम्हारी माता मुझे गाली देती है।" वह चुप रहा। उसने सोचा—इस बुढ़िया को उत्तेजित कर पुत्र के विरुद्ध करूँगी। उस समय से खिचड़ी देने के समय या तो बहुत गर्म देती या बहुत ठंडी; या बहुत नमक होता या एकदम अलूनी। यदि वह कहती कि यह बहुत गर्म है और बहुत नमकीन है तो भरकर ठंडा पानी डाल देती। फिर यदि वह कहती कि बहुत ठंडी है और बहुत अलूनी है, तो चिल्लाने लगती—"अभी तो बहुत गर्म और बहुत नमकीन कहती थी। कौन तुझे संतुष्ट कर सकता है?" नहाने का जल भी बहुत गर्म करके पीठ पर बिखेर देती। यदि वह कहती "अम्म! मेरी पीठ जलती है" तो फिर भरकर ठंडा पानी उडेल देती। फिर यदि वह कहती कि बहुत ठण्डा है, तो पड़ौसियों को सुनाती—"अभी बहुत गर्म कहकर तुरन्त बहुत ठंडा कहती है, कौन इस अपमान को सहेगा?" यदि वह कहती, "अम्म! चारपाई में बहुत पिस्सु हैं" तो उसकी चारपाई निकालकर उस पर अपनी चारपाई डाल, पीट कर, फिर ले जाकर बिछा देती—"चारपाई पीट दी।" महा-उपासिका पिस्सुओं के मारे सारी रात बैठी-बैठी बिताती। यदि वह कहती, "अम्म! सारी रात खटमल खाते रहे" तो वह उत्तर देती—"तेरी चारपाई बहुत पीटी; लेकिन कौन है जो इसके कामों को समाप्त कर सके।" फिर चुप हो उत्तेजित करने के लिये सारे घर में थूक-सीढ, बाल आदि फैला देती। वह पूछता—"कौन है जो इस सारे घर को गन्दा करता है?" वह उत्तर देती "तेरी माँ है जो ऐसा करती है। मना करने पर झगड़ा करती है। मैं ऐसी मनहूस के साथ एक घर में नहीं रह सकती। चाहे इसे घर में रख या मुझे रख।" उसने उसकी बात सुनी तो कहा—"भद्रे! तू अभी तरुण है। जहाँ कहीं जाकर अपना पालन-पोषण कर सकती है। किन्तु मेरी माता बुढ़ापे से दुर्बल है। मैं ही इसका सहारा

हूँ। तू निकलकर अपने घर जा।" उसने उसकी बात सुनीं तो डरी—"मैं इसे माता से नहीं फोड़ सकती। इसे हर तरह से माता प्रिय है। यदि मैं अपने घर जाऊँगी तो विधवा की तरह रहती हुई दुखी रहूँगी। मैं पहले की तरह सास को प्रसन्नकर उसकी सेवा करूँगी।" वह पूर्ववत् उसकी सेवा करने लगी।

एक दिन वह उपासक, धर्म सुनने के लिये जेतवन गया और शास्ता को प्रणाम कर एक ओर बैठा। शास्ता ने पूछा—"उपासक ! कर्मों में प्रमाद तो नहीं होता ? माता की सेवा तो होती है ?"

"भन्ते ! हाँ मेरी माता मेरी अनिच्छा रहते हुये भी एक कुल से लड़की ले आई। उसने यह अनाचार-कर्म किया"...सब शास्ता को बता कर कहा—"वह स्त्री मेरी माता और मुझे फोड़ नहीं सकी। अब वह अच्छी तरह सेवा करती है।" शास्ता ने उसकी बात सुन कहा—"आयुष्मान् ! अब तो तूने उसका कहना नहीं किया, किन्तु पूर्व-समय में तूने उसके कहने से अपनी माता को निकाल दिया था। फिर मेरे कहने से उसे घर लाकर सेवा की थी।" इतना कह उसके प्रार्थना करने पर शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक कुल-पुत्र पिता के मरने पर माता को देवता मान कर उक्त प्रकार से ही सेवा करता था...सारी कथा पूर्वोक्त प्रकार से कहनी चाहिये। "मैं इस प्रकार की मनहूस के साथ नहीं रह सकती हूँ, इसे घर में रख या मुझे" कहने पर उसकी बात मान और यह समझ कि माँ ही दोषी है उसने माँ से कहा—"अम्मा ! तू इस घर में नित्य झगड़ा करती है। यहाँ से निकल कर अन्यत्र जहाँ चाहे रह।"

वह 'अच्छा' कह रोती हुई निकल गई और एक मित्र-कुल में मजदूरी कर बड़े कष्ट से दिन काटने लगी। सास के चले जाने पर पतोहू को गर्भ रह गया। वह पति और पड़ौसियों को कहती फिरी—"उस मनहूस के घर में रहते मुझे गर्भ नहीं रहा, चले जाने पर गर्भ रहा।" आगे चलकर पुत्र होने पर भी वह बोली—"जब तक तुम्हारी माता घर में थी, मुझे पुत्र न हुआ, अब मिला है। इससे भी जान लो कि वह मनहूस है।"

उसने यह सुनकर कि मुझे निकाल देने पर पुत्र हुआ है, सोचा—"निश्चय से संसार में धर्म मर गया है। यदि धर्म मरा न होता तो माँ को पीट कर निकाल देने वालों को पुत्र न होता, वे सुख से न जीते। मैं धर्म का श्राद्ध करूँगी।"

एक दिन उसने पिसे-तिल, चावल, हाँडी और कड़छी ली और कच्चे श्मशान में जाकर तीन खोपड़ियों का चूल्हा बनाकर आग जलाई। फिर पानी पर जा, सिर से स्नान कर और मुँह धो, चूल्हे की जगह पर आ, बालों को खोल, तिलों को धोना आरम्भ किया।

उस समय बोधिसत्व देवेन्द्र शक्र थे। सभी बोधिसत्व अप्रमादी होते हैं। उस समय उसने संसार पर नजर डाली तो देखा कि वह दुःख के कारण धर्म को मरा जान कर, धर्म का श्राद्ध करने जा रही है। उसने सोचा कि आज मैं अपना बल प्रदर्शित करूँगा। वह ब्राह्मण का वेश बना रास्ते चलने वाले की तरह, मानो उसे देखकर रास्ते से हट कर उसके पास गया हो, पास जाकर बोला—"अम्मा! श्मशान में आहार नहीं पकाया जाता। तू इस पके तिल चावल का क्या करेगी?" यह पूछते हुए शक्र ने पहली गाथा कही—

ओदातवत्था सुचि अल्लकेसा
कच्चानि किं कुम्भिमधिस्सयित्वा,
पिट्ठा तिला धोवसि तण्डुलानि
तिलोदनो होहिति किस्सहेतु ॥१॥

[हे श्वेत-वस्त्र, भींगे केश वाली कात्यायनी! यह क्या हांडी चढ़ा कर पिसे तिल और चावल धोती है? यह तिलोदन किस के लिये होगा? ॥१॥]

उसने उसे उत्तर देते हुए दूसरी गाथा कही—

न खो अयं ब्राह्मण भोजनत्था
तिलोदनो होहिति साधु पक्को,
धम्मो मतो तस्स बहूतमज्ज
अहं करिस्सामि सुसानमज्झे ॥२॥

[ब्राह्मण ! यह तिलोदन भोजन के लिये नहीं है, यह अच्छी तरह पके । धर्म मर गया है । मैं आज श्मशान में उसका श्राद्ध करूँगी ॥२॥]

तब शक्र ने तीसरी गाथा कही—

अनुविच्च किच्चानि करोहि किच्चं
धम्मो मतो को नु तवेतसंसी,
सहस्सनेत्तो अतुलानुभावो
न मिय्यती धम्मवरो कदाचि ॥३॥

[हे कात्यायनी ! विचारपूर्वक कार्य्य कर । तुझे किसने कहा कि धर्म मर गया है । मैं अतुल प्रताप वाला हूँ, सहस्र नेत्र हूँ । श्रेष्ठ धर्म कभी नहीं मरता ॥३॥]

यह सुन उसने दो गाथायें कहीं—

दलहप्पमाणं मम एत्थ ब्रह्मे
धम्मो मतो नत्थि ममेत्थ कङ्खा,
ये येवदानि पापा भवन्ति
ते तेवदानि सुखिता भवन्ति ॥४॥
सुनिसा हि मटहं वञ्झा अहोसि
सा मं वधित्वान विजायि पुत्तं,
सादानि सब्बस्स कुलस्स इस्सरा
अहम्पनम्हि अपविद्धा एकिका ॥५॥

[हे ब्रह्मा ! मुझे इसमें संदेह नहीं है कि धर्म मर गया है । मेरे पास इसका दृढ़ प्रमाण है। जो-जो इस समय पापी होते हैं, वे वे ही इस समय सुखी होते हैं ॥१॥ मेरी पतोहूँ बांझ थी; उसने मुझे पीटा तो उसे पुत्र हो गया। वह ही इस समय सारे कुल में प्रधान हो गई, और मैं अकेली अनाथ हो गई ॥४-५॥]

तब शक्र ने छठी गाथा कही—

जीवामि वोहं नाहं मतोस्मि
तवेव अत्थाय इधागतोस्मि,
यं तं वधित्वान विजायि पुत्तं
सहाय पुत्तेन करोमि भस्मं ॥६॥

[मैं मरा नहीं। मैं जीता हूँ। मैं तेरे ही लिये यहाँ आया हूँ। तुझे पीट कर जिसने पुत्र को जन्म दिया है, उसे पुत्र सहित भस्म करता हूँ ॥६॥]

यह सुन उसने अपने आप को धिक्कारा कि मैंने क्या कह दिया और अपने नाती को जीता रखने के लिये सातवीं गाथा कही—

एतञ्च ते रुच्चति देवराज
ममेव अत्थाय इधागतोसि,
अहञ्च पुत्तो सुनिसा च नत्ता,
सम्मोदमाना घरमावसेम ॥७॥

[हे देवराज ! यदि तुझे यह अच्छा लगता है और यदि तू मेरे ही लिये यहाँ आया है, तो मैं यही चाहती हूँ कि मेरा पुत्र, मेरा नाती, मेरी पतोहू और मैं सब प्रसन्नता पूर्वक घर में रहें ॥७॥]

तब शक्र ने आठवीं गाथा कही—

एतञ्च ते रुच्चति कातियानि
हतापि सन्ता न जहासि धम्मं,
तुवञ्च पुत्तो सुनिसा च नत्ता
सम्मोदमाना घरमावसेथ ॥८॥

[हे कात्यायनी ! यदि तुझे यही अच्छा लगता है, और तू पिटने पर भी धर्म नहीं छोड़ती है, तो तेरा पुत्र, तेरा नाती, तेरी पतोहू और तू प्रसन्नतापूर्वक घर में रहें ॥८॥]

इतना कह शक्र अलङ्कारों से सजकर अपने प्रताप से आकाश में स्थित हुआ और बोला—"कात्यायनी ! तू डर मत। मेरे प्रताप से तेरा पुत्र और तेरी पतोहू, रास्ते में तुझसे क्षमा माँग, तुझे लेकर घर जायेंगे। तू अप्रमादी रह।" फिर शक्र अपने स्थान को गया। वे भी शक्र के प्रताप से अपनी माता के गुणों को याद कर गाँव में पहुँचे और पूछा—"हमारी माँ कहाँ है ?" लोगों ने बताया—"श्मशान की ओर गई है।" वे 'माँ, माँ' कहते हुए श्मशान की ओर दौड़े और उसे देखते ही उसके पैरों पर गिर कर 'माँ हमारे दोष क्षमा करें' कह क्षमा माँगी। उसने नाती को ले लिया। इस प्रकार वे प्रसन्नचित्त घर लौटे और उसके बाद मेल से रहने लगे।

यह अभिसम्बुद्ध गाथा है—

सा कातियानी सुनिसाय सद्धिं सम्मोदमाना घरमावसित्थ,
पुत्तो च नत्ता च उपट्ठहिंसु देवानमिन्देन अधिग्गहीता ॥१॥

[अपनी पतोहू के साथ वह कात्यायनी प्रसन्नतापूर्वक घर में रही। देवेन्द्र के प्रताप से पुत्र और नाती उसकी सेवा करने लगे ॥1॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में वह उपासक स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय का मातृ-सेवक इस समय का मातृ-सेवक हुआ, और उसकी भार्य्या भी इस समय की भार्य्या थी। शक्र तो मैं ही था।

———

४१८. अट्ठसद्द जातक

"इदं पुरे निन्नमाहु. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय आधी रात को कोशल-नरेश द्वारा सुनी गयी भयानक-आवाज के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

यह कथा उक्त **लोह-कुम्भी**[1] जातक के सदृश ही है। इस कथा में जब राजा ने पूछा "भन्ते ! इन आवाजों के सुनाई देने के कारण मेरा क्या होगा" तो शास्ता बोले—"महाराज ! डरें मत। इन शब्दों के सुनने के कारण आपकी कुछ हानि नही होगी। महाराज ! इस प्रकार का भयानक, अस्पष्ट शब्द केवल आपने ही नहीं सुना है, पहले भी राजाओं ने इस प्रकार का शब्द सुना तो ब्राह्मणों की बात मान सब चतुष्पदों का यज्ञ करने के लिये तैय्यार हो गये; लेकिन फिर पण्डितों की बात मान, उन्होंने यज्ञ में बध करने के लिये लाये गये प्राणियों को छुड़वा दिया और नगर में मुनादी करा दी कि कोई किसी को न मारे।" यह कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व अस्सी करोड़ धन वाले ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए। बड़े होने पर तक्षशिला जा, शिल्प सीख कर आया। फिर माता-पिता के मरने पर रतनों की ओर देख सारा धन दे दिया, और काम-भोगों को छोड़, हिमालय जा, ऋषि-प्रव्रज्या ग्रहण की। वहाँ उसने ध्यान और अभिञ्ञा प्राप्त की। आगे चल कर नमक-खटाई खाने के लिये बस्ती की ओर आ, वाराणसी पहुँच, उद्यान में रहने लगा।

---

१. लोहकुम्भी जातक (३१४)।

उस समय वाराणसी-नरेश को अपने शयनागार में बैठे-बैठे आधी रात के समय आठ शब्द सुनाई दिये। पहले तो राजभवन के सामने के उद्यान में से एक बगुले ने आवाज लगाई। दूसरे, उसकी आवाज रुकने से पहले हस्ति-शाला के दरवाजे में रहने वाली कौवी ने आवाज लगाई। तीसरे, राजभवन के शिखर में रहने वाले घुण-कीट ने आवाज लगाई। चौथे, राजभवन में पलने वाली कोयल ने आवाज लगाई। पाँचवें, वहीं पलने वाले मृग ने आवाज लगाई। छठे, वहीं पलने वाले वानर ने आवाज लगाई। सातवें, वहीं पलने वाले किन्नर ने आवाज लगाई। आठवें, अभी वह आवाज रुकी नहीं थी कि राजभवन के ऊपर से उद्यान जाते हुए प्रत्येक-बुद्ध ने एक 'उदान' कह कर आवाज की।

वाराणसी-नरेश ने ये आठ शब्द सुने, तो वह डरा। उसने अगले दिन ब्राह्मणों से पूछा। ब्राह्मण बोले—"महाराज! आप के लिये खतरा दिखाई देता है। सब चौपायों का यज्ञ करेंगे।" राजा ने कहा—"जैसा अच्छा लगे, वैसा करो।" ब्राह्मण प्रसन्न हुए और राजकुल से निकल यज्ञ की तैयारी करने लगे।

ज्येष्ठ याज्ञिक ब्राह्मण का शिष्य पण्डित था, मेधावी था। वह बोला—"आचार्य्य! इस प्रकार का कठोर, निर्दय, बुरा-कर्म जिसमें बहुत से प्राणियों का नाश होता है, न करें।"

"तात! तू क्या जानता है? यदि और कुछ नहीं होगा तो मत्स्य-मांस तो खाने को बहुत मिलेगा।"

"तात! पेट के लिये ऐसा कर्म न करें, जिससे नरक भोगना पड़े।"

यह सुन शेष ब्राह्मण क्रोधित हुए—"यह हमारे लाभ में बाधा डालता है।"

उस शिष्य को उनसे डर लगता था। इसलिये 'अच्छा, तुम मत्स्य-मांस खाने का उपाय करो' कह वह नगर से बाहर निकलकर किसी ऐसे धार्मिक श्रमण की खोज करने लगा जो राजा को रोक सके। उसने राजोद्यान में बोधिसत्व को देखकर प्रणाम किया और कहा—"भन्ते! क्या आप के दिल में प्राणियों के लिये दया नहीं है? राजा बहुत से प्राणियों का बध कर यज्ञ कराने जा रहा है। क्या जनता को बन्धन से मुक्त करना उचित नहीं है?"

"ब्रह्मचारी ! न हमें राजा पहचानता है, न हम राजा को।"

"भन्ते ! लेकिन क्या आप राजा ने जो शब्द सुने उनका फल जानते हैं ?"

"हाँ, जानता हूँ।"

"तो जानते हुए क्यों नहीं बताते हैं ?"

"ब्रह्मचारी ! मैं जानता हूँ, तो क्या माथे पर सींग बाँध कर घूम सकता हूँ ? यदि यहाँ आकर पूछेगा, तो कह दूँगा।"

शिष्य जल्दी से राजकुल पहुँचा। 'तात ! क्या बात है ?' पूछने पर उसने कहा—"महाराज ! आप ने जो शब्द सुने हैं, उनका फल जानने वाला एक तपस्वी आपके उद्यान में मङ्गल-शिला पर बैठा है और कहता है कि यदि मुझे पूछेगा तो कहूँगा। उसे जाकर पूछना चाहिए।" राजा जल्दी से वहाँ पहुँचा और तपस्वी को प्रणाम कर कुशल-क्षेम पूछे जाने पर एक ओर बैठा। उसने पूछा—"क्या आप मेरे सुने शब्दों का फल जानते हैं ?" "हाँ महाराज।" "तो वह मुझे कहें।"

"महाराज ! उन शब्दों के सुनने के कारण आपको कोई खतरा नहीं है। आपके पुराने बाग में एक बगुला है। उसे शिकार न मिलने से भूख के मारे उसने पहली आवाज लगाई।" बोधिसत्व ने अपने ज्ञान से उसकी क्रिया समझ पहली गाथा कही—

इदं पुरे निन्नमाहु बहुमच्छं महोदिकं
आवासो बकराजस्स पेत्तिकं भवनं मम,
त्यज्ज भेकेन यापेम ओकं न विजहामसे॥१॥

[इस पुष्करिणी में पहले बहुत पानी था और बहुत मछलियाँ। यह मुझ बकराज का पैतृक निवास-स्थान है। अब मैं केवल मेण्डकों से काम चलाता हूँ। तो भी मैं इस घर को नहीं छोड़ता हूँ ॥१॥]

इस प्रकार महाराज उस बगुले ने भूख के मारे आवाज लगाई थी। यदि उसे भूख से मुक्त करना चाहते हो तो उस उद्यान को साफ करा पुष्करिणी को पानी से भर दो। राजा ने एक अमात्य को वैसा करने के लिये आज्ञा दी।

और, हस्तिशाला के दरवाजे पर रहने वाली काँवी ने अपने पुत्र-शोक के कारण दूसरी आवाज लगाई। उससे भी तुम्हें खतरा नहीं है, यह कह दूसरी गाथा कही—

को दुतियं असीलस्स बन्धुरस्सक्खि भेज्जति,
को मे पुत्ते कुलावकं मञ्च सोत्थि करिस्सति ॥२॥

[कौन है जो दुराचारी बन्धुर की दूसरी आँख भी फोड़ देगा ? कौन है जो मेरे पुत्रों का, मेरे घोंसले का और मेरा कल्याण करेगा ? ॥२॥]

यह कह प्रश्न किया—"महाराज ! आप की हस्तिशाला में हथवान कौन है ?"

"भन्ते ! बन्धुर नाम है।"

"महाराज ! क्या वह एक आँख से काणा है ?"

"भन्ते ! हाँ।"

"महाराज ! आपकी हस्तिशाला के दरवाजे पर एक कौवी ने घोंसला बनाकर अण्डे रखे। वे पक गये। उनमें से कौवे के बच्चे निकल आये। हथवान हाथी पर चढ़कर शाला से निकलते और घुसते समय अंकुस से कौवी को और उसके बच्चों को भी चोट लगाता है और उसके घोंसले को भी उजाड़ता है। वह इस कष्ट से दुखी हो कामना करती है—"हथवान अन्धा हो जाय। यदि तुम कौवी के प्रति मैत्री-चित्त हो तो बन्धुर को बुलाकर घोंसला उजाड़ने से मना कर दो।" राजा ने उसे बुला, बुरा-भला कह, वह हाथी दूसरे को सौंप दिया।

"महाराज ! तुम्हारे महल के शिखर पर एक घुण-कीट रहता है। वह साररहित खा चुकने पर जब सारवान् भाग खाने लगा तो न खा सका। उसे जब खाना न मिला और वह निकल भी न सका तो उसने रोते-पीटते हुए तीसरी आवाज लगाई। उससे भी तुझे खतरा नहीं है।"

बोधिसत्व ने अपने ज्ञान से उसकी भी क्रिया समझ तीसरी गाथा कही—

सब्बापरिक्खता फेग्गु याव तस्सा गती अहू,
खीणभक्खो महाराज सारे न रमती घुणो ॥३॥

[जहाँ तक उसकी सामर्थ्य थी, घुण ने सब कुछ खा लिया। अब खाने को कुछ नहीं रहा, इसलिये घुण सारवान् में कष्ट पाता है ॥३॥]

फिर कहा कि उस घुण को निकलवा दें। राजा ने एक आदमी को आज्ञा दे, उसे उपाय से निकलवा दिया।

"महाराज ! आपके राजभवन में पली हुई एक कोयल है ?"

"भन्ते ! हाँ।"

"महाराज ! उसने अपने उस वन-खण्ड को याद कर जहाँ वह पहले रहती थी, उत्कण्ठित हो, चौथी आवाज लगाई कि मैं फिर कब उस वन-खण्ड में जाऊँगी। इस से भी तुम्हें खतरा नहीं है।"

बोधिसत्व ने चौथी गाथा कही—

सा नूनाहं इतो गन्त्वा रञ्ञो मुत्ता निवेसना,
अत्तानं रमयिस्सामि दुमसाखा निकेतिनि ॥४॥

[मैं द्रुम-शाखाओं में रहने वाली, राजभवन से मुक्त होकर, यहाँ से जाकर आनन्द मनाऊँगी ॥४॥]

"महाराज इस कोयल को छोड़ दें।" राजा ने वैसा किया।

"महाराज ! आपके राजभवन में पला हुआ एक मृग है?"

"भन्ते ! हाँ।"

"महाराज ! वह एक झुण्ड का सरदार है। उसने अपनी मृगी को याद कर, कामुकता के कारण उत्कण्ठित हो, पाँचवीं आवाज लगाई, उससे भी आपको खतरा नहीं है।"

बोधिसत्व ने पाँचवीं गाथा कही—

सो नूनाहं इतो गन्त्वा रञ्ञो मुत्तो निवेसना,
अग्गोदकानि पिविस्सामि यूथस्स पुरतो वजं ॥५॥

[मैं राज-भवन से मुक्त हो यहाँ से जाकर (मृग-) झुण्ड के आगे-आगे जाता हुआ श्रेष्ठ-जल पीऊँगा ॥५॥]

बोधिसत्व ने उस मृग को भी मुक्त करा फिर पूछा—"महाराज ! आपके राजभवन में पाला गया बन्दर है ?" "भन्ते ! हाँ।" कहने पर

"महाराज ! वह भी हिमालय-प्रदेश में बन्दरों का सेनापति था। वहाँ बन्दरी के साथ कामासक्त हो घूमता था। भरत नाम का शिकारी यहाँ ले आया। अब उत्कठित हो वहीं जाने की इच्छा से उसने छठी आवाज लगाई। उससे भी तुम्हें खतरा नहीं है," कह छठी गाथा कही—

तं मं कामेहि सम्पन्नं रत्तं कामेसु मुच्छितं,
आनयी भरतो लुद्दो बाहिको भद्दमत्थु ते ॥६॥

[काम-भोगों में फँसे हुए, कामभोगों में मूर्छित मुझे बाहीक राष्ट्रवासी भरत शिकारी ले आया। तेरा कल्याण हो ॥६॥]

बोधिसत्व ने उस वानर को भी मुक्त करा पूछा—"महाराज ! आप के राज-भवन में पाला हुआ किन्नर है ?" "है" कहने पर कहा—"महाराज ! उसनें अपनी किन्नरी का उपकार याद कर कामासक्त हो सातवीं आवाज लगाई। वह एक दिन तुङ्गपर्वत शिखर पर चढ़ी। वहाँ वे नाना-वर्ण और नाना प्रकार की सुगन्धी वाले पुष्पों को चुनते और धारण करते रहे। उन्हें सूर्य्यास्त का ध्यान न रहा। सूर्य्यास्त होने पर उतरने के समय अन्धेरा हो गया। किन्नरी बोली—"स्वामी अन्धकार है। बिना फिसले, सँभाल कर उतरें।" उसने उसकी वह बात याद कर आवाज लगाई। "उससे भी तुझे खतरा नहीं है।" बोधिसत्व ने अपने ज्ञान से यह बात प्रकट करते हुए सातवीं गाथा कही—

अन्धकारतिमिसायं तुङ्गे उपरि पब्बते,
सा मं सण्हेन मुदुना मा पादं खणियस्मनि ॥७॥

[पर्वत के तुङ्ग-शिखर पर, घोर अन्धकार में उसने मुझे स्निग्ध मृदु स्वर में कहा—पत्थर में पैर की ठोकर न लगे ॥७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने किन्नर की आवाज का कारण बता उसे छुड़वाया और फिर आठवें शब्द का कारण बताया—"नन्दमूलक पर्वत पर एक प्रत्येक-बुद्ध ने अपना आयु-संस्कार देखा। उन्होंने सोचा कि बस्ती में जा वाराणसी-राजा के उद्यान में परिनिर्वृत होंगे। तब मनुष्य मेरी शरीर-क्रिया कर, उत्सव मना, धातु पूजा कर, स्वर्ग-गामी होंगे। वह अपने ऋद्धि-बल से आते हुए जब तेरे प्रासाद के ऊपर पहुँचे, तो कन्धे के भार को

उतार निर्वाण रूपी नगर में प्रविष्ट होने को प्रकट करने वाला 'उदान' कहा। बोधिसत्व ने प्रत्येक-बुद्ध द्वारा कही गई गाथा कही—

असंसयं जातिखयन्तदस्सी
न गब्भसेय्यं पुनरावजिस्सं,
अयं हि मे अन्तिमा गब्भसेय्या
खीणो मे संसारो पुनब्भवाय ॥८॥

[मैंने निस्सन्देह जन्म का अन्त देख लिया। फिर मैं गर्भ-शैय्या में नहीं आऊँगा। यह मेरी अन्तिम गर्भ-शैय्या है। मेरा संसार पुनरुत्पत्ति के लिये क्षीण हो गया ॥८॥]

यह 'उदान' कह कर वह इस उद्यान में आये और एक पुष्पित-शालवृक्ष के नीचे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। बोधिसत्व ने "महाराज, आ इसका शरीर-कृत्यकर" कह महाराज को वहाँ ले जाकर जहाँ प्रत्येक-बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे, प्रत्येक-बुद्ध का शरीर दिखाया।

राजा ने उसका शरीर देखा और सेना सहित गन्धमालादि से पूजन कर बोधिसत्व की आज्ञानुसार यज्ञ छोड़, सब प्राणियों को जीवन-दान दिया। फिर नगर में मुनादी करा, सप्ताह भर उत्सव कराया। सब सुगन्धियों से युक्त चिता पर प्रत्येक बुद्ध का शरीर रखकर चारों महापथों पर स्तूप बनवा दिया। बोधिसत्व ने भी राजा को अप्रमादी रहने का धर्मोपदेश दिया और 'हिमालय' में प्रविष्ट हो ब्रह्म-विहारों का अभ्यास किया। इस प्रकार ध्यान-लाभी हो ब्रह्म-लोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला "महाराज ! इस 'शब्द' के कारण तुम्हें कोई खतरा नहीं" कह यज्ञ छुड़वा, 'प्राणियों को जीवन-दान दे' कह जीवन-दान दिलवा, नगर में मुनादी करा; जातक का मेल बैठाया।

उस समय राजा आनन्द था। ब्रह्मचारी सारिपुत्र था। तपस्वी तो मैं ही था।

---

४१९. सुलसा जातक

"इदं सुवण्णकायूरं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय अनाथपिण्डिक की एक दासी के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उसने एक उत्सव के दिन दासियों के साथ उद्यान जाते समय अपनी स्वामिनी पूर्णलक्षणा देवी से गहने माँगे। उसने उसे अपने लाख के मूल्य के गहने दे दिये। वह उन्हें पहन दासियों के साथ उद्यान गई।

एक चोर उसके गहनों के लालच से यह सोच कि इसे मारकर इसके गहने लूँगा, उसके साथ बात-चीत करता हुआ उद्यान गया। वहाँ उसने उसे मत्स्य-मांस-सुरा आदि दी। उसने समझा आसक्ति के कारण देता है, ले ली। उद्यान-क्रीड़ा के बाद जब शाम के समय सभी दासियाँ विश्राम करने के लिये लेटी थीं, वह उठकर उसके पास गई। वह बोला—"भद्रे! यह स्थान खुला है। थोड़ा उधर चलें।"

उसने सोचा—"यहाँ रहस्य-कर्म तो हो सकता है, किन्तु यह निस्सन्देह मुझे मारकर मेरे गहने लेना चाहता होगा। अच्छा, इसे सबक सिखाऊँगी।" वह बोली—

"स्वामी! सुरा-मद से मेरा शरीर सूख रहा है। मुझे पानी पिलायें।"

वह उसे एक कुएँ पर ले गई और रस्सी तथा घड़ा दिखा कर बोली, "इससे मुझे पानी खींच कर दें।" चोर ने कुएँ में रस्सी उतारी। जब वह झुक कर पानी खींच रहा था, तो उस महाबलशाली दासी ने उसे दोनों हाथ से जोर से धक्का देकर कुएँ में गिरा दिया। फिर 'तू इतने से नहीं मरेगा' सोच एक बड़ी ईंट ले सिर पर फेंकी। वह वहीं मर गया। उसने भी नगर में जा, स्वामिनी के गहने लौटाते हुए, यह सोच कि आज इन गहनों के कारण मर ही गई थी, वह सब समाचार सुनाया। उसने अनाथ-पिण्डिक से कहा। अनाथपिण्डिक ने तथागत से कहा। शास्ता बोले—"गृहपति! न केवल अभी यह दासी स्थानोचित-प्रज्ञा से युक्त है, पहले भी रही है। न केवल

अभी उसने उसे मारा है, पहले भी मारा है।" इतना कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय सुलसा नाम की गणिका की पाँच सौ दासियाँ थीं। वह रात भर के लिये हजार लेती थी। उसी नगर में सत्तुक नाम का चोर था, हाथी के समान बलशाली। वह रात में धनिकों के घर में घुस उन्हें यथेच्छ लूटता। नागरिकों ने इकठ्ठे हो राजा से शिकायत की।

राजा ने कोतवाल (नगरगुप्तिक) को आज्ञा दी कि जहाँ-तहाँ पहरा बिठाये और चोर को पकड़वा कर उसका सिर काट डालने के लिये कहा। चोर की बाँहें पीछे बाँध दी गईं। उसे हर चौराहे पर कोड़ों से पीटते हुए वध-स्थल ले जा रहे थे। चोर पकड़ा गया है, सुन सारा नगर दहल गया। उस समय सुलसा झरोखे में खड़ी बाजार की ओर देख रही थी। उसने उस पर आसक्त हो सोचा, यदि मैं इस योधा को, इस सामर्थ्यवान् पुरुष को छुड़ा सकूँ तो मैं यह वेश्या-कर्म छोड़ इसी के साथ रहने लग जाऊँ। उसने उक्त कणवेर-जातक[1] में कहे गये ढङ्ग से ही कोतवाल के पास हजार भिजवाये और उसे छुड़ाकर उसके साथ मजे से रहने लगी। तीन चार महीने बाद चोर ने सोचा—"मैं यहाँ नहीं रह सकता। यहाँ से खाली हाथ जा भी नहीं सकता। सुलसा के गहने लाख के मूल्य के हैं। मैं इसे मारकर इसके गहने ले लूँ।"

एक दिन वह उससे बोला—"भद्रे! जिस समय मुझे राजपुरुष पकड़े लिये जा रहे थे, उस समय मैंने अमुक पर्वत के शिखर पर रहने वाले वृक्ष-देवता को बलि देना स्वीकार किया था। वह बलि न मिलने से मुझे कष्ट दे रहा है। हम उसकी बलि चढायें।"

"अच्छा स्वामी! तैय्यार कराकर भेज दें।"

"भद्रे! भेजना ठीक नहीं है। हम दोनों सब गहने पहन, बड़ ठाट से बलि चढ़ायेंगे।"

"अच्छा स्वामी, ऐसा ही करें।"

---

१. कणवेर जातक (३१८)

उसने उससे वैसे ही कराया। जब वह पर्वत के पास पहुँची तो वह बोला—"भद्रे। जन-समूह के देखते रहते देवता बलि स्वीकार नहीं करेगा। हम दोनों पर्वत के ऊपर चढ़ कर बलि दें।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। तब उसने उससे बलि-थाली उठवाई और स्वयं पाँच-आयुध-धारी हो पर्वत पर चढ़ा। वहाँ सौ पुरसा ऊँचे पर्वत के किनारे उगे एक वृक्ष के नीचे बलि रखवाकर बोला—"भद्रे ! मैं यहाँ बलि चढ़ाने नहीं आया हूँ। किन्तु तुझे मार कर तेरे गहने ले जाने के लिये आया हूँ। अपने गहने उतार कर अपनी चादर में गठरी बाँध दे।"

"स्वामी मुझे क्यों मारते हैं ?"

"धन के लिये।"

"स्वामी मेरा उपकार याद करें। जिस समय राजपुरुष तुम्हें बाँध कर ले जा रहे थे, मैंने सेठ-पुत्र से परिवर्त्तन कर बहुत धन देकर तुम्हारी जान बचाई। प्रति दिन हजार पा सकने पर भी किसी दूसरे पुरुष को नहीं देखा। मैं इस प्रकार तुम्हारा उपकार करने वाली हूँ, मुझे मारें मत। मैं बहुत धन दूँगी और तुम्हारी दासी बनूँगी।" इस प्रकार उसने प्रार्थना करते हुए उसने पहली गाथा कही—

इदं सुवण्णकायूरं मुत्ता वेलुरिया बहू,
सब्बं हरस्सु भद्दं ते मञ्च दासीति सावय ॥१॥

[हे भद्र ! यह जो सोने का कंठा है, मोती है और बिल्लौर है, ये सब तुम्हारे हैं, (सब) ले लो; और मुझे अपनी दासी घोषित कर लो ॥१॥]

तब चोर बोला—

ओरोपयस्सु कल्याणी मा बहुं परिदेवसि,
न वाहं अभिजानामि अहंत्वा धमनामतं ॥२॥

[हे कल्याणी ! गहने उतार दो। अधिक रोओ-धोओ मत। यदि मैं तुम्हें (नहीं मारता हूँ) तो मैं नहीं जानता हूँ कि तुम्हारा धन ले सकूँगा ॥२॥]

अपने अभिप्राय के अनुसार कही गई दूसरी गाथा को सुनकर सुलसा को स्थानोचित-ज्ञान प्राप्त हो गया। उसने सोचा—"यह चोर मुझे जीता न छोड़ेगा। मैं ऐसा ढङ्ग करूँ कि इसे ही पहले प्रपात से गिरा कर मार डालूँ।" उसने दो गाथायें कहीं—

यतो सरामि अत्तानं यतो पत्तास्मि विञ्ञुतं,
न चाहं अभिजानामि अञ्ञं पियतरं तया ॥१॥
एहि तं उपगुहिस्सं करिस्सञ्च पदक्खिणं,
नहिदानि पुना अत्थि मम तुय्हञ्च सङ्गमो ॥२॥

[जब से मुझे याद है, जब से मुझे होश है, मुझे कोई ऐसा व्यक्ति याद नहीं आता जो तुमसे प्रियतर हो। आओ, मैं तुमसे गले मिल लूँ और तुम्हारी प्रदक्षिणा कर लूं; अब इसके बाद फिर मेरा और तुम्हारा मिलना नहीं है ॥१-२॥]

शत्रु ने उसका उद्देश्य न समझ कर कहा—"अच्छा भद्रे ! आ मुझे गले लगा।" सुलसा ने तीन बार उसकी प्रदक्षिणा की, गले लगाया और बोली—"स्वामी ! अब चारों ओर प्रणाम करूंगी।" उसने चरणों में सिर रखा, दोनों ओर प्रणाम किया और फिर पिछली ओर जा प्रणाम करने की तरह से झुक उस नाग-बली गणिका ने उस चोर को पीछे से दोनों हिस्सों में पकड़ कर, सिर नीचा कर सौ पोरस प्रपात के नीचे फेंक दिया। वह वहीं चूर्ण-विचूर्ण होकर मर गया। यह देख पर्वत पर रहने वाले वृक्ष-देवता ने ये गाथायें कही—

न हि सब्बेसु ठानेसु पुरिसो होति पण्डितो,
इत्थीपि पण्डिता होति तत्थ तत्थ विचक्खणा ॥३॥
न हि सब्बेसु ठानेसु पुरिसो होति पण्डितो।
इत्थीपि पण्डिता होति लहुमत्थविचिन्तिका ॥४॥
लहुञ्च वत खिप्पञ्च निकट्ठे समचेतयि,
मिगं पुण्णायतेनेवं सुलसा सत्तकं वधि ॥५॥
योध उप्पतितं अत्थं न खिप्पमनुबुज्झति,
सो हञ्ञति मन्दमति चोरोव गिरिगब्भरे ॥६॥
यो च उप्पतितं अत्थं खिप्पमेव निबोधति,
मुच्चते सत्तु सम्बाधा सुलसा सत्तुकामिव ॥७॥

[सब जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होता, जिस-तिस विषय में विचक्षण स्त्रियाँ भी पण्डित होती हैं। सभी जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होता, सूक्ष्म-विचार करने वाली स्त्रियाँ भी पण्डित होती हैं। सूक्ष्म, शीघ्र और समीप ही

उसने (उसका मरणुपाय) सोच लिया। सुलसा ने शत्रु को ऐसे मार डाला जैसे धनुष ताने हुए शिकारी मृग को मार डालता है। जो उत्पन्न अवस्था-विशेष को तुरन्त नहीं समझता है, वह उसी तरह मारा जाता है जैसे मूर्ख चोर पर्वत-गुहा में मारा गया। जो उत्पन्न अवस्था-विशेष को तुरन्त समझ लेता है, वह सुलसा की तरह शत्रु की आफत से मुक्त हो जाता है। ।।३-७।।]

इस प्रकार सुलसा चोर को मारकर जब पर्वत से उतर अपने परिजनों के पास गई तो उन्होंने पूछा "आर्य-पुत्र ! कहाँ है ?" सुलसा बोली, उसकी बात मत पूछो और रथ पर चढ़कर नगर को चली गई।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय वे दोनों ये (दोनों) थे। देवता तो मैं ही था।

———

४२०. सुमङ्गल जातक

"भुसम्हि कुद्धो···" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय राजोवाद-सूत्र के बारे में कही। उस समय शास्ता ने राजा के प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में जब ब्रह्मदत्त वाराणसी में धर्मानुसार राज्य कर रहा था, बोधिसत्व उसकी पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण कर, बड़े होने पर पिता की मृत्यु के बाद राज्य करने लगे। महादान दिया। उसका एक माली था, नाम सुमङ्गल।

एक प्रत्येक-बुद्ध नन्दमूल पर्वत से निकल, चारिका करते हुए वाराणसी पहुँचे। वहाँ एक दिन उद्यान में रह, अगले दिन नगर में भिक्षाटन के लिये प्रवेश किया। राजा ने उसे देखा तो प्रासाद पर ले जाकर राजासन पर बिठाया और नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन परोसे। भोजनोपरान्त दानानुमोदन सुन, प्रसन्न हो, अपने उद्यान में रहने की प्रतिज्ञा कराई। फिर उद्यान में भेजा और स्वयं भी प्रातःकाल का भोजन कर वहाँ पहुँचा। उद्यान में रात्रि और दिन के रहने के लिये अनुकूल व्यवस्था कर, सुमङ्गल माली को उनकी सेवा में रखा और वापिस लौट आया। उस दिन से प्रत्येक-बुद्ध नित्य राज-कुल में आहार ग्रहण करते हुए वहीं रहे। सुमङ्गल ने भी भली प्रकार सेवा की।

एक दिन प्रत्येक-बुद्ध ने सुमङ्गल को बुलाकर कहा, मैं कुछ दिन अमुक गाँव के आश्रित रहकर आता हूँ, राजा को कह देना। वह चले गये। सुमङ्गल ने राजा को कह दिया। प्रत्येक-बुद्ध कुछ दिन वहाँ रह, शाम को सूर्य्यास्त के समय वापिस उद्यान लौट आये। सुमङ्गल को नहीं मालूम था कि वह लौट आये। वह अपने घर गया। प्रत्येक-बुद्ध ने भी पात्र-चीवर संभाला और थोड़ी देर चंक्रमण करने पाषाण-शिला पर बैठे।

उस दिन माली के घर पाहुने आये थे। उनके लिये सूप-व्यञ्जन बनाने की इच्छा से उसने सोचा कि उद्यान में जो अभय-प्राप्त-मृग है, उसे मार लाऊं। वह धनुष लेकर उद्यान में पहुँचा और वहाँ मृग की खोज करते हुए जब उसने प्रत्येक-बुद्ध को देखा तो उन्हें ही महा मृग समझ बाण से बींध दिया। प्रत्येक-बुद्ध ने सिर नंगा कर कहा—सुमङ्गल। उसने मर्माहत हो निवेदन किया—"भन्ते। नहीं जानता था कि आप आये हैं। मृग समझकर बींध दिया। मुझे क्षमा करें।"

"अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब क्या करेगा? आ अब बाण खींच कर निकाल।"

उसने प्रणाम कर बाण खींच कर निकाला। बड़ी वेदना हुई। प्रत्येक-बुद्ध वहीं परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

माली ने सोचा—राजा को मालूम होगा तो वह मुझे नहीं छोड़ेगा। वह स्त्री-पुत्र सहित भाग गया। उसी समय देवताओं के प्रताप से सारे नगर में तहलका मच गया कि प्रत्येक-बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। अगले दिन लोगों ने उद्यान में जाकर देखा और लौट कर राजा से कहा कि माली प्रत्येक बुद्ध को मारकर भाग गया।

बहुत से अनुयाइयों के साथ राजा ने जाकर एक सप्ताह तक शरीर-पूजा की और बड़े आदर के साथ दाह-क्रिया कर, धातु, ले चैत्य बनवाया। वह उस चैत्य की पूजा करता हुआ, धर्मानुसार राज्य करने लगा। सुमङ्गल भी एक वर्ष बिता कर आया और राजा का दिल देखने के लिये उसने एक अमात्य से जाकर कहा—मुझे राजा के दिल का पता लगा कर दें।

उसने राजा से उसकी प्रशंसा की। राजा ने अनसुना कर दिया। उसने और कुछ न कह सुमङ्गल को बता दिया कि राजा असंतुष्ट हैं। वह दूसरे वर्ष भी आया। फिर तीसरे वर्ष स्त्री-पुत्र सहित आया। अमात्य ने राजा को कुछ नरम पड़ा जान, माली को राज द्वार में रोक, राजा को उसके आने की सूचना दी। राजा ने उसे बुलवा आतिथ्य सत्कार कर पूछा—"सुमङ्गल। तूने मेरे पुण्य-क्षेत्र प्रत्येक-बुद्ध को क्यों मार डाला?" उसने सब

१. धातु शरीर की हड्डी और भस्म।

हाल कह दिया—"देव ! मैं प्रत्येक-बुद्ध को मार रहा हूँ, समझ नहीं मारा। किन्तु, इस कारण से ऐसा हुआ।" राजा बोला, तो मत डरो। उसे आश्वासन दे राजा ने फिर माली बना दिया। अमात्य ने पूछा--"देव ! आप ने दो बार सुमङ्गल की प्रशंसा सुन कर भी क्यों कुछ नहीं कहा ? और तीसरी बार क्यों उसकी प्रशंसा सुनकर उसे बुलवाया और दया दिखाई ?"

"तात ! राजा को क्रोध के वशी-भूत हो सहसा कुछ नहीं करना चाहिये। इसी लिये पहले मैं चुप रहा। तीसरी बार जब देखा कि सुमङ्गल के प्रति मेरे मन में कोमलता है तो उसे बुलवाया।"

राज-धर्म कहते हुये उसने ये गाथायें कहीं--

भुसम्हि कुद्धोति अवेक्खियान
न ताव दण्डं पणयेय्य इस्सरो
अट्ठानसो अप्पतिरूपमत्तनो
परस्स दुक्खानि भुसं उदीरये ॥१॥
यतोच जानेय्य पसादमत्तनो
अत्यं नियुञ्जेय्य परस्स दुक्कतं
तदायमत्थोति सयं अवेक्खिय
अथस्स दण्डं सदिसं निवेसये ॥२॥
न चापि झापेति परं न अत्तनं
अमुच्छितो यो नयते नयानयं,
यो दण्डधारो भवतीध इस्सरो
सवण्णगुत्तो सिरिया न धंसति ॥३॥
ये खत्तियासे अनिसम्मकारिनो
पणेन्ति दण्डं सहसा पमुच्छिता,
अवण्णसंयुत्ता जहन्ति जीवितं
इतो विमुत्तापि च यन्ति दुग्गतिं ॥४॥
धम्मे च ये अरिय-पवेदिते रता
अनुत्तरा ते वचसा मनसा कम्मना च,
ते सन्निसोरच्च समाधिसण्ठिता
वजन्ति लोकं दुभयं तथा विधा ॥५॥

राजाहमस्मि नरपमदानमिस्सरो
सचेपि कुज्झामि ठपेमि अत्तनं,
निसेधयन्तो जनतं तथाविधं
पणेमि दण्डं अनुकम्पयोनिसो ॥१-६॥

[राजा (=ईश्वर) को चाहिये कि अधिक क्रोधित हो, तो बिना पूर्ण विचार किये दण्ड की आज्ञा न दे। ऐसा न करने से वह अपने लिये अयोग्य, अनुचित तथा दूसरों के लिये अति दुःखदायी होता है ॥१॥ जब जाने कि उसका चित क्रोध-रहित है, उसी समय दूसरे के दोष का विचार करे। ऐसा करने से वह किसी की करनी का स्वयं यथार्थ विचार कर उसके अनुरूप ही दण्ड दे सकता है ॥२॥ जो स्थिर-चित्त हो न्याय-अन्याय का विचार करता है वह न आत्म-पीड़ा का कारण होता है न पर-पीड़ा का। जो राजा (उचित) दण्डधारी होता है, वह अपने गुण से रक्षित होने के कारण श्री-विहीन नहीं होता ॥३॥ जो अभिमानी क्षत्रिय बिना विचारे सहसा दण्ड दे देते हैं, वे दुर्गुणी अपनी जान गँवाते हैं और परलोक में भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥४॥ जो आर्य-उपदिष्ट धर्म रत हैं, वे श्रेष्ठ मन, वचन तथा कर्म वाले, शान्ति, शील तथा समाधि में स्थित होने के कारण मनुष्य-लोक और देव लोक में ही जन्म ग्रहण करते हैं ॥५॥ मैं अपनी प्रजा का मालिक हूँ, राजा हूँ। यदि क्रोधित होता हूँ तो मैं अपने को शान्त कर लेता हूँ। और अपराधी जनता की रोक-थाम करने के लिये जो दण्ड देता हूँ वह उचित अनुकम्पा पूर्वक देता हूँ ॥६॥]

जब राजा ने इन छः गाथाओं में अपना गुण कहा तो सारी राज्य-परिषद् संतुष्ट हो बोली कि ये सदाचार और गुण आपके ही योग्य हैं। हाँ, सुमङ्गल ने परिषद् का कथन समाप्त होने पर, उठकर राजा को प्रणाम कर, हाथ जोड़, राजा को प्रशंसा करते हुए तीन गाथायें कहीं—

सिरी च लक्खी च तमेव खत्तिय
जनाधिप मा विजहि कुदाचनं,
अक्कोधनो निच्चपसन्नचित्तो
अनीघों तुवं वस्स सतानि पालय ॥१॥

गुणेहि एतेहि उपेत खत्तिय
ठितमरियवत्ती सुवचो अकोधनो,
सुखी अनुप्पील पसास मेदिनिं
इतो विमुत्तो पि च याहि सुग्गतिं ॥२॥
एवं सुनीतेन सुभासितेन
धम्मेन जायेन उपायसो नयं,
निब्बापये संखुभितं महाजनं
महा व मेघो सलिलेन मेदिनिं ॥३॥

[हे क्षत्रिय ! हे राजन् ! तुम्हें श्री और लक्ष्मी कभी न छोड़े। तुम अक्रोधी तथा नित्य प्रसन्न-चित्त रह कर, सौ वर्ष तक सुखपूर्वक (प्रजा का) पालन करो ॥१॥ हे इन गुणों से युक्त क्षत्रिय ! हे दस राजधर्मों में स्थित ! हे सुभाषी ! अक्रोधी ! तू सुखी रह। तू किसी को पीड़ा न दे। तू पृथ्वी पर शासन कर। इस लोक से मुक्त होकर भी तू सुगति को प्राप्त हो ॥२॥ इसी प्रकार सुनीति से, सुभाषित से, धर्म से, ज्ञान से, उपाय से, राज्य करता हुआ (राजा) क्षुब्ध जनता को शान्त करे, जैसे मेघ जल से पृथ्वी को शान्त करता है ॥१-३॥]

शास्ता ने कोशल-नरेश को उपदेश देने के लिये यह धर्मोपदेश ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय प्रत्येक-बुद्ध का तो परिनिर्वाण हो गया, सुमङ्गल आनन्द था और राजा तो मैं ही था।

---

४२१. गंगमाल जातक

"अङ्गारजाता ..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उपोसथकर्म के बारे में कही।

क वर्त्तमान कथा

एक दिन शास्ता ने उपोसथ-व्रत रखने वाले उपासकों को सम्बोधित कर कहा—"उपासको! अच्छा किया। उपोसथ-व्रत रखने वाले को दान देना चाहिये। सदाचार की रक्षा करनी चाहिये। क्रोध नहीं करना चाहिये। मैत्री-भावना करनी चाहिये। उपोसथ-व्रत रखना चाहिये। पुराने पण्डितों को एक खण्ड उपोसथ-व्रत के कारण बहुत यश मिला।" उपासकों के प्रार्थना करने पर भगवान ने पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उस नगर में शुचि-परिवार नामक सेठ रहता था। उसके पास अस्सी करोड़ धन था। दान-पुण्य करने वाला। उसके स्त्री-बच्चे, सम्बन्धी और तो और उसके घर के ग्वाले तक महीने में छः दिन उपोसथ-व्रत रखते थे।

उस समय बोधिसत्व एक दरिद्र-कुल में पैदा हुए थे। मजदूरी करके बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते। वह मजदूरी करने के लिये उसके घर गये और प्रणाम कर एक ओर खड़े हुए। पूछा—"क्यों आये?"

"तुम्हारे घर मजदूरी करने के लिये।"

सेठ अन्य मजदूरों को आने के दिन ही कहता था कि इस घर में काम करते हुए शील रख सकते हो तो काम करो। बोधिसत्व को शील रखने की बात न कही। बोला—"अच्छा तात! अपनी मजदूरी समझ कर काम करो।" तब से वह आज्ञाकारी हो, दिल से अपने श्रम का ख्याल न कर उसके सब काम करने लगे। प्रातःकाल खेत पर जाकर शाम को लौटते।

एक दिन नगर में उत्सव की घोषणा हुई। बड़े सेठ ने दासी को बुलाकर कहा—"आज उपोसथ-दिन है। घर के मजदूरों को प्रातःकाल ही भात पका कर दे। समय से खाकर उपोसथ-व्रत रखेंगे। बोधिसत्व सबेरे ही उठकर खेत पर चले गये। उन्हें किसी ने नहीं कहा कि आज उपोसथ-व्रत रखना है। बाकी मजदूरों ने प्रातःकाल ही खाकर उपोसथ-व्रत रख लिया। सेठ ने भी स्त्री-बच्चों और रिश्तेदारों सहित उपोसथ-व्रत रखा। सभी उपोसथ-व्रत का विचार करने वाले अपने-अपने निवास-स्थान पर जा, बैठ कर शील का विचार करने लगे। बोधिसत्व सारे दिन काम करके सूर्यास्त के समय लौटे।

भात बनाने वाली ने हाथ धुलाये और थाली में भात परोस कर लाई। बोधिसत्व ने देखा कि और दिन तो इस समय बड़ा हल्ला होता था, इसलिये पूछा—कहाँ गये? उत्तर मिला—सब उपोसथ-व्रत रख कर अपने अपने घर गये। उसने सोचा—इतने "शील-वानो" के बीच मैं अकेला "दुश्शील" होकर न रहूँगा। उन्होंने जाकर सेठ से पूछा—यदि अब उपोसथ-व्रत के अङ्गों का संकल्प किया जाय तो व्रत बनता है वा नहीं? सेठ ने उत्तर दिया—"प्रातःकाल संकल्प न करने से पूर्ण-व्रत नहीं होता, हां आधा-व्रत होता है।"

"इतना ही हो" सोच उसने सेठ से शील ग्रहण किया और उपोसथ-व्रत का संकल्प कर, अपने रहने की जगह जा, लेट कर शील का विचार करने लगा। सारे दिन कुछ न खाया रहने से पिछले पहर दर्द आरम्भ हुआ। सेठ ने तरह-तरह की दवाइयाँ मँगा कर खाने के लिये कहा। उत्तर दिया—"प्राण-रहते व्रत नहीं तोड़ने का संकल्प है। इसलिये औषध नहीं खाऊँगा।" बड़े जोर का दर्द पैदा हुआ। सूर्य्योदय होते-होते बे-होश हो गया। "अब मर जायेगा" समझ, उसे उठा कर बरामदे में लिटा दिया।

उसी समय वाराणसी-नरेश बड़े लाव-लशकर के साथ रथ पर चढ़ा हुआ नगर की प्रदक्षिणा करता हुआ वहाँ पहुँचा। बोधिसत्व ने उसकी शान-शौकत देखी तो मन में लोभ पैदा हुआ। उसने इच्छा की—"मैं राजा होऊँ।" उस आधे-व्रत के प्रताप से, उसने मरने के बाद, उसकी पट-रानी की कोख में जन्म ग्रहण किया। दस मास गर्भिणी रह कर उसने पुत्र को

जन्म दिया। नाम हुआ उदय-कुमार। बड़े होने पर वह सब शिल्पों में निष्णात हो गया। पूर्व-जन्म का ज्ञान होने से वह सदैव यह हर्ष-वाक्य कहता रहता था कि यह मेरे पूर्व-जन्म के इतने छोटे से कर्म का फल है। पिता के मरने पर जब उसे राज्य मिल गया तो भी वह अपनी शान-शौकत की ओर देखकर वही हर्ष वाक्य कहता रहा।

एक दिन नगर में उत्सव की तैय्यारी हुई। जनता खेल-कूद में लगी। उस समय वाराणसी के उत्तर-द्वार पर रहने वाला एक भिशती पानी भरने की मजदूरी करता था। उसे आधा-मासा मिला, जिसे उसने चार-दीवारी की ईंटों के बीच रख दिया। वहीं पानी भरने की ही मजदूरी करने वाली एक दरिद्र स्त्री रहती थी। उसने उससे सहवास किया। वह बोली—"स्वामी ! नगर में उत्सव मनाया जा रहा है। यदि तुम्हारे पास कुछ हो तो हम भी मौज मनायें।"

"हां, है।"

"स्वामी ! कितना है ?"

"आधा-मासा।"

"कहाँ है ?"

"उत्तर-द्वार पर ईंटों के बीच में रखा है।" मेरा खजाना तो यहाँ से बारह योजन पर है। तेरे हाथ में कुछ है ?"

"हां, है।"

"कितना ?"

"आधा-मासा ही।"

"तेरा आधा-मासा और मेरा आधा-मासा मिल कर एक मासा होता है। उसके एक हिस्से से सुगन्धी और एक हिस्से की सुरा लेकर मौज करेंगे। जा अपना रखा हुआ आधा-मासा ले आ।"

वह प्रसन्न हुआ कि भार्य्या ने उसके मन की बात कही और बोला—"भद्रे ! चिन्ता न कर। वह ले आऊंगा।" इतना कहा और चला गया। उसमें हाथी का सा बल था। छः योजन जाने पर मध्याह्न के समय जब बालू तप्त-अङ्गारों की भाँति तप रहा था तो वह उस बालू का मर्दन करता हुआ चला जा रहा था। धन-लोभ से प्रसन्न, काषायवस्त्र का चीथड़ा

पहने और कान में ताड़ का पत्ता लगाये वह मस्त, गीत अलापता हुआ राजाङ्गन में पहुँचा।

उदय राजा झरोखा खोले खड़ा था। उसने सोचा क्या कारण है कि यह इस प्रकार की हवा-धूप की परवाह न कर प्रसन्नचित्त गाता हुआ जा रहा है? उससे पूछने की इच्छा से उसने एक आदमी भेजा। उसने जाकर कहा––"राजा तुझे बुलाता है।"

"राजा मेरा क्या लगता है? मैं राजा को नहीं जानता।"

उसे जबरदस्ती ले जाकर एक ओर खड़ा किया। राजा ने उसे पूछते हुए दो गाथायें कहीं––

अङ्गारजाता पठवी कुक्कुलानुगता मही,
अथ गायसि वत्तानि न तं तपति आतपो॥१॥
उद्धं तपति आदिच्चो अधो तपति वालुका,
अथ गायसि वत्तानि न तं तपति आतपो॥२॥

[पृथ्वी अङ्गार हो रही है, भूमि पर जलती हुई राख बिछी है। तू गीत अलापता है। तुझे धूप नहीं जलाती? ऊपर सूर्य्य तपता है, नीचे बालू तप रहा है। तू गीत अलाप रहा है। तुझे धूप नहीं जलाती? ॥१-२॥]

उसने राजा की बात सुन तीसरी गाथा कही––

न मं तपति आतपो आतप्पा तपयन्ति मं,
अत्था हि विविधा राज ते तपन्ति न आतपो॥३॥

[मुझे धूप नहीं जलाती, मुझे कामनायें जलाती हैं। हे राजन्! मुझे अनेक काम हैं। वे मुझे जलाते हैं। धूप नहीं॥३॥]

राजा ने पूछा––"तुझे क्या काम हैं?" वह बोला—

"देव! मैंने दक्षिण-द्वार पर रहने वाली दरिद्र स्त्री के साथ सहवास किया। उसने मुझे पूछा, "स्वामी! उत्सव मनायेंगे, कुछ पास में है।" मैंने कहा कि मेरा खजाना उत्तर-द्वार पर खजाने के अन्दर रखा है। उसने मुझे भेजा है कि जा वह ले आ। दोनों मौज करेंगे। उसकी वह बात मेरे दिल से नहीं जाती। मैं उसे याद करता हूँ और कामाग्नि से जलता हूँ। देव! यह मेरा काम है।"

"इस प्रकार की हवा-धूप की परवाह न कर तू किस कारण से गाता हुआ जाता है ?"

"देव ! वह खजाना लाकर उसके साथ रमण करूंगा, इस कारण से प्रसन्न-चित्त हो गाता हूँ ।"

"हे पुरुष ! क्या उत्तर-द्वार पर रखा हुआ खजाना एक लाख है ?"

"देव ! नहीं ।"

तब पूछा--"तो पचास-हजार, चालीस-हजार, तीस-हजार, बीस-हजार, दस-हजार, पाँच-हजार, हजार, पाँच-सौ, चार-सौ, तीन-सौ, दो-सौ, सौ, पचास, चालीस, तीस; बीस, दस, पाँच, चार, तीन, दो, एक कार्षापण, आधा-कार्षापण, पाद-कार्षापण, चार-मासा, तीन-मासा, दो-मासा, एक-मासा है ?"

"देव ! नहीं ।"

'आधा-मासा है ?"

"हां देव ! इतना ही मेरा धन है। वह लाकर उसके साथ रमण करूंगा । इसीलिये जा रहा हूँ । इसी प्रसन्नता, इसी सौमनस्य के कारण मुझे यह हवा-धूप नहीं जलाती ।"

राजा बोला—"हे पुरुष। इस प्रकार की धूप में वहाँ न जा । मैं तुझे आधा-मासा दे दूँगा ।"

"देव ! आप की बात मान कर यह ले लूँगा, किन्तु वह भी नहीं छोड़ूंगा। अपना जाना बिन त्यागे, वह भी लूँगा ।"

"हे पुरुष ! रुक, मैं तुझे एक मासा दूँगा ।" फिर दो मासे और इस प्रकार बढ़ाते हुए करोड़ और सौ-करोड़ देने की बात कहकर रुकने के लिये कहने पर भी उसने यही उत्तर दिया—"देव ! यह ले लूँगा, किन्तु वह भी लूँगा ।" उसके बाद 'सेठ' आदि पद का प्रलोभन दिया। उपराजा बनाने की बात कही। तब आधा-राज देने की बात कह रुकने के लिये कहा। उसने स्वीकार कर लिया।

राजा ने मन्त्रियों को आज्ञा दी—"जाओ, मेरे मित्र की हजामत बनवाकर, नहलवाकर, अलंकृत कर लाओ ।" अमात्यों ने वैसा ही किया। राजा ने राज्य के दो टुकड़े कर उसे आधा राज्य दे दिया। कहते हैं कि

आधे मासे के प्रेम के कारण वह आधा-राज्य लेकर भी उत्तर की ही ओर गया। उसका नाम अर्ध-मासा राजा हुआ।

वे दोनों मिल-जुल कर प्रसन्नतापूर्वक राज्य करते हुए एक दिन उद्यान गये। वहाँ क्रीड़ा कर चुकने के बाद उदय राजा अर्ध-मासा राजा की गोद में सिर रख कर लेट गया। उसके सो जाने पर उसके आदमी क्रीड़ा की इच्छा से जहाँ-तहाँ चले गये। अर्ध-मासा राजा ने सोचा—"मैं सदैव आधे-राज्य का ही स्वामी क्यों रहूँ? इसे मारकर मैं स्वयं राजा ही क्यों न बनूं?" यह सोच, उसे मारने के लिये तलवार निकाली। किन्तु फिर सोचा—"इस राजा ने मुझ दरिद्र को अपने बराबर बना, महान् ऐश्वर्य्य दिया। इस प्रकार के ऐश्वर्य्य-दाता को मार डालने की मेरी इच्छा हो गई। यह अनुचित है।" इस प्रकार समझ आने पर उसने तलवार मयान में रख ली।

लेकिन, फिर दूसरी बार भी उसके मन में वही सङ्कल्प आया। तब सोचा—"यह चित्त बार-बार पैदा होकर पाप-कर्म करायेगा।" उसने तलवार जमीन पर रख दी और राजा को जगाकर उसके पैरों पर गिर कहा—"देव! क्षमा करें।"

'मित्र! मेरे और तुम्हारे बीच द्वेष नहीं है न?

महाराज! है। मैंने ऐसा किया।

तो मित्र! क्षमा करता हूँ। इच्छा है तो राज्य करो। मैं उपराजा होकर सेवा में रहूँगा।

"देव! मुझे राज्य नहीं चाहिए। यह तृष्णा मुझे नरक में गिरायेगी। आप अपना राज्य लें। मैं प्रव्रज्या लूंगा। मैंने कामना का मूल देख लिया। यह सङ्कल्प-विकल्प करने से बढ़ती है। अब मैं सङ्कल्प-विकल्प नहीं उठाऊंगा।" इसी प्रकार उदान-वाक्य कहते हुए उसने चौथी गाथा कही—

अद्दसं काम ते मूलं सङ्कप्पा काम जायसि,
नतं सङ्कप्पयिस्सामि एवं काम न होहिसि॥४॥

[हे कामना! मैंने तेरे मूल को देख लिया, तू सङ्कल्प से पैदा होती है। अब मैं तेरे सङ्कल्प-विकल्प न उठाऊंगा। इस प्रकार हे कामना! तू उत्पन्न न होगी॥४॥]

यह कह फिर काम-भोगों में लगी हुई जनता को धर्मोपदेश देते हुए पांचवीं गाथा कही—

अप्पापि कामा न अलं बहूहिपि न तप्पति,
अहहा बाललपना पटिविज्झेथ जग्गतो ॥५॥

[न थोड़े काम-भोग पर्य्याप्त होते हैं, न बहुत से तृप्ति होती है। अहा ! बाल-प्रलाप-मात्र है। (इन्हें) जागरूक रहकर त्यागे ॥५॥]

इस प्रकार वह जनता को धर्मोपदेश दे, उदयराजा को राज्य सौंप, जनता को आँसू बहाता हुआ छोड़, हिमालय को चला गया। वहाँ प्रव्रजित हो, ध्यान ओर अभिञ्ञा को प्राप्त किया। उसके प्रव्रजित होने पर उदय-राज ने उस प्रीति वाक्य को पूर्ण करते हुए छठी गाथा कही—

अप्पस्स कम्मस्स फलं ममयिदं
उदयो अज्झगमा महत्तपत्तं,
सुलद्धलाभा वत माणवस्स
यो पब्बजि काम-रागं पहाय ॥६॥

[यह मेरे अल्प-कर्म का फल है कि उदय को इतना महान् ऐश्वर्य्य मिला है। मेरे मित्र को यह बड़ा लाभ हुआ है कि वह काम-भोग को छोड़ प्रव्रजित हो गया है ॥६॥]

इस गाथा का भावार्थ किसी की समझ में नहीं आता था। एक दिन उसकी पटरानी ने गाथा का अर्थ पूछा। राजा ने नहीं बताया। उसका एक गङ्गमाल नाम का नाई था। वह राजा की हजामत बनाने के समय पहले छुरे से छीलता बाद में चिमटी से बालों को नोचता। छुरे से छीलने के समय राजा को अच्छा लगता, किन्तु बाल नोचने के समय कष्ट होता। वह पहले उसे वर देना चाहता किन्तु बाद में सिर काट देना चाहता।

एक दिन उसने देवी से कहा—"भद्रे ! हमारा नाई मूर्ख है।"

"देव ! क्या करना चाहिये?"

"पहले बाल नोच कर पीछे छुरे से छीलना चाहिये।" उसने नाई को बुलाकर कहा—"तात ! अब जिस दिन राजा की हजामत बनानी हो तो पहले बाल नोचकर पीछे उस्तरे से छीलना। और यदि राजा कहे कि

वर मांग तो कहना "देव, मुझे दूसरा वर नहीं चाहिये। अपनी उदान-गाथा का भावार्थ बता दें। मैं तुझे बहुत धन दूँगी।"

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और हजामत बनाने के दिन पहले सण्डासी हाथ में ली। राजा ने पूछा—

"गङ्गमाल ! यह नई बात क्या करने जा रहे हो ?"

"देव ! नाई नई-बात भी करते हैं।"

उसने पहले बाल नोचे और पीछे सिर छीला। राजा बोला—"वर मांग।"

"देव ! और कुछ नहीं चाहिये। उदान-गाथा का भावार्थ बता दें।"

राजा को अपनी दरिद्रता के समय की बात कहते लज्जा आती थी। वह बोला—"तात ! इस वर से तुझे क्या लाभ होगा ? दूसरा वर ले ले।"

"देव ! मुझे यही दे दें !"

राजा ने झूठ बोलने के डर से 'अच्छा' कह स्वीकार किया। फिर **कुम्मास-पिण्ड जातक**[1] में आये वर्णन के अनुसार सारी तैय्यारी करके वह रतन-सिंहासन पर बैठा और उदान-गाथा का भावार्थ समझाया—"गङ्गमाल ! मैं पूर्व जन्म में इसी नगर में . . ." उसने अपना सारा पूर्व—वृत्तान्त सुनाकर कहा कि इस कारण से मैं गाथा का पहला आधा हिस्सा कहता हूँ। मेरा मित्र प्रव्रजित हो गया। मैं प्रमाद के वशीभूत हो राज्य ही कर रहा हूँ। इस कारण से पिछली आधा गाथा कहता हूँ।"

यह सुन नाई ने सोचा—"अर्ध-उपोसथ व्रत रखने से राजा को इतनी सम्पत्ति मिली। कुशल-कर्म करना चाहिये। मैं प्रव्रजित होकर अपने आप को स्थिर करूं।" उसने सम्बधियों को छोड़, राजा से प्रव्रजित होने की आज्ञा ली और हिमालय चला गया।

वहाँ ऋषि-प्रव्रज्या-क्रम से प्रव्रजित हो, अनित्य, दुःख तथा अनात्म का विचार कर, विपश्यना-भावना का अभ्यास किया। इस प्रकार प्रत्येक-बुद्धत्व लाभ कर, ऋद्धि-बल से प्राप्त पात्र-चीवर धारण किये और गन्धमादनपर्वत पर पाँच वर्ष बिता, वाराणसी नरेश से भेंट करने के लिये आकाश-मार्ग से आ

---

१. **कुम्मास-पिण्ड जातक** (४१५)।

उद्यान में मङ्गल-शिला पर बैठे। माली ने पहचान कर, जाकर, राजा से निवेदन किया—"देव ! गङ्गमाल प्रत्येक-बुद्ध होकर आकाशमार्ग से आकर उद्यान में बैठा है।"

राजा ने सुना तो प्रत्येक-बुद्ध को प्रणाम करने की इच्छा से शीघ्रता से चला। राज-माता भी पुत्र के साथ चली। राजा उसे प्रणाम कर एक ओर खड़ा हो गया। राज्य-परिषद भी। उसने राजा का नाम लेकर कुशल-क्षेम पूछा—"क्यों ब्रह्मदत्त, क्या प्रमादरहित हो धर्मानुसार राज्य करता है, दानादि पुण्य-कर्म करता है?" यह सुन राज-माता को क्रोध आया—"यह हीन-जन्म, मैल साफ करने वाला, नाई का बेटा अपनी हैसियत नहीं समझता। मेरे पुत्र को जो पृथ्वी-पति है, जो क्षत्रिय है 'ब्रह्मदत्त' नाम लेकर पुकारता है।" उसने सातवीं गाथा कही—

तपसा पजहन्ति पापकम्मं
तपसा न्हापितकुम्भकारभावं
तपसा अभिभूय्य गङ्गमाल
नामेनालपसज्ज ब्रह्मदत्तो ॥७॥

[तपस्या से पाप-कर्म छुट जाते हैं, तो क्या तपस्या से नाईपन या कुम्हारपन भी छुट जाता है? हे गङ्गमाल ! तूने तपस्या से अभिभूत होकर आज 'ब्रह्मदत्त' को नाम लेकर बुलाया ॥७॥]

राजा ने माता को रोक कर प्रत्येक-बुद्ध के गुणों को प्रकाशित करते हुये आठवीं गाथा कही—

सन्दिट्ठिकमेव पस्सथ
खन्ति सोरच्चस्स अयं विपाको,
यो सब्बजनस्स वन्दितो
तं वन्दाम सराजिका समच्चा ॥८॥

[क्षमा और शान्ति का इसी जन्म में फल देखो। अमात्य और राज्य-परिषद् सहित हम सबजनों के वन्दनीय को प्रणाम करते हैं ॥८॥]

राजा के माता को रोक देने पर शेष जनता ने उठ कर कहा—"देव ! यह अनुचित है कि इस प्रकार की नीच-जाति वाला तुम्हें नाम

लेकर बुलाये।" राजा ने जनता को रोक कर उसका गुणानुवाद करने के लिये अन्तिम गाथा कही--

मा किञ्चि अवचुत्थ गङ्गमालं
मुनिं मोनपथेसु सिक्खमानं,
एसो हि अतरि अण्णवं
यं तरित्वा विचरन्ति वीतसोका ॥९॥

[मौन-मार्ग के अभ्यासी गङ्गमाल मुनि को कुछ मत कहो। यह उस समुद्र को पार कर गया है जिसे पार कर शोक-रहित विचरा जाता है ॥९॥]

इतना कह राजा ने प्रत्येक बुद्ध को प्रणाम करके निवेदन किया--"भन्ते मेरी मां को क्षमा करें।"

"महाराज ! क्षमा करता हूँ।"

राज्य-परिषदने भी क्षमा माँगी। राजा ने अपने यहाँ रहने का वचन माँगा। प्रत्येक-बुद्ध वचन-बद्ध न हो राज्य-परिषद के देखते ही देखते आकाश में खड़े हो राजा को उपदेश दे गन्धमादन (पर्वत) को चले गये।

शास्ता ने इस प्रकार धर्म-देशना ला 'उपासको, इस प्रकार उपोसथ-व्रत रखना ही चाहिये' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय प्रत्येक-बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। अर्ध-मास राजा आनन्द था। माता महामाया थी। पटरानी राहुल माता थी। उदयराज तो मैं ही था।

---

४२२. चेतिय जातक

"**धम्मो हवे हतो हन्ति···**" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के पृथ्वी-प्रवेश के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस दिन भिक्षुओं ने धर्मसभा में बातचीत चलाई—"आयुष्मानो! देवदत्त झूठ बोलकर पृथ्वी में प्रविष्ट हो नरकगामी हुआ।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "न केवल अभी किन्तु भिक्षुओं! पहले भी देवदत्त झूठ बोल कर पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही :—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में प्रथम-कल्प में असङ्ख्येय आयु का महासम्मत नाम का राजा हुआ। उसके पुत्र का नाम था रोज। रोज का पुत्र वररोज। उसका पुत्र कल्याण। कल्याण का पुत्र वर-कल्याण। वरकल्याण का पुत्र उपोसथ। उपोसथ का पुत्र वरउपोसथ। वरउपोसथ का पुत्र मान्धाता। मान्धाता का पुत्र वरमान्धाता। उसका पुत्र चर। चर का पुत्र उपचर। अपचर भी उसी का नाम था।

वह चेतिय-राष्ट्र में सौत्थिवती नगर में राज्य करता था। चारों ऋद्धियों से युक्त था। ऊपर आकाश में विचरण करनेवाला। चारों दिशाओं में चारों देवता हाथ में तलवार लिये उसकी रक्षा करते थे। शरीर से चंदन की सुगन्ध आती थी और मुँह से उत्पलगंध। कपिल नाम का ब्राह्मण उसका पुरोहित था। कपिल ब्राह्मण का छोटा भाई कोरकलम्ब राजा के साथ एक आचार्य-कुल में पढ़ा था और उसका लँगोटिया-यार था। राजा ने, जब वह राजकुमार ही था, उसे वचन दिया था कि जब वह राजा होगा तो उसे पुरोहित बनायेगा।

वह राजा हुआ तो पिता के पुरोहित कपिल ब्राह्मण को उसके पद से च्युत न कर सका, लेकिन पुरोहित के अपनी सेवा में आने पर उसके प्रति गौरव प्रदर्शित करता। ब्राह्मण ने यह देखकर सोचा, राज्य समान आयुवाले के साथ ही ठीक चलता है। मैं राजा की आज्ञा लेकर प्रव्रजित हो जाऊँ। यह सोच उसने राजा से निवेदन किया कि देव ! मैं बूढ़ा हो गया हूँ; घर पर कुमार है उसे पुरोहित बना लें; मैं प्रव्रजित होऊँगा।

इस प्रकार राजा से आज्ञा ले, पुत्र को पुरोहित-पद दिलवा, राजोद्यान में प्रवेशकर, ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार प्रव्रजित हो, ध्यान-अभिज्ञा प्राप्त कर पुत्र के आश्रय वही रहने लगा।

'इसने प्रव्रजित होते समय मुझे पुरोहित-पद नहीं दिलवाया' सोच कोरकलम्ब के मन में भाई के प्रति द्वेष पैदा हो गया। एक दिन सुखपूर्वक बैठे बातचीत करने के समय राजा ने पूछा—'कोरकलम्ब ! तू पुरोहित-पद पर विराजमान नहीं है ?"

"देव ! नहीं हूँ। मेरा भाई है।"

"क्या तेरा भाई प्रव्रजित नहीं हुआ है ?"

"हाँ, प्रव्रजित हुआ है लेकिन पद पुत्र को दिलवाया है।"

"तो तू ही यह पद ले।"

"देव ! परम्परा से प्राप्त स्थान से भाई को हटाकर मैं यह नहीं कर सकता।"

"यदि ऐसा है तो मैं तुझे ज्येष्ठ बनाकर तेरे भाई को छोटा कर दूँगा।

"देव ! कैसे ?"

"झूठ बोल कर।"

"देव ! क्या नहीं जानते हैं कि मेरा भाई बड़ा जादूगर है। वह झूठ से तुम्हें ठग लेगा। ऐसा कर देगा, मानो चारों देवपुत्र अन्तर्धान हो गये हैं। शरीर और मुख से सुगन्ध की जगह दुर्गन्ध निकलती दिखाई देगी। तुम आकाश से उतर कर भूमि पर स्थित की तरह होगे। पृथिवी में प्रविष्ट होते से दिखाई दोगे। तब तुम अपनी बात पर दृढ़ न रह सकोगे।"

"तू ऐसा ख्याल मत कर। मैं बना सकूँगा।"

"तो देव ! कब बना सकेंगे ?"

"आज से सातवें दिन।"

यह बात सारे नगर में प्रकट हो गयी। राजा झूठ बोलकर बड़े को छोटा करेगा और छोटे को पद दिलायेगा। यह झूठ कैसा होता है ? नीला या पीले आदि रंगों में से किसी एक रंग का ? जनता में यह चर्चा फैल गयी।

वह युग सत्य बोलने का ही था। कोई जानता भी न था कि झूठ बोलना ऐसा होता है। पुरोहित-पुत्र ने सुना तो जाकर पिता से कहा-- "तात ! राजा झूठ बोलकर तुम्हें छोटा बनाकर हमारा पुरोहित (-पद) चचा को देगा।"

"तात ! राजा मृषावाद करके भी हमारा पद उसे नही दे सकेगा। वह किस दिन मृषावाद करेगा ?"

"आज से सातवें दिन।"

"तो उस समय मुझे कहना।"

सातवें दिन मृषावाद देखने के लिए राजाङ्गण में लोगों की भीड़ लग गई। वे मचान बाँध-बाँध कर उन पर चढ़ बैठे। कुमार ने जाकर पिता को सूचना दी।

राजा सजसजाकर निकला और जनता के बीच में राजाङ्गण में आकाश में खड़ा हुआ। तपस्वी ने आकाश-मार्ग से आ, राजा के सामने चमड़े का आसन बिछा आकाश में ही पालथी मार पूछा—"महाराज ! क्या तुम सचमुच मृषावाद करके छोटे को बड़ा बना उसका पद देना चाहते हो ?"

"हां, आचार्य्य ! ऐसा मैंने कहा है।"

उसने राजा को उपदेश देते हुए कहा—"महाराज ! मृषावाद गुणों का महान् हानिकारक है, चार-नरकों में ले जाता है। मृषावाद करने वाला राजा धर्म का नाश करता है और धर्म का नाश करने से स्वयं नष्ट होता है।" यह कहते हुए उसने पहली गाथा कही—

धम्मो हवे हतो हन्ति नाहतो हन्ति किञ्चनं,
तस्मा हि धम्मं न हने मा त्वं धम्मो हतो हनी ॥१॥

[धर्म नष्ट होने पर नाश करता है। नष्ट न होने पर कुछ नष्ट नहीं करता। इसलिये धर्म का नाश न करे, जिससे नष्ट हुआ धर्म तुझे नष्ट न करे ॥१॥]

आगे उपदेश देते हुए उसने कहा "यदि महाराज ! मृषावाद करोगे तो चारों ऋद्धियों का अन्तर्धान हो जायगा। उसने दूसरी गाथा कही—

अलीकं भासमानस्स अपक्कमन्ति देवता,
पूतिकञ्च मुखं वाति सकट्ठाना च धंसति;
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञथा नं वियाकरे ॥२॥

[जो झूठ बोलता है, जो जानता हुआ प्रश्न का अन्यथा उत्तर देता है, उसकी (रक्षा करने वाले) देवता चले जाते हैं; मुँह से दुर्गन्ध निकलने लगती है : और अपने स्थान से च्युत हो पृथ्वी में धँसता है ॥२॥]

यह सुन राजा ने भयभीत हो कोरकलम्ब की ओर देखा। वह बोला "डरें नहीं। मैंने पहले ही आप को नहीं कहा था ? राजा ने कपिल की बात सुनी तो अपनी बात को ही याद कर बोला—"भन्ते ! तुम छोटे हो। कोरकलम्बक बड़ा है।" उसके झूठ बोलते ही चारों देवपुत्र खड्गों को पैरों पर फेंक अन्तर्धान हो गये—ऐसे झूठे की पहरेदारी नहीं करेंगे। मुँह से फूटे मुर्गी के अण्डे की सी, और शरीर से खुले-पाखाने जैसी वदबू आने लगी। आकाश से गिरकर पृथिवी पर आ रहा। चारों ऋद्धियाँ जाती रहीं। तब महापुरोहित ने "महाराज ! डरें मत। यदि सत्य बोलेंगे तो सब पूर्ववत कर दूँगा" कह तीसरी गाथा कही—

सचेहि सच्चं भणसि होहि राज यथापुरे,
मुसा चे भाससे राज भूमियं तिट्ठ चेतिय ॥३॥

[हे राजन् ! यदि सत्य कहते हो तो पूर्ववत् हो जाओ, और यदि झूठ, तो हे चेतिय ! जमीन पर ही रहो ॥३॥]

पुरोहित के यह कहने पर, कि महाराज, पहले झूठ बोलने से ही आप की चारों ऋद्धियाँ अन्तर्धान हो गईं और अभी भी पूर्ववत् किया जा सकता है, राजा ने कहा—"तुम ठगना चाहते हो।" दूसरी बार भी झूठ बोलने के कारण वह टखने तक जमीन में धँस गया। ब्राह्मण ने फिर "महाराज ! ध्यान दें" कह चौथी गाथा कही—

अकाले वस्सति तस्स काले तस्स न वस्सति,
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञाथा नं वियाकरे ॥४॥

[जो जानता-बूझता प्रश्न पूछे जाने पर अन्यथा उत्तर देता है उसके राज्य में समय पर वर्षा नहीं होती, असमय पर होती है ।४॥]

फिर 'महाराज झूठ बोलने से ही जाँघ तक पृथ्वी में धँसे हो' कह पाँचवी गाथा कहीं :—

सचे हि सच्चं भणसि होहि राज यथापुरे,
मुसा चे भाससे राज भूमिं पविस चेतिय ॥५॥

[हे राजन् ! यदि सत्य कहते हो तो पूर्ववत् हो जाओ, और यदि झूठ तो हे चेतिय ! जमीन में प्रवेश करो ॥५॥

उसने तीसरी बार भी 'भन्ते ! तुम छोटे हो । कोरकलम्बक बड़ा है' झूठ ही कहा । इसलिये वह जाँघ तक पृथ्वी में धँस गया । पुरोहित ने 'महाराज । फिर भी ध्यान दें । अभी भी पूर्ववत् कर सकता हूँ' कहते हुए दो गाथायें कहीं—

जिव्हा तस्स द्विधा होति उरगस्सेव दिसम्पति,
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञाथा नं बियाकरे ॥६॥
सचे हि सच्चं भणसि होहि राज यथापुरे,
मुसा चे भाससे राज भिय्यो पविस चेतिय ॥७॥

[जो जानता बूझता, प्रश्न पूछे जाने पर अन्यथा उत्तर देता है, हे राजन् ! उसकी जिव्हा साँप की तरह द्विधा हो जाती है । हे राजन ! यदि सत्य कहते हो ··· ॥६-७॥]

राजा ने उसके वचन का अविश्वास कर, चौथी बार भी भन्ते ! तुम छोटे हो । कोरकलम्बक बड़ा है' झूठ ही कहा । इस लिये वह कटि तक पृथ्वी में धँस गया । ब्राह्मण ने 'महाराज ! फिर भी ध्यान दें' कह फिर दो गाथायें कहीं—

जिव्हा तस्स न भवति मच्छस्सेव दिसम्पति,
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञथा नं वियाकरे ॥८॥
सचे हि सच्चं भणसि होहि राज यथा पुरे,
मुसा चे भाससे राज भिय्यो पविस चेतिय ॥९॥

[जो जानता-बूझता प्रश्न पूछे जाने पर अन्यथा उत्तर देता है, हे राजन् ! उसकी जिव्हा मछली की (जिव्हा की) तरह (वार्त्तालाप करने योग्य) नहीं होती। हे राजन्। यदि सत्य कहते हो....॥८-९॥]

उसने पाँचवी बार भी 'भन्ते ! तुम छोटे हो। कोरकलम्बक बड़ा है' झूठ ही कहा। इसलिए वह नाभी तक पृथ्वी में धँस गया। ब्राह्मण ने 'महाराज फिर भी ध्यान दे' कह दो गाथायें कही—

थियो तस्स पजायन्ति न पुमा जायरे कुले
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञथा नं वियाकरे॥१०॥
सचे हि सच्चं भणसि होहि राज यथापुरे,
मुसा चे भाससे राज भिय्यो पविस चेतिय॥११॥

[जो जानता-बूझता, प्रश्न पूछे जाने पर अन्यथा उत्तर देता है, उसके कुल में लड़कियाँ पैदा होती है, लड़के नहीं। हे राजन् ! यदि सत्य कहते हो...।]

राजा विश्वास न कर छठी बार भी उसी प्रकार झूठ बोला। वह स्तन तक पृथ्वी में धँस गया। ब्राह्मण ने 'महाराज ! फिर भी ध्यान दें' कह दो गाथायें कहीं—

पुत्ता तस्स न भवन्ति पक्कमन्ति दिसोदिसं,
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञथा नं वियाकरे॥१२॥
सचे हि सच्चं भणसि होहि राज यथापुरे,
मुसा चे भाससे राज भिय्यो पविस चेतिय॥१३॥

[जो जानता-बूझता प्रश्न पूछे जाने पर अन्यथा उत्तर देता है, उसके पुत्र नहीं रहते; वे दिशा-विदिशा को चले जाते हैं। हे राजन्। यदि सत्य कहते हो....॥१२-१३॥]

उसने कुसंगत के कारण उसकी बात का विश्वास न कर सातवीं बार भी वैसा ही किया। पृथ्वी ने उसके लिये जगह कर दी। अवीची (नरक) से ज्वाला उठी और उसे ग्रहण कर लिया।

ये दो अभिसम्बुद्ध गाथायें हैं—

स राजा इसिना सत्तो अन्तलिक्खेचरो पुरे,
पावेक्खि पठविं चेसो हीनत्तो पत्वा परियायं॥१४॥

तस्मा हि छन्दागमनं नप्पसंसन्ति पण्डिता,
अदुट्ठचित्तो भासेय्य गिरं सच्चूपसंहितं ॥१५॥

[वह (चेतिय) नरेश पहले अन्तरिक्ष में विचरता था, किन्तु ऋषि के शाप के कारण वह हीनावस्था तथा आयुक्षय को प्राप्त हो पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ। इसलिये पण्डित-जन छन्द के वशीभूत होने की प्रशंसा नहीं करते। मनुष्य अक्रोधी मन से सत्य वाणी बोले ॥१४-१५॥]

जनता डरी कि चेतिय-राजा ऋषि को अपशब्द कह, झूठ बोल पृथ्वी में समा गया। राजा के पाँच पुत्रों ने आकर प्रार्थना की—"हमें शरण दें।" ब्राह्मण बोला—"तात। तुम्हारे पिता ने धर्म को नष्ट कर झूठ बोला। वह ऋषि को अपशब्द कह अवीची-नरक में गया। धर्म को नाश करने वाले का नाश होता ही है। तुम यहाँ नहीं रह सकते।" इतना कह सब से ज्येष्ठ को बुलाकर कहा—"तात ! आ, पूर्व-द्वार से निकल सीधा चले जाने पर तुझे एक सात-प्रतिष्ठाओं वाला सर्व-श्वेत हाथी रत्न दिखाई देगा। उसे चिन्ह समझ वहीं नगर बसा कर रहना। वह नगर हस्तिपुर कहलायेगा।" दूसरे को बुलाकर कहा—"तात ! दक्षिण-द्वार से निकलकर सीधा जाने पर सर्व-श्वेत अश्व-रत्न देखेगा। उसे चिन्ह समझ वहीं नगर बसा कर रहना। उस नगर का नाम अश्वपुर होगा।" तीसरे को बुलाकर कहा—"तात ! तू पश्चिम-द्वार से निकल, सीधा जाता हुआ केसरी को देखेगा। उसे चिन्ह समझ, वहाँ नगर बना कर रहना। उस नगर का नाम सिंहपुर होगा।" चौथे को बुला कर कहा—"तात ! तू उत्तर-द्वार से निकल सीधा ही जाता हुआ सर्व-रत्न-मय चक्र-पञ्जर को देखेगा। उसे चिन्ह समझ वहीं नगर बसाकर रहना। उस नगर का नाम उत्तर-पाञ्चाल होगा।" पाँचवें को बुलाकर कहा—"तात। तू यहाँ नहीं रह सकता। इस नगर में महान-स्तूप बनवा यहाँ से निकल पश्चिमोत्तर दिशा में सीधा जाता हुआ दो पर्वतों को परस्पर लड़कर 'दद्दर' शब्द करते देखेगा। उसे चिन्ह समझ, वहीं नगर बसा कर बस। उस नगर का नाम दद्दरपुर होगा। वे पाँचों जने उन चिन्हों के अनुसार वहाँ गये, और नगर बसा कर रहने लगे।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, 'भिक्षुओं। केवल अभी नहीं, पहले भी देवदत्त झूठ बोलकर पृथ्वी में समा गया' कह जातक का मेल बैठाया। उस सयय चेतिय-राजा देवदत्त था। कपिल ब्राह्मण तो मैं ही था।

४२३. इन्द्रिय जातक

"यो इन्द्रियानं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय पूर्व-भार्या के आकर्षण के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

श्रावस्ती में एक कुल-पुत्र ने शास्ता की धर्म-देशना सुनी तो सोचा कि गृहस्थ में रहते हुए सम्पूर्ण, एकदम-परिशुद्ध ब्रह्मचर्य्य का पालन करना आसान नहीं। मैं कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित हो दुःख का अन्त करूँगा। उसने घर की सम्पत्ति, पुत्र-दारा को सौंप, शास्ता से प्रव्रज्या माँगी। शास्ता ने भी उसे प्रव्रज्या दिला दी। जब वह आचार्य्य, उपाध्याय के साथ भिक्षार्थ जाता तो उसके 'नया-साधु' होने तथा भिक्षुओं की अधिकता के कारण घरों में या आसन-शाला में आसन न मिलता, संघ में 'नवीन' होने से पीढ़ा या तख्ता मिलता। भोजन में कड़छी पीठ से रगड़ा हुआ, छिलके उतरा यवागु, सड़ा हुआ सूखा खाजा, अथवा जला सूखा अङ्कुर मिलता। वह भी पर्य्याप्त न होता। जो मिलता उसे लेकर वह पूर्व-भार्य्या के पास पहुँचता। वह उसका पात्र ले, प्रणाम कर, पात्र में से भात निकाल, अच्छी तरह से तैयार किये हुए यवागु, भात, सूप, व्यञ्जन देती। स्थविर रस-तृष्णा से बँधा होने के कारण पूर्व-भार्य्या को नहीं छोड़ सकता था। उसने सोचा—"यह आसक्त है अथवा नहीं, मैं इसकी परीक्षा करूँगी?" उसने जनपद के किसी एक आदमी को सफेद मिट्टी से नहला घर में बिठाया, तथा उसके और भी कई आदमियों को बुलवा खाना-पीना दिलवाया। वे बैठे खा पी रहे थे। घर के दरवाजे पर पहियों में बैल बँधवा एक गाड़ी भी खड़ी करवाई। स्वयं घर में अन्दर बैठ कर पूए पकाने लगी। स्थविर आकर दरवाजे पर खड़ा हुआ। उसे देख एक वृद्ध-पुरुष ने कहा—"आर्य्ये! दरवाजे पर एक स्थविर है।" वह बोली—"प्रणाम करके क्षमा माँग ले।" "भन्ते", क्षमा

करें।" बार-बार कहने पर भी उसे न जाता देख बोला—"आर्य्ये। स्थविर नहीं जाता है।" उसने आकर पर्दा उठा कर देखा और बोली—"ओह! मेरे पुत्र के पिता हैं।" वह बाहर निकली, प्रणाम किया और पात्र लेकर घर में लिवा ले गई। भोजन करा चुकने पर प्रणाम करके कहा—"भन्ते। आप इसी घर में निर्वाण प्राप्त करें। हमने इतने दिन दूसरा घर नहीं देखा। स्वामी-रहित घर की गृहस्थी नहीं चलती। हम दूसरे घर जाती हैं। दूर जनपद में जायेंगी। आप अप्रमादी होकर रहें। यदि मेरा अपराध हो तो क्षमा करें।" वृद्ध को ऐसा हुआ जैसे उसका हृदय फट रहा हो। वह बोला—"मैं तुझे नहीं छोड़ सकता। मत जा, मैं गृहस्थ हो जाऊँगा। अमुक स्थान पर वस्त्र भेज दे। मैं पात्र-चीवर सौंप कर चला आऊँगा।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। स्थविर ने विहार पहुँच कर, जब आचार्य्य-उपाध्याय को पात्र-चीवर सौंपे तो उन्होंने पूछा—"ऐसा क्यों करता है?" उत्तर दिया—"पूर्व भार्य्या को नहीं छोड़ सकता हूँ। इसलिये गृहस्थ होऊँगा।"

वे उसकी इच्छा न रहने पर भी उसे शास्ता के पास ले गये। शास्ता ने पूछा—"भिक्षुओं, इस अनिच्छुक को क्यों लिये आ रहे हो?"

"भन्ते! यह उद्विग्न होकर गृहस्थ होना चाहता है।"

शास्ता ने पूछा—क्या तू सचमुच उद्विग्न है?

"भन्ते! सचमुच।"

"तुझे किसने उद्विग्न किया है?"

"पूर्व-भार्य्या ने।"

"भिक्षु! वह स्त्री तेरा अनर्थ करने वाली है। पूर्व-जन्म में इसी के कारण तू ध्यान-भ्रष्ट हो, महान् दुःख को प्राप्त हुआ। फिर मेरी सहायता से उस दुःख से मुक्त हो, पुनः ध्यान-लाभ किया।"

इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उसके पुरोहित के कारण उसकी ब्राह्मणी के गर्भ में आये। जन्म-ग्रहण के दिन सारे नगर में शस्त्र चमक उठे। इस लिये उसका नाम ज्योतिपाल-

कुमार रखा गया। उसने बड़े होने पर तक्षशिला में सब शिल्प सीख, राजा के सामने विद्या का प्रदर्शन कर, ऐश्वर्य्य छोड़, बिना किसी को सूचित किये अग्र-द्वार से निकल, आरण्य में जा, शक्र के दिये कविट्ठ-आश्रम में ऋषि-प्रव्रज्या ले, ध्यान तथा अभिञ्ञा प्राप्त की। उसके वहाँ रहते समय, उसके गिर्द अनेक सौ ऋषि इकट्ठे हो गये। बड़ा संघ हो गया। सात ज्येष्ठ-शिष्य थे। उनमें से सालिस्सर नामक ऋषि कविट्ठकाश्रम से निकल सुरट्ठ (=सौराष्ट्र) जनपद में सातोदिका नदी के किनारे अनेक सहस्र ऋषियों को लेकर रहने लगा। मेण्डिस्सर नामक ऋषि पजक राजा के देश में लम्बचूळक निगम के भरोसे अनेक सहस्र ऋषियों के साथ रहने लगा। काळदेवल नामक ऋषि अवन्ति-दक्षिणापथ में एक घन-शैल के आश्रय अनेक सहस्र ऋषियों के साथ रहने लगे। किसवच्छ नामक ऋषि अकेला ही दण्डिक राजा के कुम्भवती नगर के भरोसे उद्यान में रहने लगा। हां, अनुसिस्स नामक बोधिसत्व-सेवक उसके पास रहा। कालदेवल का छोटा (भाई) नारद नामक ऋषि मध्यम-प्रदेश में अरञ्जर गिरि में, पर्वत-जाल में एक गुफा में, अकेला ही रहता था। अरञ्जर-गिरि से थोड़ी ही दूर पर मनुष्यों की एक बड़ी बस्ती थी। उनके बीच में एक बड़ी नदी थी। उस नदी को बहुत मनुष्य पार करते थे। उत्तम रूप वाली वेश्यायें भी उसके किनारे बैठ मनुष्यों को आकर्षित करतीं। नारद तपस्वी उनमें से एक पर आसक्त हो ध्यान-रहित हो, निराहार रह, सूखता हुआ एक सप्ताह तक राग के वशीभूत हो पड़ा रहा। उसके भाई काळदेवल ने ध्यान लगाकर देखा, तो उसे इस बात का पता लगा। वह आकाश-मार्ग से आकर उस गुफा में प्रविष्ट हुआ। नारद ने उसे देख पूछा—आप कैसे आये ?

"आप अस्वस्थ हैं, इसलिए आप की सेवा करने आया हूँ।"

"आप अवास्तविक बात कहते हैं, झूठी बात कहते हैं" कह उसने उस पर झूठ बोलने का अपराध लगाया। उसने 'तुझे छोड़ा नहीं जा सकता' कह सालिस्सर, मेण्डिस्सर तथा पब्बतिस्सर को बुलवा लिया। इसने भी उन तीनों को मृषावाद का दोषी ठहराया। काळदेवल ऋषि आकाश मार्ग से जाकर सरभङ्ग शास्ता को ले आये। उन्होंने आकर देख, जाना कि यह इन्द्रियों के वशीभूत हो गया है। पूछा—"नारद ! क्या इन्द्रियों के

वशीभूत तो नहीं हो गाय ?" उसने यह बात सुन, उठकर प्रणाम किया और कहा—"हां ! आचार्य्य !'

"नारद । इन्द्रियों के वश हो जाने वालि इस जन्म में सूखकर, दुःख भोगते हैं, दूसरे जन्म में मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं ।"

उन्होंने पहली गाथा कही—

यो इन्द्रियानं कामेन वसं नारद गच्छति,
सो परिच्चज्ज उभे लोके जीवरेव विसुस्सति ॥१॥

[हे नारद ! जो कामना के कारण इन्द्रियों के वश हो जाता है, वह दोनों लोकों को छोड़ (नरक में पैदा होता है) और जीते जी सूखता है ॥१॥]

यह सुन नारद ने पूछा—"आचार्य्य ! काम-भोग सुख होता है। इस प्रकार के सुख को दुःख क्यों कहते हैं ?" "तो सुन" कह सरभङ्ग ने दूसरी गाथा कही—

सुखस्सनन्तरं दुक्खं दुक्खस्सानन्तरं सुखं,
सो पि पत्तो सुखा दुक्खं पटिकङ्ख वरं सुखं ॥२॥

[(काम-) सुख के अनंतर दुःख होता है; (संयम-) दुःख के अनन्तर सुख । नारद भी (ध्यान-) सुख को छोड़ दुःख को प्राप्त हुआ । अब फिर (ध्यान) सुख की आकांक्षा करनी चाहिये ॥२॥]

नारद बोला—"आचार्य्य ! यह दुसह दुःख है । इसे सहन नहीं कर सकता ।" बोधिसत्व ने "नारद ! दुःख पैदा होने पर सहना ही होता है" कह तीसरी गाथा कही—

किच्छकाले किच्छसहो यो किच्छं नातिवत्तति,
स किच्छन्तं सुखं धीरो योगं समधिगच्छति ॥३॥

[दुःख पड़ने पर दुःख को सहन करके जो उसके आधीन नहीं होता, दुःख के अन्त में वह धीर पुरुष सुख (पूर्वक) योग को प्राप्त होता है ॥३॥]

वह बोला—"आचार्य्य ! काम (-भोग) सुख, उत्तम-सुख है । उसे नहीं छोड़ सकता। बोधिसत्व ने 'धर्म की कभी भी हानि नहीं करनी चाहिये' कह चौथी गाथा कही—

न हेव कामान कामा नानत्था नत्थकारणा,
न कतं च निकत्वान धम्मा चवितुं अरहसि ॥४॥

[न काम (-भोगों) की कामना के लिये, न अनर्थ के लिये, न अर्थ के लिये, और न कृत को नष्ट करने के लिये ही धर्म से च्युत होना उचित है ॥४॥]

इस प्रकार जब सरभङ्ग ने चार गाथाओं द्वारा उपदेश दिया, तो काळदेवल ने अपने छोटे भाई को उपदेश देते हुए पाचवीं गाथा कही—

दुक्खं गहपतं साधु, संविभज्जञ्च भोजनं,
अहासो अस्थलाभेसु अत्थव्यापत्ति अव्यथो ॥५॥

[गृहस्थ का (सम्पति-प्राप्ति के प्रयत्न में होने वाला) दुःख अच्छा है, भोजन के बांटने में (होने वाला चैतसिक) दुःख अच्छा है, अर्थलाभ होने पर नम्र रहना अच्छा है, और अर्थ की हानि होने पर शान्त रहना अच्छा है ॥५॥]

देवल द्वारा नारद के उपदिष्ट होने की बात जान शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर छठी गाथा कही—

एत्तावता से पण्डिच्चं असितो देवलो ब्रवी,
नयितो किञ्चन पापियो यो इन्द्रियानं वसं वजे ॥६॥

[असित देवल ने उसे इतना ही पाण्डित्य कहा—इन्द्रियों के वशीभूत हो जाने से बढकर बुरा और कुछ नहीं है ॥६॥]

तब सरभङ्ग ने नारद को सम्बोधित कर "नारद ! यह बात सुन। जो प्रथम ही अपने कर्त्तव्य को नहीं करता, वह आरण्य में प्रविष्ट हुये माणवक की तरह सोचता है, रोता-पीटता है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ग. अतीत कथा

पूर्व समय में एक काशी-निगम में एक ब्राह्मण तरुण था—सुन्दर; बलवान, हाथी के समान बल-शाली। उसने सोचा—"कृषि-कर्म आदि करके माता पिता को पालने पोसने से मुझे क्या लाभ, पुत्र-दारा से भी मुझे क्या प्रयोजन, दानादि पुण्य कर्मों का भी क्या प्रयोजन, में किसी का पालन-पोषण न कर; किसी प्रकार का पुण्य-कर्म न कर, आरण्य में जा, मृगों को मार अपने आप को ही पालूं-पोसूंगा।" उसने पाँच आयुध लिये और हिमालय जाकर अनेक-मृगों को मार, खाता हुआ, हिमालय के अन्दर विधवा नामक नदी के तीर पर, पर्वतों

से घिरे हुए बड़े भारी पर्वत-जाल में पहुँचा। वहाँ मृगों को मार-अङ्गारों पर पका माँस खाता हुआ रहने लगा। उसने सोचा—"मैं सदा शक्ति-शाली न रहूँगा दुर्बल हो जाने पर आरण्य में घूम न सकूंगा। अभी नाना-वर्ण के मृगों को पर्वत जाल में प्रविष्ट कर, द्वार का प्रबन्ध कर, बिना आरण्य में भटके ही यथा-रुचि मृगों को मार-मार कर खाऊंगा।" उसने वैसा किया। समय बीतने पर उसका कर्म पूरा हो गया, उसने इसी जन्म में अपना फल दिया—उसके हाथ पैर नहीं रहे। इधर उधर पलट नहीं सकता था। कुछ खाना-पीना नहीं दिखाई देता था। शरीर म्लान हो गया। मनुष्य-प्रेत हो गया। जैसे ग्रीष्म-काल में पृथ्वी फट कर उस में दरार पड़ जाती है, वैसी ही उसका शरीर फूट कर उसमें लकीरें पड़ गईं। इस प्रकार कुरूप और कुढंगा होकर उसने बहुत दुःख पाया।

इस प्रकार समय व्यतीत होने पर, सिवि-राष्ट्र के सिवि-राज की इच्छा हुई कि वह आरण्य में अङ्गारों पर पका माँस खाये। उसने अमात्यों को राज्य सौंपा और पाँचों आयुध ले आरण्य में गया। यहाँ मृगों को मार माँस खाता हुआ क्रमशः उस प्रदेश में पहुँचा। वहाँ उस आदमी को देख, डर लगने पर भी संभले रह कर पूछा—"भो पुरुष ! तू कौन है ?"

"स्वामी ! मैं मनुष्य-प्रेत हूँ। अपने किये कर्म को भोग रहा हूँ। किन्तु, तू कौन है ?"

"मैं सिवि-राजा हूँ।"

"यहां किस लिये आया है ?"

"मृग-माँस खाने के लिये।"

"महाराज ! मैं भी इसी उद्देश्य से यहाँ आकर मनुष्य-प्रेत हो गया।" उसने सब कुछ विस्तार-पूर्वक कह अपनी दुखित-अवस्था का वर्णन करते हुए शेष गाथायें कहीं—

अमित्तानं व हत्यत्थं सिव पप्पोति मामिव,
कम्मं विज्जं च दक्खेय्यं विवाहं सीलमद्दवं
एते च यसे हापेत्वा निब्बत्तो सेहि कम्मेहि ॥७॥

सोहं सहस्सजिनोव अबन्धु अपरायनो,
अरियधम्मा अपक्कन्तो यथा पेतो तथेवहं ॥८॥
सुखकामे दुक्खापेत्वा आपन्नोस्मि पदं इमं,
सो सुखं नाधिगच्छामि ठितो भानुमतामिव ॥९॥

[हे सिविराज ! मेरी तरह शत्रु के हाथ में पड़े की तरह हो जाता है। मैं (कृषि आदि) कर्म, विद्या, दक्षता, विवाह, शील तथा मृदु-भाव छोड़ कर अपने दुष्कर्म के कारण इस अवस्था को प्राप्त हुआ।

वह मैं हजार हारे की तरह, अबन्धु, अशरण, आर्य-धर्म से दूर होने के कारण प्रेत जैसा हो गया।

सुख की कामना करने वाले प्राणियों को दुःख देने के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ। मैं आग में स्थित व्यक्ति की तरह सुख का अनुभव नहीं करता हूँ ॥७-९॥]

यह कह कर 'महाराज ! मैंने अपने सुख की कामना से दूसरे को दुःख दिया। इसलिये इसी जन्म में मनुष्य-प्रेत हो गया। तू पाप न कर। अपने नगर लौट कर दानादि पुण्य-कर्म कर' कहा। राजा वैसा करके स्वर्गगामी हुआ।

सरभङ्ग शास्ता ने यह बात ला, तपस्वी को सचेत किया। उसने उसके कथन से प्रभावित हो, उसे प्रणाम कर; क्षमा मांग, कसिनाभ्यास कर, नष्ट हुये ध्यान को प्राप्त किया। सरभङ्ग ने उसे वहाँ रहने नहीं दिया। उसे अपने आश्रम ही ले गया।

शास्ता ने यह देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर, जातक का मेल बैठाया। सत्य के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय नारद उद्विग्न-चित्त भिक्षु था। सालिस्सर सारिपुत्र। मेण्डिस्सर काश्यप। पब्बत अनुरुद्ध। काळदेवल कात्यायन। अनुसिस्स आनन्द। किसवच्छ मोग्गल्लान। सरभङ्ग तो मैं ही था।

---

४२४. आदित्त जातक

"आदित्तस्मि . . ." यह शास्ता ने जेतवन विहार करते समय असदृश दान के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

असदृश-दान महा गोविन्द सूत्र वर्णन से विस्तार पूर्वक कहना चाहिये। उस (दान) के दिये जाने के दूसरे दिन धर्म सभा में बात-चीत चलाई—आयुष्मानो! कोशल-नरेश ने विचार कर क्षेत्र देखकर ही बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को महादान दिया है। शास्ता ने आकर पूछा—भिक्षुओ, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो? 'अमुक बात-चीत' कहने पर 'भिक्षुओ! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, यदि राजा ने विचार कर सर्वश्रेष्ठ पुण्यक्षेत्र में दान की प्रतिष्ठा की है। पुराने पण्डितों ने भी विचार कर ही दान दिया है' कह पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में सोवीर राष्ट्र के रोरुव नगर में भरत महाराजा दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा, चार संग्रह-वस्तुओं से जनता का संग्रह करते हुये, लोगों के लिये माता-पिता तुल्य हो दरिद्र, दुखी तथा याचकों को महादान देता था। उसकी समुद्रविजया नाम की पटरानी थी पण्डिता तथा ज्ञान सम्पन्ना। एक दिन राजा ने दान शाला को देखते हुये सोचा—मेरे दान को दुश्शील लोभी जन खा जाते हैं। उससे मेरा मन प्रसन्न नहीं होता। मैं शीलवान, दक्षिणा देने योग्यों में प्रथम प्रत्येक-बुद्धों को दान देना चाहता हूँ। वे हिमालय प्रदेश में रहते हैं। उन्हें कौन निमन्त्रित कर लायेगा। किसे भेजूंगा? उसने देवी को यह बात कही। वह बोली—"महाराज! चिन्ता न करें। हम अपने दान बल से, शीलबल से, सत्य-बल से पुष्प भेज कर प्रत्येक-बुद्धों को निमन्त्रित करेंगे और उनके आने पर सब परिष्कारों से

युक्त दान देंगे।" राजा ने 'अच्छा' कह मुनादी कराई—सारे नगर-निवासी शील ग्रहण करें। परिजनों सहित स्वयं उपोसथ-अङ्गों को ग्रहण कर, दान दें। वह सुमन पुष्पों से भरी सोने की पिटारी उठवा, प्रासाद से उतर राजाङ्गन में आया। वहाँ पृथ्वी पर पाँचों अङ्गों को रख पूर्व दिशा की ओर प्रणाम कर—"प्राचीन दिशा के अर्हतों को प्रणाम करता हूँ, यदि हम में कोई गुण हो तो कृपया हमारी भिक्षा ग्रहण करें" कह फूलों की सात मुट्ठियाँ फेंकी। प्राचीन दिशा में प्रत्येक-बुद्धों के न होने के कारण अगले दिन कोई नहीं आया। दूसरे दिन दक्षिण-दिशा को नमस्कार किया। वहाँ से नहीं आया। तीसरे दिन पश्चिम-दिशा को नमस्कार किया। वहाँ से नहीं आया। चौथे दिन उत्तर-दिशा को नमस्कार किया। लेकिन साथ ही कहा—उत्तर-हिमालय प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक-बुद्ध हमारी भिक्षा ग्रहण करें। उसने उधर फूलों की सात मुट्ठियाँ फेंकी। वे जाकर नन्द मूलक पर्वत पर पाँच सौ प्रत्येक-बुद्धों पर गिरीं। उन्होंने ध्यान लगा कर पता लगाया कि राजा ने उन्हें निमन्त्रित किया है। अगले दिन सात प्रत्येक-बुद्धों को बुलाकर कहा—"मित्रो! राजा हमें निमन्त्रण देता है। उसका संग्रह करो।" प्रत्येक-बुद्ध आकाश से आकर राज-द्वार पर उतरे।

राजा उन्हें देख प्रसन्न हुआ। वह उन्हें प्रणाम कर प्रासाद के ऊपर ले गया। वहाँ बड़ा सत्कार कर दान दिया। भोजनानन्तर अगले दिन के लिये और फिर अगले दिन के लिये, इस प्रकार पाँच दिनों तक निमन्त्रित कर, छः दिन भोजन कर चुकने पर, सातवें दिन सब परिष्कारों का दान तैय्यार कर, स्वर्ण-खचित मञ्च-पीढ़े बिछवा, त्रिचीवरादि सभी श्रमण-परिष्कार सात प्रत्येक-बुद्धों के पास रखे। फिर भोजन कर चुकने पर राजा और देवी दोनों ने नमस्कार करते हुये खड़े हो प्रार्थना की—यह परिष्कार आप को देते हैं। संघ स्थविर ने उनका दानानुमोदन करते हुए दो गाथायें कहीं—

आदित्तस्मिं अगारस्मिं यं नीहरति भाजनं,
तं तस्स होति अत्थाय नो च यं तत्थ डय्हति॥१॥
एवं आदीपितो लोको जराय मरणेन च,
नीहरेथ एव दानेन दिन्नं हि होति सुनीहतं॥२॥

[जलते हुए घर में से आदमी जिस बरतन को निकाल लेता है, वही उसके काम का होता है, न कि वह जो वहाँ जल जाता है। इसी प्रकार यह संसार जरा और मरण से जल रहा है। इस में से दान देकर निकाल लो। जो दिया जाता है वही सुरक्षित होता है ॥१-२॥]

इस प्रकार संघ-स्थविर ने दानानुमोदन कर राजा को उपदेश दिया—"महाराज ! अप्रमादी हों।" फिर आकाश में ऊपर उठ प्रासाद की कर्णिका को फाड़, जाकर नन्दमूलक पर्वत पर ही उतरे। संघ-स्थविर को दिया गया परिष्कार भी उनके साथ ऊपर उठकर पर्वत पर ही उतरा। राजा और देवी का सारा शरीर प्रीति से भर गया। उनके चले जाने पर शेष प्रत्येक-बुद्ध भी एक-एक गाथा से अनुमोदन करके परिष्कारों के साथ वहीं पहुँचे।

यो धम्मलद्धस्स ददाति दानं
उट्ठानविरियाधिगतस्स जन्तु
अतिक्कम्म सो वेतरणिं यमस्स
दिब्बानि ठानानि उपेति मच्चो ॥३॥

[जो प्राणी धर्म-लाभी, उत्थान-वीर्य्य-युक्त को दान देता है, वह यम की वेतरणी (नदी) को पार कर दिव्य स्थानों को प्राप्त होता है ॥३॥]

दानं च युद्धं च समानमाहु
अप्पापि सन्ता बहुके जिनन्ति,
अप्पम्पि चे सद्दहानो ददाति
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥४॥

[दान और युद्ध को समान कहा जाता है। थोड़े भी बहुतों को जीत लेते हैं। श्रद्धावान यदि थोड़ा भी दान करता है तो उसी से परलोक में सुखी होता है ॥४॥]

विचेय्य दानं सुगतप्पसत्थं
ये दक्खिणेय्या इध जीवलोके,
एतेसु दिन्नानि महप्फलानि
बीजानि वुत्तानि यथा सुखेत्ते ॥५॥

[विचारपूर्वक दिया गया दान सुगत द्वारा प्रशंसित है। इस जीव-

लोक में जो दान देने योग्य हैं, उन्हें दिये दान का बड़ा फल होता है, जैसे सुक्षेत्र में डाले गये बीज का ॥५॥]

यो पाणभूतानि अहेठयं चरं
परूपवादा न करोति पापं,
भीरुं पसंसन्ति, न हि तत्थ सूरं
भया हि सन्तो न करोति पापं॥६॥

[जो बिना प्राणियों को कष्ट दिये विचरता है, पर-निन्दा के डर से पाप नहीं करता है। ऐसे पाप-भीरु की प्रशंसा होती है। पाप-शूर की नहीं। संत भय से पाप नहीं करता ॥६॥]

हीनेन ब्रह्मचरियेन खत्तिये उपपज्जति,
मज्झिमेन च देवत्तं, उत्तमेन विसुज्झति॥७॥

[हीन-ब्रह्मचर्य से क्षत्रिय होकर उत्पन्न होता है। मध्यम से देवत्व को प्राप्त होता है, और उत्तम से शुद्ध होता है॥७॥]

सद्धा हि दानं बहुधा पसत्थं
दाना च खो धम्मपदं व सेय्यो,
पुब्बेव हि पुब्बतरेव सन्तो
निब्बानमेव अज्झगमू सपञ्ञा॥८॥

[निस्सन्देह दान की बहुत प्रशंसा हुई है, किन्तु दान से धर्म्माचरण ही श्रेष्ठ है। पूर्व-काल में शान्त प्रज्ञावान पूर्व-पुरुषों ने निर्वाण ही प्राप्त किया है ॥८॥]

इस प्रकार सातवें प्रत्येक-बुद्ध दानानुमोदन के द्वारा राजा को अमृत महानिर्वाण की महिमा सुना, अप्रमाद से रहने का उपदेश दे, उक्त प्रकार से अपने निवास स्थान को ही गये। राजा भी पटरानी के साथ जीवन पर्य्यन्त दान देता हुआ स्वर्ग-गामी हुआ।

शास्ता ने 'इस प्रकार पूर्व समय में भी पण्डितों ने विचारपूर्वक दान दिया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय प्रत्येक-बुद्धों का परिनिर्वाण हुआ। समुद्र विजया राहुल माता थी। भरत राजा तो मैं ही था।

४२५. अट्ठान जातक

"गंङ्गा कुमुदिनी. . . ."यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस भिक्षु को शास्ता ने पूछा—भिक्षु क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है? "भन्ते! सचमुच।"

"किस कारण?"

"कामुकता के कारण।"

"भिक्षु! स्त्रियाँ अकृतज्ञ होती हैं, मित्र-द्रोही तथा अविश्वसनीय। पूर्व काल में पण्डित हजार प्रतिदिन देकर भी सन्तुष्ट नहीं रख सके। एक दिन हजार नहीं मिले तो उसने उन्हें गर्दन पकड़वा निकलवा दिया। स्त्रियां ऐसी अकृतज्ञ होती हैं। उनके कारण कामुकता के वशीभूत मत हो।" इतना कह पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसका पुत्र ब्रह्मदत्त कुमार और वाराणसी सेठ का महाधनकुमार नाम का पुत्र दोनों लंगोटिया-यार थे। उन्होंने एक आचार्य्य-कुल में ही 'विद्या सीखी थी। कुमार पिता के बाद राजा बना। सेठ-पुत्र भी उसके पास ही था। वाराणसी में एक वेश्या थी, नगर की शोभा, सुन्दर, सौभाग्यवान। सेठ-पुत्र प्रतिदिन उसे हजार देकर सदैव उसी के साथ रमण करता। पिता के मरने पर सेठ का पद मिलने पर उसने उसे नहीं छोड़ा। उसे ही हजार देकर उसके साथ रमण करता रहा। वह दिन में तीन बार राज-सेवा में जाता। एक दिन सन्ध्या समय राजा की सेवा में जाने पर बात-चीत करते-करते सूर्य्यास्त हो गया और अन्धेरा छा गया। वह राज-कुल से निकला तो

सोचा कि अब घर जाकर आने का समय नहीं है, वेश्या के ही घर जाऊँगा। उसने सेवकों को विदा किया और अकेला उसके घर गया। उसे देखते ही वह बोली—"आर्य्यपुत्र ! हजार लाये ?"

"भद्रे । आज अति विकाल हो गया। इसलिये घर न जाकर आदमियों को विदा कर अकेला आया हूँ। कल तुझे दो हजार दूंगा।"

उसने सोचा—"यदि आज मैं इसे मौका दे दूंगी, तो यह दूसरे दिनों में भी खाली हाथ आयेगा। इस तरह मेरे धन की हानि होगी। मैं अब इसे मौका नहीं दूँगी।" वह बोली—"स्वामी ! हम वेश्यायें हैं। हमारे लिये हजार कोई खेल नहीं है। जायें, हजार ले आयें।"

उसने बार-बार कहा—"भद्रे ! कल दुगुना ले आऊँगा।" वेश्या ने दासियों को आज्ञा दी—"इसे यहाँ खड़े होकर मुझे देखने मत दो। गर्दन से पकड़, निकाल, दरवाजा बन्द कर दो।" उन्होंने वैसा किया। सेठ-पुत्र ने सोचा—"मैं इसके साथ अस्सी करोड़ धन खा गया। इसने मुझे एक दिन खाली हाथ देख गर्दन से पकड़ निकलवा दिया। ओह ! स्त्रियाँ पापिन होती हैं। निर्लज्ज होती हैं। अकृतज्ञ होती हैं। मित्र-द्रोही होती हैं।" स्त्रियों के दुर्गुणों का ध्यान करते-करते उसे वैराग्य हो गया। प्रति-कूल-संज्ञा प्राप्त हो गई। गृहस्थी से भी उदासीन हो गया। 'मुझे गृहस्थी से क्या, आज ही निकल कर प्रव्रजित होऊँगा' सोच, फिर घर न जा, राजा को भी न देख, नगर से निकल, जंगल चला गया। वहाँ गङ्गा-तट पर आश्रम बना, प्रव्रजित हो, ध्यानाभिज्ञा प्राप्त कर, वन-मूल-फल खाकर वहीं रहने लगा। राजा ने उसे न देखा तो पूछा—"मेरा मित्र कहाँ है ?" वेश्या की करतूत सारे नगर में प्रसिद्ध हो गई थी। लोगों ने वह सब बताकर कहा—"देव ! आप का मित्र लज्जा से घर भी न जा, जंगल पहुँच, प्रव्रजित हो गया है।" राजा ने वेश्या को बुलवाकर पूछा—"क्या तू ने सचमुच मेरे मित्र से एक दिन हजार न पा उसे गर्दन से पकड़ निकलवा दिया ?"

"देव ! सचमुच।"

"पापिन ! दुष्ट ! शीघ्र जहाँ मेरा मित्र गया है, वहाँ जाकर उसे लेकर आ। यदि नहीं लेकर आयेगी तो तेरा जीवन नहीं बचेगा।"

उसने राजाज्ञा सुनी तो डरके मारे रथ पर चढ़ बड़े परिवार के साथ

नगर से निकली। उसका गमन-स्थान खोजती हुई सुनती-सुनती वहाँ पहुँची और प्रणाम कर याचना की—"आर्य ! मैंने मूर्खता के वशीभूत जो कुछ किया, उसे क्षमा करें।"

"अच्छा, क्षमा करता हूँ। मेरे मन में तेरे प्रति वैर-भाव नहीं है।"

"यदि क्षमा करते हैं तो मेरे साथ रथ पर चढ़ कर नगर चलें। घर पहुँचते ही मेरे पास जितना धन है, वह सब दे दूँगी।"

उसने उसकी बात सुन "भद्रे ! अब मैं तेरे साथ नहीं जा सकता, जब इस संसार में जो असम्भव है, वह होगा तब मैं तेरे साथ जाऊँगा' कह पहली गाथा कही—

गङ्गा कुमुदिनी सन्ता सङ्खवण्णा च कोकिला,
जम्बु ताळफलं दज्जा अथ नून तदा सिया॥१॥

[जब गङ्गा कुमुद वाले सरों की तरह शान्त हो जायगी, जब कोकिल शङ्खवर्णा हो जायगी, जब जम्बु-वृक्ष में ताळफल लगेंगे—तब मेरा जाना हो सकता है ॥१॥

उसने फिर कहा—चलें।

"चलूँगा ही।"

"कब ?"

'अमुक समय' कह उसने शेष गाथायें कहीं—

यदा कच्छप लोमानं पवारो तिविधो सिया,
हेमन्तिकं पापुरणं अथ नून तदा सिया॥२॥

[जब कच्छुवे के लोमों का शीतकाल के लिये तीन प्रकार का ओढ़ना बनेगा, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥२॥]

यदा मकसदाठानं अट्टालो सुकतो सिया,
दलहो च अप्पकम्पी च अथ नून तदा सिया॥३॥

[जब मच्छरों के दातों की दृढ़ और न हिलने वाली, अच्छी अट्टालिका बनेगी, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥३॥]

यदा ससविसाणानं निस्सेणी सुकता सिया,
सग्गस्सारोहणत्थाय अथ नून तदा सिया॥४॥

[जब स्वर्गारोहण के लिये खरगोश के सींगों की अच्छी सीढ़ी बनेगी, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥४॥]

यदा निस्सेणिमारूय्ह चन्दं खादेय्युं मूसिका,
राहु च परिपातेय्युं अथ नून तदा सिया ॥५॥

[जब चूहे सीढ़ी पर चढ़कर चन्द्रमा को खा जायेंगे और राहु को गिरा देंगे, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥५॥]

यदा सुराघटं पीत्वा मक्खिका गणचारिनी,
अङ्गारे वासं कप्पेय्युं अथ नून तदा सिया ॥६॥

[जब मक्खियाँ सुरा का घड़ा पीकर इकट्ठी हो अङ्गारों पर रहेंगी, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥६॥]

यदा बिम्बोट्ठसम्पन्नो गद्रभो सुमुखो सिया,
कुसलो नच्चगीतस्स अथ नून तदा सिया ॥७॥

[जब गधा बिम्बोधर तथा सुमुख हो जायगा और नृत्य-गीत में कुशल, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥७॥]

यदा काका उलूका च मन्तयेय्युं रहो गता,
अञ्ञं मञ्ञं पिहयेय्युं अथ नून तदा सिया ॥८॥

[जब कौवे और उल्लू एकान्त में मन्त्रणा करेंगे और जब वह परस्पर प्रेम करेंगे, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥८॥]

यदा पुलासपत्तानं छत्तं थिरतरं सिया,
वस्सस्स पटिप्पाताय अथ नून तदा सिया ॥९॥

[जब वर्षा के बचाव के लिये पलास के पत्तों का छाता समर्थ हो जायगा, तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥९॥]

यदा कुलुङ्को सकुणो पब्बतं गन्धमादनं,
तुण्डेनादाय गच्छेय्य अथ नून तदा सिया ॥१०॥

[जब कुलुङ्क पक्षी चोंच से गन्धमादन पर्वत को लेकर उड़ जायगा; तब निश्चय से मेरा जाना होगा ॥१०॥]

यदा सामुद्दिकं नावं सयंतं सवटा करं,
चेतो आदाय गच्छेय्य अथ नून तदा सिया ॥११॥

[जब यन्त्र-युक्त तथा वटाकर-युक्त (?) सामुद्रिक नौका को ग्राम-बालक खींच कर ले जायगा, तब निश्चय से मेरा जाना होगा।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने यह असम्भव बातें बताते हुए ग्यारह गाथायें कहीं। यह सुन वेश्या ने बोधिसत्व से क्षमा मांग, नगर जा, राजा को यह बात कह, जीवन-दान मांगा।

शास्ता ने यह देशना ला "भिक्षु! इस प्रकार स्त्री अकृतज्ञ, मित्र-द्रोही होती है" कह सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्य के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय राजा आनन्द था। तपस्वी तो मैं ही था।

———

४२६. दीपि जातक

"खमनीयं यापनीयं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक भेड़ के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक समय मोग्गल्लान स्थविर गिरिव्रज शयनासन में, जिसका एक ही द्वार था और जो पर्वतों से घिरा था, बिहार करते थे। इनका चन्क्रमण-स्थान द्वार के पास ही था। उस समय भेड़ चराने वाले भेड़ों को गिरिव्रज में छोड़ खेलते घूमते थे। वे एक दिन शाम को भेड़ों को ले जा रहे थे। दूर चलनेवाली एक भेड़ ने भेड़ों को निकलते नहीं देखा। वह पीछे रह गई। उसे पीछे आता देख एक चीते ने उसे दबाने की इच्छा की और गिरि-व्रज द्वार पर आ खड़ा हुआ। उसने भी इधर-उधर देख, उसे देख सोचा—"यह मुझे मारने की इच्छा से खड़ा है। यदि मैं रुक कर भागूँगी तो मेरी जान नही बचेगी। आज मुझे पौरुष दिखाना होगा।" उसने सींग उठाये और वेग से चीते के सामने उछली। चीता यहाँ से पकड़ूँगा, सोच काँपता रह गया। वह पकड़ में न आ जल्दी से भाग कर भेड़ों में जा मिली। स्थविर ने उसकी यह करतूत देख अगले दिन जाकर तथागत से निवेदन किया—"भन्ते। इस प्रकार वह भेड़ अपनी उपाय-कुशलता से पराक्रम दिखा चीते से बची।" शास्ता ने "मोग्गल्लान! इस समय तो वह चीता उसे नहीं पकड़ सका, किन्तु पहले उसे चिल्लाती हुई को मारकर खा गया" कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में मगध राष्ट्र में बोधिसत्व एक गाँव में महाधनवान कुल में पैदा हो, बड़े होने पर कामभोग छोड़ ऋषि-प्रव्रज्या ले, ध्यानाभिञ्जा प्राप्त कर, चिर काल तक हिमालय में रह निमक-खटाई खाने के लिये राजगृह

पहुँचा। वह इसी गिरि-ब्रज में पर्णशाला बनाकर रहने लगा। तब इसी तरह भेड़ चराने वालों के भेड़ चराते हुए, एक दिन इसी तरह एक भेड़ को पीछे निकलता देख एक चीता उसे खाने के लिये द्वार पर खड़ा हुआ। उसने भी उसे देख सोचा—आज मेरी जान नहीं बचेगी। एक उपाय से इसके साथ मधुर-वार्तालाप कर, इसके हृदय में कोमलता का भाव सञ्चार कर जान बचाऊँगी। उसने दूरसे ही उससे वार्तालाप करते हुये आते-आते पहली गाथा कही—

खमनीयं यापनीयं कच्चि मातुल ते सुखं,
सुखं ते अम्मा अवच, सुखकामाहि ते मयं॥१॥

[हे मामा! क्या तू सकुशल है? क्या सुखपूर्वक है? मां ने भी तेरा सकुशल पूछा है। हम सब तेरा सुख चाहते है॥१॥]

चीते ने 'यह धूर्त मुझे 'मामा' बना ठगना चाहती है। यह नहीं जानती कि मैं कितना कठोर हूँ' सोच दूसरी गाथा कही—

नङ्गुट्ठंमे अवक्कम्म हेट्ठयित्वान एलिकि,
सज्ज मातुल वादेन मुञ्चितब्बा नु मञ्ञसि॥२॥

[हे भेड़! तू मेरी पूंछ को नीचा दिखा कर लांघ कर गई। अब मामा बनाकर मुक्त होना चाहती है? ॥२॥]

उसने 'मामा ऐसा न कहें', कह तीसरी गाथा कही—

पुरत्थामुखो निसिन्नोस अहं ते मुखमागता,
पच्छतो तुम्ह नङ्गुट्ठं, कथं खोहं अवक्कमि॥३॥

[तू पूर्वमुख बैठा है। मैं तेरे सामने आई हूँ। तेरी पूंछ पीछे की ओर है। मैंने तेरी पूंछ कैसे लांघी? ॥३॥]

उसने "भेड़! क्या कहती है? ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ मेरी पूंछ न हो" कह चौथी गाथा कही—

यावता चतुरोदीपा ससमुद्दा सपब्बता,
तावता मय्ह नङ्गुट्ठं कथं खोत्व विवज्जयि॥४॥

[जहाँ तक समुद्र और पर्वत सहित चारों द्वीप हैं, वहाँ तक मेरी पूंछ है। तूने उसे कैसे छोड़ा? ॥४॥]

यह सुन, भेड़ ने जब देखा कि यह पापी मधुर-वाणी में नहीं फँसता तो उसने शत्रुवत बोलने के लिये पाँचवीं गाथा कही—

पुब्बे व मेतं अक्खंसु माता पिता च भातरो,
दीघं दुट्ठस्स नङ्गुट्ठं, सम्हि वेहासागता ॥५॥

[मेरे माता-पिता और भाइयों ने पहले ही कहा था कि दुष्ट की पूँछ लम्बी है। मैं आकाश-मार्ग से आई हूँ ॥५॥]

तब उसने 'मैं जानता हूँ कि तू आकाश से आई है। इस प्रकार आते हुये तूने मेरे भोजन का नाश किया है' कह छठी गाथा कही—

तञ्च दिस्वान आयन्ति अन्तलिक्खस्मं एलिकि,
मिगसङ्घो पलायित्थ भक्खो मे नासितो तया ॥६॥

[हे भेड़! तुझे आकाश में आता देखकर मृगों का झुण्ड भाग गया। तूने मेरा भोजन नष्ट किया ॥६॥]

यह सुन कोई दूसरी बात न कह सकने के कारण वह मृत्युभय से भयभीत हो विलाप करने लगी—"मामा! इस प्रकार का दारुण कर्म न कर। मुझे जीवन दान दे।" चीते ने उस रोती हुई को ही कन्धे से पकड़, मार कर खा डाला।

ये दो अभिसम्बुद्ध गाथायें हैं—

इच्चेव विलपन्तिया एलिकिया रुहंघसो,
गलकं अन्वामद्दी नत्थि दुट्ठे सुभासितं ॥७॥
नेव दुट्ठे नयो अत्थि न धम्मो न सुभासितं,
निक्कमं दुट्ठे युञ्जेथ, सो च सब्भि न रज्जति ॥८॥

[इस प्रकार उस रुधिरपायी ने, विलाप करती हुई भेड़ के गले का मर्दन कर डाला। दुष्ट आदमी के लिये सुभाषित बेकार है। दुष्ट आदमी के लिये न न्याय है, न धर्म है और न सुभाषित है। दुष्ट आदमी से तो पराक्रम ही करे। वह सद्व्यवहार से प्रसन्न नहीं होता ॥७-८॥]

तपस्वी ने उनकी सब करतूत देखी।

शास्ता ने यह देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय की भेड़ ही यह अब की भेड़ है। चीता ही अब का चीता है। तपस्वी तो मैं ही था।

नवाँ परिच्छेद

४२७. गिज्झ जातक

"परिसङ्कथो नाम . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक बात न मानने वाले के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस कुल-पुत्र ने इस कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित होकर भी अपने आपको ऐसा कर लिया कि उसे कोई कुछ न कहे। जब उसके हितचिंतक आचार्य्य-उपाध्याय और सब्रह्मचारी उसे कहते कि इस तरह जाना चाहिये, इस तरह आना चाहिये, इस तरह देखना चाहिए, इस तरह भालना चाहिए, इस तरह सिकुड़ना चाहिए, इस तरह पसरना चाहिए, इस तरह पहनना चाहिए, इस तरह ओढ़ना चाहिए, इस प्रकार पात्र लेना चाहिए, गुजारे भर ले, प्रत्यवेक्षणा कर भोजन करना चाहिए, इन्द्रिय-संयमी, भोजन में मात्रज्ञ, जागरूक होना चाहिए, यह अतिथि-कर्त्तव्य जानना चाहिए, यह जाने वाले का कर्त्तव्य जानना चाहिए, यह चौदह अनु-कर्त्तव्य और यह अस्सी महाकर्त्तव्य हैं, इन्हें सम्यक् प्रकार करना चाहिए, यह तेरह धुतङ्ग-गुण हैं, इन्हें धारण करना चाहिए, तो वह कहना न मानता। असहनशील होता, अनुशासनों को ग्रहण न करता। वह कहता--"मैं तुम्हें उपदेश नहीं देता। तुम मुझे क्यों देते हो। मैं स्वयं अपना हित-अहित देख लूंगा।" भिक्षुओं ने जब यह जाना कि वह बात न मानने वाला है तो वह धर्मसभा में बैठ उसकी निन्दा करने लगे। शास्ता ने आकर पूछा—भिक्षुओ! बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो? 'अमुक बात-चीत' कहने पर उस भिक्षु को बुलवा कर पूछा—

"क्या तू सचमुच बात न मानने वाला है?"

"सचमुच ।"

"भिक्षु ! इस प्रकार के कल्याणकारी-शासन में प्रव्रजित होकर भी तूने क्यों हितचिन्तकों का कहना नहीं किया। पहले भी तू पण्डितों का कहना न कर झंझावात में फँस चूर्ण-विचूर्ण हुआ" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में गृध्र (-कूट) पर्वत पर बोधिसत्व गृध्र की योनि में पैदा हुए। उस गृध्र के पुत्र का नाम सुपत्त था। वह गृध्र-राज अनेक सहस्र गृध्रों के समूह वाला और बलशाली था। वह माता-पिता का पालन करता था। बलवान होने से बड़ी दूर तक उड़ता। उसके पिता ने उपदेश दिया—"तात ! इस सीमा को नही लाँघना चाहिए।" उसने 'अच्छा' कह कर भी एक दिन जब वर्षा हुई थी, गृध्रों के साथ उड़ शेष को पीछे छोड़ दिया। वह बहुत ऊंचे जा, झझावात में फँस चूर्ण-विचूर्ण हो गया।

शास्ता ने इस बात का उपदेश करते हुए अभिसम्बुद्ध होने पर ये गाथायें कहीं—

परिसङ्कुपथो नाम गिज्झपन्थो सनन्तनो,
तत्रासि माता पितरो गिज्झो पोसेसि जिण्णके ॥१॥

[वह शङ्का का रास्ता था, पुराना गृध्र-पथ था। वहाँ बूढ़े माता-पिता का पालन-पोषण करने वाला गीध रहता था ॥१॥]

तेसं अजकरं मेदं अच्चहासि बहुतसो,
पिता च पुत्तं अवच जानं उच्चापपातिनं,
सुपत्तं पक्ख-सम्पन्नं तेजस्सिं दूरगामिनं ॥२॥

[वह उनके लिए बहुत सी अजगर-चर्बी ले आया। पिता ने जान कर ऊंचे उड़ने वाले, पंखों वाले, तेज में दूर जाने वाले सुपत्त नामक पुत्र को कहा ॥२॥]

परिप्लवन्तं पठविं यदा तात विजानहि,
सागरेन परिक्खित्तं चक्कं व परिमण्डलं,
ततो तात निवत्तसु, मास्सु एत्तो परं गमि ॥३॥

[हे तात ! जब तुझे सागर से घिरी हुई पृथ्वी परिमण्डल चक्र की तरह उत्पल-पत्र के समान दिखाई दे, तो उससे आगे न जाना ॥३॥]

उदरत्तोसि वेगेन बली पक्खी दिजुत्तमो,
ओलोकयन्तो वक्कङ्गो पब्बतानि वनानि च ॥४॥

[द्विजो में श्रेष्ठ, वक्रङ्गी, बलवान, पक्षी, पर्वत तथा वनों को देखता हुआ वेग से ऊपर उड़ा ॥४॥]

अद्दस पठविं गिज्झो यथासासी पितुस्सुतं,
सागरेन परिक्खित्तं चक्कं व परिमण्डलं ॥५॥

[जैसे पिता ने पुत्र की अनुशासना की थी उसी तरह से गीध ने सागर से घिरी हुई परिमण्डल चक्र की तरह पृथ्वी देखी ॥५॥]

तञ्च सो समतिक्कम्म परमेव अच्चवत्तथ,
तञ्च वातसिखा तिक्खा अच्चहासि बलिं दिजं ॥६॥

[वह उस सीमा को लांघ कर बहुत ही दूर निकल गया। उस बलवान पक्षी को तीक्ष्ण झंझावात उड़ा कर ले गई ॥६॥]

नासक्खातिगतो पोसो पुनरेव निवत्तितुम,
दिजो व्यसनमापादि वेरम्बान वसं गतो ॥७॥

[कहना न मानने वाला प्राणी फिर नहीं लौट सका। झंझावात के वशीभूत हुआ पक्षी विपत्ति में पड़ गया ॥७॥]

तस्स पुत्ता च दारा च ये चञ्ञे अनुजीविनो,
सब्बे व्यसनं आपादुं अनोवादकरे दिजे ॥८॥

[उस कहना न मानने वाले पक्षी के पुत्र, दारा तथा अन्य जो भी आश्रित थे वे सभी दुःख को प्राप्त हुए ॥८॥]

एवम्पि इध वुड्ढानं यो वाक्यं नावबुज्झति,
अतिसीमचरो दित्तो गिज्झो वातीतसासनो
स वे व्यसनं पप्पोति अकत्वा वुड्ढसासन ॥९॥

[इस प्रकार जो बड़ों का कहना स्वीकार नहीं करता है, वह कहा हुआ शासन न मानने वाले, सीमा लाँघने वाले गीध की तरह बड़ों का कहना न मान दुःख को प्राप्त होता है ॥९॥]

"इसलिये हे ! भिक्षु ! तू गीध की तरह मत हो हितचिन्तकों का

कहना कर।" शास्ता के इस प्रकार उपदेश देने के बाद से वह भिक्षु कहना मानने वाला हो गया।

शास्ता ने भी यह देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय कहना न मानने वाला भिक्षु इस समय कहना न मानने वाला था, गृध्र-पिता तो मैं ही था।

---

४२८. कोसम्बी जातक

"**पुथुसद्दो**. . ." यह शास्ता ने कोसम्बी के आश्रित घोषिताराम में विहार करते समय कोसम्बी के कलह करने वालों के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

कथा कोसम्बी-स्कन्ध में आई ही है। यहाँ यह संक्षिप्त रूप है। उस समय एक आवास में दो भिक्षु रहते थे, एक विनय-धर दूसरा **सुत्तन्तिक** उनमें से सुत्तन्तिक एक दिन शौच जाने के बाद शौच के बरतन से पानी छोड़ कर बाहर निकल आया। बाद में विनयधर ने जाकर देखा तो बाहर निकल कर पूछा--

"पानी तूने रखा ?"
"आयुष्मान ! हां।"
"क्या नहीं जानता कि यह आपत्ति है ?"
हाँ नहीं जानता हूँ।"
आयुष्मान ! इसमें आपत्ति होती है।"
तो इसका प्रायश्चित्त करूंगा।"

लेकिन आयुष्मान ! यदि बिना जाने बूझे अस्मृति से हो गया तो आपत्ति नहीं है।"

उसकी दृष्टि आपत्ति से अनापत्ति की हो गई। विनयधर ने अपने आश्रितों को कहा--यह सुत्तन्तिक आपत्ति होने पर भी नहीं जानता है। उसके आश्रितों ने जब सुत्तन्तिक के आश्रितों को देखा, बोले—तुम्हारा उपाध्याय आपत्ति होने पर आपत्ति हुई है भी नहीं जानता है। उन्होंने जाकर अपने उपाध्याय से कहा। वह बोला—यह विनयधर पहले अनापत्ती कह अब फिर आपत्ति कहता है, यह मृषावादी है। उन्होंने जाकर

अपने उपाध्याय से कहा। इस प्रकार परस्पर कलह बढ़ गया। तब विनय-धर ने आज्ञा ले उसके विरुद्ध आपत्ति न देखने के कारण **उक्खेपनीय-कर्म** किया। तब से उनके प्रत्यय-दायक और उपासक भी दो पक्षों में बंट गये। उपदेश ग्रहण करने वाली भिक्षुणियाँ भी। रक्षक-देवता भी। मिलने-जुलने वाले परिचित, ब्रह्मलोक तक सभी आकाश स्थित देवता और सभी पृथक-जन दो पक्षों में बँट गये। यह कोलाहल अकनिष्ट भवन तक पहुँच गया।

तब एक भिक्षु ने तथागत के पास पहुँच निवेदन किया—उक्खेप करने वाले कहते हैं, 'धर्मानुसार उक्खेपकर्म किया' और उक्खेप-कर्म के विरोधी कहते हैं 'अधर्मानुसार उक्खेप-कर्म किया!' उक्खेप करने वाले के मना करने पर भी उक्खेप—विरोधी उससे मिलते जुलते हैं। भगवान् ने कहा—भिक्षुसंघ में भेद पैदा हो गया। उन्होंने उक्खेप करने वालों के उक्खेप करने में और आपत्ति न देखने वालों के आपत्ति न देखने में जो दुष्परिणाम होता है बताया और चले गये।

फिर वहीं एक सीमा में उनका उपोसथ-कर्म आदि करा, भोजन-शाला में एक-एक आसन बीच में छोड़ कर बैठने का नियम किया। फिर जब सुना कि अभी भी लड़ते झगड़ते फिरते हैं तो वहाँ जाकर कहा—"झगड़ा मत करो। कलह मत करो।" तब एक धर्मवादी भिक्षु जो चाहता था कि भगवान् को कष्ट न हो बोला—"भन्ते! भगवान्। धर्मस्वामी! आप देखें। भन्ते! भगवान्! आप चिन्ता छोड़ कर आराम से रहें। हम इस झगड़े को, इस कलह को, इस विग्रह को, इस विवाद को निपटा लेंगे।" तब शास्ता ने कहा—"भिक्षुओ! पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामका काशी-राजा हुआ···ब्रह्मदत्त ने दीघतिस्स कोशल राजा का राज्य छीन उसे अप्रकट रूप से घूमते समय मार डाला...दीघायुकुमार ने प्राण दान दिया·· तब से उनका मेल हो गया।" फिर—"भिक्षुओ! उन दण्डधारी शस्त्रधारी राजाओं की आपस में इस प्रकार क्षमा-मैत्री हो गई···भिक्षुओ! यहाँ यही शोभा देता है कि तुम इस प्रकार के स्पष्ट धर्म-विनय में प्रव्रजित हो कर क्षमा शील बनो, मैत्री-युक्त बनो।" फिर तीसरी बार भी "भिक्षुओ! झगड़ा मत करो" कह मना किया। जब देखा कि नहीं मानते तो यह सोचा कि

ये मूर्ख-जन अभिभूत हैं और इन्हें समझाना सुकर नहीं, लौट कर, अगले दिन पिण्डपात के बाद गन्ध-कुटी में थोड़ा विश्राम कर, शयनासन को व्यवस्थित कर, अपना पात्र-चीवर स्वयं ही ले, संघ के बीच में आकाश में खड़े होकर ये गाथायें कहीं—

पुथुसद्दो समजनो, न बालो कोचि मञ्ञथ,
संघस्मि भिज्जमानस्मि नाञ्ञं मिय्यो अमञ्ञरुं ॥१॥

[सभी जन बराबर हैं सभी हल्ला मचाते हैं। (अपने आपको) कोई मूर्ख स्वीकार नहीं करता। संघ में फूट पड़ने पर कोई किसी को (अपने से बढ़कर) नहीं मानता ॥१॥]

परिमुट्ठा पण्डिताभासा वाचा गोचरभाणिनो,
याव इच्छन्ति मुखायामं येन नीता न तं विदू ॥२॥

[मूढ, पण्डित-मानी, बुलक्कड़, जितना मुँह चौड़ा है उतना (बोलने की) इच्छा करने वाले उसे नहीं जानते हैं जो इन्हें झगड़े में ले जाता है ॥२॥]

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे,
ये तं उपनटहन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

[मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हरा दिया, मुझे लूट लिया—जो इसे मन में रखते हैं, उनका वैर शान्त नहीं होता ॥३॥]

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे,
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

[मुझे गाली दो, मुझे मारा, मुझे हराया, मुझे लूट लिया—जो इन बातों को मन में नहीं लेते हैं उनका वैर शान्त हो जाता है ॥४॥]

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं,
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥५॥

[बैर से कभी वैर शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है—यही सनातन नियम है ॥५॥]

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे,
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥६॥

[अन्य नहीं समझते हैं कि (एक दिन) उनका नाश होगा। जो समझते हैं वे मेधावीजन शान्त हो जाते हैं ॥६॥]

अट्ठिच्छिन्ना पाणहरा गवास्स धन हारिनो,
रट्ठं विलुम्पमानानं तेसंपि होति संगति,
कस्मा तुम्हाकं नो सिया ॥७॥

[जो हड्डी तोड़ देने वाले होते हैं, जो प्राणों का हरण कर लेते हैं, जो गऊ, घोड़े और धन चुरा लेते हैं और जो राष्ट्र लूट लेते हैं, उनका भी आपस में मेल हो जाता है। तब तुम्हारा क्यों न हो? ॥७॥]

सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिंचरं साधुविहारि धीरं,
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥८॥

[यदि ऐसा साथी मिले, जो बुद्धिमान हो, जो साधु हो और जो धैर्यवान हो तो बुद्धिमान आदमी को चाहिए कि सब बाधाओं को दबाकर उसके साथ प्रसन्नता पूर्वक रहे ॥८॥]

नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिंचरं साधुविहारि धीरं,
राजा व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग अरञ्ञेव नागो ॥९॥

[यदि ऐसा साथी न मिले, जो बुद्धिमान हो, जो साधु हो और जो धैर्यवान हो तो जिस प्रकार राजा अपने विजित राष्ट्र को छोड़ कर चला जाता है उस प्रकार आरण्य में मातङ्ग-हाथी की तरह अकेला ही रहे ॥८॥]

एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता,
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोसुक्को मातङ्ग अरञ्ञेव नागो ॥१०॥

[अकेला रहना अच्छा है, मूर्ख का साथ अच्छा नहीं। अकेला रहे। पाप न करे। आरण्य में मातङ्ग नाग की तरह अल्प-उत्सुक होकर (रहे) ॥१०॥]

शास्ता, ये सब कह कर भी उन भिक्षुओं का मेल नहीं करा सके। तब वे बालक-लोणकार ग्राम गये। वहाँ भगु स्थविर को एकता की महिमा बताई। वहाँ से तीन कुल-पुत्रों के निवास-स्थान पर जा मेल-मिलाप

के रस का बखान किया। वहाँ से पारिलेय्यक वन-खण्ड जा तीन महीने रह, फिर कोसम्बी न आ श्रवस्ती हीं चले गये। कोसम्बीवासी उपासकों ने भी 'ये आर्य्य कोसम्बीवासी भिक्षु हमारा बहुत अनर्थ करने वाले हैं, इन से तंग आकर भगवान् चले गये' सोचा, परस्पर परामर्श करके निश्चय किया—"हम न इनका आदर-सत्कार करेंगे, न आने पर भिक्षा देंगे। इस प्रकार या तो ये यहीं से चले जायेंगे, या गृहस्थ हो जायेंगे, या भगवान् को मनायेंगे।" भिक्षुओं ने इस दण्ड से कष्ट पा श्रावस्ती पहुँच भगवान से क्षमा मांगी।

शास्ता ने जातक का मेल बैठाया। पिता शुद्धोदन महाराज था। माता महामाया। दीघायुकुमार तो मैं ही था।

———

४२९. महासुक जातक

"दुमो यदा होति . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह शास्ता के पास कर्म-स्थान ले कोशल जनपद में एक प्रत्यन्त-ग्राम के समीप जंगल में रहने लगा। लोगों ने उस के लिये रात्री और दिन के योग्य स्थान तय्यार कर, आ जा सकने वाली जगह पर शयनासन बना, भली प्रकार सेवा की।

उसके वर्षावास के प्रथम महीने में ही उस गाँव में आग लग गई। मनुष्यों का बीज तक नहीं बचा। वे उसे अच्छा भोजन न दे सके। वह शयनासन के अनुकूल होने पर भी, आहार का कष्ट होने के कारण मार्ग या फल प्राप्त नहीं कर सका।

तीन महीने व्यतीत हो जाने पर जब वह शास्ता को प्रणाम करने के लिये आया शास्ता ने कुशल-क्षेम के बाद पूछा—"क्या भोजन का कष्ट रहने पर भी शयनासन तो अनुकूल था?" उसने वह हाल कहा। शास्ता ने जब जाना कि उसका शयनासन अनुकूल था तब बोले—"भिक्षु! श्रमण को चाहिये कि यदि-शयनासन अनुकूल हो तो लोभ का त्याग कर जो कुछ मिले खाकर सन्तुष्ट हो श्रमण धर्म करे। पुराने पण्डित-जन पशु योनी में पैदा होकर भी, अपने निवास-स्थान पर वृक्षों का चूर्ण खाकर भी, लोभ का त्याग कर सन्तुष्ट रह मैत्री-धर्म का पालन करते रहे। वे अन्यत्र नहीं गये। तूने क्यों भोजन के सीमित और रूखे होने के कारण ही अनुकूल शयनासन छोड़ा?" उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-समय की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में हिमालय में गङ्गा-तट पर एक गूलर के बन में अनेक

सहस्र तोते रहते थे। वहाँ एक शुकराज, जब उस वृक्ष के फल न रहते, जिसपर वह रहता था तो उसका जो बचता—चाहे अङ्कुर हो, चाहे पत्ता हो चाहे छाल हो, चाहे पपड़ी हो—वही खाकर और गङ्गा-जल पीकर पर अल्पेच्छ हो अन्यत्र कहीं न जाता। उसकी अल्पेच्छता और सन्तोष-गुण के कारण शक्र का भवन काँपा। शक्र ने ध्यान लगाकर जब यह बात जानी तो उसकी परीक्षा लेने के लिये उस वृक्ष को सुखा दिया। वृक्ष ठूँठ मात्र रह गया, छिद्रों से युक्त, वात के प्रहार सहता हुआ, ठोंगे मारा जाता हुआ उसके छिद्रों से आटा सा झरता था। शुकराज उस आटे को ही खा, गङ्गा-जल पी, अन्यत्र न जा, धूप 'हवा की परवाह न कर' गूलर के ठूँठ पर बैठता। शक्र ने उसका परं अल्पेच्छता-भाव जान निश्चय किया कि वह उससे मित्र-धर्म कहलाकर, उसे परं दे गूलर में अमृत-फल लगा आयेगा। वह स्वयं हंस-राजा बना। सुजा नाम की असुर कन्या को आगे-आगे कर उस गूलर के वन में पहुँच, पास ही एक वृक्ष की शाखा पर बैठ उससे बातचीत करते हुए पहली गाथा कही।

> दुमो यदा होति फलूपपन्नो
> भुञ्जन्ति नं विहगा सम्पतंता,
> खीणं ति ञत्वान दुमं फलच्चये
> दिसो दिसं यन्ति ततो विहङ्गमा॥१॥

[जब वृक्ष फल युक्त होता है तो (एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने वाले) पक्षी उन्हें खाते हैं। जब फलों के न रहने पर फल-रहित समझते हैं, तो वे पक्षी नाना दिशाओं को चले जाते हैं ॥१॥]

यह कह उसे और अधिक प्रेरणा करने के लिये दूसरी गाथा कही—

> चर चारिकं लोहिततुन्ड मा्चरि
> किं त्वं सुव सुक्ख दुमम्हि झायसि,
> तद् इंघ मं ब्रूहि वसन्तसन्निभ
> कस्मा सुव सुक्ख दुमं न रिञ्चसि॥२॥

[हे रक्तवर्ण चोंच वाले! घूम फिर। हे सुव! तू उस सूखे वृक्ष पर बैठा क्या ध्यान करता है? हे वसन्तोपम! मुझे बता कि तू इस सूखे वृक्ष को क्यों नहीं छोड़ता है? ॥२॥]

तब शुकराज ने उसे 'हंस ! मैं अपनी कृतज्ञता के कारण इस वृक्ष को नहीं छोड़ता हूँ' कह दो गाथायें कहीं—

ये वे सखीनं सखारो भवन्ति
पाणच्चये सुक्ख दुक्खेसु हंस,
खीणं अक्खीणं ति न तं जहन्ति
सन्तो सतं धम्मं अनुस्सरंता ॥३॥

[हे हंस ! जो मित्रों के मित्र होते हैं, वे प्राण-नाश के समय, सुख-दुःख में, क्षीण हो चाहें अक्षीण, सत्पुरुषों के अर्थ को याद करने वाले संतपुरुष उस मित्र को नहीं छोड़ते हैं ॥३॥]

सोहं सतं अञ्ञतरोस्मि हंस
ञाति च मे होति सखा च रुसखो,
तं न उरसहे जीविकत्थो पहातुं
खीणं ति ञत्वान, न हेस धम्मो ॥४॥

[हे हंस ! मैं उन सत्पुरुषों में से एक हूँ। यह वृक्ष मेरा रिशतेदार है और मित्र है। मैं जीविका के लिये इसे क्षीण समझ कर नहीं छोड़ सकता—यह धर्म नहीं है ॥४॥]

शक्र ने उसकी बात सुन, सन्तुष्ट हो, प्रशंसा कर वर देने के लिये दो गाथायें कहीं—

साधु संक्खि कतं होति मेत्ति संसति संथवो,
सचेतं धम्मं रोचेसि पासं सोसि विजानतं ॥५॥

[परिषद में सखा भाव, मैत्री तथा मित्रता करना अच्छा होता है। यदि तुझे यह (मैत्री-) धर्म अच्छा लगता है तो तू ज्ञानियों द्वारा प्रशंसनीय है ॥५॥]

सो ते सुव वरं दम्मि पत्तयान विहङ्गम,
वरं वरस्सु वक्कङ्ग यं किञ्चि मनसा इच्छसि ॥६॥

[हे तोते ! हे पक्षी ! हे आकाश-चारी। मैं तुझे वर देता हूँ। हे बक्र-अङ्ग ! जो मन में इच्छा करता है सो माँग ॥६॥]

यह सुन शुक्रराज ने वर मांगते हुए सातवीं गाथा कही—

[शुक-राज को वर दे, वृक्ष को सफल बनाया। वह भार्य्या के साथ देवताओं के नन्दन वन गया ॥१०॥]

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, "इस प्रकार भिक्षु! पुराने पण्डित पशु-योनि में पैदा होकर भी निर्लोभी हुए। तू क्यों इस प्रकार के शासन में प्रव्रजित होकर लोभ करता है? जा वहीं रह" कह, उसे कर्मस्थान दे, जातक का मेल बैठाया। वह भिक्षु वहाँ जा विपश्यना का अभ्यास कर अर्हत हुआ। उस समय शक्र अनुरुद्ध था। शुक-राज तो मैं ही था।

---

४३०. चुल्लसुक जातक

"सन्ति रुक्खा..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय वेरञ्जकण्ड के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

जब शास्ता वेरञ्जा में वर्षावास करके क्रमशः श्रावस्ती पहुँचे, तो भिक्षुओं ने धर्मसभा में बातचीत चलाई—'आयुष्मानो ! तथागत क्षत्रिय-सुकुमार हैं, बुद्ध-सुकुमार हैं। महान् ऋद्धियों से युक्त हैं। तो भी वेरञ्ज ब्राह्मण द्वारा निमन्त्रित होने पर तीन मास तक (उसके यहाँ) रहते हुये मार के प्रभाव से उसके पास से एक दिन भी भिक्षा न मिलने पर भी निर्लोभी रह, पथ्य-मूल, आटे-जल से काम चलाया और अन्यत्र नहीं गये। ओह ! तथागतों की अल्पेच्छता और सन्तोष का भाव !" शास्ता ने आकर पूछा—भिक्षुओ ! बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ? 'अमुक बातचीत' कहने पर 'भिक्षुओ ! इस समय यदि तथागत निर्लोभी रहे तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं। तथागत पूर्व जन्म में पशु योनि में उत्पन्न होकर भी निर्लोभी रहे' कह पूर्व-जन्म की कथा कही। सब पूर्वोक्तानुसार ही विस्तार से कही जानी चाहिये--

सन्ति रुक्खा हरितपत्ता दुमा नेकफला बहू,
कस्मा नु सुक्खे कोलापे सुकस्स निरतो मनो ॥१॥

[बहुत से हरे; अनेक फलों वाले वृक्षों के रहते हुये भी इस सूखे पत्तों वाले वृक्ष में शुकराज का मन क्यों रत है ? ॥१॥]

फलस्स उपभुञ्जिम्ह नेकवस्सगणे बहू,
अफलं पि विदित्वान साव मेत्ति यथा पुरे ॥२॥

[अनेक वर्षों तक इसके फल खाये। यह जान कर भी कि यह फल-रहित है, मेरी उसके प्रति वैसी ही मैत्री है जैसी पहले थी ॥२॥]

सुक्खं च रुक्खं कोलापं ओपत्तं अफलं दुमं,
ओहाय सकुणा यन्ति, किं दोसं पस्ससे दिज ॥३॥

[वृक्ष सूख गया है। पत्ते गिर पड़े हैं। द्रुम फलरहित हैं। दूसरे पक्षी (वृक्ष) छोड़ अन्यत्र जाते हैं। हे द्विज! तू इसमें क्या दोष समझता हैं? ॥३॥]

ये फलट्ठा संभजन्ति अफलोति जहन्ति नं,
अत्तट्ठपञ्ञा दुम्मेधा ते होन्ति पक्खपातिनो ॥४ ॥

[जो फल के लिये ही रहते हैं और फल न रहने पर छोड़ कर चल देते हैं वे दुर्बुद्धि आत्मार्थी पक्षपाती होते हैं ॥४॥]

साधु सक्खि कतं होति मित्तं संसति सन्थवो,
सचेतं धम्मं रोचेसि पासंसोसि विजानतं ॥५॥

[परिषद में सखा-भाव, मैत्री तथा मित्रता करना अच्छा होता है। यदि तुझे यह (मैत्री-) धर्म अच्छा लगता है तो तू ज्ञानियों द्वारा प्रशंसनीय है ॥५॥]

सो ते सुव वरं दम्मि पत्तयान विहङ्गम,
वरं वरस्सु वक्कघं यं किञ्चि मनसिच्छसि ॥६॥

[हे तोते! हे पक्षी! हे आकाश-चारी! मैं तुझे वर देता हूँ। हे वक्राङ्ग! जो मनमें इच्छा करता है, सो मांग ॥६॥]

अपि नाम नं पस्सेमु सपत्तं सफलं दुमं,
दलिद्दोव निधिं लद्धा नन्देय्याहं पुनप्पुनं ॥७॥

[मैं उस वृक्ष को पत्तों और फलों से युक्त देखूं। मैं बार-बार ऐसे प्रसन्न होऊं जैसे कोई भी दरिद्र खजाना प्राप्त करके होता है ॥७॥]

ततो अमतमादाय अभिसिञ्चि महीरुहं,
तस्स साखा विरूहिंसु सीतच्छाया मनोरमा ॥८॥

[तब (उसने) अमृत लेकर वृक्ष पर छिड़क दिया। उस की सुन्दर शीतल छाया वाली शाखायें फूट निकलीं ॥८॥]

एवं सक्क सुखी होहि सह सब्बेहि ञातिभि,
यथाहं अज्ज सुखितो दिस्वान सफलं दुमं ॥९॥

[हे शक्र ! जिस प्रकार आज फलदार वृक्ष को देख कर मैं सुखी हुआ हूँ, उसी प्रकार सब रिशतेदारों के साथ तू भी सुखी हो ॥९॥]

सुवस्स च र दत्वा, कत्वान वरं सफलं दुमं,
पक्वामि सह भरियाय, देवानं नन्दनं वनं ॥१०॥

[शुक-राजा को वर दे, वृक्ष को सफल बनाया। वह भार्य्या सहित देवताओं के नन्दन वन गया ॥१०॥]

शास्ता ने यह देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय शक्र अनुरुद्ध था। शुक-राज तो मैं ही था।

---

४३१. हारित जातक

"सुतं मेतं महाब्रह्मे······" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस भिक्षु को जो एक अलंकृत स्त्री को देखकर उद्विग्न-चित्त हो गया था, जिसके रोम, केश तथा नाखून बढ़ गये थे, जो गृहस्थ हो जाना चाहता था, आचार्य्य-उपाध्याय अनिच्छा-पूर्वक शास्ता के पास ले गये।

शास्ता ने पूछा—क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है? "भन्ते! सचमुच"

"किस कारण?"

"भन्ते! अलंकृत-स्त्री को देखकर कामुकता के कारण।"

"भिक्षु! कामुकता गुणों को नष्ट करनेवाली होती है। कामुकता में अल्प-स्वाद है। कामुकता नरक में जा गिराती है। यह कामुकता तुझे ही क्यों कष्ट न देगी? सुमेरु पर्वत पर चोट कर सकने वाली वायु को पुराने पत्ते के सामने संकोच नहीं होता। इस कामुकता के कारण बोधिज्ञान के आनुसार चलने वाले, पाँच अभिञ्जा तथा आठ समापत्तियाँ प्राप्त विशुद्ध सत्पुरुष भी अपनी स्मृति को संभाल कर नहीं रख सके। उनका ध्यान-बल जाता रहा।" इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व एक निगम में अस्सी करोड़ धन वाले ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। कञ्चन-वर्ण छवि होने से उसका नाम हरित-त्वच कुमार रखा गया। बड़े होने पर, तक्षशिला जो शिल्प सीख (लौट कर) कुटुम्ब का पालन किया। फिर माता-पिता के मरने पर उसने धन की ओर देख कर सोचा—धन ही दिखाई देता है—किन्तु धन

उत्पन्न करने वाले नहीं दिखाई देते हैं। मैं भी मरण-मुख में जा चूर्ण-विचूर्ण हो जाऊँगा। इस प्रकार मृत्यु से भयभीत हो उसने महादान दिया और जंगल चला गया। वहाँ प्रव्रजित हो सातवें दिन अभिञ्जा और समापत्तियाँ प्राप्त की। चिरकाल तक बन-मूल फल से गुजारा कर, निमक-खटाई खाने के लिये पर्वत से उतर क्रमशः वाराणसी आया। राजोद्यान में रह अगले दिन वाराणसी में भिक्षार्थ घूमते-घूमते राज-द्वार पहुंचा।

राजा ने उसे देख, प्रसन्न हो बुला कर श्वेत-छत्र के नीचे राज-सिंहासन पर बिठाया। फिर भोजन करा, दानानुमोदन से और भी अधिक प्रसन्न हो पूछा—भन्ते? कहाँ जा रहे हैं?

"महाराज! वर्षावास की जगह खोज रहे हैं।"

"भन्ते! अच्छा" कह वह उन्हें लेकर उद्यान गया। उनके लिये रात्रि-स्थान तथा दिवा-स्थान बनवाये। (फिर) उद्यान-पाल को उनकी सेवा में रहने का आदेश दे, प्रणाम कर निकला। उस दिन से लगातार बारह वर्ष तक भोजन करते हुए वह वहाँ रहा।

एक दिन राजा ने बागी प्रत्यन्त-देश को शान्त करने के लिये जाते समय बोधिसत्व को देवी को सौंपते हुए कहा—"हमारे पुण्य-क्षेत्र के प्रति प्रमाद न करना।" "तब से वह बोधिसत्व को अपने हाथ से परोसने लगी। एक दिन भोजन की तय्यारी के बाद बोधिसत्व को देर करते देख, सुगन्धित जल से स्नान कर, चिकना रेशमी-वस्त्र पहन, खिड़की खोल, शरीर में हवा खाती हुई छोटी खाट पर बैठी। बोधिसत्व भी थोड़ा अधिक दिन होने पर अच्छी तरह से वस्त्र पहन, भिक्षा-पात्र ले, आकाश से आ खिड़की पर उतरे। देवी ने जब उसके वल्कल चीर का शब्द सुना तो वह घबरा कर उठी। उसका रेशमी-वस्त्र खिसक गया। प्रति-कूल-आलम्बन ने बोधिसत्व की आँख पर चोट की। अनेक करोड़-लाख वर्षों से उसका जो राग शान्त था वह पिटारी के सर्प की तरह उठा। उसका ध्यान-बल जाता रहा। वह स्मृति को ठिकाने न रख सका और जाकर देवी को हाथ से धरा। उसी समय कनात तान दी गई। उसने उसके साथ लोक-धम का सेवन किया। फिर भोजन कर उद्यान गया। उसके बाद रोज वही करता। उसका उसके साथ लोक-धर्म सेवन करना सारे नगर में प्रसिद्ध हो गया।

अमात्यों ने राजा के पास सन्देश भेजा—हारिततपस्वी ने ऐसा किया। राजा ने सोचा मेरा मन खट्टा करने के लिये ऐसा कहते हैं। उसने विश्वास नहीं किया। प्रत्यन्त-देश को शान्त करने के बाद जब राजा वाराणसी पहुँचा तो वह नगर की प्रदक्षिणा करने के बाद देवी के पास गया और पूछा—क्या सचमुच मेरे आर्य हारिततपस्वी ने तेरे साथ लोक-धर्म का सेवन किया ?

"देव ! सचमुच।"

उसने उसका भी विश्वास न कर सोचा—उसी से पूछूंगा। उद्यान जा, प्रणाम कर, एक ओर बैठ वह बात पूछते हुए पहली गाथा कही—

सुतं मेतं महाब्रह्मे. कामे भुञ्जति हारितो,
कच्चेतं वचनं तुच्छं, कच्चि सुद्धो इरीयसि ॥१॥

[हे महाब्रह्म ! सुना है कि हारित कामोपभोग करता है। क्या यह कथन झूठ है ? क्या तू शुद्ध विहार करता है ? ॥१॥]

उसने सोचा—यदि मैं यह कहूँ कि मैं कामोपभोग नहीं करता हूँ तो भी मुझ पर विश्वास करेगा। लेकिन इस लोक में सत्य के समान प्रतिष्ठा नहीं है। जो सत्य से उखड़ जाते हैं वे बोधि (-वृक्ष) के नीचे बैठ बुद्धत्व नहीं प्राप्त कर सकते। मुझे सत्य ही कहना चाहिये। बोधिसत्व भी कहीं-कहीं हिंसा, चोरी, व्यभिचार तथा सुरा-पान करते ही हैं किन्तु अनर्थ-कारी असत्यभाषण कभी नहीं करते। इसलिये बोधिसत्व ने सत्यभाषण ही करते हुए दूसरी गाथा कही—

एवमेतं महाराज यथा ये वचनं सुतं,
कुमग्गे पटिपन्नेस्मि मोहनेय्येसु मुच्छितो ॥२॥

[महाराज ! जैसा तुमने सुना है, ऐसा ही है। मैं काम-भोगों में मूर्छित होकर कुमार्ग-गामी हुआ ॥२॥]

यह सुन राजा ने तीसरी गाथा कही—

आदु पञ्ञा किमत्थिका निपुणा साधुचिन्तनी,
याव उप्पतितं रागं किम्मनो न विनोदये ॥३॥

[तो साधुचिन्तन करने वाली, निपुण प्रज्ञा का क्या प्रयोजन है ? क्या वह उत्पन्न राग का दमन नहीं कर सकती ? ॥३॥]

तब हारित ने राग-बल दिखाते हुए चौथी गाथा कही—

चत्तारो मे महाराज लोके अतिबला भुसा,
रागो दोसो मदो मोहो यत्थ पञ्ञा न गाधति ॥४॥

[महाराज ! लोक में यह चार बहुत ही अधिक बलवान् है —राग, द्वेष, मद तथा मोह । यहाँ प्रज्ञा पार नहीं पा सकती ॥४॥]

यह सुन राजा ने पाँचवीं गाथा कही—

अरहं सीलसम्पन्नो सुद्धो चरति हारितो,
मेधावी पण्डितो चेव इति नो सम्मतो भवं ॥५॥

[आप के बारे में हम यह मानते रहे हैं कि हारित अर्हत है, शील-सम्पन्न है, शुद्धाचारी है, मेधावी है तथा पण्डित है ॥५॥]

तब हारित ने छठी गाथा कही—

मेधाविनं पि हिंसन्ति इसिं धम्मगुणे
वितक्का पापका राज सुभा रागुपसंहितारतं ॥६॥

[महाराज ! आकर्षक, राग युक्त पापी वितर्क धर्म्म में रत मेधावी पुरुष को भी हानि पहुंचा ही देते हैं ॥६॥]

फिर उसे राग-क्षय के लिये उत्साहित करते हुए राजा ने सातवीं गाथा कही—

ऊप्पन्नायं सरीरजो
रागो वण्णविदूसनो तव,
तं पजह, भद्दं अत्थु ते
बहुन्नासि मेधावी सम्मतो ॥७॥

[यह तुम्हारे शरीर से वर्ण-विनाशक राग उत्पन्न हुआ है। तुम्हारा कल्याण हो, इसे छोड़ो। तुम्हें बहुत लोग मेधावी समझते हैं ॥७॥]

तब बोधिसत्व ने स्मृति प्राप्त कर काम-भोग्यों में दुष्परिणाम देख आठवीं गाथा कही—

ते अन्धकरणे कामे बहुदुक्खे महाविसे,
तेसं मूलं गवेसिस्सं, छेच्छं रागं सबन्धनं ॥८॥

[काम-भोग अन्धा बना देने वाले हैं, दु:ख-दायी हैं, महा-विषैले हैं। मैं उन के मूल (कारण) का पता लगाऊँगा, और बन्धन-सहित राग को नष्ट करूँगा ॥८॥]

यह कह "महाराज ! मुझे आज्ञा दें" कहा। फिर आज्ञा ले, पर्ण-शाला में प्रवेश कर, कसिन-मण्डल की भावना कर पुनः ध्यान-बल प्राप्त किया। पर्णशाला से निकल, आकाश में पालथी मार बैठ, राजा को धर्मोपदेश दिया—महाराज ! मैं यहाँ कहे गये कारण से जनता में निन्दित हुआ। अप्रमादी हों। अब मैं ऐसे ही वन-खण्ड में जाकर रहूँगा जहाँ स्त्री की गन्ध भी न पहुंचे। राजा रोता-पीटता ही रह गया। वह हिमालय पहुंच, ध्यान-युक्त हो ब्रह्म-लोक-गामी हुआ।

शास्ता ने यह जान कहा—

इदं वत्वान हारितो इसि सच्चपरक्कमो,
कामं रागं विराजेत्वा ब्रह्मलोकूपगो अहू ॥

(यह कह हारित ऋषि ने सत्य-पराक्रम किया और काम-राग को नष्ट कर ब्रह्मलोक गामी हुआ।)

अभिसम्बुद्ध होने पर यह गाथा कह, सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। सत्य के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय राजा आनन्द था। हारित तो मैं ही था।

---

४३२. पदकुसल माणव जातक

"बहुस्सुतं···" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक बालक के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह श्रावस्ती के एक गृहस्थ का पुत्र सात वर्ष की अवस्था में ही पद-चिह्न पहचानने में कुशल था। उसका पिता उसकी परीक्षा लेने के लिये बिना उसे सूचना दिये मित्र के घर चला गया। वह बिना यह पूछे कि पिता कहाँ गया, उसके पद चिह्न के अनुसार जाकर पिता के पास खड़ा हो गया। एक दिन पिता ने पूछा—"तात ! मेरे बिना बताये जाने पर भी तू कैसे जान गया कि मैं अमुक जगह गया हूँ ?"

"तात ! मैं तेरे पद-चिह्न पहचानता हूँ, पद-चिह्न पहचानने में मैं कुशल हूँ।"

पिता (फिर) उसकी परीक्षा लेने के लिये, प्रातःकाल का भोजन कर चुकने पर, घर से निकल, बाद के पड़ोसी-घर में पहुँचा। फिर दूसरे में जा, तृतीय घर से निकल, फिर अपने घर-द्वार पर आ, वहाँ से उत्तर-द्वार जा, द्वार से निकल, नगर की बाईं ओर कर जेतवन गया। वहाँ शास्ता को प्रणाम कर, बैठ कर, धर्म सुनने लगा। बालक ने पूछा—"मेरा पिता कहाँ है ?" उत्तर मिला—"नहीं जानते हैं।" वह उसके पद-चिह्नों का अनुकरण कर बाद वाले पड़ौसी के घर जा . . . पिता जिस-जिस जगह और जिस-जिस मार्ग से गया था उसी से जेतवन पहुँच,. शास्ता को प्रणाम कर पिता के पास खड़ा हुआ। पिता ने पूछा—"तात ! कैसे जान गया कि मैं यहाँ हूँ ?" बोला—"पद-चिह्नों को पहचान कर, पद-चिह्नों के अनुसार आया हूँ।" शास्ता ने पूछा—उपासक ! क्या कहता है ? "भन्ते ! यह बालक पद-चिह्न पहचानने में कुशल है। मैं इसकी परीक्षा करने के लिये इस इस रास्ते से आया। यह भी मुझे घर पर न देख मेरे पद-चिह्नों के अनुसार आया।"

"उपासक! पृथ्वी पर लगे पद चिह्न पहचानने में कुछ आश्चर्य्यंकर नहीं है। पुराने पण्डितों ने तो आकाश में लगे पद-चिह्न पहचान लिये।" उनके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसकी पटरानी ने अनाचार किया। जब राजा ने पूछा; तो उसने शपथ खाई—"यदि मैं आपके प्रति अनाचार करूँ तो आँसुओं वाली यक्षिणी होकर पैदा होऊँ।" वह मरने पर एक पर्वत-प्रदेश में आंसुओं वाली यक्षिणी होकर पैदा हुई। वह गुफा में रहती थी और महान् जंगल में पूर्व से पश्चिम आने जाने वाले आदमियों को पकड़ कर खाती थी। उसने तीन वर्ष कुबेर की सेवा की थी, जिससे उसे तीन योजन चौड़े और पाँच योजन लम्बे प्रदेश में के मनुष्यों को खाने का अधिकार मिला था।

एक दिन एक सम्पत्तिशाली, महाधनवान् सुन्दर ब्राह्मण बहुत से मनुष्यों के साथ उस रास्ते जा रहा था। उसे देख यक्षिणी हँस कर झपटी। साथ के आदमी भाग गये। उसने वायु-वेग से ब्राह्मण को पकड़ लिया। जब वह उसे अपनी पीठ पर उठाये गुफा में लिये जा रही थी तो पुरुष-स्पर्श से उसके मन में राग पैदा हो गया। उसने स्नेह के कारण उसे न खा अपना स्वामी बनाया। वे परस्पर मेल से रहने लगे।

तब से वह यक्षिणी जब मनुष्यों को पकड़ती तो उनके वस्त्र, चावल, तेल आदि भी ले, उसके लिये नाना प्रकार के बढ़िया भोजन तैय्यार कर, स्वयं मनुष्य-माँस खाती। जाते समय इस डर से कि कहीं वह भाग न जाय, बड़ी भारी शिला से गुफा का द्वार बन्द करके जाती।

इस प्रकार उनके प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए बोधिसत्व अपने उत्पन्न-स्थान से मर, उस ब्राह्मण से उस यक्षिणी की कोख में आये। दस मास के बाद उसने पुत्र को जन्म दिया और पुत्र तथा स्वामी दोनों के प्रति अति-स्नेह होने के कारण दोनों का पालन करने लगी। आगे चलकर जब पुत्र बड़ा हुआ तो उसे भी पिता के साथ गुफा के अन्दर बन्द कर द्वार ढक देती।

एक दिन बोधिसत्व ने जब यह जाना कि वह गई हुई है, शिला को हटा कर पिता को बाहर निकाला। उसने आकर पूछा--शिला किसने हटाई ?

"माँ मैंने हटाई। अन्धेरे में बैठा नहीं जाता।"

वह पुत्र-स्नेह के कारण कुछ न कह सकी।

एक दिन बोधिसत्व ने पिता से पूछा—"तात ! मेरी माँ की शकल और तरह की है, तुम्हारी शकल और तरह की है। क्या कारण है ?"

"तात ! तेरी माँ मनुष्य का माँस खाने वाली यक्षिणी है, हम दोनों मनुष्य हैं।"

"यदि ऐसा है, तो यहाँ क्यों रहें ? आ मनुष्यों की बस्ती में चलें।"

"तात ! यदि हम भागेंगे तो हम दोनों को तेरी माँ मार डालेगी।"

बोधिसत्व ने आश्वासन दिया—"तात ! मत डरें। तुम्हें मनुष्यों की बस्ती में पहुंचाने की मेरी जिम्मेवारी है।" अगले दिन जब माँ गई, वह पिता को लेकर भाग गया। यक्षिणी ने आकर जब उन्हें नहीं देखा तो वायु वेग से झपट कर उन्हें पकड़ा—"ब्राह्मण ! क्यों भाग रहा है ? यहाँ तुझे क्या नहीं मिलता ?"

"भद्रे ! मुझ पर क्रुद्ध न हो, तेरा पुत्र मुझे लिये भागा जा रहा है।" उसने पुत्र-स्नेह के कारण कुछ न कहा। उन्हें आश्वासन दे अपने निवास-स्थान पर ले गई। इस प्रकार कई दिन भागने पर लौटा लाई। बोधिसत्व ने सोचा—मेरी माँ की एक निश्चित सीमा होनी चाहिए। मैं इससे पूछूँ कि इसकी आज्ञा कहाँ तक चलती है ? उस सीमा को लाँघ कर भाग जावेंगे। उसने एक दिन माता के साथ एक ओर बैठ, पूछा—"माँ ! माता की सम्पत्ति पुत्र की होती है। मुझे अपने अधिकार की भूमि की सीमा बता।" उसने सब दिशाओं में पर्वत आदि चिह्न बताकर तीस योजन लम्बी और पाँच योजन चौड़ी भूमि को कहा—"पुत्र ! इतना स्थान समझ।" दो-तीन दिन बिता जब माता जंगल गई थी उसने पिता को कन्धे पर बिठाया और माता ने जो चिह्न बताये थे, वायु-वेग से दौड़ उस सीमा को लाँघा। (इस प्रकार) वह सीमा के पार की नदी के किनारे पर पहुँचा। वह भी जब आई और उन्हें नहीं देखा तो उसने पीछा किया। बोधिसत्व पिता को

ले नदी के बीच में पहुँच गये। उसने आ नदी के तीर पर पहुँच जब देखा कि वे उसकी सीमा को लाँघ गये हैं तो उसने वहीं खड़े हो याचना की—"तात? पिता को ले आ, मेरा क्या अपराध है? वह कौन सी चीज है जो मुझ से तुम्हें नहीं मिलती थी?" ब्राह्मण नदी पार कर गया। उसने पुत्र से ही प्रार्थना की—"तात! ऐसा न कर। लौट आ।"

"माँ! हम मनुष्य हैं। तू यक्षिणी है। हम तेरे पास सदा नहीं रह सकते।"

"तात! नहीं ही लौटेगा!"

"यदि नहीं लौटेगा—मनुष्य-लोक में जीवन कष्टकर होता है। जो शिल्प नहीं जानता वह जीवन-यापन नहीं कर सकता। मैं एक चिन्तामणि नामक विद्या जानती हूँ। उसके प्रताप से बारह वर्ष पहले गये मनुष्य के पद-चिह्नों का भी अनुसरण किया जा सकता है। यह तेरी जीविका होगी। तात! यह अमूल्य-मन्त्र ले।"

उसने वैसे दुःख से अभिभूत रहते हुए भी पुत्र-स्नेह के कारण मन्त्र दिया। बोधिसत्व ने नदी के किनारे ही खड़े रह माता को प्रणाम कर हत्थ-कच्छुआ बना मन्त्र ग्रहण किया। फिर माता को नमस्कार कर कहा—"माँ! जा।"

"तात! तुम नहीं लौटते तो मैं जीवित नहीं रह सकती" कह यक्षिणी ने छाती पीट ली। पुत्र-शोक से उसी समय उसका हृदय फट गया। वह मरकर वहीं गिरी। बोधिसत्व ने जब जाना कि वह मर गई तो पिता को बुलाकर, माँ के पास पहुँच, चिता बनाई और जला कर आग बुझाई। फिर नाना प्रकार के पुष्पों से पूजा कर, रो-पीटकर, पिता को ले वाराणसी पहुँचा। वहाँ राजा को सूचना भिजवाई—पदकुसल-माणवक द्वार पर खड़ा है। राजा बोला—"चला आये।" तब वहाँ जा, प्रणाम किया। जब राजा ने पूछा कि तू कौन सा शिल्प जानता है तो उत्तर दिया—"देव! बारह वर्ष पूर्व ले गये सामान के पद-चिह्नों का अनुसरण कर (वापिस) लाना जानता हूँ।"

"तो मेरी सेवा में रह।"

"प्रति दिन हजार मिलेंगे तो सेवा में रहूँगा।

"अच्छा तात ! रह ।" वह उसे रोज हजार दिलवाता था ।

एक दिन पुरोहित राजा से बोला—"महाराज ! क्योंकि उस माणवक ने अपने शिल्प के प्रताप से कुछ किया नहीं है, इसलिये हम नहीं जानते कि उसमें शिल्प है वा नहीं ? उसकी परीक्षा लेंगे ।"

राजा ने 'अच्छा' कह नाना प्रकार के रतनों की रखवाली करने वाले दोनों जनों को इशारा किया । वे बढ़िया-बढ़िया रतन ले, प्रासाद से उतर, राजा के महल में तीन बार चक्कर काट कर, सीढ़ी लगा, प्राकार से बाहर उतरे । वहाँ विनिश्चय-शाला में पहुँच, बैठ, फिर सीढ़ी लगाकर प्राकार के ऊपर से उतरे और नगर के अन्दर पुष्करिणी के किनारे पहुँच उसकी तीन बार प्रदक्षिणा की । फिर अन्दर उतर पुष्करिणी में माल छिपा प्रासाद पर चढ़े । अगले दिन हल्ला हो गया कि राज-महल के रतन चोरी चले गये । राजा ने अज्ञानी बन बोधिसत्व को बुला कर कहा—"तात ! राज महल से बहुत से रतन चोरी हो गये । पता लगाना चाहिये ।"

"महाराज ! बारह वर्ष पूर्व चोरी गये माल को भी चोरों के पद-चिह्नों का अनुसरण कर ला सकने वाले मेरे लिये यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है कि आज रात चोरी गये सामान का पता लगाऊँ । मैं ले आऊँगा । आप चिन्ता न करें ।"

"तो तात ! ला ।"

उसने "अच्छा देव !" कह जा माता को प्रणाम कर मन्त्र का जाप किया । फिर महान् तल्ले पर खड़े होकर बोला—"तात ! दो चोरों का पद-चिह्न प्रतीत होता है ।" वह राजा और पुरोहित के पद-चिह्नों के अनुसार श्री-भवन में गया । वहाँ से निकल, राजमहल के तीन चक्कर काट, पद-चिह्नों के अनुसार ही प्राकार के समीप जा, वहाँ खड़े हो बोला—"महाराज ! इस जगह प्राकार से हट कर पद-चिह्न आकाश में दिखाई देते हैं । सीढ़ी दें ।" उसने सीढ़ी लगवा, प्राकार के ऊपर से उतर, पद-चिह्नों के अनुसार ही विनिश्चय-शाला जा, फिर राजमहल आया । सीढ़ी लगवा, प्राकार के ऊपर से उतर पुष्करिणी पर पहुँचा । तीन बार उसकी प्रदक्षिणा कर कहा—"महाराज ! चोर इस पुष्करिणी में उतरे हैं ।" फिर स्वयं ले जाकर रखे हुये सामान की तरह उस सामान को ला राजा को दिया । और कहा—

"महाराज ! ये दो प्रसिद्ध महाचोर हैं। इस रास्ते से राज-महल में चढ़ गये हैं।" जनता ने प्रसन्न हो अंगुलियाँ चटखाईं, वस्त्र उच्छाले।

राजा ने सोचा—ऐसा लगता है कि यह माणवक चोरों के पद-चिह्नों का अनुसरण कर चोरों के माल रखने की जगह ही जान सकता है, चोरों को नहीं पकड़ सकता है। वह बोला—"अभी तूने चोर जो सामान ले गये वही लाकर दिया, चोरों को पकड़ लाकर दे सकेगा ?"

"महाराज ! चोर यही हैं, दूर नहीं हैं।"

"कौन-कौन हैं ?"

"महाराज ! जो चाहता है वह चोर हो जाता है। लेकिन जब से तुम्हारा सामान मिल गया, तब से चोरों से क्या मतलब ? मत पूछें।"

"तात ! मैं तुम्हें रोज एक सहस्र देता हूँ। मुझे चोर पकड़ कर दें।"

"महाराज ! धन मिल गया तो चोरों से क्या ?"

"तात ! धन से भी अधिक हमें चोर चाहिए।"

"तो महाराज ! ये चोर हैं, मैं तुम्हें ऐसा न कहूँगा। पूर्व-कालीन घटित घटना सुनाऊँगा। यदि आप प्रज्ञावान् हैं तो उससे समझें।"

ऐसा कह पूर्व की बात कही—

"महाराज ! पूर्व समय में वाराणसी से थोड़ी ही दूर पर नदी तीर के गाँव में पाटल नाम का एक नट रहता था। वह एक दिन भार्य्या को ले वाराणसी पहुँचा। वहाँ नाच गा, धन कमा, उत्सव की समाप्ति कर बहुत सी सुरा और भात लिवा अपने गाँव की ओर चला। नदी के किनारे पर पहुँचा तो नवीन-जल आता देख, सुरा पी बैठा। फिर मस्त हो, अपने बल को न जान, गर्दन में महावीणा बाँध नदी को तैरने के लिये तैय्यार हुआ। उसने भार्य्या को हाथ से पकड़ा और नदी में उतरा। वीणा के छिद्रों में पानी घुस गया। वह वीणा उसे पानी में डुबाने लगी। भार्य्या ने जब उसे डूबते देखा तो वह तैर कर किनारे पर जा खड़ी हुई। नट पाटल एक बार डूबता, एक बार उतराता। पानी पीने से उसका पेट फूल गया। उसकी भार्य्या ने सोचा—"अब मेरा स्वामी मरेगा। इससे एक गीत की याचना कर, उसे लोगों को सुना जीविका चलाऊँगी।" वह बोली—"स्वामी ! आप पानी में डूब रहे हैं। मुझे एक गीत दें जिससे जीविका चलाऊँगी।" उसने यह गाथा कही—

बहुस्सुतं चित्तकथिं गङ्गा वहति पाटलं,
वुय्हमानक भद्दन्ते, एकं मे गाहि गाथकं॥

[गङ्गा बहुश्रुत, विचित्र-कथिक पाटल को बहाये लिये जाती है। हे बहे जाते हुये ! तुम्हारा भला हो, मुझे एक छोटी गाथा कहें।]

नट-पाटल बोला—"भद्रे ! मैं तुझे गीत कैसे दूँ ? इस समय मुझे जनता का कल्याण करने वाला जल ही मारे डाल रहा है।" कहा—

येन सिञ्चन्ति दुक्खितं येन सिञ्चन्ति आतुरं,
तस्स मज्झे मरिस्सामि, जातं सरणतो भयं॥

[जिस (जल) से दुखिया को सींचते हैं, जिससे पीड़ित को सींचते हैं, मैं उसी (जल) के बीच में मर रहा हूँ। मुझे शरण-स्थान से ही भय पैदा हो गया।]

बोधिसत्व ने यह गाथा सुना "महाराज ! जैसे जल जनता की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा भी। यदि वही भय का कारण हो जाये तो कौन रक्षा करेगा ?" कह—"महाराज ? यह बात छिपी है, लेकिन मैंने उसे पंडित के समझने लायक करके कहा है। महाराज ! समझें" कहा। "तात ! मैं इस प्रकार की भी छिपी बात नहीं समझता, मुझे चोर पकड़ कर दे।"

"तो महाराज ! यह सुनकर जानें" कह एक दूसरी घटना कही—

"देव ! पूर्व समय इसी बाराणसी के द्वारा-ग्राम पर एक कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी लाता था। उसने रोज-रोज एक ही जगह से मिट्टी लेने से पर्वत के अन्दर एक बड़ा गढ़ा खन दिया। एक दिन जब वह मिट्टी ले रहा था, अकाल-मेघ ने उठकर महान् वर्षा बरसाई। बहते हुए पानी ने गढ़े के किनारे को गिरा दिया। उससे उसका सिर फूट गया। उसने रोते हुए यह गाथा कही—

यत्थ बीजानि रूहन्ति, सत्ता यत्थ पतिट्ठिता,
सा मे सीसं निपीळेति, जातं सरणतो भयं॥

[जिस (भूमि) में बीज पैदा होते हैं, जिस पर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, वह ही मेरे सिर को पीड़ा पहुँचा रही है। मुझे शरण-स्थान से ही भय पैदा हो गया।]

"देव ! जैसे जनता का आधार महापृथ्वी है, और उसी ने कुम्हार का सिर फोड़ा, उसी तरह यदि सब लोकों का शरण-स्थान राजा ही उठकर चोरी करने लगे तो उसे कौन रोक सकेगा ? महाराज इस प्रकार छिपा कर कहे गये चोर को जान सकेंगे ?"

"तात ! मुझे गुप्त बात से प्रयोजन नहीं है। 'यह चोर है' इस प्रकार मुझे चोर पकड़ कर दें।"

उसने राजा (के सम्मान) की रक्षा करते हुए 'तू चोर है' ऐसा न कह और भी उदाहरण दिया—

"महाराज ! पूर्व समय में इसी नगर में एक आदमी के घर में आग लग गई। उसने एक दूसरे आदमी को आज्ञा दी--"अन्दर प्रवेश कर सामान निकाल लाओ।" उसके अन्दर जा बाहर निकलते समय घर का दरवाजा बन्द हो गया। उसने धुएँ से अन्धा हो, बाहर निकलने का रास्ता न पा, जलन-दुख से दुखी हुए अन्दर से ही रोते-पीटते हुए कहा--

येन भत्तानि पच्चन्ति, सीतं येन विहञ्ञति,
सो मं डहति गत्तानि, जातं सरणतो भयं॥

[जिससे भात पकता है और जिससे शीत भागता है, वही मेरे शरीर को जलाता है। मुझे शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"महाराज ! एक ऐसा आदमी, जो अग्नि की तरह मनुष्यों का आश्रय-दाता है, रतन ले गया है। मुझ से चोर न पूछें।"

"तात ! मुझे तो चोर दो ही।"

उसने राजा को 'तू चोर है' न कह एक दूसरा उदाहरण दिया—

"देव ! पूर्व समय में इसी नगर में एक मनुष्य अत्यधिक खाकर हजम न कर सकने के कारण दुखी हो रोता था--

येन भुत्तेन यापेन्ति, पुथु ब्राह्मण खत्तिया,
सो मं भुत्तो व्यापादि, जातं सरणतो भयं॥

[जिसे खाकर सभी ब्राह्मण-क्षत्रिय जीते हैं, वही खाया हुआ मुझे कष्ट देता है। मुझे शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"महाराज ! भात की तरह मनुष्यों का आश्रय एक आदमी (रतन) भाण्ड ले गया, उसके मिल जाने पर चोर को क्या पूछते हो ?"

"तात ! दे सकते हो तो मुझे चोर दो।"

उसने उसे समझाने के लिये और भी उदाहरण दिया—

"महाराज ! पूर्व समय में इसी नगर में वायु ने उठकर एक आदमी का शरीर तोड़ डाला। उसने रोते हुए—

गिम्हानं पच्छिमे मासे, वातं इच्छन्ति पण्डिता,
सो मे भञ्जति गत्तानि, जातं सरणतो भयं॥

[ग्रीष्म के अन्तिम महीने पण्डित-जन वायु चाहते हैं। वही वायु मेरे शरीर को तोड़ता है। मुझे शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"महाराज ! शरण-स्थान से ही भय पैदा हुआ है, इस बात को समझें।"

"तात ! चोर ही दे।"

उसने उसे समझाने के लिये दूसरा उदाहरण दिया—

"देव ! पूर्व समय में हिमालय प्रदेश में पत्तों से लदा बड़ा भारी वृक्ष था। उस पर कई हजार पक्षी रहते थे। उसकी दो शाखाओं में परस्पर रगड़ हुई। उससे आग निकली, राख गिरने लगी। यह देख ज्येष्ठ-पक्षी बोला—

यं निस्सिता जगति रुहं विहङ्गमा सोयं अग्गिं पमुञ्चति,
दिसा भजथ वक्कङ्गा, जातं सरणतो भयं॥

[जिस वृक्ष पर पक्षी बैठे हैं, वही वृक्ष आग छोड़ रहा है। हे पक्षियो! (अन्य) दिशा को जाओ। शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"देव ! जिस प्रकार वृक्ष पक्षियों का शरण-स्थान है उसी प्रकार राजा जनता का। वही चोरी करे तो कौन रोक सकता है। देव ! यह समझें।"

"तात ! मुझे चोर ही दे।"

उसने उसको और भी उदाहरण दिया—

"महाराज ! काशी-ग्राम में एक गृहस्थ के घर के पश्चिम ओर कठोर घड़ियाल नदी है। उस गृहस्थ को एक ही पुत्र था। पिता के मरने पर वह माता की सेवा करता था। उसकी इच्छा न रहने पर भी उसके लिए एक कुल-कन्या ले आई गई। वह पहले तो अपनी सास से प्रेम करती रही, पीछे बेटा-बेटी के बड़े हो जाने पर उसने सास को निकाल डालना चाहा। उसकी

माँ भी उसी घर में रहती थी। वह स्वामी को सास के नाना प्रकार के दोष सुनाती। इस प्रकार उसका दिल फाड़कर बोली—

"मैं तेरी माता का पालन पोषण नहीं कर सकती। उसे मार डाल।"

"मनुष्य-हत्या आसान काम नहीं। उसे कैसे मारें?"

"सोते समय उसे चारपाई सहित ले जाकर घड़ियाल-नदी में फेंक दे, घड़ियाल मार डालेंगे।"

"तेरी माता कहाँ है?"

"उसी के पास सोती है।"

"तो जा, उसके सोने की चारपाई से रस्सी बाँध चिह्न बना।"

उसने वैसा करके कहा—बना दिया। तब उसने 'थोड़ी देर ठहरो, जरा लोग सो जायें' कह सोने गये की तरह लेट जाकर वह रस्सी भार्य्या की माँ की चारपाई से बाँध दी। फिर भार्य्या को जगाया। दोनों ने जाकर उसे चारपाई सहित ही उठा नदी में फेंक दिया। वहाँ घड़ियालों ने उसे चीर-फाड़ खा डाला। उसने दूसरे दिन जब माता के परिवर्तन की बात जानी तो बोली—"स्वामी! मेरी माँ ही मारी गई। अब तेरी माँ को मारें।"

"तो, अच्छा, उसे चिता बना आग में पटक कर मारेंगे।"

वे दोनों उस सोती हुई को श्मशान में ले गये। वहाँ स्वामी ने भार्य्या से पूछा—आग ले आई?

"स्वामी! भूल आई।"

"तो जाकर ला।"

"स्वामी! न जा सकती हूँ, न तुम्हारे जाने पर अकेली रह सकती हूँ। इसलिये दोनों जायेंगे।"

उनके चले जाने पर ठण्डी हवा ने बुढ़िया को जगा दिया। उसने श्मशान देख सोचा कि ये मुझे मारना चाहते हैं और आग लाने गये हैं। ये मेरी सामर्थ्य नहीं जानते। वह एक लाश को चारपाई पर लिटा, उसे कपड़े से ढक, स्वयं भाग कर एक गुफा में जा छिपी। दोनों जने आग लेकर लौटे और लाश को बुढ़िया समझ जलाकर चले गये। एक चोर ने उस गुफा में अपना सामान रखा था। वह उसे लेने के लिये आया तो बुढ़िया को देख सोचा—कोई यक्षिणी होगी, मेरा माल अमनुष्य के हाथ में चला

गया। वह एक ओझा को ले आया। ओझा ने मन्त्र पढ़ा और गुफा में गया। वह बोली—"मैं यक्षिणी नहीं हूँ। आ, हम दोनों इस धन का उपभोग करें।"

"कैसे विश्वास हो ?"

"अपनी जिह्वा मेरी जिह्वा पर रखो।"

उसने वैसा ही किया। बुढ़िया ने उसकी जिह्वा डस कर, काट कर, गिरा दी। ओझा ने समझा यह यक्षिणी ही है। उसकी जिह्वा से रक्त चू रहा था। वह भागा। बुढ़िया अगले दिन रेशमी-वस्त्र पहन नाना प्रकार के रत्न ले घर गई।

पतोहू ने पूछा—"माँ, यह कहाँ मिला ?"

"बेटी, इस श्मशान में जिन्हें लकड़ियों से जला दिया जाता है, वह यह प्राप्त करते हैं।"

"माँ, मुझे भी मिल सकता है ?"

"मेरे जैसी होने पर पा सकेगी।"

उसने गहनों के लोभ से स्वामी को बिना कहे अपने को जला डाला। अगले दिन स्वामी ने जब उसे नहीं देखा तो पूछा—"माँ! इस समय से तेरी पतोहू नहीं दिखाई देती ?" उसने उसे "अरे पापी! कहीं मरे लौटते हैं ?" कह, धमका कर यह गाथा कही—

यं आनयिं सोमनस्सं मालिनिं चन्दनुस्सदं,
सा मं घरा निच्छुभति जातं सरणतो भयं॥

[जिस माला-धारिणी तथा चन्दनधारिणी को प्रसन्न मन से लायी, वही मुझे घर से निकालती है। शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"महाराज, जैसे सास के लिये पतोहू, उसी प्रकार जनता के लिये राजा शरण-स्थान होता है। देव! वहीं से यदि भय उत्पन्न हो जाय तो क्या किया जा सकता है! समझें ?"

"मैं तेरी बातें नहीं समझता, मुझे चोर ही दे।"

उसने 'राजा को बचाऊँगा' सोच फिर दूसरी बात कही—

"देव! इसी नगर में एक आदमी ने प्रार्थना[1] करके पुत्र-लाभ

---

१. पालि-वाङ्मय में 'पत्थना' दृढ़ मनो-कामना का पर्यायवाची है।

किया। वह उसके जन्म दिन से ही 'मुझे पुत्र मिला' सोच प्रसन्न हुआ और उसे पाल-पोस बड़ा किया। फिर विवाह कर दिया। बूढ़े होने पर जब वह खेती नहीं कर सकता था, तो पुत्र बोला—"तू खेती नहीं कर सकता है। निकल यहाँ से।" उसने उसे घर से निकाल दिया। वह बड़ी कठिनाई से भीख माँग कर जीवन व्यतीत करने लगा। उसने रोते-पीटते यह गाथा कही—

येन जातेन नन्दिस्सं यस्स च भवं इच्छिस्सं,
सो मं घरा निच्छुभति जातं सरणतो भयं॥

[जिसके जन्म होने पर प्रसन्न हुआ, जिसकी उन्नति की इच्छा की, वही मुझे घर से निकालता है। शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

"महाराज ! जैसे सामर्थ्यवान् पुत्र को पिता की रक्षा करनी चाहिये, उसी प्रकार राजा को सारे जनपद की रक्षा करनी चाहिये। यह भय तमाम प्राणियों की रक्षा करने वाले राजा से पैदा हुआ है। इसलिये हे देव ! यह जान लें कि 'अमुक' चोर है।"

राजा ने बार-बार माणवक से आग्रह किया—"तात ! मैं कारण-अकारण कुछ नहीं जानता। या तो मुझे चोर दे, या तू स्वयं चोर बन।"

तब वह उससे बोला—"तो क्या राजन् ! साफ-साफ चोर को जानना चाहते हो ?"

"तात ! हाँ।"

"तो परिषद् के बीच में कहता हूँ कि अमुक और अमुक चोर हैं।"

"तात ! ऐसा कर।"

उसने 'यह राजा अपना बचाव नहीं करने देता। अब चोर को पकड़ता हूँ' सोच एकत्रित हुई जनता को सम्बोधित कर कहा—

सुणन्तु मे जानपदा नेगमा च समागता,
यतोदकं तदादित्तं, यतो खेमं ततो भयं,
राजा विलुम्पते रट्ठं ब्राह्मणो च पुरोहितो,
अत्तगुत्ता विहरथ, जातं सरणतो भयं॥

[जनपद और निगम के आये हुये लोग सुनें—जहाँ पानी है,

वहीं से आग पैदा हुई। जहाँ कल्याण है, वहीं से पाप पैदा हुआ। राजा और पुरोहित-ब्राह्मण मिल कर राष्ट्र को लूट रहे हैं। सावधान रह कर विचरो। शरण-स्थान से भय पैदा हो गया।]

उन्होंने उसका कहना सुन सोचा—यह राजा रक्षक होते हुए भी, दूसरे को दोषी ठहरा, अपना धन स्वयं ही पुष्करिणी में रख चोर की खोज करवाता है। हम इस पापी-राजा को मार डालें, जिससे यह आगे फिर चोरी न करे। वे दण्ड-मुग्दर आदि लेकर उठे और उस राजा तथा पुरोहित को वहीं पीट कर मार डाला। उन्होंने बोधिसत्व को अभिषिक्त कर राजा बनाया।

शास्ता ने यह देशना ला, 'उपासक! इसमें कुछ आश्चर्य्य नहीं यदि पृथ्वी पर पद-चिह्न पहचान लिये जायें, पुराने पण्डितों ने आकाश में पद-चिह्न पहचान लिये' कह, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के प्रकाशित होने पर उपासक और पुत्र स्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुये। उस समय पिता काश्यप था। पदकुशल कुमार तो मैं ही था।

———

४३३. लोमकस्सप जातक

"अस्स इन्द-समो राजा..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क वर्तमान कथा

उस भिक्षु से शास्ता ने पूछा--"क्या तू सचमुच उद्विग्न है?" 'सचमुच' कहने पर "भिक्षु यशस्वी भी अयशस्वी हो जाते हैं। यह क्लेश परिशुद्ध प्राणियों को भी मलिन कर देते हैं। तेरे जैसों का तो क्या ही कहना" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त का ब्रह्मदत्तकुमार तथा पुरोहित-पुत्र काश्यप दो मित्र थे। दोनों ने एक ही आचार्य्य के कुल में सब शिल्प सीखे। आगे चलकर पिता के मरने पर ब्रह्मदत्तकुमार राजा बना। काश्यप ने सोचा—मेरा मित्र राजा हो गया। अब मुझे महान् ऐश्वर्य्य देगा। मुझे ऐश्वर्य्य से क्या? मैं माता-पिता और राजा को पूछ कर प्रव्रजित होऊँगा। उसने राजा और माता-पिता से आज्ञा ली, हिमालय में जा, ऋषि-प्रव्रज्या ले, सातवें दिन अभिज्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त कर, गिरे दानों को चुग कर जीविका चलाने लगा। प्रव्रजित होने पर उसका नाम हुआ लोमस काश्यप। वह इन्द्रियों को वश में रखने वाला घोर तपस्वी था। उसकी तपस्या के तेज से शक्र-भवन काँपा। शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो सोचा—वह तपस्वी अत्यन्त तेजस्वी है। शक्र-भवन से मुझे भी गिरा दे सकता है। वाराणसी-नरेश के साथ मिलकर इसे तप-भ्रष्ट करूँगा।

वह शक्र-प्रताप से आधी रात के समय वाराणसी-नरेश के शयनागार

में प्रविष्ट हुआ और सारे शयनागार को शरीर-प्रभा से प्रकाशित कर दिया। उसने राजा के पास खड़े हो उसे जगाया—"महाराज। उठें।"

"तू कौन है?"

"मैं शक्र हूँ।"

"किसलिये आया है?"

"महाराज! सारे जम्बुद्वीप पर एक-छत्र राज्य करने की इच्छा है या नहीं?"

"क्यों नहीं है?"

"तो लोमस-काश्यप को लाकर पशु-घात यज्ञ करा। शक्र की तरह अजर-अमर होकर जम्बुद्वीप पर राज्य करेंगा।"

उसने पहली गाथा कही—

> अस्स इन्दसमो राज अच्चन्तं अजरामरो,
> सचे त्वं यञ्ञं याजेय्य इसिं लोमसकस्सपं॥

[यदि लोमस काश्यप ऋषि से तू यज्ञ करायेगा तो हे राजन्! तू अत्यन्त अजरामर इन्द्र-समान (राजा) होगा।]

उसकी बात सुन राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। शक्र 'तो देर न करना' कह चला गया। राजा ने अगले दिन सटह नाम के अमात्य को बुलाकर, "सौम्य! मेरे प्रिय मित्र लोमस काश्यप के पास जाकर मेरी ओर से कहो—राजा तुम से यज्ञ कराकर सारे जम्बुद्वीप का एक-छत्र राजा होगा। तुम्हें भी जितना प्रदेश चाहोगे उतना देगा। मेरे साथ यज्ञ कराने के लिये चलें।" उसने 'देव! 'अच्छा' कह स्वीकार किया। फिर नगर में मुनादी कराई—"कौन है जो तपस्वी का निवास-स्थान जानता है?" एक वनचर बोला—"मैं जानता हूँ।" उसे आगे किया और बहुत से अनुयायियों को साथ ले वहाँ पहुँचा। तब ऋषि को प्रणाम कर, एक ओर बैठ, वह सन्देश कहा। उसने "सय्ह! यह क्या कहता है?" प्रतिरोध करते हुए चार गाथायें कहीं—

> ससमुद्दपरियायं, महिं सागरकुण्डलं,
> न इच्छे सह निन्दाय, एवं सय्ह विजानहि॥

[सागर से घिरी हुई समुद्र-सहित पृथ्वी की भी मैं निन्दा का

भाजन होकर इच्छा नहीं करता । हे सय्ह ! यह बात जान ले ।]

धिरत्थु तं यसलाभं धनलाभञ्च ब्राह्मण,
या वुत्ति विनिपातेन अधम्मचरणेन वा।

[हे ब्राह्मण ! उस ऐश्वर्य्य-लाभ तथा धन-लाभ को धिक्कार है, जो नरक-गामी कर्म वा अधर्माचरण से मिले ।]

अपि चे पत्तं आदाय अनागारो परिब्बजे,
सा एव जीविका सेय्या या चाधम्मेन एसना।।

[अधर्म से जीविका चलाने की अपेक्षा, पात्र लेकर, अनागारिक हो कर जो भिक्षा-वृत्ति से जीविका चलाता है वही अच्छा है ।]

अपि चे पत्तमादाय अनागारो परिब्बजे,
अञ्ञं अहिंसयं लोके अपि रज्जेन तं वरं।

[लोक में बिना किसी की हिंसा किये, भिक्षा-पात्र लेकर, अनागारिक परिव्राजक हो रहना राज्य से अच्छा है ।]

अमात्य ने उसकी बात सुन राजा से कहा । राजा चुप हो गया—"नहीं आता, तो क्या किया जाय ?" फिर शक्र ने आधी-रात के समय आकर, खड़े हो, राजा से पूछा—"महाराज ! क्या लोमस काश्यप को बुलवाकर यज्ञ नहीं कर रहे हैं ?"

"बुला भेजने पर भी नहीं आता है ।"

"महाराज ! अपनी पुत्री चन्द्रवती कुमारी को अलंकृत कर सय्ह के साथ भेज दें और कहलायें कि यदि जाकर यज्ञ करेगा तो राजा यह कुमारी दे देगा । सम्भव है वह कुमारी में आसक्त होने के कारण चला आये ।"

राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और अगले दिन सय्ह के साथ लड़की भेजी । वह लड़की को लेकर वहाँ पहुँचा और प्रणाम कर, कुशल-क्षेम पूछ देवप्सरा सदृश वह कुमारी उसे दिखा एक ओर खड़ा हो गया । उसने इन्द्रिय-संयम छोड़ उसे देखा । देखने के साथ ही वह उस पर आसक्त हो गया । उसका ध्यान-बल जाता रहा । अमात्य ने उसका आसक्त होना जान निवेदन किया—"भन्ते ! यदि यज्ञ करेंगे तो राजा इसे आप की चरण-सेविका बना देगा ।"

उसने कामुकता से काँपते हुए पूछा—"राजा इसे मुझे दे देगा ?

"हाँ, यज्ञ करेंगे तो तुम्हें दे देगा।"

"अच्छा, यह मिलेगी तो यज्ञ करूँगा" कह वह उसे ले जटाओं के साथ ही अलंकृत रथ पर चढ़ वाराणसी आया। राजा ने भी 'आता है' सुन यज्ञ-कुण्ड में काम लगाया। फिर उसे आया देख कहा—"यदि यज्ञ करेगा तो मैं इन्द्र के समान हो जाऊँगा। यज्ञ की समाप्ति पर तुझे लड़की दूँगा।" काश्यप ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। अगले दिन राजा उसे ले चन्द्रावती के साथ ही यज्ञ-कुण्ड पहुँचा। वहाँ हाथी, घोड़े, बैल आदि सभी पशु क्रमशः खड़े थे। काश्यप ने उन सब को मार कर, उनकी हत्या कराकर यज्ञ करना आरम्भ किया। वहाँ एकत्र हुई जनता ने 'लोमस काश्यप ! यह तेरे लिये अनुचित है, अयोग्य है, यह क्या करता है' कहते हुए दो गाथायें कहीं—

बलं चन्दो बलं सुरियो बलं समणब्राह्मणा।
बलं बेला समुद्दस बलातिबलं इत्थियो॥
यथा उग्गतपं सन्तं इसि लोमस कस्सपं।
पितु अत्था चन्दवती वाचपेय्यं अयाजयि॥

[चन्द्रमा बलवान है, सूर्य्य बलवान है, श्रमण ब्राह्मण बलवान हैं, समुद्र की लहरें बलवान हैं, लेकिन सबसे अधिक बलवान स्त्रियाँ हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रावती ने पिता के लिये उग्रतपस्वी, शान्त लोमसकाश्यप ऋषि से बाजपेय्य यज्ञ कराया।]

उस समय काश्यप ने यज्ञ करने के लिये 'मङ्गल हाथी की गर्दन काटूँगा' सोच खड्ग उठायी। हाथी उसे देख मृत्यु से भयभीत हो जोर से चिल्लाया। उसकी आवाज सुन बाकी हाथी, घोड़े, बैल भी मृत्युभय से भयभीत हो जोर से चिल्लाये। जनता भी चिल्लायी। काश्यप ने उनकी चीख सुन, संविग्न हो अपनी जटाओं आदि की ओर देखा। उसकी जटा, दाढ़ी, काँख और छाती के बाल खड़े हो गये। उसने पश्चात्ताप कर "मैंने अनुचित पापकर्म किया" कह आठवीं गाथा कही—

तं लोभा पकतं कम्मं, कटुकं कामहेतुकं।
तस्स मूलं गवेसिस्सं, छेच्छं रागं सबन्धनं॥

[महाराज ! यह जो मैंने (चन्द्रावती के) लोभ से कामहेतुक कर्म किया, वह दुष्परिणाम देने वाला है। मैं इस कर्म के मूल-कारण की खोज करूँगा

और बन्धन-सहित राग का छेदन करूँगा ।]

तब राजा ने उससे कहा—"मित्र ! डर मत । मैं तुझे चन्द्रावती-कुमारी, राष्ट्र और सात रत्नों का ढेर दूँगा। यज्ञ करा ।" यह सुन काश्यप ने—'महाराज ! मुझे यह काम-भोग नहीं चाहिये' कह अन्तिम गाथा कही—

धिरत्थु कामे सुबहूपि लोके,
तपोव सेय्यो कामगुणेहि राज।
तपो करिस्सामि पहाय कामे,
तवेव रट्ठं चन्दवती च होतु॥

[लोक में बहुत काम-भोगों को भी धिक्कार ही है । राजन ! काम-भोगों से तप ही श्रेष्ठ है । मैं कामभोग छोड़ कर तपस्या ही करूँगा । राष्ट्र और चन्द्रावती तेरे ही पास रहे ।]

यह कह उसने योग-विधि से नष्ट-ध्यान-बल को प्राप्त किया । फिर आकाश में पालथी मार बैठ, राजा को उपदेश दिया—"अप्रमादी रह ।" यज्ञ-कुण्ड नष्ट करा जनता को अभय-दान दिया । राजा प्रार्थना करता ही रह गया, वह ऊपर उठकर अपने निवास-स्थान गया और जीवन पर्य्यन्त ब्रह्मलोक-गामी हुआ ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया । सत्यों का प्रकाशन समाप्त होने पर उद्विग्न-चित्त भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुआ । इस समय सय्ह महामात्य सारिपुत्र था । लोमस काश्यप तो मैं ही था ।

४३४. चक्कवाक जातक

"**कासायवत्थे...**" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक लोभी भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह लोभी था सामान का लोभी। आचार्य्य, उपाध्याय के प्रति जो कर्त्तव्य हैं उन्हें न कर प्रातःकाल ही श्रावस्ती जा विशाखा के घर अनेक खाद्य और उसके साथ श्रेष्ठ यवागू पी, मध्याह्न के समय नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन और शाली मांसोदन खाता। उससे भी असन्तुष्ट हो चुल्ल अनाथ पिण्डिक तथा कोशल नरेश आदि के घरों पर जाता। एक दिन धर्म-सभा में उसके लोभी होने की बातचीत चली। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" 'अमुक बातचीत' कहने पर उस भिक्षु को बुलवा पूछा—"क्या तू सचमुच लोभी है?" उसके "भन्ते! सचमुच" कहने पर "भिक्षु! तू लोभी क्यों है? पूर्व समय में भी तू लोभी होने के कारण वाराणसी में हाथी की लाश आदि से असन्तुष्ट हो, वहाँ से निकल, गङ्गातट पर विचरता हुआ हिमालय में प्रविष्ट हुआ" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक लोभी कौआ वाराणसी में हाथी की लाश आदि खाकर घूमता हुआ उनसे अतृप्त हो "गङ्गा-तट पर मछलियों की चर्बी खाऊँगा" कह वहाँ मरी मछलियाँ खाता हुआ कुछ दिन रहा। फिर हिमालय जा, वहाँ नाना प्रकार के फलाफल खाते हुये उसने दो सुनहरी चक्र-वालों को देखा जो बहुत सी मछलियों और कच्छुओं वाले तालाब पर काई खाते हुए रहते हैं। उसने सोचा—"इनका भोजन सुन्दर होगा। इनका भोजन पूछ कर मैं भी वही खाकर स्वर्ण-वर्ण होऊँगा।" वह उनके पास गया और कुशल-क्षेम पूछ एक शाखा के सिरे

पर बैठ उनकी प्रशंसा करते हुये पहली गाथा कही--

कासायवत्थे सकुणे वदामि,
दुवे दुवे नन्दिमने चरन्ते।
कं अण्डजं अण्डजा मानुसेसु
जातिं पसंसन्ति तद इंघ ब्रूही॥

[हे स्वर्ण-वर्ण, युग्ल-गामी, सन्तुष्ट चित्त पक्षियों ! तुम कहो कि मनुष्यों में प्रशंसा करते समय तुम किस पक्षी-जाति की प्रशंसा करते हो ?]

यह सुन चक्रवाक ने दूसरी गाथा कही —

अम्हे मनुस्सेसु मनुस्सहिंसा,
अनुब्बते चक्कवाके वदन्ति।
कल्याणभाव अम्हे दिजेसु सम्मता,
अभीतरूपा विचराम अण्णवे॥

[हे कौवे ! मनुष्यों में हम परस्पर अनुकूल रहने वाले चक्रवाक पक्षी ही (श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। यह बात सर्व-सम्मत है कि पक्षियों में हम कल्याण-भावी हैं। हम सरोवर में निर्भय होकर घूमते हैं।]

यह सुन कौवे ने तीसरी गाथा कही--

किं अण्णवे कानि फलानि भुञ्जे,
मंसं कुतो खादथ चक्कवाका।
किं भोजनं भुञ्जथ वो अनोमा,
बलं च वण्णो च अनप्परूपो॥

[हे चक्रवाको ! इस सरोवर में तुम कौन से फल खाते हो और मांस कहाँ से खाते हो ? हे अनूपम ! तुम्हारा बल और वर्ण दोनों बहुत है, तुम क्या भोजन करते हो ?]

तब चक्रवाक ने चौथी गाथा कही--

न अण्णवे सन्ति फलानि धङ्क,
मंसं कुतो खादितुं चक्कवाके।
सेवालभक्खम्ह अवाकभोजना,
न घासहेतु पकरोम पापं॥

(हे पक्षी ! सरोवर में फल नहीं हैं। हे कौवे ! चक्रवाकों के खाने के लिये मांस कहाँ से आयेगा ? हम काई खाने वाले हैं—जल खाने वाले। हम पेट के लिये पाप नहीं करते ।]

तब कौवे ने दो गाथायें कही—

न मे इदं रुच्चति चक्कवाका,
अस्मिं भवे भोजनसन्निकासो।
अहोसि मे पुब्बे, ततो मे अञ्ञथा,
इच्चेव मे विमति एत्थ जाता॥
अहम्पि मंसानि फलानि भुञ्जे,
अन्नानि च लोणिय तेलियानि।
रसं मनुस्सेसु लभामि भोत्तुं,
सूरो व सङ्गाममुखं विजेत्वा॥
न च मे तादिसो वण्णो,
चक्कवाक यथा तवं॥

(हे चक्रवाक ! यह मुझे अच्छा नहीं लगता कि इस संसार में भोजन का अभाव हो। पहले मैं जो समझता था, उससे यह अन्यथा हुआ । इसलिये इसके बारे में मेरे मन में सन्देह पैदा हुआ। मैं तो मांस और फल खाता हूँ, निमक और तेल वाले अन्न भी और संग्राम-विजयी शूर की तरह मनुष्यों में (रह कर) नाना प्रकार के रसों का भोजन करता हूँ। हे चक्रवाक ! तो भी मेरा तुम्हारे जैसा वर्ण नहीं है ।]

तब चक्रवाक ने उस में वर्ण के न होने और अपने वर्ण युक्त होने का कारण बताते हुये शेष गाथायें कहीं—

असुद्धभक्खोसि खणानुपाती,
किच्छेन ते लब्भति अन्नपानं।
न तुस्ससि रुक्खफलेहि वङ्क,
मंसानि वा यानि सुसान मज्झे॥
यो साहसेन अधिगम्म भोगे,
परिभुञ्जति वङ्क खणानुपाती।

ततो उपक्कोसति नं सभावो,
उपक्कुट्ठो वण्णबलं जहाति॥
अप्पं पि चे निब्बुतिं भुञ्जती यदि,
असाहसेन अपरूपघाती।
बलं च वण्णो च तदस्स होति,
नहि सब्बो आहारमयेन वण्णो॥

[तू (चुरा कर खाने से) अशुद्धाहारी है, (प्रमाद-) क्षण में पतन-शील है। तुझे अन्न-पान कष्ट से मिलता है। हे वङ्क ! तू न वृक्ष के फलों से सन्तुष्ट होता है और न श्मशान में पड़े मांस से। हे पक्षी ! जो कोई दुस्साहस से भोगों को प्राप्त कर क्षण में पतन-शील हो उन्हें भोगता है तो उसका अपना आप उसकी निन्दा करता है। पश्चात्ताप से वर्ण और बल जाता रहता है। यदि बिना दुस्साहस किये, बिना किसी का घात किये, थोड़ी भी शान्ति का उपभोग करता है तो उसका वर्ण और बल ऐसा हो जाता है। सारा वर्ण आहार-मय ही नहीं होता।]

इस प्रकार चकवे ने अनेक तरह से कौवे की निन्दा की। कौवे ने 'मुझे तेरे वर्ण से मतलब नहीं' कहा और 'का-का' करता हुआ भाग गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के (प्रकाशन के) अन्त में लोभी भिक्षु अनागामी-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय कौवा लोभी भिक्षु था, चकवी राहुल-माता, चकवा तो मैं ही था।

———

४३५. हलिद्दिराग जातक

"सुतितिक्खं. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय स्थूल कुमारी के प्रलोभन के बारे में कही। कथा तेरहवें परिच्छेद के चुल्लनारद १ जातक में आयेगी।

ख. अतीत कथा

अतीत-कथा में उस कुमारी ने उस तपस्वी कुमार का शील भ्रष्ट कर और यह जान कि वह उसके वश में है, उसे ठग कर बस्ती में ले जाने की इच्छा से "रूप आदि काम भोगो से रहित जंगल में जिस सदाचार की रक्षा की जाती है, उसका फल अधिक नही होता। आ मेरे साथ वहाँ चल कर शील की रक्षा कर। तुझे जंगल से क्या ?" कह पहली गाथा कही—

सुतितिक्खं अरञ्ञम्हि पन्तम्हि सयनासने।
ये च गामे तितिक्खन्ति ते उळारतरा तया॥

[एकान्त शयनासन में, जंगल में तितिक्षा सरल है। जो ग्राम में रह कर तितिक्षा करते हैं, वे तुम्हारी अपेक्षा महान् हैं]

यह सुन तपस्वी-कुमार ने कहा—"मेरा पिता जंगल गया है। उसके आने पर उससे पूछ कर चलूँगा।" उसने सोचा—"इसका पिता भी है। यदि मुझे देख लेगा तो बंहगी की लकड़ी के सिरे से पीट कर खतमकर देगा। मुझे पहले चल देना चाहिये।" वह बोली—

"तो मैं रास्ते पर निशान बनाती हुई आगे चलती हूँ, तू पीछे आ।"

उसके चले जाने पर तपस्वी-कुमार न जलावन लाया, न पानी रक्खा, केवल बैठा सोचता रहा। पिता के आने के समय अगवानी तक नहीं की। पिता ने यह जान कर भी कि यह स्त्री के वश में चला गया है, पूछा—"तात ! क्या कारण है, न जलावन लाया, न पानी तथा खाने का सामान रखा ? बैठा-बैठा सोच ही रहा है ?" तपस्वी-कुमार बोला—"तात आरण्य में जिस

---

१. चुल्लनारद जातक (४७७)।

सदाचार की रक्षा की जाय वह महान् फल नहीं देता, बस्ती में महान् फल। मेरा साथी 'आना' कह आगे-आगे गया। मैं उसी के साथ जाऊँगा। वहाँ रहते समय मुझे किस तरह के आदमी की सङ्गत करनी चाहिये ?"

यह पूछते हुए उसने दूसरी गाथा कही—

अरञ्ञा गामं आगम्म किं सीलं किं वतं अहं।
पुरिसं तात सेवेय्य, तं मे अक्खाहि पुच्छितो॥

[हे तात ! मुझे पूछने पर बतायें कि जंगल से गाँव में जाने पर मैं किस शील और किस व्रत वाले आदमी की संगत करूँ ?]

पिता ने उत्तर देते हुए शेष गाथायें कहीं—

यो ते विस्सासये तात विस्सासञ्च खमेय्य ते,
सुस्सूसी च तितिक्खी च तं भजेहि इतो गतो॥
यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं,
उरसीव पतिट्ठाय तं भजेहि इतो गतो॥
यो च धम्मेन चरति चरन्तो पि न मञ्ञति,
विसुद्धकारिं सप्पञ्ञं तं भजेहि इतो गतो॥
हलिद्दिरागं कपिचित्तं पुरिसं रागविरागिनं,
तादिसं तात मा सेवी निम्मनुस्सोपि चे सिया॥
आसीविस व कुपितं मीळ्हलित्तं महापथं,
आरका परिवज्जेहि यानीव विसमं पथं॥
अनत्था तात वड्ढन्ति बालं अच्चूपसेवतो,
मास्सु बालेन संगञ्छि अमित्तेनेव सब्बदा॥
तं ताहं तात याचामि, करस्सु वचनं मम,
मास्सु बालेन संगञ्छि, दुक्खो बालेहि सङ्गमो॥

[जो तेरा विश्वास करे और जिस पर तू विश्वास कर सके, जो शुश्रूषा करने वाला हो और जो तितिक्षा वाला हो, यहाँ से जाकर तू ऐसे आदमी की सङ्गत करना। जिसके शरीर, वचन और मन से दुष्कर्म नहीं होता, ऐसे आदमी की सङ्गति उसे दिल में प्रतिष्ठित कर लेने की तरह कर। जो धर्म के अनुसार चलता है और चलते हुए प्रमाद नहीं करता, यहाँ से जाने पर तू

ऐसे आदमी की सङ्गति कर जो विशुद्धाचरण वाला हो और प्रज्ञावान् हो। जिसका राग हलदी के समान हो, जो अस्थिर चित्त हो, जो राग-द्वेष युक्त हो, हे तात ! मनुष्य की संगति से रहित होने पर भी ऐसे मनुष्य की संगति मत कर। जैसे कुपित आषीविष सर्प को, जैसे गन्दे महापथ को, जैसे जाने वाला ऊबड़-खाबड़ रास्ते को छोड़ता है, उसी प्रकार उसे दूर से ही छोड़ दें। हे तात ! मूर्ख की अधिक संगति मे अनर्थ पैदा होते हैं। कभी भी मूर्ख के साथ वैसे ही नहीं रहना चाहिये जैसे शत्रु के साथ। हे तात ! मैं यह याचना करता हूँ। मेरा कहना करना—मूर्ख के साथ मेल नहीं, क्योंकि मूर्खों की संगति दुःखकर है।]

इस प्रकार पिता के उपदेश देने पर वह बोला—"तात ! मैं बस्ती में जा रहा हूँ। वहाँ तुम्हारे जैसे पण्डित नहीं मिलेंगे। वहाँ जाते डर लगता है। यहीं तुम्हारे पास ही रहूँगा।" तब उसके पिता ने और भी अधिक उपदेश दे योग-विधि सिखाई। उसने शीघ्र ही अभिञ्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त कर लीं। वह पिता के साथ ही ब्रह्मलोकगामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्न-चित्त स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। कुमारी, कुमारी थी। पिता मैं ही था।

———

४३६. समुग्ग जातक

"कुतोनु आगच्छत्थ. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उससे शास्ता ने पूछा—"क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है?" 'भन्ते सचमुच' कहने पर "भिक्षु! तू स्त्री की क्यों इच्छा करता है? स्त्री असभ्य होती है, अकृतज्ञ होती है। पूर्व समय में दानव राक्षस द्वारा निगलकर कोख में ढोई जाती रहने पर भी स्त्री की रक्षा न की जा सकी, उसे एक पुरुष से सन्तुष्ट नहीं रखा जा सका। तू कैसे रख सकेगा?" कह पूर्व-जन्म की गाथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत के राज्य करने के समय बोधिसत्व काम-भोगों को छोड़, हिमालय में प्रविष्ट हो, प्रब्रजित हुए। वहाँ अभिञ्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त कर फलाफल से जीवन यापन करते हुए रहने लगे। उसकी पर्णशाला से कुछ ही दूरी पर एक दानव राक्षस रहता था। बीच-बीच में बोधिसत्व के पास जा धर्म सुनता। हाँ, जंगल में मनुष्यों के आने-जाने के मार्ग पर खड़ा हो मनुष्यों को पकड़-पकड़ कर खाता था।

उस समय काशी राष्ट्र की एक उत्तम रूपवाली कुल-बधू एक प्रत्यन्त-ग्राम में रहती थी। एक दिन जब वह माता-पिता को देखने आकर लौट रही थी, उस दानव ने साथ के आदमियों को देख, भयानक ढंग से आक्रमण किया। आदमी शस्त्र छोड़ भाग गये। दानव ने गाड़ी में बैठी सुन्दर स्त्री को देखा तो उस पर आसक्त हो उसे अपनी गुफा में ले गया और भार्य्या बना लिया। तब से घी, चावल, मत्स्य, मांस, मधुर-फल आदि ला उसे पोसने लगा। उसे वस्त्रों तथा अलङ्कारों से अलङ्कृत कर,

सुरक्षित रखने के लिये वह उसे एक पेटी में लिटा, पेटी को निगल, कोख में लिये फिरता।

एक दिन वह नहाने की इच्छा से एक तालाब पर गया। वहाँ पेटी को उगल, उसमें से (उसे) निकाल, नहला, विलेपन कर गहने पहनाये। फिर 'थोड़ी देर तेरा शरीर वायु-सेवन करे' कह उसे पेटी के समीप खड़ा कर स्वयं नहाने के लिये उतरा। वह विश्वस्त हो थोड़ी दूर जाकर नहाने लगा।

उसी समय वायु-पुत्र नाम का विद्याधर तलवार-बाँधे आकाश से जा रहा था। उसने उसे देख हाथ से "आ" इशारा किया। विद्याधर शीघ्र उतरा। उसने उसे पेटी में डाला और दानव के आने की प्रतीक्षा करती हुई वह उस पेटी पर बैठी। जब देखा कि वह आ रहा है तो अपने को दिखा उसके पेटी के समीप आने से पहले ही पेटी खोल, उसमें घुस, विद्याधर के ऊपर लेटी और अपना कपड़ा ढक लिया। दानव आया। उससे पेटी को बिना देखे, यह समझ कि उसमें उसकी स्त्री ही है, पेटी को निगल लिया। फिर अपनी गुफा को जाते हुए 'तपस्वी को देखे बहुत दिन हो गये, आज उसके पास जाकर प्रणाम करूँगा' सोच उसके पास गया। तपस्वी ने भी उसे दूर से आता देख यह जान कि उसकी कोख में दो जने हैं, बात-चीत करते हुए पहली गाथा कही—

कुतो नु आगच्छत्थ भो तयो जना,
स्वागतं एत्थ निसीदथासने,
कच्चित्थ भोन्तो कुसलं अनामयं,
चिरस्सं अब्भागमनं हि वो इध।

[आप तीनों-जने कहाँ से आ रहे हैं? स्वागत है। यहाँ आसन पर बैठें। आप सकुशल हैं न? आपका इधर आगमन चिर काल के बाद हुआ।]

यह सुन दानव ने सोचा—"मैं इस तपस्वी के पास अकेला ही आया और यह 'तीनजने' कहता है! यह क्या कह रहा है? क्या वास्तविकता जानकर कह रहा है अथवा पागल का प्रलाप कर रहा है?" वह तपस्वी के पास पहुँचा, प्रणाम कर एक ओर बैठा और उससे बात-चीत करते हुए दूसरी गाथा कही—

अहमेव एको इध मज्ज पत्तो,
न चापि मे दुतियो कोचि विज्जति।
किमेव सन्धाय ते भासितं इसे,
कुतो नु आगच्छथ भो तयो जना॥

[आज मैं ही अकेला यहाँ आया हूँ। मेरे साथ कोई दूसरा नहीं है। हे ऋषि! तूने यह किसके सम्बन्ध में कहा है कि तीन जने कहाँ से आये?]

तपस्वी ने पूछा—"आयुष्मन्? स्पष्ट सुनना चाहता है?"

"भन्ते? हाँ।"

"तो सुन" कह तीसरी गाथा कही—

तुवं च एको भरिया च ते पिया,
समुग्गपक्खित्त निकिण्णमन्तरे।
सा रक्खिता कुच्छिगता व ते सदा,
वायुस्स पुत्तेन सहा तहिं रता॥

[एक तू, एक तेरी भार्य्या जो कोख में रखी पेटी में बन्द है। (यद्यपि तेरी भार्य्या कोख में सदा सुरक्षित है), (लेकिन) वह वहाँ वायु-पुत्र के साथ सदा रमन करती है।]

यह सुन दानव ने सोचा—"विद्याधर बहुत मायावी होते हैं। यदि, उसके हाथ में खड्ग आ जायेगी तो वह मेरी कोख फाड़ कर भी भाग जायगा।" इस प्रकार भयभीत हो जाने से उसने पेटी उगल सामने कर दी।

शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर उस वृत्तान्त को प्रकाशित करते हुए चौथी गाथा कही—

संविग्गरूपो इसिना व्याकतो,
सो दानवो तत्थ समुग्गमुग्गलि।
अद्दक्खि भरियं सुचिमालभारिनिं,
वायुस्स पुत्तेन सहा तहिं रतं॥

[ऋषि के द्वारा प्रकट किये जाने पर संवेग को प्राप्त हो उस दानव ने वहीं पेटी को उगल दिया। उसने देखा कि बढ़िया मालाओं का भार धारण करने वाली उसकी भार्य्या वहां वायु-पुत्र के साथ रत है।]

पेटी के खुलते ही विद्याधर ने मंत्र पढ़, तलवार निकाली और आकाश में कूद गया। यह देख दानव ने बोधिसत्व पर प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए शेष गाथायें कहीं—

सुदिट्ठरूपो उग्गतपानुवत्तिना,
हीना नरा ये पमदावसंगता।
यथा हवे पाणरिव एत्थ रक्खिता,
दुट्ठा मयि अञ्ञं अभिप्पमोदति॥

[उग्रतपानुवर्ति आप के द्वारा सम्यक् प्रकार यह देख लिया गया है कि जो स्त्रियों के वश में हो जाते हैं वे नर हीन हैं। उदाहरण के लिये प्राण के समान रक्षा की जाने वाली यह मेरे प्रति द्रोह करके दूसरे से प्रेम करती है।]

दिवा च रत्तो च मया उपट्ठिता,
तपस्सिना जोतिरिवा वने वसं।
सा धम्मं ओक्कम्म अधम्मं आचरि,
अकिरियरूपो पमदाहि सन्थवो॥

[जैसे वन में रहने वाला तपस्वी अग्नि-परिचर्य्या करता है वैसे ही मैंने दिन-रात उसकी परिचर्य्या की। लेकिन तो भी उसने धर्म छोड़ अधर्माचरण किया। स्त्रियों के साथ दोस्ती करना अकर्त्तव्य है।]

सरीरमज्झम्हि ठितांति मञ्ञिहं,
मह्यं अयं ति असीतं असञ्ञतं।
सा धम्मं ओकम्म अधम्मं आचरि,
अकिरियरूपो पमदाहि सन्थवो॥

[(मेरे) शरीर के अन्दर स्थित है, इसलिये यह मेरी है—इस प्रकार की मिथ्या-धारणा दुश्शीला के बारे में की। उसने धर्म छोड़ अधर्माचरण किया। स्त्रियों के साथ दोस्ती करना अकर्त्तव्य है।]

सुरक्खितं मे ति कथंनु विस्ससे,
अनेकचित्तासु न हत्थि रक्खना।
एता हि पाताल-पपात-सन्निभा,
एत्थप्पमत्तो ब्यसनं निगच्छति॥

[मैंने सुरक्षित रखा है, समझ किसी तरह भी विश्वास न करे। अनेक-चित्त वालियों की रक्षा नहीं की जा सकती। यह पाताल में गिरने वाले प्रपात के सदृश हैं। इनके प्रति प्रमादी होने वाला दुखी होता है।]

तस्मा हि ते सुखिनो वीतसोका,
ये मातुगामम्हि चरन्ति निस्सटा।
एतं सिवं उत्तमं आभिपत्थयं,
न मातुगामम्हि करेय्य सन्थवं॥

[इसलिये जो स्त्रियों के प्रति अनासक्त हो विचरते हैं, वे शोकरहित तथा सुखी रहते हैं। इस उत्तम कल्याण के इच्छुक को चाहिये कि वह स्त्रियों के साथ दोस्ती न करे।]

इस प्रकार दानव ने बोधिसत्व के चरणों में गिर बोधिसत्व की स्तुति करते हुए कहा—"भन्ते ! आप के कारण मेरी जान बची। अन्यथा इस पापिन ने मुझें विद्याधर के हाथ से मरवा दिया था।" उसने भी उसे पञ्च शीलों में प्रतिष्ठित किया—इसका कुछ अहित न करना, शील ग्रहण कर। दानव ने 'मैं कोख में लिये फिरते रह कर भी रक्षा नहीं कर सका, दूसरा कौन रख सकेगा' कह उसे बिदा किया। स्वयं जंगल को ही चला गया।

शास्ता ने यह देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय मैं ही दिव्य-चक्षु तपस्वी था।

---

४३७. पूतिमंस जातक

"**नखो मे रुच्चति...**" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय इन्द्रिय-संयम के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक समय भिक्षु इन्द्रिय-संयम से रहित थे। शास्ता ने 'इन भिक्षुओं को उपदेश देना चाहिये' सोच आनन्द स्थविर को कह अनियमित रूप से भिक्षुओं को एकत्र कराया। फिर अलंकृत श्रेष्ठ चौकी पर बैठ भिक्षुओं को सम्बोधन किया—"भिक्षुओ, नाम रूप आदि को 'सुन्दर' करके देखना उचित नहीं है। यदि उसी समय मृत्यु हो जाय तो नरक आदि में उत्पत्ति होती है। इसलिये रूप आदि को 'सुन्दर' करके न देखो। भिक्षु को नाम रूप आदि के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। नाम रूप आदि के चक्कर में पड़ने वाले इसी जन्म में महाविनाश को प्राप्त होते हैं। इसलिये भिक्षुओं गर्म लोहे की सलाख से आँखों का दाग देना अच्छा है....(विस्तार करके)...तुम्हारा रूप देखने का समय भी होता है, न देखने का समय भी। देखने के समय 'अच्छा' मान कर न देख 'बुरा' मान कर ही देखो। इस प्रकार अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाओगे। तुम्हारा क्षेत्र कौन है? चारों स्मृति-उपस्थान, आर्य अष्टांगिक मार्ग, नौ लोकोत्तरधर्म, इस क्षेत्र में रहने पर मार को मौका नहीं मिलेगा। यदि कामना के वश में होकर 'सुन्दर' करके देखोगे तो सड़े मांस (को खाने वाले) शृगाल की तरह अपनी सीमा से भ्रष्ट हो जाओगे।"

इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय हिमालय

के पार्श्व के एक जंगल के पर्वत-गुफा में सैकड़ों भेड़ें रहती थीं। उनके निवास-स्थान से थोड़ी ही दूर पर एक गुफा में पूतिमांस नाम का शृगाल वेणी नाम की भार्य्या के साथ रहता था। उसने एक दिन वेणी के साथ विचरते हुए सोचा--किसी उपाय से इनका मांस खाना चाहिए। वह एक-एक भेड़ को मारने लगा। वे दोनों भेड़ों का मांस खा-खाकर शक्ति-सम्पन्न तथा स्थूल-शरीर वाले हो गये। क्रमशः भेड़ें कम हो गईं। उनमें मेलमाता नाम की एक बुद्धिमती भेड़ी थी। उपाय-कुशल भेड़िये ने जब देखा कि वह उसे मार नहीं सकता तो एक दिन भार्य्या के साथ मंत्रणा की--भद्रे ! भेड़ें कम हो गईं। इस भेड़ को किसी उपाय से खाना चाहिए। यह उपाय, है तू अकेली जाकर इसके साथ सखी-भाव स्थापित कर। जब उसको तेरे प्रति विश्वास पैदा हो जायगा तो मैं मरे की भाँति लेट जाऊँगा। उस समय तू इसके पास जा इसे 'सखी मेरा स्वामी मर गया। मैं अनाथ हूँ। तुम्हारे सिवाय मेरा कोई रिश्तेदार नहीं। आ रो-पीट कर उसका शरीर-कृत्य करें' कह कर उसे मेरे पास लाना। मैं उछल कर उसे गर्दन से पकड़ मार डालूँगा।

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उसके साथ सखी-भाव स्थापित कर उसके विश्वासी हो जाने पर उस भेड़ी से वैसा ही कहा। भेड़ी बोली —"सखी ! तेरे स्वामी ने मेरे सब रिश्तेदारों को खा लिया। मुझे डर लगता है। मैं नहीं जा सकती।"

"सखी ! डर मत। मरा हुआ क्या मारेगा ?"

"तेरा स्वामी सहज मरने वाला नहीं है। मुझे डर ही लगता है।"

उसके बार-बार आग्रह करने पर 'शायद मरा ही हो' सोच, वह उसके साथ चली गई। लेकिन जाती हुई भी 'कौन जाने क्या हो' सोच, उसके प्रति सशङ्कित होने से उसने शृगाली को आगे-आगे किया और स्वयं पीछे-पीछे चली। वह शृगाल की ओर से सावधान थी। शृगाल ने उनकी पद-चाप सुनी तो सोचा--भेड़ी आ गई। उसने सिर उठाया, और आँख खोल कर देखा। भेड़ी ने ज्यों ही उसे वैसा करते देखा, वह समझ गई--यह पापी ठग है। मुझे धोखे से मारने के लिये ही 'मरा हुआ' बना पड़ा है और वह भाग गई। उसे भागते देख शृगाली ने पूछा—क्यों भाग रही है ? उसने उसका उत्तर देते हुए पहली गाथा कही—

न खो मे रुच्चति आलि पूतिमंसस्स पेक्खना।
एतादिसा सखारस्मा आरका परिवज्जये ॥

[हे आलि ! मुझे पूतिमाँस का देखना अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार के सखा से दूर-दूर ही रहे।]

इतना कह कर वह रुकी और अपने निवास-स्थान को चली गई। शृगाली भी जब उसे न रोक सकी तो उस पर क्रोधित हो अपने स्वामी के ही पास जा सिर नीचा किए बैठी। उसकी निन्दा करते हुए शृगाल ने दूसरी गाथा कही—

उम्मत्तिका अयं वेणी, वण्णेति पतिनो सखिं।
पज्जहाति परिगच्छन्तिं, आगतमेलमातरं ॥

[यह वेणी पगली है, पति से सखी की प्रशंसा करती है। फिर आई हुई एलमाता को उसके वापिस लौटने पर उसे जाने देती है।]

यह सुन शृगाली ने तीसरी गाथा कही—

त्वं खोसि सम्म उम्मत्तो दुम्मेधो अविचक्खणो।
यो त्वं मतालयं कत्वा अकालेन विपेक्खसि ॥

[हे सौम्य ! तू ही पगला है, दुर्बुद्धि है, अविचक्षण है। तू मरने का बहाना करके असमय ही देखने लग जाता है।]

यह सम्बुद्ध-गाथा है—

नो अकाले विपेक्खेय्य काले पेक्खेय्य पण्डितो।
पूतिमंसोव पज्जहाति यो अकाले विपेक्खति ॥

[असमय न देखे, पंडित को चाहिये समय पर ही देखे। जो असमय देखता है वह पूति-माँस की ही तरह वञ्चित होता है।]

वेणी ने पूति-माँस को सान्त्वना दी—"स्वामी ! चिन्ता न करें। मैं उसे फिर भी किसी उपाय से ले आऊँगी। तू आने पर अप्रमादी हो पकड़ना।" वह भेड़ी के पास पहुँची और बोली—"आलि ! तुम्हारा आना ही हमारे लिये हित कर हो गया। तुम्हारे आने के समय ही मेरे स्वामी को होश आ गया। अब वह जीवित है। आ उसके साथ बात-चीत कर।" उसने पाँचवीं गाथा कही—

पियं खो आलि मे होतु, पुण्णपत्तं ददाहि मे ।
पति सञ्जीवितो मह्यं, एयोसि पियपुच्छिका ॥

[हे सखि ! मेरी प्रिया हो मुझे पूर्ण-पात्र दे । मेरा पति जीवित है । हे प्रिय पुच्छिका ! तू आ ।]

भेड़ी ने सोचा—यह पापिन मुझे ठगना चाहती है । विरोध करना अनुचित है । मैं इसे उपाय से ही ठगूँगी । उसने छठी गाथा कही—

पियं खो आलि ते होतु, पुण्णपत्तं ददामि ते ।
महता च परिवारेन एसं, कयिरासि भोजनं ॥

[हे आलि ! तेरा प्रिय हो । तुझे पूर्ण-पात्र देती हूँ । मैं बहुत से अनुयायियों के साथ आऊँगी । उन का भोजन बना ।]

शृगाली ने उसके अनुयायियों के बारे में पूछते हुए सातवीं गाथा कही—

कीदिसो तुय्हं परिवारो, येसं काहामि भोजनं ।
किनामका च ते सब्बे, मे अक्खाहि पुच्छिता ॥

[तुम्हारे अनुयायी जिनके लिये में भोजन बनाऊँगी—कैसे हैं ? में पूछ रही हूँ । मुझे कहो—उन सबके क्या नाम हैं ?]

उसने आठवीं गाथा कही—

मालियो चतुरक्खोच, पिंगियो अथ जम्बुको ।
एदिसो म्यह परिवारो, तेसं कयिरासि भोजनं ॥

[माली, चतुरक्ष, पिङ्गिय तथा जम्बुक—ये चार (कुत्ते) मेरा परिवार हैं । इनका भोजन बनाना ।]

"एक-एक कुत्ते के साथ पाँच-पाँच सौ कुत्ते हैं । इस तरह दो हजार कुत्तों के साथ आऊँगी । यदि उन्हें भोजन नहीं मिलेगा तो तुम दो जनों को भी मार कर खा जायेंगे ?"

यह सुन शृगाली ने डर के मारे सोचा—यही अच्छा है कि यह न ही आये । उपाय से उसका आना रोकूँगी ।

उसने नौवीं गाथा कही—

निक्खन्ताय अगारस्मा, भण्डकं पि विनस्सति ।
आरोग्यं आलिनो वज्जं, इधेव वस, मा गमा ॥

[घर से निकलने से (तुम्हारे) भाण्डे भी फूट जा सकते हैं। मैं ही आलि का स्वास्थ्य (—समाचार) कह दूँगी। यहीं रह। मत जा।]

यह कह मरने के डर से वह शीघ्र भाग कर स्वामी के पास पहुँची और उसे ले भागी। वे फिर वहाँ नहीं आ सके।

शास्ता ने यह देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय मैं वहाँ वन में ज्येष्ठ वृक्ष पर उत्पन्न देवता था।

———

४३८. तित्तिर जातक

"यो ते पुत्तके... यह शास्ता ने गृध्रकूट में विहार करते समय वध के प्रयत्न के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उसी समय धर्म-सभा में बात-चीत चली--"आयुष्मानों! देवदत्त निर्लज्ज है, अनार्य है, अजात शत्रु के साथ मिल उसने इस प्रकार के उत्तम गुणवान् सम्यक् सम्बुद्ध के विरुद्ध धनु-प्रहार, शिला-फेंकवाना, नाला-गिरी हाथी छुड़वाना आदि कर उन्हें मारने का प्रयत्न किया है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बात चीत कर रहे हो?" अमुक बातचीत। "भिक्षुओं! न केवल अभी, देवदत्त ने पहले भी मेरे वध का प्रयत्न किया है। हाँ, इस बार तो त्रास मात्र भी पैदा नही कर सका" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय एक प्रसिद्ध आचार्य्य ने वाराणसी के पाँच सौ विद्यार्थियों को शिल्प सिखाते हुए एक दिन सोचा--"मुझे यहाँ रहने में असुविधा होती है। विद्यार्थियों का अध्ययन भी समाप्त नहीं होता। हिमालय प्रदेश में जंगल में रह कर पढ़ाऊँगा।" उसने विद्यार्थियों को कहा और तिल-तंडुल-तेल वस्त्र आदि लिवा, आरण्य में प्रवेश कर, मार्ग में थोड़ी ही दूर पर्णशाला बनवा रहने लगा।। विद्यार्थियों ने भी अपनी-अपनी पर्णशाला बनाई। विद्यार्थियों के रिश्तेदार तण्डुल आदि भेज देते थे। देश-वासी भी 'जंगल में अमुक स्थान पर प्रसिद्ध आचार्य्य विद्यार्थियों को विद्या अध्ययन कराता है' सोच चावल आदि ले आते थे। कान्तार से गुजरने वाले भी देते थे। एक आदमी ने दूध पीने के लिये बछड़े सहित गऊ भी दी। आचार्य्य की पर्णशाला के पास ही अपने दो

बच्चों के साथ एक गोह रहती थी। सिंह-व्याघ्र भी उसकी सेवा में आते थे। एक तीतर भी वहाँ निरन्तर रहता था। उसने आचार्य्य को विद्यार्थियों को (वेद-) मन्त्र पढ़ाते-पढ़ाते सुन तीनों वेद सीख लिये। विद्यार्थियों का और उसका बहुत विश्वास बढ़ गया। आगे चल कर विद्यार्थियों का अध्ययन अधूरा ही छोड़ आचार्य्य का शरीरांत हो गया। विद्यार्थी उसका शरीर जला, बालुका-स्तूप बना, नाना प्रकार के पुष्पों से पूज रोने-पीटने लगे। तीतर ने उन्हें पूछा—"क्यों रोते हो?"

"आचार्य्य हमारा अध्ययन अधूरा ही छोड़ काल कर गये। इसलिए रोते हैं।"

"यदि ऐसा है तो मत रोओ। मैं विद्या पढ़ाऊँगा।"

"तू कैसे जानता है?"

"मैंने आचार्य्य को तुम्हें पढ़ाते सुन तीनो वेदों का अभ्यास कर लिया।"

"तो अपना ज्ञान हम पर प्रकट कर।"

"तो सुनो" कह तीतर ने पर्वत से नदी उतारने की तरह जो कठिन-स्थल थे वे सुनाये। विद्यार्थी प्रसन्न हो तित्तिर पंडित के पास विद्या-अध्ययन करने लगे। वह भी प्रसिद्ध आचार्य्य का पद ग्रहण कर विद्या-अध्ययन कराने लगा। विद्यार्थियों ने उसके लिये सोने की थाली में मधु-खील आदि ला, नाना प्रकार के फूलों से उसकी पूजा करते हुए बड़ा सत्कार किया। तित्तिर जंगल में पाँच सौ विद्यार्थियों को विद्या अध्ययन कराता है—यह बात सारे जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध हो गई।

उस समय जम्बु-द्वीप में गिरग्र-उत्सव के समान महान् उत्सव की घोषणा हुई थी। उसी समय एक निर्ग्रन्थ दुष्ट तपस्वी जहाँ-तहाँ घूमता हुआ वहाँ आ पहुँचा। गोह ने उसे देख उसका सत्कार किया और 'अमुक जगह तण्डुल हैं, अमुक जगह तिल है, भात पका कर खाओ' कह चुगने गया। उसने प्रातः काल ही भात पकाया और दो गोहपुत्रों को मार मांस बनाकर खाया। दिन में तित्तिर-पण्डित और बछड़े को मार कर खाया। शाम को गऊ को आया देख, उसे भी मार मांस खाया और वृक्ष के नीचे लेट घुर-घुर करता हुआ सो गया। गोह ने शाम को लौट कर बच्चों को नहीं देखा

तो उन्हें ढूंढती फिरने लगी। वृक्ष देवता ने जब देखा कि बच्चों को न देखने से गोह कांप रही है तो वृक्ष-स्कन्ध के विवर में दिव्य-प्रताप से खड़े हो उससे बात-चीत करते हुए--"गोह! कांप मत। इसी पापी आदमी ने तेरे पुत्र, तित्तर, बछड़े और गऊ को मार डाला है। तू इसकी गरदन डस, इसे समाप्त कर" कह पहली गाथा कही—

यो ते पुत्तके अखादि, दिन्नभत्तो अदूसके।
तस्मिं दाठं निपातेहि, मा ते मुञ्चित्थ जीवतो॥

[हे निर्दोष! जिसे तूने भात दिया और जिसने तेरे पुत्रों को खाया तू उसे डस कर गिरादे। वह तुझसे जीता न बचे।]

तब गोह ने दो गाथायें कहीं--

आकिण्णलुद्दो पुरिसो धातिचेलंव मक्खितो।
पदेसं तं न पस्सामि यत्थ दाठ निपातये॥
अकतञ्ञुस्स पोसस्स निच्चं विवरदस्सिनो।

[यह अत्यन्त लोभी पुरुष है, दाई के वस्त्र की तरह गंदा है। मुझे वह स्थान नहीं दिखाई देता, जहां मैं (इसके शरीर में) दांत गड़ाऊँ। अकृतज्ञ, नित्य दोष-ही-दोष देखने वाले मनुष्य को यदि सारी पृथ्वी भी दे दी जाय तो उससे भी उसे प्रसन्नता नहीं होती।]

गोह ने यह कहा और यह सोच कि कहीं उठकर मुझे भी न खाले अपनी जान लेकर भागी। वे सिंह और व्याघ्र तीतर के मित्र ही थे। कभी वह तीतर के दर्शनार्थ आते, कभी वह उन्हें जाकर उपदेश दे आता। उस दिन सिंह ने व्याघ्र से कहा—"मित्र! तीतर को देखे बहुत समय हो गया। आज सात-आठ दिन हो गये। जा उसका समाचार लेकर आ।" व्याघ्र ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और गोह के भाग जाने के समय वहां पहुंच उस पापी पुरुष को सोते देखा। उसकी जटाओं में तीतर पंडित के बाल और गऊ तथा बछड़े की हड्डियां दिखाई देती थीं। व्याघ्र-राज ने यह सब देखा और जब उसे सोने के पिञ्जरे में तीतर-पंडित न दिखाई दिया तो उसने सोचा कि इसी पापी ने उन्हें मारा होगा। उसने पंजा मार कर उसे उठाया। वह उसे देखते ही डरा। व्याघ्र ने पूछा—"तूने इन्हें मार कर खाया?" "न मारा, न खाया।" "पापी! यदि तूने नहीं मारा तो दूसरा कौन मारेगा?" कहा—नहीं

कहेगा तो तेरी जान नहीं बचेगी।" उसने मरने के डर से कहा—"स्वामी! मैंने गोह के बच्चे, बछड़ा और गऊ मार कर खाये। तीतर नहीं मारा।" उसके बहुत कहने पर भी उसने उसका विश्वास नही किया और बोला—"तू आया कहाँ से?"

"स्वामी! कलिङ्ग राष्ट्र में व्यापारियों का माल ढोते हुए जीविका के लिये यह काम कर अब यहाँ आया हूँ।"

जब उसने अपने किये सब कर्म कह सुनाये तो व्याघ्र उसे आगे कर त्रास देता हुआ सिंह के पास ले चला और बोला—"पापी! यदि तू ने तीतर को नहीं मारा तो दूसरा कौन मारेगा? आ, तुझे मृगराज सिंह के पास ले चलूं?" सिंह ने व्याघ्र-राज को उसे लिये आते देखा तो उसे पूछते हुए चौथी गाथा कही—

किं नु सुबाहु तरमानरूपो,
पच्चागतोसि सह माणवेन।
किं किच्चं अत्थ इधमत्थि तुय्हं,
अक्खाहि मे पुच्छितो एतं अत्थं॥

[हे सुबाहु! क्या कारण है कि माणवक को साथ लेकर शीघ्रता से आया है। मुझ से तेरा क्या काम है? पूछने पर मुझे बता]

यह सुन व्याघ्र ने पाँचवीं गाथा कही—

यो ते सखा दद्दरो साधुरूपो,
तस्स वधं परिसङ्कामि अज्ज।
पुरिसस्स कम्मायतनानि सुत्वा,
नाहं सुखिं दद्दर अज मञ्ञे॥

(जो तेरा साधु-रूप मित्र दद्दर=तीतर था, आज मुझे उसके वध हो जाने की शङ्का है। इस पुरुष के कर्म और निवास-स्थान सुनकर मैं आज तीतर को सुखी नहीं मानता।

तब सिंह ने छठी गाथा कही—

कानिस्स कम्मायतनानि अस्सु,
पुरिसस्स वुत्तिसमोधानताय।
कं वा पटिञ्ञं पुरिसस्स सुत्वा,
परिसङ्कसि दद्दरं माणवेन॥

[जीविका के लिये इस पुरुष के क्या कर्म हैं और क्या निवासस्थान ? या इस पुरुष के किसी कथन को सुनकर तू इस पर तीतर को मारने का सन्देह करता है ?]

उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए व्याघ्र-राज ने शेष गाथायें कही—

चिण्णा कालिङ्गा चरिता वाणिज्जा,
वेत्ताचारो सङ्कुपथो पि चिण्णो।
नटेहि चिण्णं सह वाकरेहि,
दण्डेहि युद्धंपि समज्जमज्झे॥
बद्धा कुलिका, मितं आळ्हकेन,
अक्खा जिता, संयमो अब्भतीतो।
अब्बूहितं पुप्फकं अड्ढरत्तं,
हत्था दड्ढा पिण्डपरिग्गहेन॥
तानिस्स कम्मायतनानि अस्सुं,
पुरिसस्स वुत्तिसमोधानताय।
यथा अयं दिस्सति लोमपिण्डो,
गावो हता, किं पन वट्टकस्स॥

[(व्यापारियों के समान होते हुए) कालिङ्ग घूमा, व्यापार किया, बेंत बाँधकर जंगल में भी घूमा, नटों के साथ भी रहा, जाल-वालों के साथ भी रहा और उत्सव में डण्डे ले युद्ध भी किया। इसके द्वारा पक्षी भी बाँधे गये, नली द्वारा धान भी मापा गया, जुआ भी जीता गया, संयम की सीमा भी लांघी, आधी रात को खून का बहना रोका, (गर्म-गर्म) भोजन की भिक्षा करने से हाथ भी जले। इस पुरुष की जीविका चलाने के ये सब कर्म रहे हैं। इसकी जटाओं में यह जो लोभ-पिण्ड दिखाई देता है, इससे यह सिद्ध है कि तीतर तो क्या इसने गौ की हत्या की है।]

सिंह ने उस आदमी से पूछा—"क्या तूने तीतर पण्डित को मारा है ?"

"स्वामी ! हाँ।"

उसकी सच्ची बात सुन उसे छोड़ देने की इच्छा हुई। किन्तु व्याघ्र-राज ने 'यह पापी मार डालने योग्य ही है' कह उसे दाँठ से फाड़कर गढ़ा

खोद फेंक दिया। विद्यार्थी आये और तीतर पण्डित को न देख रो-धोकर लौट गये।

शास्ता ने यह देशना ला "भिक्षुओ इस प्रकार देवदत्त पहले भी मेरे बध के लिये प्रयत्नशील रहा।" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय जटिल देवदत्त था। गोह कृषा-गौतमी। व्याघ्र मौद्गल्यायन। सिंह सारिपुत्र। प्रसिद्ध आचार्य्य काश्यप। तीतर-पण्डित तो मैं ही था।

दसवाँ परिच्छेद

४३९. चतुद्वार जातक

"चतुद्वारमिदं नगरं..." यह शास्ता ने जेतवन में...एक बात न मानने वाले...कही। वर्त्तमान कथा नौवें परिच्छेद के पहले जातक में विस्तारपूर्वक आ ही गई है। इस कथा में शास्ता ने उस भिक्षु से पूछा—"भिक्षु! क्या तू सचमुच बात न मानने वाला है?" 'भन्ते! सचमुच' कहने पर 'भिक्षु! पहले भी तू बात न मानने वाला होने से पण्डितों का कहना न करने के कारण खुर-चक्र से पीड़ित हुआ' कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में काश्यप-बुद्ध के समय वाराणसी में अस्सी करोड़ धन वाले सेठ का मित्र विन्दक नामक पुत्र रहता था। उसके माता-पिता स्रोतापन्नी थे। किन्तु वह स्वयं दुश्शील तथा अश्रद्धावान् था। आगे चलकर जब पिता मर गया तो माता ने कुटुम्ब का विचार करते हुए कहा—"तात! तूने दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त किया है। दान दे। सदाचार की रक्षा कर। उपोसथ-कर्म कर। धर्म सुन।"

"मां! मुझे दानादि से प्रयोजन नहीं है। मुझे कुछ न कह। मैं यथा-कर्म (परलोक) जाऊँगा।" उसके ऐसा कहने पर भी एक वार पूर्णिमा के दिन माता बोली—

"तात! आज महान् उपोसथ-दिन है। आज उपोसथ-व्रत कर, विहार जा, सारी रात धर्मोपदेश सुनकर आ। मैं तुझे हजार दूँगी।"

उसने 'अच्छा' कह धन-लोभ से उपोसथ-व्रत धारण किया और प्रातःकाल का भोजन कर विहार पहुँचा। वहाँ दिन भर रहा। रात को एक ऐसी जगह लेटा जहाँ एक भी धम्म-पद कान में न पड़े। वह सो गया और

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मुँह धोकर जाकर बैठा। माता यह सोच कि आज मेरा पुत्र धर्म सुन, धर्म-कथिक-स्थविर को साथ लेकर आयेगा, यवागु खाद्य-भोज्य तैयार कर, आसन बिछा प्रतीक्षा करती रही। अकेले ही आता देखा तो बोली—

"तात ! धर्म-कथिक को क्यों साथ नहीं लाया ?"

"मुझे धर्म-कथिक से प्रयोजन नहीं है।"

"तो यवागु पी।"

"तुमने मुझे हजार देने को कहा था, वह दे। पीछे पीऊँगा।"

"तात पी। बाद में मिल जायेंगे।"

"लेकर ही पीऊँगा।"

माता ने हजार की थैली सामने रख दी। उसने यवागु पी, हजार की थैली ले व्यापार करके थोड़े ही समय में लाख कमा लिये। तब उसे सूझा—नौका लेकर व्यापार करूँगा। उसने नौका तय्यार करा माता से कहा—"माँ ! मैं नौका से व्यापार करूँगा।" माता ने मना किया—"तात ! तू अकेला पुत्र है। इस घर में धन भी बहुत है। समुद्र (यात्रा) में अनेक दुष्परिणाम होते हैं। मत जा।"

"जाऊँगा ही, मुझे नहीं रोक सकती।"

माँ ने हाथ पकड़ लिया—"तात ! मैं रोकती हूँ।" उसने हाथ छुड़ाया। माँ को पीट कर गिरा दिया। उसे दूर कर, जाकर नाव ले समुद्र में कूदा। सातवें दिन नौका मित्र-विन्दक के कारण समुद्र-तल पर निश्चल खड़ी हो गई। मनहूस आदमी को ढूंढने की शलाका चालू करने पर वह तीन बार मित्र-विन्दक के ही हाथ पर पड़ी। उस एक के कारण 'बहुतों का विनाश न हो' सोच उसे फट्टा दे समुद्र में छोड़ दिया। उसी समय नौकायें तेजी से समुद्र में चलने लगीं।

वह भी फट्टे पर लेटा-लेटा एक द्वीप में आ पहुँचा। वहाँ स्फटिक विमान में चार प्रेतनियाँ दिखाई दीं। वह एक सप्ताह दुःख भोगतीं थीं, एक सप्ताह सुख। उसने उनके साथ दिव्य-सम्पत्ति का आनन्द लूटा। वे दुःख भोगने के लिये जाते समय बोलीं—

"स्वामी ! हम सातवें दिन लौटेंगी। जब तक हम आयें तब तक

उद्विग्न न हो यहीं रहें।" वे चली गईं। तृष्णा के वशीभूत हो वह फिर उसी फट्टे पर लेट समुद्र-तल पर तैरता हुआ एक दूसरे द्वीप पहुँचा। वहाँ रजत-विमान में आठ प्रेतनियाँ देखीं। इसी तरह अगले द्वीप में मणि-विमान में सोलह, अगले स्वर्ण-विमान में बत्तीस प्रेतनियों को देख उनके साथ दिव्य-सम्पत्ति का आनन्द लूटा। जब वे भी दुःख भोगने चली गईं तो फिर समुद्र-तल पर तैरते हुए एक चार-दरवाजों वाला नगर देखा जिसके चारों ओर चार-दीवारी थी। वह उस्सद नरक था, जहाँ बहुत से नारकीय प्राणियों को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता था। मित्र-विन्दक को तो वह सजा-सजाया नगर दिखाई दिया। "इस नगर में दाखिल हो राजा होऊँगा।" सोच वह नगर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने खुर-चक्र को ले (आग में) पकते हुए नारकीय प्राणियों को देखा। उसे वह खुर-चक्र पद्म के रूप में दिखाई दिया। छाती पर का पाँच अंगों वाला बन्धन छाती के अलङ्कार के रूप में दिखाई दिया। शरीने से बहने वाला रक्त रक्त-चन्दन के लेप-सा और रोने-पीटने की आवाज मधुर गीत-सी लगी। उसने उसके पास जाकर कहा--

"हे पुरुष? तुमने इस पद्म को बहुत समय तक धारण किया, अब मुझे दे।"

"मित्र? यह पद्म नहीं है। यह खुर-चक्र है।"

"तू मुझे न देने की इच्छा से ऐसा कहता है।"

नारकीय प्राणी ने सोचा--"मेरा (पाप) कर्म-क्षीण हो गया होगा। यह भी मेरी तरह माँ को पीटकर आया होगा। उसे खुर-चक्र दूँगा।" उसने 'भो! आ पद्म ले' कह उसके सिर पर खुर-चक्र फेंका। वह उसके माथे को पीसता हुआ पड़ा। तब मित्र-विन्दक ने यह जान कि यह तो खुर-चक्र है, वेदना से चिल्लाना आरम्भ किया—अपना खुर-चक्र ले, अपना खुर चक्र ले। वह अन्तर्धान हो गया।

उस समय बहुत से अनुयाइयों के साथ चारिका करते हुए बोधिसत्व वहाँ पहुँचे। मित्र-विन्दक ने देखा तो पूछा--"स्वामी देवराज! यह चक्र घानी के तिलों को पीसने की तरह मुझ पर उतर रहा है। मैंने क्या पाप कर्म किया है?" उसने दो गाथायें कहीं—

चतुद्वारं इदं नगरं, आयसं दळहपाकार,
ओरुद्धपतिरुद्धोस्मि, किं पापं पकतं मया।
सब्बे अपिहिता द्वार, अरुद्धोस्मि तथा द्विजो,
किमाधिकरणं यक्ख, चक्काभिनिहतो अहं॥

[यह लोहे का बनाया हुआ मजबूत चार-दीवारी वाला, चार द्वारों का नगर है। मैं इसमें घिर गया हूँ। मैंने क्या पाप कर्म किया है? सारे द्वार बन्द हैं। मैं पक्षी की भाँति कैद हूँ। हे यक्ष? मैं किस अपराध के कारण चक्र से त्रस्त हूँ?]

देवराज ने उसका कारण बताते हुए छः गाथायें कहीं—

लद्धा सतसहस्सानि अतिरेकानि वीसति,
अनुकम्पकानं ञातीनं वचनं सम्म नाकरि।
लङ्घी समुद्दं पक्खन्दि सागरं अप्पसिद्धकं,
चतूहि अट्ठ अज्झगमा अट्ठाहि पि च सोलस॥
सोळसाहिच बत्तिसं, अत्रिच्छो चक्कं आसदो,
इच्छाहतस्स पोसस्स चक्कं भमति मत्थके।
उपरि विसालं दुप्पूरं इच्छा विसरगामिनिं,
ये व तं अनुगिज्झन्ति ते होन्ति चक्कधारिनो॥
बहुं भण्डं अप्पहाय मग्गं अप्परिवेक्खिय,
येसं चेतं असङ्खातं ते होन्ति चक्कधारिनो।
कम्मं समेक्खे विपुलं च भोगं,
इच्छं न सेवेय्य अनत्थसंहितं॥
केरय्य वाक्यं अनुकम्पकानं,
तं तादिसं नातिवत्तेय्य चक्कं॥

[बीस लाख भी और पाकर हे सौम्य! तूने कृपालु रिश्तेदारों का कहना नहीं माना। समुद्र लांघा और अल्प-सिद्धि वाले सागर में कूदा। वहाँ चार से आठ और आठ से सोलह को प्राप्त हुआ। (फिर) सोलह से बत्तिस। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ाने से इस चक्र को प्राप्त हुआ। इच्छा से प्रताड़ित मनुष्य के सिर में चक्र घूमता है। उत्तरोत्तर बढ़ने वाली,

पूरी न होने वाली तृष्णा के वशीभूत लोग चक्रधारी होते हैं। बहुत सामान छोड़ कर, बिना मार्ग का विचार किये (तूने घर छोड़ा)। और जो जो इस प्रकार विचार नहीं करते, वे चक्रधारी होते हैं। अपने कर्म और विपुल भोग का विचार करे। अनर्थकारी इच्छा का सेवन न करे। कृपालुओं का कहना करे। ऐसे पुरुष को चक्र से त्रास नहीं होता।]

यह सुन मित्र-विन्दक ने सोचा—इस देव-पुत्र ने यथार्थ रूप से मेरा किया कर्म जान लिया। यह मेरे (नरक में) पकने की सीमा भी जानता होगा, पूछता हूँ। उसने नौवीं गाथा कही—

कीव चिरं नु मे यक्ख, चक्कं सिरासि उस्सति।
कानि वस्स सहस्सानि, तं मे अक्खाहि पुच्छितो॥

[हे यक्ष। मेरे सिर में यह चक्र कितने दिन रहेगा? मैं पूछता हूँ, मुझे कहो कि कितने सहस्र वर्ष (रहेगा)?]

बोधिसत्व ने उसे बताते हुए दसवीं गाथा कही—

अतिसरो अच्चसरो मित्तविन्द, सुणोहिमे।
चक्कं ते सिरसिमाविद्धं, न तं जीवं पमोक्खसि॥

[मित्र-विन्द? तेरी यहाँ रहने की वर्ष-गणना इतनी अधिक है कि वह कही नहीं जा सकती। मेरी बात सुन। तेरे सिर में जो चक्र विधा है, वह तुझे जीते जी नहीं छोड़ेगा।]

यह कह देव-पुत्र अपने निवास-स्थान चला गया। दूसरा भी महान् दुःख को प्राप्त हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय मित्र-विन्दक बात न मानने वाला था। देवराज तो मैं ही था।

———

४४०. कण्ह जातक

"कण्हो वतायं पुरिसो . . ." यह शास्ता ने कपिल-वस्तु के पास न्यग्रोधाराम में विहार करते समय मुस्कराने के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस समय शास्ता शाम के समय न्यग्रोधाराम में भिक्षुसंघ सहित टहलते हुये एक स्थान पर मुस्कराये। आनन्द स्थविर ने सोचा—भगवान् की मुस्कराहट का क्या कारण है? तथागत अकारण नहीं मुस्कराते हैं। पूछता हूँ। उसने हाथ जोड़ मुस्कराहट का कारण पूछा। शास्ता ने—'आनन्द! पूर्व समय में यहाँ कृष्ण नाम का ऋषि था। वह इस प्रदेश में रहता था, ध्यानी ध्यान में रत। उसके शील-तेज से शक्र-भवन काँपा' कह वह कथा अप्रकट होने और स्थविर के प्रार्थना करने के कारण उसे प्रकट किया।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय अस्सी करोड़ धन वाला अपुत्रक ब्राह्मण था। उसने शील ग्रहण कर पुत्र की प्रार्थना की तो बोधिसत्व उसकी ब्राह्मणी की कोख में आये। काला वर्ण होने से नाम-करण के दिन इसका नाम कृष्ण-कुमार ही रखा गया। सोलह वर्ष की आयु होने पर मणि-प्रतिमा की तरह सुन्दर हुआ। पिता ने शिल्प सीखने के लिये भेजा। वह तक्षशिला से सब शिल्प सीख लौट आया। पिता ने उसके योग्य दारा से विवाह कर दिया। आगे चलकर उसे माता-पिता का सारा ऐश्वर्य्य प्राप्त हुआ।

एक दिन रत्न-भण्डारों को देख, पलङ्ग पर बैठ उसने स्वर्णपट्टी मँगवाई। उस पर पूर्व रिश्तेदारों द्वारा लिखाये अक्षर थे—इतना धन अमुक ने पैदा किया, इतना धन अमुक ने पैदा किया। वह सोचने लगा—"जिन्होंने

यह धन पैदा किया, वे दिखाई नहीं देते, धन ही दिखाई देता है। एक भी इस धन को लेकर नहीं गया। धन की गठड़ी बाँधकर परलोक नहीं ले जाई जा सकती। पाँच गतियों के लिये साधारण होने से ही असार धन का दान कर देना ही सार है। बहुत से रोगों के लिये साधारण होने से ही इस असार काय का शीलवानों के सामने अभिवादन आदि करना सार है, अनित्यताभिभूत असार जीव का अनित्यादि की विपश्यना भावना का अभ्यास करना ही सार है। इसलिये असार भोगों में से सार ग्रहण करने के लिये दान दूंगा।" वह आसन से उठा और राजा के पास उसकी आज्ञा ले महादान दिया। जब सात दिन में भी धन समाप्त नहीं हुआ, तो सोचा—"मुझे धन से क्या? जब तक बुढ़ापा नहीं आता तभी तक प्रब्रजित हो अभिञ्ञा और समापत्तियाँ प्राप्त कर ब्रह्मलोक-परायण होऊँगा।" उसने घर के सब द्वार खोल घोषणा कर दी—"दिया ही है, ले जायें।" इस प्रकार सम्पत्ति से मल-मूत्र की तरह घृणाकर उसे छोड़ दिया, और जनता के रोते-पीटते ही नगर से निकल हिमालय में प्रवेश किया। फिर ऋषि प्रब्रज्या ले अपने रहने के लिये रमणीय-भूमि की खोज करते हुये इस स्थान पर पहुँच निश्चय किया कि यहीं रहूंगा। एक इन्द्र वारुणी वृत्त वाले गाँव के आश्रय रहने का संकल्प कर उसी वृक्ष के मूल में रहने लगा। ग्राम-वास छोड़ आरण्यक हुआ। पर्णशाला न बना वृक्ष के मूल में ही रहने वाला हुआ। खुले आकाश में रहने वाला, बैठा ही रहने वाला। यदि लौटने की इच्छा होती तो जमीन पर ही लेटता। दान्तों को ही मूसल मान बिना आग पर पकी चीज ही खाता। थुस-वाली कोई चीज न खाता। एक दिन में केवल एक ही बार खाता। आसन पर अकेला ही रहता। क्षमा में पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के समान ही उक्त सब धुतङ्गों[1] की रक्षा करता। इस जगत् में बोधिसत्व परम अल्पेच्छ थे। वह थोड़े ही समय में अभिञ्जा और समापत्तियाँ प्राप्त कर ध्यानक्रीड़ा में रत रह वहीं रहने लगा। फलाफल तक के लिये अन्यत्र न जाता। वृक्ष फलते तो फल खाता। फूलते तो फूल खाता। पत्ते

---

१. विशेष व्रतों।

रहते पत्ते खाता। पत्ते न रहने पर पपड़ी खाता। इस प्रकार परम सन्तुष्ट हो उसी स्थान पर चिरकाल तक रहा। उसने एक दिन भी पूर्वाह्न समय उस वृक्ष के फल ग्रहण करते समय लोभवश उठकर दूसरे प्रदेश में जा वहाँ के फल ग्रहण नहीं किये। बैठे-बैठे हाथ पसारने पर जो फल आ जाते उन्हें ही इकट्ठे करता। उनमें भी अच्छे-बुरे का विचार न कर जो-जो हाथ लगते, उन्हें ही ग्रहण करता। इस प्रकार उस परम संतोषी के शील-तेज से शक्र का पाण्डु-कम्बल-शिलासन गर्म हो गया। शक्र का आसन या तो उसकी आयु-क्षय होने से गर्म होता है या पुण्य-क्षय होने से, या किसी दूसरे प्रतापी प्राणी के उस आसन की इच्छा करने से, या फिर धार्मिक महान् ऋद्धिवान् श्रमण-ब्राह्मणों के शील-तेज से। उसने ध्यान लगाकर देखा— कौन है जो मुझे गिराना चाहता है? इसी प्रदेश में वन में रहने वाले कृष्ण ऋषि को वन के फल चुगते देख सोचा—यह ऋषि घोर-तपस्वी है, परम जितेन्द्रिय है। मैं इस धर्म-कथा से सिंह-नाद करा, सुख का कारण सुन, वर दे, इस वृक्ष को नित्य-फल वाला करके आऊँगा। उसने बड़े प्रताप के साथ, शीघ्रता से उतर, उसी वृक्ष की जड़ में उसकी पीठ के पीछे खड़े हो 'अपनी निन्दा सुनकर इसे क्रोध आता है वा नहीं' परीक्षा लेने के लिये पहली गाथा कही—

कण्हो वतायं पुरिसो, कण्हं भुञ्जति भोजनं,
कण्हे भूमि पदेसस्मिं, न मय्हं मनसो पियो॥

[यह पुरुष काला है। काला भोजन खाता है। काले प्रदेश में रहता है। यह मुझे मन से प्रिय नहीं।]

कृष्ण ने उसकी बात सुन दिव्य-चक्षु से देखा—कौन है जो मेरे साथ बातचीत करता है? जब मालूम हुआ कि 'शक्र' है तो बिना लौटे, बिना उस ओर देखे दूसरी गाथा कही—

न कण्हो तचसा होति, अन्तो सारोहि ब्राह्मणो,
यस्मिं पापानि कम्मानि, सवे कण्हो सुजम्पति॥

[त्वचा से काला नहीं होता। जिसका अन्दर सारवान है, वह ब्राह्मण है। हे सुजम्पति! जो पाप-कर्म करता है, वही काला होता है।]

यह कह इन प्राणियों को 'काला' बनाने वाले पाप-कर्मों का एक तरह के. . . .आदि विस्तार करके सभी पाप-कर्मों की निन्दा की। फिर शीलादि की प्रशंसा कर आकाश में चाँद उगाते हुये की तरह शक्र को धर्मोपदेश दिया। शक्र ने धर्म-कथा सुनी तो प्रसन्न हो, हर्ष से बोधिसत्व को वर माँगने के लिये कहते हुये तीसरी गाथा कही—

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छसि॥

[यह जो सुभाषित कहा है, यह जो तुम्हारे ही अनुकूल सुन्दर कथन है, इससे प्रभावित होकर हे ब्राह्मण ! मैं तुझे वर देता हूँ। जो इच्छा हो (माँग)।]

यह सुन बोधिसत्व ने सोचा—इसने मेरी परीक्षा ली है कि मैं अपनी निन्दा सुनकर क्रुद्ध होता हूँ वा नहीं ? पहले मेरी चमड़ी, भोजन और निवासस्थान की निन्दा कर अब मुझे अक्रुद्ध देख, प्रसन्न हो वर देता है। हो सकता है कि यह भी समझे कि मैं शक्रैश्वर्य अथवा ब्रह्मैश्वर्य के लिये तपस्या करता हूँ। इसका सन्देह मिटाने के लिये मुझे यह चार वर माँगने चाहिए— मुझे किसी के भी प्रति द्वेष या क्रोध न हो। दूसरे की सम्पत्ति के प्रति लोभ या दूसरे के प्रति स्नेह न पैदा हो। उसने उसका सन्देह दूर करने के लिये चारों वर माँगते हुये यह गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क, सब्बभूतानं इस्सर,
सुनिक्कोधम् सुनिद्दोसं, निल्लोभं वत्तिमत्तनो।
निस्नेहं अभिकङ्खामि, एतेमे चतुरो वरे॥

[हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र ! यदि मुझे वर देना है तो ऐसा कर कि मैं सर्वथा अक्रोधी हो जाऊं, सर्वथा अद्वेषी हो जाऊँ, सर्वथा निर्लोभी हो जाऊँ और मेरी वृत्ति स्नेह-रहित हो जाय—मैं यही चार वर चाहता हूँ।]

शक्र ने सोचा—कृष्ण-पण्डित ने जो वर माँगे हैं वे सर्वथा निर्दोष हैं। मैं इसी से इन वरों का गुण-दोष पूछता हूँ। उसने पूछते हुये पाँचवीं गाथा कही—

किं नु कोधे वा दोसे वा, लोभे स्नेहे व ब्राह्मण।
आदिनवं सम्पस्ससि, तं मे अक्खाहि पुच्छितो॥

[हे ब्राह्मण ! मैं पूछता हूँ, मुझे बता कि तुझे क्रोध, द्वेष, लोभ या स्नेह में क्या दोष दिखाई देता है ?]

बोधिसत्व ने "तो सुन" कह चार गाथायें कहीं—

अप्पो हुत्वा बहु होति, बड्ढतेसो अखन्तिजो।
आसङ्गि बहु पापासो, तस्मा कोधं न रोचये॥

[यह थोड़े से अधिक हो जाता है, यह अक्षमा से उत्पन्न बढ़ता है, आसक्त को बहुत दुःख होता है—इसलिये मुझे क्रोध अच्छा नहीं लगता।]

दुट्ठस्स पठमा वाचा, परामासो अनन्तरा,
ततो पाणि ततो दण्डो, सत्थस्स परमा गति।
दोसो कोधसमुट्ठानो, तस्मा दोसं न रोचये॥

[द्वेष होने से पहले तो (कठोर) वाणी निकलती है, फिर खेंचना-घसीटना आदि होता है, फिर हाथ से पीटना होता है, फिर दण्ड देना होता है, फिर शस्त्रप्रहार होता है। द्वेष से ही क्रोध पैदा होता है। इसलिये द्वेष अच्छा नहीं लगता।]

आलोपसहसाकारा, निकती वञ्चनानि च,
दिस्सन्ति लोभधम्मेसु, तस्मा लोभं न रोचये॥

[डाका, दुस्साहस, ठगी, वञ्चना—यह सब लोभ में दिखाई देते हैं। इसलिये मुझे लोभ अच्छा नहीं लगता।]

स्नेहसंगथिता गन्था सेन्ति मनोमया पुथु,
ते भुसं उपतापेन्ति तस्मा स्नेहं न रोचये॥

[स्नेह से गुथी हुई बहुत सी मनोमय ग्रन्थियाँ रहती हैं। वे बहुत संताप देती हैं। इसलिये मुझे स्नेह अच्छा नहीं लगता।]

शक्र ने प्रश्नोत्तर सुन कर कहा—"कृष्ण-पण्डित ! तूने इन प्रश्नों का उत्तर ऐसी अच्छी तरह दिया है जैसे बुद्ध ने ही दिया हो। मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ। और भी वर माँग।" उसने दसवीं गाथा कही—

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छसि॥

[अर्थ ऊपर आ गया है।]

तब बोधिसत्व ने इसके बाद की गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
अरञ्ञे मे विहरतो निच्चं एकविहारिनो।
आबाधा न उप्पज्जेय्यु अन्तरायकरा भुसा॥

[हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र ! यदि मुझे वर देना चाहता है तो यह वर दे कि जंगल में नित्य अकेले विहार करते हुए (तपस्या में) बहुत बाधक होने वाले रोग न उत्पन्न हों।]

यह सुन शक्र ने 'कृष्ण पण्डित वर माँगते हुये सांसारिक वस्तु नहीं माँगता, तपस्या सम्बन्धी ही माँगता है' सोच और भी अधिक प्रसन्न हो एक और वर देने के लिए यह गाथा कही--

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छसि॥

बोधिसत्व ने भी वर ग्रहण के बहाने से धर्मोपदेश देते हुए अन्तिम गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क, सब्बभूतानं इस्सर,
न मनो वा सरीरं वा, मङ्कते सक्क कस्सचि।
कदाचि उपहञ्ञेथ, एतं सक्क वरं वरे॥

[हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र ! यदि वर देता है तो यह वर दे कि मेरे कारण किसी के भी मन या शरीर को कभी भी कष्ट न हो। हे शक्र ! मैं यही वर माँगता हूँ।]

बोधिसत्व ने छः बार वर माँगते हुये भी त्याग सम्बन्धी वर ही माँगा। वह यह जानता था कि रोग शरीर का स्वभाव है और शक्र शरीर को रोग से मुक्त नहीं कर सकता, प्राणियों के शरीर, वाणी और मन की शुद्धि भी शक्र के आधीन नहीं है। ऐसा होने पर भी उसे धर्मोपदेश देने के लिये ये वर ग्रहण किये।

शक्र ने भी उस वृक्ष को नित्य-फल वाला कर दिया और बोधिसत्व को प्रणाम कर, सिर पर हाथ जोड़ 'यहीं आरोग्य रह' कह अपने स्थान को गया। बोधिसत्व भी ध्यानावस्थित रह ब्रह्मलोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'आनन्द ! इस भूमि-प्रदेश में मैं पहले रहा हूँ' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय शक्र अनुरुद्ध था। कृष्ण-पण्डित तो मैं ही था।

———

४४१. चतुपोसथिक जातक

"यो कोपनेय्यो...." यह चतुपोसथिक जातक पुण्णक जातक[1] में आयेगी।

---

४४२. संख जातक

"बहुस्सुतो इति..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय सब परिष्कारों के दान के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

श्रावस्ती में एक उपासक ने तथागत की धर्म-देशना सुन प्रसन्न हो अगले दिन के लिये निमन्त्रण दिया। अपने घर मण्डप बनवा, सजा, तथागत को समय की सूचना भिजवाई। पाँच सौ भिक्षुओं के साथ शास्ता वहाँ गये और बिछे आसन पर बैठे। उपासक ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को दान दे "फिर अगले दिन..." इस प्रकार सात दिन तक निमन्त्रण दे महादान दिया। सातवें दिन सब परिष्कारों का दान दिया। उस दान में जूते के दान की विशेषता थी। तथागत को जो जोड़ा दिया उसका मूल्य हजार था। दो अग्र-श्रावकों के जोड़े पाँच-पाँच सौ के, शेष पाँच सौ भिक्षुओं के जोड़े सौ-सौ के। इस प्रकार वह सब परिष्कारों का दान दे अपनी परिषद के साथ भगवान् के पास बैठा। शास्ता ने मधुर-स्वर से उसके दान का अनुमोदन करते हुए कहा—"उपासक ! तेरा सब परिष्कारों का दान बहुत श्रेष्ठ है। पूर्व समय में जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, प्रत्येक-बुद्ध को एक जूता-जोड़ा देकर नौका के टूटने पर समुद्र में कहीं ठिकाना न रहने पर, जूते के दान के फल-स्वरूप किनारा मिला। तूने तो बुद्ध-प्रमुख-

---

१. पुण्णक जातक ५४५।

भिक्षु-संघ को महादान दिया है। तेरा जो यह जूते-जोड़े का दान है यह क्यों तेरा सहायक न होगा ? उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में इस वाराणसी का नाम मोलिनी था। मोलिनी नगर में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय सङ्ख नाम का महा धनवान् ब्राह्मण था। उसने चारों नगर-द्वारों पर, नगर के बीच में तथा अपने द्वार पर छः दान-शालायें स्थापित कीं। प्रतिदिन छः लाख खर्च करके दुखी-दरिद्री मनुष्यों को महादान देता था। उसने एक दिन सोचा—यदि घर में धन नहीं रहेगा तो मैं दान नही दे सकूँगा, धन रहने पर ही दे सकूँगा। इसलिये नौका से स्वर्ण-भूमि जा धन लाऊँगा। उसने नौका बँधवाई, उसे माल से भरा और स्त्री-पुत्र को बुलाकर कहा—"जब तक मैं लौट कर न आऊँ तब तक मेरा यह दान लगातार जारी रहे।" दासों और नौकरों के साथ उसने छाता लिया, जूता पहना, मध्याह्न के समय पत्तन-ग्राम की ओर गया।

उसी समय गन्धमादन पर्वत पर एक प्रत्येक-बुद्ध ने ध्यान-बल से उसे धन लेने के लिये जाते देख सोचा—महापुरुष धन लेने जा रहा है, इस समुद्र में कोई आपत्ति आयेगी वा नहीं ? उसे पता लगा—आयेगी। तब उसने सोचा—यह मुझे देखकर छत्र और जूता दान देगा और उपवाहन दान के शुभ परिणाम स्वरूप समुद्र में नौका के टूट जाने पर इसे सहारा मिलेगा। मैं इस पर कृपा करूँ। वह आकाश-मार्ग से आ, उससे कुछ ही दूर पर उतर, तेज हवा धूप में जलते अङ्गारों की सी तप्त बाल का मर्दन करते हुए उसके सामने आया। उसने उसे देखते ही 'मेरा पुण्य-क्षेत्र आ गया है, आज मुझे इसमें बीज डालना चाहिए' सोच सन्तुष्ट हो शीघ्रता से जाकर प्रणाम किया—"भन्ते ! मुझ पर कृपा करने के लिये मार्ग से थोड़ा-सा हट कर इस वृक्ष की छाया में पधारें।" जब वह उस वृक्ष की छाया में पहुँचे तो वृक्ष के नीचे बालू की ढेरी बना उस पर अपनी चादर विछाई। फिर उस पर प्रत्येक-बुद्धको बिठा, सुगन्धित छने हुये पानी से पैर धो, सुगन्धित तेल से भाख, अपना जोड़ा उतार-पोंछ (उसे भी) सुगन्धित

तेल से माख प्रत्येक-बुद्ध को पहनाया और जोड़ा और छाता देकर कहा—"भन्ते ! यह जोड़ा पहन सिर पर छत्र धारण कर जायें।" उन्होंने उस पर कृपा करने के लिये उसे स्वीकार किया और उसकी प्रसन्नता बढ़ाने के लिये उसके देखते ही देखते ऊपर उठकर गन्धमादन पर्वत गये। बोधिसत्व ने भी यह देखा और अत्यन्त प्रसन्न हो पत्तन पर पहुँच नौका पर चढ़े।

जब वह समुद्र पर जा रहा था, सातवें दिन नौका में छेद हो गया। पानी नहीं उलीचा जा सका। भयभीत जनता ने अपने-अपने देवता को याद कर चिल्लाना आरम्भ किया। बोधिसत्व ने अपने एक सेवक के साथ सारे शरीर में तेल की मालिश की। (फिर) घी-शक्कर-जितना खा सकता था, खाया और उसे खिलाया। कूप-यष्टि पर चढ़कर 'इधर हमारा नगर है' का निश्चय कर दोनों अपने आप को कच्छ-मच्छ से बचाते हुये उसभ-मात्र कूदे। जनता विनाश को प्राप्त हुई। बोधिसत्व और उसके सेवक ने साथ-साथ तैरना आरम्भ किया। उसके तैरते-तैरते ही सात दिन बीत गये। नमकीन-पानी से कुल्ला कर वह उस समय भी उपोसथ-व्रतधारी ही था।

उस समय चारों लोक-पालों ने मणि-मेखला नाम की देवी को (लोगों की) रक्षा के लिये समुद्र पर नियुक्त किया था—"यदि नौका टूट जाने से ऐसे आदमी 'जिन्होंने त्रिशरण ग्रहण की हो, जो सदाचारी हो अथवा जो माता-पिता को देवता मानने वाले हों' दुखी हों तो तू उनकी रक्षा करना।" वह अपने ऐश्वर्य्य में सप्ताह तक मस्त रही। सातवें दिन समुद्र की ओर देखते हुये सदाचारी सङ्ख ब्राह्मण को देख सोचा—उसे समुद्र में गिरे सात दिन हो गये। यदि मर गया तो मेरी बड़ी निन्दा होगी। उसके मन में संवेग पैदा हुआ। उसने नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजनों से एक सोने की थाली भरी और वायु-वेग से उसके पास पहुँच सामने आकाश में खड़ी हो बोली—"ब्राह्मण ! तू सप्ताह भर से निराहार है। यह दिव्य भोजन खा।" वह उसकी ओर देख बोला—"दूर हटा अपना भोजन। मैं उपोसथ-व्रतधारी हूँ।" उसके सेवक ने जो पीछे आ रहा था, देवी को नहीं देखा था। उसने आवाज मात्र सुनी तो समझा—वह ब्राह्मण कोमल प्रकृति का है। सप्ताह भर भोजन न करने से दुखी हो मृत्यु-भय से प्रलाप करने लग गया होगा। उसने उसे सान्त्वना देने के लिये पहली गाथा कही—

बहुस्सुतो सुतधम्मोसि सङ्ख,
दिट्ठा तया समणब्राह्मणा च।
अथ अक्खणे दस्सयसे विलापं,
अञ्ञो नु को ते पीटमन्तको मया॥

[हे सङ्ख ! तू बहुश्रुत है। तूने धर्म सुना है। तूने श्रमण-ब्राह्मण भी देखे हैं। तू असमय प्रलाप कर रहा है। मेरे अतिरिक्त तुझसे बात करने वाला दूसरा कौन है ?]

उसने उसकी बात सुन और यह सोच कि इसे वह देवी दिखाई नहीं देती कहा—"मित्र ! मैं मरने से नहीं डरता हूँ। मुझ से बात-चीत करने वाला दूसरा है।" उसने यह दूसरी गाथा कही—

सुब्भु सुभा॰ सुप्पटिमुत्तकम्बु,
पग्गय्ह सोवण्णमयाय पाटिया।
भुञ्जस्सु भत्तं इति मं वदेति,
सद्धा वित्ता तं अहं नो ति ब्रूमि॥

[सुमुखी, शुभ-वर्णा स्वर्णालङ्कारा (देवी) सोने की थाली में (भोजन) लाकर मुझे कहती है कि भोजन खा। उस श्रद्धावान्, संतुष्ट-चित्त को मैं "न" कह रहा हूँ।]

उसने उसे तीसरी गाथा कही—

एतादिसं ब्राह्मण दिस्व यक्खं,
पुच्छेय्य पोसो सुखं आससानो।
उठ्ठेहि नं पञ्जलिक अभिपुच्छ,
देवी नु सि त्वं उद मानुसी नू॥

[हे ब्राह्मण ! इस प्रकार के यक्ष को देखकर सुख की इच्छा करने वाला आदमी उससे पूछेगा। तू उठ और उससे हाथ जोड़ कर पूछ—'तू देवी है अथवा मानुषी ?']

बोधिसत्व ने "ठीक कहता है" सोच उसे पूछते हुए चौथी गाथा कही—

यं त्वं सुखे नाभिसमेक्खसे मं,
भुञ्जस्सु भत्तं इति मं वदेसि।

पुच्छामि तं नारि महानुभावे,
देवी नु सि त्वं उद मानुसी नू॥

[हे महानुभाव नारी! तू मुझे प्रियचक्षु से देखती है और भोजन करने के लिये कहती है। मैं जानना चाहता हूँ कि तू देवी है अथवा मानुषी?]

तब देवी ने दो गाथायें कही—

देवी अहं संख महानुभावा,
इधागता सागरवारिमज्झे।
अनुकम्पिका नो च पदुट्ठचित्ता,
तवेव अत्थाय इधागतास्मि॥
इध अन्नपानं सयनासनञ्च,
यानानि नाना विविधानि संख।
सब्बस्स त्याहं पटिपादयामि,
यं किञ्चि तुय्हं मनसाभिपत्थितं॥

[हे संख! मैं महान् प्रताप वाली देवी हूँ। यहाँ सागर के जल में आई हूँ। मेरी तुझ पर अनुकम्पा है, तेरे प्रति द्वेष नहीं। मैं तेरे ही हित के लिये आई हूँ। हे संख! इस समुद्र में अन्न, पान, शयनासन तथा नाना प्रकार के वाहन हैं। मैं जो कुछ भी तेरी इच्छा हो, वह सब तुझे देती हूँ।]

यह सुन बोधिसत्व ने सोचा—यह देवी समुद्रतल पर खड़ी हो मुझे "यह और वह" देने को कहती है, क्या यह मेरे कुशल-कर्म के प्रताप (के बल) से देती है अथवा अपने बल से? मैं उसे पूछता हूँ। उसने सातवीं गाथा कही—

यं किञ्चि यिट्ठं व हुतं व मय्हं,
सब्बस्स नो इस्सरा त्वं सुगत्ते।
सुस्सोणि सुब्भुरु विलाकमज्झे,
किस्स मे कम्मस्स अयं विपाको॥

[जो कुछ भी दान (=यज्ञ) या आतिथ्य (=हवन) मेरे द्वारा किया गया है, हे सुगात्रे! तू सब की ज्ञाता (=स्वामिनी) है। हे सुन्दर जाँघ वाली! हे सुन्दर भ्रू वाली! हे सुन्दर शरीर वाली! यह मेरे किस कर्म का फल है?]

यह सुन देवी ने सोचा—मालूम होता है यह ब्राह्मण समझता है कि उसने जो कुशल-कर्म किया है, वह मैं नहीं जानती हूँ। इसीलिये पूछता है। अब मैं इसे कहती हूँ। उसने बताते हुए आठवीं गाथा कही—

धम्मे पथे ब्राह्मण एकभिक्खुं,
उग्घट्टपादं तसितं किलंतं।
पटिपादयि सङ्ख उपाहनाहि,
सा दक्खिणा कामदुहा तवज्ज॥

[हे सङ्ख ब्राह्मण ! तप्त रास्ते पर चलने वाले, तप्त-पाद, प्यासे, थके हुए, प्रत्येक-बुद्ध को जो तूने उपाहनों का दान किया था, आज तेरा वह दान कामधेनु बना है।]

बोधिसत्व को हर्ष हुआ—इस तरह के आश्रय-हीन महासमुद्र में भी मेरा दिया हुआ उपाहन-दान सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो गया। अहो ! प्रत्येक-बुद्ध को दिया गया दान सुदान था। उसने नौवीं गाथा कही—

सा होतु नावा फलकूपपन्ना,
अनवस्सुता एरकवातयुत्ता।
अञ्ञस्स यानस्स न हेत्थ भूमि,
अज्जेव मं मोलिनिं पापयस्सु॥

[(हे देवी ! मेरे लिये एक नौका बना)। वह नौका तख्तों की बनी हो। छिद्र-रहित हो। अनुकूल वायु वाली हो। यहाँ किसी दूसरे वाहन का उपयोग नहीं है। आज ही मुझे (उस नौका से) मोलिनी नगर पहुँचा दे।]

देवी ने उसकी बात सुन प्रसन्न हो सात-रत्नों वाली नौका बनाई। उसकी लम्बाई आठ उषभ की, चौड़ाई चार उषभ, गहराई बीस यष्टिका। उसके इन्द्रनीलमय तीन कूप थे, स्वर्णमय जोत, रजतमय बादबान तथा स्वर्णमय ही चप्पु थे। देवी ने उस नौका को सात रत्नों से भर, ब्राह्मण को गले लगा, सजी हुई नौका पर चढ़ाया; सेवक की ओर ध्यान नहीं दिया। ब्राह्मण ने अपने कुशल-कर्म में हिस्सा दिया। सेवक ने अनुमोदन किया। तब देवी ने उसे भी गले लगाकर नौका पर चढ़ाया।

फिर उस नौका को मोलिनी नगर ले जा, ब्राह्मण के घर धन रख, अपने निवासस्थान को गई।

शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर यह अन्तिम गाथा कही—

सा तत्थ वित्ता सुमना पतीता,
नावं सुचित्तं अभिनिम्मिनित्वा।
आदाय सङ्खं पुरिसेन सद्धिं,
उपानयी नगरं साधु रम्मं॥

[वह वहाँ प्रीति, सौमनस्य तथा प्रसन्नता से युक्त हुई और सुन्दर नौका बना, सेवक सहित सङ्ख को लेकर अत्यन्त रमणीक नगर में पहुँचा दिया।]

ब्राह्मण ने भी आजीवन असीम धन वाले घर में रहते हुए, दान दे, शील रख, आयु की समाप्ति पर सेवक सहित देव-नगर को सुशोभित किया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैंठाया। सत्यों की समाप्ति पर उपासक स्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय देवी उत्पल-वर्णा थी, सेवक आनन्द था और सङ्ख-ब्राह्मण तो मैं ही था।

४४३. चुल्लबोधि जातक

"यो ते इमं विसालक्खिं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक क्रोधी के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह भिक्षु कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित होकर भी क्रोध को न जीत सका। वह क्रोधी था, अति चंचल था। कुछ भी कह देने पर चिढ़ जाता था, गुस्से हो जाता था, खीझ जाता था, मुँह फुला लेता था। शास्ता ने उसके क्रोधी होने की बात सुन बुलाकर पूछा—"क्या तू सचमुच क्रोधी है?" 'सचमुच' कहने पर—"भिक्षु! क्रोध दूर रखना चाहिए। इस लोक में तथा परलोक में ऐसा अनर्थकारी दूसरा नहीं है। तू क्रोध-रहित बुद्ध के शासन में प्रव्रजित हो क्यों क्रोधित होता है? पुराने पण्डितों ने (बुद्ध) शासन से बाहर प्रव्रजित हुए रहने पर भी क्रोध नहीं किया" कह पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय काशी-निगम में एक धनवान्, महाधनवान्, महान् सम्पत्तिशाली ब्राह्मण रहता था, जिसको पुत्र न था। ब्राह्मणी पुत्र के लिये प्रार्थना करती थी। उस समय बोधिसत्व ब्रह्मलोक से उतर उस ब्राह्मणी की कोख में आये। नामकरण के दिन बालक का नाम बोधिकुमार रखा गया।

बड़े होने पर तक्षशिला जा, सब शिल्प सीख लौटा। उसकी इच्छा न रहते हुए भी माता-पिता उसके लिए समान जाति-कुल की एक कुँवारी ले आये। वह भी ब्रह्मलोक से उतरी थी और थी देवप्सराओं के समान। उन दोनों की इच्छा नहीं थी। तो भी दोनों का विवाह कर दिया गया। उन दोनों में कभी पूर्व (–जन्म) में कामुकता का भाव पैदा नहीं हुआ था।

कामुकता की दृष्टि से कभी परस्पर देखना नहीं हुआ था। स्वप्न में भी उन्होंने मैथुन-धर्म का सेवन नहीं किया था। वे ऐसे ही परिशुद्ध-शील वाले थे।

आगे चलकर जब माता-पिता मर गये तो बोधिसत्व ने उनकी अंत्येष्टि कर उसे बुलाकर कहा "भद्रे ! तू यह अस्सी करोड़ धन ले सुख-पूर्वक जी।"

"और आर्यपुत्र तुम ?"

"मुझे धन की आवश्यकता नहीं है। हिमालय में जा, प्रव्रजित हो अपना उद्धार करूँगा।"

"आर्यपुत्र ! क्या प्रव्रज्या पुरुषों के लिये ही है ?"

"भद्रे ! स्त्रियों के लिये भी होती है।"

"मैं भी तेरे त्यागे हुए थूक के पिण्ड को ग्रहण नहीं करूँगी। मुझे भी धन की आवश्यकता नहीं है। मैं भी प्रव्रजित होऊँगी।"

"भद्रे ! बहुत अच्छा !"

दोनों ने महादान दिया और (घर से) निकल कर रमणीय प्रदेश में आश्रम बना, प्रव्रजित हो गिरे फलमूल को खाते हुए वहीं दस वर्ष रहे। उस समय तक वे ध्यान-लाभी नहीं हुए थे। वहाँ वे दस वर्ष तक प्रव्रज्या का आनन्द लेते रहे। बाद में नमक-खटाई खाने के लिये जनपद में घूमते हुए क्रमशः वाराणसी पहुँच राजोद्यान में रहने लगे।

एक दिन राजा ने माली को जब वह भेंट लेकर आया था कहा— "उद्यान-क्रीड़ा करेंगे। उद्यान साफ करो।" फिर उसके द्वारा साफ किये गये, तैयार किये गये, उद्यान में राजा अनेक अनुयायियों के साथ पहुँचा। उस समय वे दोनों जने उद्यान में एक ओर बैठे प्रव्रज्या-सुख का आनंद ले रहे थे। राजा उद्यान में घूमते समय उन दोनों को बैठे देख परम सुन्दर उत्तम रूपवाली परिव्राजिका पर आसक्त हो गया। उसने अनुरक्त होने के कारण काँपते हुए सोचा—'इससे पूछूँ कि यह परिव्राजिका इसकी क्या लगती है ?" वह बोधिसत्व के पास पहुँचा और बोला—"यह प्रव्रजित हुई परिव्राजिका तेरी क्या लगती है ?" "महाराज ! कुछ नहीं। केवल एक साथ प्रव्रजित हुए हैं। हाँ गृहस्थ रहते यह मेरी चरण-सेविका थी।" यह सुन राजा के मन में

आया—यह इसकी कुछ नहीं लगती। हाँ, गृहस्थी के समय इसकी चरण-सेविका थी। यदि मैं इसे अपने ऐश्वर्य बल से पकड़ कर ले जाऊँ, तो यह मेरा क्या करेगा? मैं इसे पकड़ूँ। उसने पास जाकर पहली गाथा कही—

यो ते इमं विसालक्खि पियं सम्मिलभासिनिं,
आदाय बला गच्छेय्य किं नु कयिरासि ब्राह्मण॥

[हे ब्राह्मण? यदि कोई तेरी इस विशालाक्षी, प्रिय, मुस्कराने वाली को बलपूर्वक लेकर चला जाय तो तू उसका क्या करेगा?]

उसकी बात सुन बोधिसत्व ने दूसरी गाथा कही—

उप्पज्ज मे न मुच्चेय्य न मे मुच्चेय्य जीवतो,
रजं व विपुला वुट्ठि खिप्पं एव निवारये॥

[यदि मेरे भीतर क्रोध उत्पन्न हो जायगा, तो वह मुझे न छोड़ेगा, जीते जी न छोड़ेगा। इसलिये मैं उसे वैसे ही शान्त कर दूंगा जैसे विपुल वर्षा धूलि को शान्त कर देती है।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने सिंह-नाद किया। राजा ने उसकी बात सुनी, लेकिन अन्धा-मूर्ख होने से वह अपने चित्त को रोक न सका। उसने एक अमात्य को आज्ञा दी—"इस परिव्राजिका को राज-भवन में ले चलो।" उसने 'अच्छा' कहा और 'लोक में अधर्म हो रहा है' कह रोती-पीटती हुई उसको ले गया। बोधिसत्व ने उसकी रोने-पीटने की बात सुन एक बार उधर देख कर फिर नहीं देखा। उसे रोती-पीटती को राज-भवन में ले ही गये। उस वाराणसी-नरेश ने भी उद्यान में देर नहीं की और शीघ्र घर पहुँच उस परिव्राजिका को बुला बड़े सुख-भोग का जीवन व्यतीत करने को कहा। उसने सुख-भोग की निन्दा तथा प्रव्रज्या की ही प्रशंसा की। राजा जब किसी भी तरह उसके मन को अपने काबू में न कर सका तो उसने उसे एक कमरे में बन्द कर दिया और सोचने लगा—यह परिव्राजिका इस प्रकार का सुख-भोग भी नहीं चाहती है, उस तपस्वी ने भी इस प्रकार की स्त्री को उठाकर ले जाने पर क्रोधित हो एक बार देखा तक नहीं। प्रव्रजित बड़े मायावी होते हैं। कुछ (मन्त्र) करके मेरा अनर्थ भी कर सकते हैं। जरा जाकर देखूँ कि बैठा क्या कर रहा है? इस प्रकार सोचते हुए निश्चिन्त न रह सकने के कारण वह उद्यान में पहुँचा। बोधिसत्व बैठे चीवर सी रहे थे। राजा थोड़े से ही

अनुयायियों को साथ ले बिना शोर मचाये धीरे से पास पहुँचा। बोधिसत्व राजा की ओर न देख चीवर ही सीते रहे। राजा ने यह सोच कि यह क्रोध के मारे मुझसे नहीं बोल रहा है मन में विचार किया—यह दुष्ट तपस्वी गर्जना करता था कि मैं क्रोध उत्पन्न होने न दूँगा और यदि उत्पन्न होगा तो उसका निग्रह करूँगा। अब क्रोध के ही कारण जड़ हुआ यह मेरे साथ बात नहीं करता। उसने तीसरी गाथा कही—

यं नु पुब्बे विकत्थित्थो बलम्हि व अपस्सितो,
स्वज्ज तुण्हिक्खको दानि संघाटिं सिब्बं अच्छसि॥

[जो अपने बल को प्रकट करते हुए की तरह पहले प्रलाप किया था, वह तू आज चुपचाप बैठा संघाटी सी रहा है।]

बोधिसत्व ने सोचा कि यह राजा समझता है कि मैं इससे क्रोध के कारण नहीं बोल रहा हूँ, अब मैं इससे बातचीत करूँगा। उसने क्रोध पर अधिकार कर लेने की बात कहते हुए चौथी गाथा कही—

उप्पज्जि मे न मुच्चित्थ, न मे मुच्चेय्य जीवतो,
रजं व विपुला वुट्ठि, खिप्पमेव निवारयिं॥

[मुझे (क्रोध) उत्पन्न हुआ था, किन्तु मैं उसके वशीभूत नहीं हुआ। जीते जी मैं क्रोध के वशीभूत नहीं होऊँगा। जिस प्रकार अधिक वर्षा धूल को शान्त कर देती है, उसी प्रकार मैंने (क्रोध को) शान्त कर दिया।]

यह सुन राजा ने सोचा—यह क्रोध के बारे में कह रहा है, अथवा अन्य किसी शिल्प के बारे में? उसने उससे पूछने का निश्चय कर पूछने के लिये पाँचवी गाथा कही—

किं ते उप्पज्जि नो मुच्चि, किं ते नो मुच्चि जीवतो,
रजं व विपुला वुट्ठि, कतमं त्वं निवारयि॥

[वह क्या था जो तेरे मन में पैदा हुआ, किन्तु तू जिसके अधिकार में नहीं आया, और जीते-जी तू जिसके वशीभूत नहीं होगा। अधिक वर्षा से धूल को शान्त करने की तरह तूने किसको शान्त कर दिया?]

यह सुन बोधिसत्व ने—"महाराज! इस प्रकार क्रोध में अनेक दोष हैं, यह महान् विनाशक है। यह मेरे मन में पैदा हुआ था, किन्तु मैंने इसे

मैत्री-भावना से शान्त किया' कह क्रोध के दुष्परिणाम दिखाते हुए ये गाथायें कहीं—

यम्हि जाते न पस्सति अजाते साधु पस्सति,
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि कोधो दुम्मेधगोचरो॥

[जिसके उत्पन्न होने पर दिखाई नहीं देता, उत्पन्न न होने पर ही अच्छी तरह दिखाई देता है, वह क्रोध मेरे मन में पैदा हुआ था किन्तु मैं उसके वशीभूत नहीं हुआ। मूर्ख ही क्रोध के वशीभूत होता है।]

येन जातेन नन्दन्ति अमित्ता दुक्खमेसिनो,
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि कोधो दुम्मेधगोचरो॥

[जिसके उत्पन्न होने पर अहितकामी शत्रु प्रसन्न होते हैं, वह क्रोध मेरे मन में उत्पन्न हुआ, किन्तु मैं उसके वशीभूत नहीं हुआ। मूर्ख ही क्रोध के वशीभूत होता है।]

यस्मिं च जायमानस्मिं सदत्थं नावबुज्झति,
सो मे उप्पज्जि नो मुच्चि कोधो दुम्मेधगोचरो।

[जिसके उत्पन्न होने पर सदर्थ का बोध नहीं होता, वह क्रोध मेरे मन में उत्पन्न हुआ, किन्तु मैं उसके वशीभूत नहीं हुआ। मूर्ख ही क्रोध के वशीभूत होता है।]

येनाभिभूतो कुसलं जहाति,
परक्करे विपुलं चापि अत्थं।
स भीमसेनो बलवा पमद्दी,
कोधो महाराज न मे अमुच्चत्थ॥

[जिससे अभिभूत होने पर आदमी कुशल (कर्म) छोड़ देता है और अपने बहुत अर्थ का भी त्याग कर देता है। हे महाराज ! मैं उस भीमसेन, बलवान्, मर्दित करने वाले क्रोध के वशीभूत नहीं हुआ।]

कठ्ठस्मिं मन्थमानस्मिं पावको नाम जायति,
तं एव कट्ठं डहति यस्मा सो जायते गिनि॥

[लकड़ी की रगड़ से आग पैदा हो जाती है। वह आग उसी लकड़ी को जला देती है, जिससे पैदा होती है।]

एवं मन्दस्स पोसस्स, बालस्सम्विजानतो,
सारम्भा जायते कोधो, सो पितेनेव डटहति॥

[इसी प्रकार जो मन्द-बुद्धि है, जो मूर्ख है, जो अज्ञानी है ऐसे आदमी के खींचतान करने से क्रोध पैदा होता है। वह उसी (क्रोध) से जलता है।]

अग्गीव तिणकट्ठस्मिं कोधो यस्स पवड्ठति,
निहीयति तस्स यसो कालपक्खे व चन्दिमा॥

[तृण-काष्ठ में पड़ी हुई आग की तरह जिसका क्रोध बढ़ता है, कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह उसका यश घटता है।]

अनेधो धूमकेतु व कोधो यस्स उपसम्मति,
आपूरति तस्स यसो सुक्कपक्खे व चन्दिमा॥

[बिना ईंधन की आग की तरह जिसका क्रोध शान्त हो जाता है, उसका यश शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ता है।]

राजा ने बोधिसत्व की धर्म-कथा से प्रसन्न हो एक अमात्य को आज्ञा दे परिब्राजिका को मँगवाया और क्षमा माँगी—"भन्ते ! क्रोधरहित तपस्वी ! तुम दोनों प्रब्रज्या-सुख से रहते हुए यहीं उद्यान में रहो। मैं तुम्हारी धार्मिक रक्षा-हिफाजत करूँगा।" वह प्रणाम करके चला गया। वे दोनों वहीं रहने लगे। आगे चलकर परिब्राजिका काल कर गई। उसके काल कर जाने पर हिमालय में प्रविष्ट हो अभिञ्ञा तथा समापत्तियाँ प्राप्त कर, ब्रह्मविहारों का अभ्यास कर वह ब्रह्मलोक-परायण हुआ।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में क्रोधी भिक्षु अनागामीफल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय परिब्राजिका राहुल-माता थी। राजा आनन्द था। परिब्राजक तो मैं ही था।

४४४. कण्हदीपायन जातक

"सत्ताहमेवाहं. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

कथा कुस जातक[1] में आयेगी। शास्ता ने उस भिक्षु से पूछा—"क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है?" "सचमुच।" "भिक्षु! पुराने पण्डितों ने, जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, बाहरी प्रव्रज्या ग्रहण कर पचास वर्ष से भी अधिक कामभोग में रत न हो ब्रह्मचर्य्य का पालन किया। लज्जा-भय का ख्याल कर अपने उद्विग्न-चित्त होने की बात किसी से नहीं कही। तू इस प्रकार के कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित हो, मेरे जैसे गौरवार्ह बुद्ध के सामने खड़े हो, चारों परिषदों के बीच में ऐसा क्यों कर रहा है? तू अपने लाज-भय की रक्षा क्यों नहीं करता?" इतना कह पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वंस (वङ्क?) राष्ट्र के कोसम्बी नगर में कोसम्बिक नाम का राजा राज्य करता था। उस समय एक निगम में दो ब्राह्मण रहते थे—परस्पर मित्र तथा अस्सी करोड़ के मालिक। दोनों काम-भोगों में दोष देख, महादान दे, कामभोगों को छोड़, रोती-पीटती जनता को त्याग, हिमालय के लिये निकल पड़े। वहाँ आश्रम बना, प्रव्रजित हो, वनमूल तथा फलाफल चुग कर गुजारा करते हुए पचास साल तक रहे। वे ध्यानलाभी नहीं हो सके। पचास वर्ष बीतने पर नमक-खटाई का सेवन करने के लिये जनपद में घूमते हुए कांशी राष्ट्र पहुँचे। वहाँ एक निगम-ग्राम में दीपायन तपस्वी का माण्डव्य नाम का गृहस्थ-मित्र था। वे दोनों

---

१. कुस जातक ५३१।

उसके पास गये। उसने उन्हें देखते ही प्रसन्न हो पर्णशाला बनवाई और उनकी चारों आवश्यकताओं की पूर्ति कर सेवा की। वे वहाँ तीन-चार वर्ष रहे। फिर उसे सूचना दे चारिका करते हुए वाराणसी पहुँच श्मशान में रहने लगे। उन दोनों में से दीपायन यथारुचि श्मशान में रह फिर उसी मित्र के पास चला गया। माण्डव्य तपस्वी (?) वहीं रहा।

एक दिन एक चोर नगर में चोरी कर बहुत सा धन लिये जा रहा था। जाग गये घरवालों तथा पहरेदारों ने 'चोर' जान पीछा किया। वह चुपके से निकला और शीघ्रता से श्मशान में घुस तपस्वी की पर्ण-शाला के द्वार पर सामान छोड़ भाग गया। धन-स्वामियों ने सामान देखा तो "रे दुष्ट तपस्वी ! तू रात को चोरी करता है और दिन में तपस्वी का भेष बनाकर रहता है" कह उसे डाँटा और पीटते हुए राजा के सामने ले गये। राजा ने बिना परीक्षा किये ही आज्ञा दी—"ले जाओ, सूली पर चढ़ा दो।" उसे श्मशान में ले जाकर खैर की सूली पर चढ़ाया गया। तपस्वी के शरीर में सूली न घुसती थी। तब नीम की सूली लाये। वह भी न घुसती थी। तब लोहे[1] की सूली लाये। वह भी न घुसी। तपस्वी ने अपने पूर्व-कर्म का विचार किया। उसे पूर्व-जन्म-स्मरण ज्ञान पैदा हुआ, जिससे उसने अपना पूर्व-कर्म देखा। उसका पूर्व-कर्म क्या था—कोविलार के तकुवे से मक्खी का बींधना। पूर्व-जन्म में वह बढ़ई का पुत्र था। वह पिता के साथ वृक्ष काटने की जगह गया। वहाँ उसने एक मक्खी को कोविलार की सलाई से सूली से बींधने की तरह बींध दिया। उसके उस पाप ने उसे यहाँ आकर पकड़ा। जब उसने यह जान लिया कि इस पाप से मुक्त नहीं हो सकता तो राजपुरुषों को बुलाकर कहा—"यदि मुझे सूली पर चढ़ाना चाहते हो तो कोविलार की सूली ले आओ।" उन्होंने वैसा किया और उसे सूली पर चढ़ा, पहरा बिठा चले गये। पहरेदार छिपकर उसके पास आने वालों को देखने लगे।

तब दीपायन यह सोच कि मित्र को बहुत दिन से नहीं देखा, माण्डव्य के पास आने के लिये निकला। उसने जब रास्ते में सुना कि उसी दिन

---

१. अयसूलं।

सूली पर टाँगा गया है तो वह वहाँ पहुँचा और एक ओर खड़ा हुआ। पूछा—"मित्र ! क्या अपराधी हो ?"

"निर्दोष हूँ।"

"मन कुपित तो नहीं हुआ है ?"

"मित्र ! जिन्होंने मुझे पकड़ा है, न मैं उन्हीं पर कुपित हूँ और न राजा पर।"

"यदि ऐसा है तो ऐसे सदाचारी की छाया मेरे लिये सुखकर है" कह दीपायन सूली के सहारे बैठ गया। मण्डव्य के शरीर से उसके शरीर पर रक्त की बूंदें गिरीं। वे स्वर्ण-वर्ण शरीर पर गिर-गिर कर काली पड़ गईं। तभी से उसका नाम कण्हदीपायन (=कृष्णद्वीपायन) पड़ गया। वह सारी रात वहीं बैठा रहा। अगले दिन पहरेदारों ने यह समाचार जाकर राजा से निवेदन किया। राजा को लगा कि उसने बिना विचारे ही ऐसा किया। उसने शीघ्रता से वहाँ पहुँच दीपायन से पूछा—"प्रव्रजित ! सूली के सहारे क्यों बैठे हो ?"

"महाराज ! इस तपस्वी के रक्षार्थ बैठा हूँ। क्या तूने इसका दोषी होना या निर्दोषी होना जानकर इसे ऐसा (दण्ड) दिया है ?"

उसने स्वीकार किया कि उसने बिना विचार किये दण्ड दिया है। उसने राजा को 'महाराज ! राजा को विचारवान् होना चाहिये' कह 'भोग-कामी आलसी गृहस्थ अच्छा नहीं होता' आदि धर्मोपदेश दिया। राजा को जब यह मालूम हुआ कि मण्डव्य निर्दोष है तो उसने आज्ञा दी—"सूली को निकालो।" सूली निकालने वाले सूली न निकाल सके। मण्डव्य बोला—"महाराज ! मैं पूर्व कर्म के पाप के फलस्वरूप इस लोहे की सूली को प्राप्त हुआ। मेरे शरीर से सूली नहीं निकाली जा सकती। यदि मेरी जान बचाना चाहते हो तो आरा मँगवा कर इस सूली को मेरी चमड़ी से मिलाकर कटवा डालो।" राजा ने वैसा ही किया। शरीर के अन्दर की सूली अन्दर ही रह गई। उस समय उसने वह सलाई की नोक लेकर मक्खी के गुदा-मार्ग में घुसा दी थी। वह उसके शरीर में ही थी। उसकी मृत्यु उस कारण से न होकर आयु-क्षय से ही हुई। इसीलिये यह भी नहीं मरा। राजा ने तपस्वियों को प्रणाम किया, क्षमा माँगी और दोनों को उद्यान में बसा कर सेवा करने

लगा। तब से मण्डव्य का नाम अणिमण्डव्य पड़ गया। वह वहीं राजा के आश्रय से रहने लगा। दीपायन उसका जख्म अच्छा करके अपने गृहस्थ-मित्र मण्डव्य के पास ही चला गया। उसे पर्णशाला में प्रविष्ट होते देख मित्र को सूचना दी गयी। उसने सुना तो प्रसन्न हो पुत्र-भार्या सहित बहुत सी सुगन्धी मालाएँ, तेल, खाँड आदि ले उस पर्णशाला में पहुँचा। वहाँ दीपायन को प्रणाम कर, पैर धो, तेल माख, शर्बत पिला, बैठकर अणिमण्डव्य का समाचार सुनने लगा।

उसका 'यज्ञ-दत्त' कुमार नामक पुत्र चंक्रमण-भूमि के सिरे पर गेंद से खेल रहा था। वहाँ एक बाँबी में विषैला सर्प रहता था। कुमार की पृथ्वी पर पटकी हुई गेंद जाकर बाँबी में विषैले सर्प के ऊपर पड़ी। उस अजान ने बिल में हाथ डाला। क्रुद्ध सर्प ने हाथ में डँस लिया। विष प्रभाव से मूर्छित हो वह वहीं पर गिर पड़ा।

माता-पिता को जब पता लगा कि साँप ने डँस लिया तो उन्होंने कुमार को उठाया और तपस्वी के पास लाकर चरणों में लिटा दिया— "भन्ते ? प्रव्रजित औषधि या परित्राण (–धर्मदेशना) जानते हैं। हमारे पुत्र को निरोग करें।"

"न मैं औषधि जानता हूँ न वैद्य-कर्म करूँगा।"

"तो भन्ते ! इसी कुमार के प्रति मैत्री-भावना करके सत्य-क्रिया करें।"

"अच्छा, सत्य-क्रिया करूँगा"—कह तपस्वी ने यज्ञदत्त के सिर पर हाथ रखा और पहली गाथा कहीं—

सत्ताहं एवाहं पसन्नचित्तो,
पुञ्ञत्थिको अचरिं ब्रह्मचरियं।
अथापरं यं चरितं ममयिदं,
वस्सानि पञ्ञास समाधिकानि।
अकामको वा हि अहं चरामि,
एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु।
हतं विसं, जीवतु यञ्ञदत्तो॥

[मैंने पुण्य की कामना से सप्ताह भर ही प्रसन्नतापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन किया। इसके बाद जो मैंने यह ५० वर्ष से अधिक (पालन) किया

अनिच्छापूर्वक ही किया। मेरे इस सत्य के प्रताप से कल्याण हो, विष नष्ट हो और यज्ञदत्त जी उठे।]

सत्य-क्रिया करते ही यज्ञदत्त के स्तनों से ऊपर की ओर का विष उछल कर जमीन में चला गया। कुमार ने आँखें खोलीं, माता-पिता को देखा और 'माँ' कह कर पलट कर पड़ रहा। तब कण्ह-दीपायन ने उसके पिता को कहा—"मैंने यथा-सामर्थ्य किया तू भी यथा सामर्थ्य कर।" उसने—'मैं भी सत्य-क्रिया करूँगा'—कह पुत्र की छाती पर हाथ रख दूसरी गाथा कही :—

यस्मा दानं न अभिनंदि कदाचि,
दिस्वानाहं अतिथि वा सकाले।
न चापि मे अप्पियतं अवेदुं,
बहुस्सुता समणाब्राह्मणा च।
अकामको वा हि अहं ददामि,
एतेन सच्चेन सुवत्थि होतुं।
हतं विसं, जीवतु यञ्ञदत्तो॥

[मैंने वासस्थान के लिये आये हुये अतिथियों को देखकर कभी भी दान का अभिनन्दन नहीं किया। लेकिन बहुश्रुत श्रमण ब्राह्मणों को भी मेरा यह अतिथि अप्रिय होना पता नहीं लगा। मैं अनिच्छापूर्वक ही देता रहा। इस सत्य (-क्रिया) के प्रताप से कल्याण हो। विष नष्ट हो। यज्ञदत्त जी उठे।]

इस प्रकार उसके सत्यक्रिया करते ही कटि-प्रदेश से ऊपर का बिष उछल कर जमीन में चला गया। कुमार उठकर बैठ गया। हाँ, खड़ा नहीं हो सकता था। तब उसके पिता ने माता से कहा—"भद्रे! मैंने यथा-सामर्थ्य किया। अब तू सत्य-क्रिया कर। पुत्र को चलने योग्य बना। वह बोली—"मेरे पास एक सत्य है, लेकिन तेरे सामने कह नहीं सकती।" "भद्रे! जैसे भी हो, मेरे पुत्र को आरोग्य प्रदान कर।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और सत्य-क्रिया करते हुए तीसरी गाथा कही—

आसीविसो तात पहूततेजो,
यो तं अदठ्ठि पतरा उदिच्च।
तस्मिं च मे अप्पियताय अज्ज,

पितरि च ते नत्थि कोचि विसेसो,
एतेन सच्चेन... यञ्ञदत्तो॥

[हे तात ! जिस विपुल-तेज वाले सर्प ने तुझे पत्थर पर से उछलकर काटा है, उस सर्प में और तेरे पिता में जहाँ तक अप्रिय होने का सम्बन्ध है आज मेरे लिये कुछ अन्तर नहीं है। इस सत्य (क्रिया)....उठे ?]

सत्य-क्रिया करने के साथ ही सारा विष निकल कर पृथ्वी में चला गया। यज्ञदत्त निर्विष शरीर से उठकर खेलने लग गया। इस प्रकार पुत्र के उठने पर मण्डव्य ने दीपायन का विचार जानने के लिये चौथी गाथा कही—

सन्ता दन्ता येव परिब्बजन्ति,
अञ्ञत्र कण्हा अनकामरूपा।
दीपायन किस्स जिगुच्छमानो,
अकामको चरसि ब्रह्मचरियं॥

[सभी शान्त, दमन-शील होकर परिव्राजक बनते हैं। कण्ह-दीपायन को छोड़कर और कोई अनिच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य्य का पालन नहीं करते। हे दीपायन ! तुझे किस बात से घृणा है कि तू अनिच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य्य का पालन कर रहा है ?]

उसने उसे वह कारण बताते हुए पाँचवी गाथा कही—

सद्धाय निक्खम्म पुनं निवत्तो,
सो एलमूगो व बालो वतायं।
एतस्स वादस्स जिगुच्छमानो,
अकामको चरामि ब्रह्मचरियं।
विञ्ञूपसत्थं च सतं च ठानं,
एवं पहं पुञ्ञकारो भवामि॥

[श्रद्धा से प्रव्रजित होकर यह पुनः गृहस्थी में लौट आया, यह भेड़ की तरह मूक है, यह मूर्ख है—इस निन्दा से डरकर ही मैं अनिच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य्य का पालन करता हूँ। फिर यह विज्ञों द्वारा प्रशंसित तथा सत्पुरुषों का जीवन है। इस कारण से भी मैं पुण्यवान् होऊँगा।]

इस प्रकार उसने अपना विचार कह फिर मण्डव्य से पूछने के लिये छठी गाथा कही—

समणे तुवं ब्राह्मणे अद्धिके च,
सन्तप्पयासि अन्नपानेन भिक्खुं।
ओपानभूतं व घरं तवयिदं,
अन्नेन पानेन उपेतरूपं॥
अथ किस्स वादस्स जिगुच्छमानो,
अकामको दानं इमं ददासि॥

[तू भिक्षा माँगने वाले श्रमण, ब्राह्मणों और मुसाफिरों को अन्न-पान से सन्तुष्ट करता है। तेरा यह अन्न-पान से युक्त घर सभी सर्वसाधारण के लिये है। तुझे किस अपवाद का डर है कि तू अनिच्छापूर्वक दान देता है?]

तब मण्डव्य ने अपना विचार कहते हुए सातवीं गाथा कही—

पितरो च मे आसु पितामहा च,
सद्धा अहू दानपति वदञ्ञू।
तं कुल्लवत्तं अनुवत्तमानो,
माहं कुले अन्तिमगन्धिनो अहुं।
एतस्स वादस्स जिगुच्छमानो,
अकामको दानं इमं ददामि॥

[मेरे पिता और पितामह श्रद्धावान् थे, प्रसिद्ध दानपति थे। उस कुल-परम्परा की रक्षा करने के लिये और इसलिये कि मैं इस परम्परा में अन्तिम न होऊँ, मैं इस अपवाद से घृणा करने के कारण ही अनिच्छापूर्वक दान देता हूँ।]

यह कह मण्डव्य ने अपनी भार्य्या को पूछते हुए आठवीं गाथा कही—

दहरिं कुमारिं असमत्थपञ्ञं,
यं तानयिं ञातिकुला सुगत्ते।
न चापि मे अप्पियतं अवेदि,
अञ्ञत्र कामा परिचारयन्ती।
अथ केन वण्णेन मया ते भोति,
संवासधम्मो अहु एवरूपो॥

[हे सुगात्रे ! जब तू छोटी थी, कुँवारी थी, सोच-विचार नहीं कर सकती थी, तभी मैं तुझे तेरे जातिकुल से ले आया। तू अनिच्छापूर्वक सेवा करती रही, लेकिन मुझे अपने 'अप्रिय' होने का पता नहीं लगा। हे देवी ! तेरा मेरे साथ ऐसा संवास कैसे हुआ ?]

उसने उसे कहते हुए नौवीं गाथा कही—

आरा दूरे न इध कदाचि अत्थि
परम्परा नाम कुले इमस्मिं।
तं कुल्लवत्तं अनुवत्तमाना,
माहंकुले अन्तिमगन्धिनी अहुं।
एतस्स वादस्स जिगुच्छमाना,
अकामिका बद्ध चरामि तुटंह॥

[हमारे कुल में दूर तक कभी भी ऐसी परम्परा नही है कि कोई अपने पति को छोड़कर चली गई हो। उस कुल-परम्परा का अनुवर्तन करने के लिये और इसलिये कि मैं कहीं अन्तिम-निकृष्ट न होऊँ, मैं इस अपवाद से घृणा करने के कारण ही अनिच्छापूर्वक तुझ से बँधी रही हूँ।]

यह कह उसने सोचा—मैंने स्वामी के सामने ऐसी गुह्य बात जो पहले नहीं कही थी, कह दी। यह मुझ पर क्रोधित भी हो सकता है। अपने कुल-विश्वस्त तपस्वी के सामने ही इससे क्षमा माँगूं। उसने क्षमा माँगते हुए दसवीं गाथा कही—

मण्डव्य भासिस्सं अभासनेय्यं,
तं खमयंतं पुत्तहेतु मं अज।
पुत्तपेमा न इध परं अत्थि किञ्चि,
सो नो अयं जीवति यञ्ञदत्तो॥

[हे मण्डव्य ! मैंने न कहने योग्य बात कही। इसे तू आज पुत्र के लिये क्षमा कर दे। इस संसार में पुत्र-प्रेम से बढ़कर कुछ नहीं है। वह हमारा पुत्र यञ्ञदत्त जीवित है।]

तब मण्डव्य ने उससे कहा—"भद्रे ! उठ तुझे क्षमा करता हूँ। हाँ, अब से तू कठोर-चित्त न होना। मैं भी तेरा अप्रिय नहीं करूँगा।" बोधिसत्व ने भी मण्डव्य को कहा—"आयुष्मान् ! तूने कठिनाई से इकट्ठा किया जाने

वाला धन इकट्ठा कर कर्म और फल में अश्रद्धावान् रह कर जो दान दिया, वह अनुचित किया। अब से श्रद्धापूर्वक दान देना।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार कर बोधिसत्व से कहा--

"भन्ते ! तुमने हमारे दान-क्षेत्र होकर जो अरुचिपूर्वक ब्रह्मचर्य्य पालन किया, वह ठीक नहीं किया। अब से, जिसमें तुम्हारे प्रति किये गये उपकार महाफलदायी हों उस तरह चित्त को प्रसन्न कर, शुद्ध-चित्त, ध्यानवत हो ब्रह्मचर्य्य पालन करें।" वे बोधिसत्व को प्रणाम कर उठकर चले गये। तब से भार्य्या स्वामी के प्रति सस्नेह हो गयी। मण्डव्य प्रसन्न-चित्त हो श्रद्धापूर्वक दान देने लगा। बोधिसत्व विरति को नष्ट कर ध्यान तथा अभिञ्ञा प्राप्त कर ब्रह्मलोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्य-प्रकाशन के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय मण्डव्य आनन्द था। भार्य्या विशाखा, पुत्र राहुल, अणिमण्डव्य सारिपुत्र, कण्हदीपायन तो मैं ही था।

---

४४५. निग्रोध जातक

"नावाहमेतं जानामि " यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय देवदत्त के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

एक दिन भिक्षुओं ने देवदत्त से कहा—"आयुष्मन् ! शास्ता ने तुम्हारा बहुत उपकार किया है। तुम्हें शास्ता से ही प्रव्रज्या और उपसम्पदा मिली, त्रिपिटक बुद्धवचन सीखना मिला। शास्ता के ही कारण ध्यान-लाभी हुए। तुम्हारा लाभ-सत्कार भी उस बलधारी (बुद्ध) के ही कारण है।" देवदत्त ने तिनका उठाकर कहा—"मैं श्रमण गौतम से अपने को इस तिनके जितना भी उपकृत नहीं समझता।" उसके ऐसा कहने पर धर्मसभा में बातचीत चली। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" 'अमुक बातचीत'। 'भिक्षुओ, देवदत्त न केवल अभी अकृतज्ञ और मित्र-द्रोही है, वह पहले भी ऐसा ही रहा है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में राजगृह में मगध महाराजा का राज्य था। उस समय राजगृह सेठ अपने पुत्र के लिये जनपद सेठ की लड़की ले आया था। वह बाँझ थी। आगे चलकर उसका आदर-सत्कार कम हो गया। उसको सुना-सुनाकर कहा जाता—"हमारे पुत्र के घर में बांझ स्त्री है, तो कुल-परम्परा कैसे चालू रहेगी?" उसने यह सुना तो सोचा—अच्छा, गर्भिणी होने का बहाना बना इन्हें ठगूँगी। उसने अपनी हितैषी दायी को बुलाकर पूछा—"माँ! गर्भिणियाँ क्या-क्या करती हैं?" जानकर ऋतु-काल होने पर उठ, खटाई आदि खानेवाली हो; हाथ-पाँव के फूलने के समय हाथ-पाँव कुटवा कर मोटे कर लिये। दिन-प्रतिदिन कपड़े बाँध-बाँध पेट बड़ा कर

लिया। स्तन-मुख काले करा लिये। शारीरिक-कृत्य करती तो उस दायी को छोड़ और किसी के सामने न करती। स्वामी ने उसे गर्भ-परिष्कार दिये। इस प्रकार नौ महीने रह 'अब जनपद में पिता के घर जाकर सन्तान को जन्म दूंगी' कह, सास-ससुर की आज्ञा ले, रथ पर चढ़ बड़े ठाट-बाट से राजगृह से निकल मार्गारूढ़ हुई। उनके आगे-आगे एक सार्थ जाता था। जहाँ सार्थ रह कर चल देता वहाँ यह प्रातःकाल के भोजन के समय पहुँचती।

एक दिन जब वह सार्थ जा रहा था तो एक रात एक दरिद्र स्त्री ने एक न्यग्रोध-वृक्ष के नीचे पुत्र को जन्म दिया। उसने प्रातःकाल जब सार्थ को जाते देखा तो सोचा, मैं बिना सार्थ के न जा सकूंगी। जीती रही तो पुत्र और मिल जायगा। उसने न्यग्रोध की जड़ में ही पुरैन और गर्भमल फैला दिया और पुत्र को छोड़ चली गई। बच्चे की भी रक्षा देवताओं ने की। वह बच्चा भी यूं ही जो कोई नहीं था, बोधिसत्व ने ही उस रूप में जन्म ग्रहण किया था।

जब वह प्रातःकाल के भोजन के समय वहाँ पहुँची और शारीरिक कृत्य करने के लिये उस धायी के साथ न्यग्रोध के नीचे गयी तो वहाँ उस स्वर्ण-वर्ण बालक को देखकर उसने "मेरा काम बन गया" सोच कपड़ा हटा, जाँघ में रक्त और गर्भमल लगा लिया। इस प्रकार उसने जनन-काल की सूचना कराई। उसी समय कनात घिर गई। प्रसन्न-चित्त अनुयायियों ने राजगृह संदेश भेजा। उसके सास-ससुर ने कहलवाया—पुत्रोत्पत्ति के बाद पिता के घर जाकर क्या करेगी? यहीं चली आये? वह लौट कर राजगृह ही चली आई। वहाँ उसका स्वागत कर बालक का नामकरण करने वालों ने न्यग्रोध-वृक्ष के नीचे जन्म होने के कारण बालक का नाम निग्रोध-कुमार ही रखा। उसी दिन सेठ की पतोहू ने जो पुत्र जनने के लिये ही पिता के घर आ रही थी, मार्ग में एक वृक्ष की शाखा के नीचे पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम शाखा-कुमार रखा गया। उसी दिन सेठ के आश्रित रहने वाले जुलाहे की भार्य्या ने भी वस्त्रों के बीच पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम पोत्तिक रखा गया। महासेठ ने उन दोनों कुमारों को भी 'निग्रोधकुमार के जन्म दिन पैदा हुए' जान मँगवा लिया और साथ ही पालने लगा। उन्होंने

एक साथ बड़े हो तक्षशिला जा विद्या सीखी। दोनों सेठ-पुत्रों ने आचार्य्य को दो हजार दिए। निग्रोधकुमार ने पोत्तिक की पढ़ाई अपने ऊपर ली।

शिक्षा समाप्त कर वे आचार्य्य की आज्ञा ले निकले और देश की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्रमशः घूमते-घूमते वाराणसी पहुँच एक वृक्ष के नीचे लेटे। उस समय वाराणसी नरेश को मरे सातवाँ दिन हो गया था। "कल पुष्प-रथ निकलेगा" नगर में मुनादी करा दी गई। उन मित्रों के वृक्ष के नीचे लेट कर सोते समय पोत्तिक प्रातःकाल उठ, बैठा निग्रोध कुमार के पाँव दबा रहा था। उस वृक्ष पर बैठे मुर्गों में से ऊपर बैठे मुर्गे ने नीचे बैठे मुर्गे के शरीर पर बीट गिरा दी। उसने उससे पूछा—"यह किसने गिराई ?"

"मित्र ! क्रोध न कर। मुझसे अज्ञान में गिर पड़ी।"

"रे ! तू मेरे शरीर को बीट गिराने की जगह समझता है। मेरी सामर्थ्य नहीं जानता।"

"रे ! 'अज्ञान में गिर पड़ी' कहने पर भी तू क्रोधित होता है। तेरी सामर्थ्य क्या है ?"

"जो मुझे मार कर खाता है, उसे प्रातःकाल ही सहस्र की प्राप्ति होती है। मैं किस लिये मान न करूँ ?"

"अरे ! इतने में ही मान करता है। मुझे मारकर जो स्थूल-माँस खाता है, वह प्रातःकाल ही राजा होता है; जो बीच का माँस खाता है वह सेनापति होता है; जो हड्डी के पास का खाता है वह खजाञ्ची होता है।"

पोत्तिक ने उनकी बातचीत सुन सोचा—हमें सहस्र से क्या लाभ ? राज्य ही अच्छा है। वह धीरे से वृक्ष पर चढ़ा और ऊपर सोये हुए मुर्गे को पकड़, मार, अंगारों पर पका उसमें स्थूल-माँस निग्रोध को, बीच का माँस साख को और हड्डी से लगा माँस स्वयं खाया। खा चुकने पर बोला—"मित्र निग्रोध ! तू आज राजा होगा, मित्र साख ! तू सेनापति होगा और मैं खजाञ्ची होऊँगा।" "तुझे कैसे ज्ञात है ?" कहने पर उसने वह समाचार सुनाया। वे तीनों प्रातःकाल ही वाराणसी पहुँचे और एक ब्राह्मण के घर घी-शक्कर युक्त खीर खा, नगर से निकल उद्यान पहुँचे। निग्रोध-कुमार शिला पर लेटा। शेष दो बाहर बैठे।

उसी समय पाँच राजकीय-चिह्नों[1] को अन्दर रख चित्रित रथ चालू किया। उसका विस्तृत वृत्तान्त महाजनक जातक[2] में आयेगा। चित्रित-रथ उद्यान पहुँच (ऊपर) चढ़ने के लिए उद्यत हो रुक गया। पुरोहित ने सोचा--उद्यान में कोई पुण्यवान् प्राणी होगा। वह उद्यान में गया और कुमार को देख उसके पाँव से कपड़ा हटा कर देखा। उसे पाँव में चक्रवर्ती-चिह्न दिखाई दिये। सोचा—वाराणसी की बात क्या ! यह तो सारे जम्बुद्वीप का राजा होने के योग्य है। इस प्रकार उसने सारे तलुवे के चिह्नों का निरीक्षण किया। निग्रोध कुमार जागा। मुँह से कपड़ा उठाया। भारी जनता को देख पलट कर फिर सो रहा। थोड़े समय बाद उठा और शिला पर पालथी मार कर बैठा। पुरोहित ने घुटने टेक कर कहा—"देव ! राज्य पर आपका अधिकार है।" 'अच्छा' कहने पर उसे वहीं रत्नों की ढेरी में बिठा राज्याभिषेक किया। उसने राजा बनने पर शाख को सेनापति पद दिया और बड़े आदर-सम्मान के साथ नगर में प्रवेश किया। पोत्तिक भी उनके साथ ही नगर में गया। तब से बोधिसत्व धर्मानुसार राज्य करने लगे।

एक दिन उसने माता-पिता की याद कर शाख को कहा—"मित्र, माता-पिता के बिना मैं नहीं रह सकता। बहुत से अनुयायियों के साथ जाकर माता-पिता को ले आओ।" शाख ने अस्वीकार किया—मेरा वहाँ काम नहीं है। तब पोत्तिक को आज्ञा दी। उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और यहाँ पहुँच निग्रोध के माता-पिता से कहा—"तुम्हारा पुत्र राजा हो गया है। आओ चलें।" उन्होंने अस्वीकार किया—"तात ! हमारे पास पर्याप्त धन है। हम वहाँ नहीं जाना चाहते।" शाख के माता-पिता को कहा। उन्होंने भी अनिच्छा प्रकट की। अपने माता-पिता को कहा। उन्होंने अस्वीकार किया—रहने दो। हम कपड़े बुनकर अपनी जीविका चला लेते हैं। वह उनके मन को न पा सकने के कारण वाराणसी ही वापिस लौट आया। उसने सोचा, सेनापति के घर थोड़ी देर मार्ग की थकावट उतार कर पीछे निग्रोध से भेंट करूँगा। इसलिये उसने सेनापति के द्वार पर पहुँच

---

१. पंखा, पगड़ी, खड्ग, छत्र तथा पादुका।

२. महाजनक जातक (५२९)।

द्वारपाल द्वारा सूचना भिजवाई—तुम्हारा पोत्तिक नामक मित्र आया है। उसने सूचना दे दी। शाख ने यह सोच कि इसने मुझे राज्य न दे निग्रोघ को राज्य दिया, मन में बैर बाँध लिया था। वह यह बात सुनते ही क्रोधित हो आया और बोला—"कौन है इसका मित्र ? पागल दासी पुत्र। पकड़ो।" इस प्रकार उसने हाथ-पाँव तथा घुटनों से ठुकवा, गरदन पकड़ निकलवा दिया। उसने सोचा—-शाख ने मुझसे ही सेनापति पद प्राप्त किया। अकृतज्ञ मित्र-द्रोही ने मुझे पिटवा कर निकलवा दिया। निग्रोध पण्डित है, कृतज्ञ है, सत्पुरुष है, उसी के पास जाता हूँ। उसने राज-द्वार पर पहुँच राजा को सूचना भिजवाई—पोत्तिक नाम का तुम्हारा मित्र द्वार पर खड़ा है। राजा ने उसे बुलवा, आता देख, आसन से उठ, अगवानी कर, कुशलक्षेम पूछ, उसकी हजामत आदि बनवाई। फिर सब प्रकार के आभरण पहनवा तथा नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करवा, सुखपूर्वक साथ बैठा। तब उसने माता-पिता के बारे में पूछा। उसे पता लगा कि वे नहीं आते हैं। शाख भी यह सोच कि पोत्तिक कहीं राजा को मेरे विरुद्ध न भर दे और मेरे रहने पर कुछ कह न सकेगा, वहीं चला गया। पोत्तिक ने भी उसके सामने ही राजा को सम्बोधन कर पूछा—"देव ! क्या आप विश्वास करेंगे कि मैं रास्ते में थक जाने के कारण शाख के घर पर थोड़ा विश्राम करके यहाँ आने की बात सोच (इसके) घर जाकर यहाँ आया।" शाख ने "मैं नहीं पहचानता हूँ" कह मुझे पिटवा कर निकलवा दिया। उसने तीन गाथायें कहीं—

न वाहं एतं जानामि को वायं कस्स वा ति वा,
यथा साखो वदी एवं निग्रोध किं ति मञ्ञसि॥१॥
ततो गल विनीतेन पुरिसा निद्धापयिंसु मं,
दत्वा मुखपहरानि साखस्स वचनङ्करा॥२॥
एतादिसं दुम्मतिना अकतञ्ञुना दुब्भिना,
कतं अनरियं साखेन सखिना ते जनाधिप॥३॥

[मैं इसे नहीं पहचानता, यह कौन है अथवा किसका है—यह जो शाख ने मुझे कहा, हे निग्रोध तू इसे क्या मानता है ? शाख के आज्ञाकारी लोगों ने मुझे-मुँह पर प्रहार दे गला पकड़ निकलवा दिया। हे जनाधिप ! तुम्हारे मित्र दुर्मति, अकृतज्ञ, द्रोही शाख ने ऐसा अनार्य्य-कर्म किया है।]

यह सुन निग्रोध ने चार गाथायें कहीं—

न वाहं एतं जानामि न पि मे कोचि संसति,
यं मे त्वं सम्म अक्खासि साखेन कतनं कतं ॥४॥
सखीनं साजीवकरो मम साखस्स चूभयं,
त्वं नोस्सिरियं दाता मनुस्सेसु महंततं ॥५॥
तयम्हा लब्भिता इद्धि, एत्थ मे नत्थि संसयो,
यथापि बीजं अग्गिस्मिं डय्हति न विरूहति।
एवं कतं असप्पुरिसे नस्सति न विरूहति ॥६॥
कतञ्ञुम्हि च पोसम्हि सीलवन्ते अरियवुत्तिने,
सुखेत्ते विय बीजानि कतं तम्हि न नस्सति ॥७॥

[न मैं इसे जानता हूँ, न किसी ने मुझे कहा है, हे मित्र ! यह जो तू मुझे शाख द्वारा किया गया बताता है ॥४॥ तू मेरी और शाख दोनों मित्रों की जीविका का दाता है। तू ही हमें मनुष्य-लोक में महान् ऐश्वर्य्य का देने वाला है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि तेरे ही कारण हमें ऋद्धि मिली ॥५॥ जिस तरह आग में पड़ा बीज जल जाता है उगता नहीं है, इसी प्रकार असत्पुरुष के प्रति किया गया उपकार जल जाता है, उगता नहीं है ॥६॥ आर्य-वृत्ति, शीलवान् तथा कृतज्ञ पुरुष के प्रति किया गया उपकार सुक्षेत्र में डाले गये बीज की तरह नष्ट नहीं होता ॥७॥]

निग्रोध के इस प्रकार यह कहते समय शाख वहीं खड़ा था। राजा ने पूछा—शाख ! इस पोत्तिक को पहचानता है ? वह चुप हो गया। राजाज्ञा देते हुए आठवीं गाथा कही—

इमं च जम्मं नेकतिकं असप्पुरिसचिंतकं,
हनन्तु साखं सत्तीहि नास्स इच्छामि जीवितं ॥८॥

[इस दुष्ट, ठग, असत्पुरुष शाख को शक्ति से मार डालो। मैं नहीं चाहता कि यह जीता रहे ॥८॥]

यह सुन पोत्तिय ने 'यह मूर्ख मेरे कारण न मरे' सोच नौवीं गाथा कही—

खमयतस्स महाराज, पाणा दुप्पटिनानया,
खम देव असप्पुरिसस्स, नास्स इच्छाम अहं वधं ॥९॥

[महाराज ! इसे क्षमा करें। (गये) प्राणों का लाना सम्भव नहीं। देव ! असत्पुरुष को क्षमा करें। मैं इसकी मृत्यु नहीं चाहता ॥९॥]

राजा ने उसकी बात सुन शाख को क्षमा कर दिया। वह पोत्तिय को ही सेनापति बना देना चाहता था। लेकिन उसने इच्छा न की। उसने सब श्रेणियों के मुकद्दमों का विचार करने के अधिकार वाला भाण्डागारिक का पद दिया। पहले यह पद नहीं था, तभी से आरंभ हुआ। आगे चल कर पोत्तिय भाण्डागारिक ने पुत्र-पुत्री से वृद्धि प्राप्त की। उसने अपने पुत्र-पुत्रियों को उपदेश देने के लिये यह अन्तिम गाथा कही—

निग्रोधं एव सेवेय्य
न साखं उपसंवसे,
निग्रोधस्मिं मतं सेय्यो
यञ्चे साखस्मिं जीवितं॥

[इसका अर्थ जातक (१.२.१२) में आ ही गया है।]

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला 'भिक्षुओ, न केवल अभी, देवदत्त पहले भी अकृतज्ञ ही था' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय शाख देवदत्त था। पोत्तिय आनन्द, निग्रोध तो मैं ही था।

———

४४६. तक्कळ जातक

"न तक्कळा सन्ति न आळुपानि . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक पितृ-पोषक उपासक के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह एक दरिद्र-कुल में पैदा हुआ था। माता के मर जाने पर प्रातः-काल ही उठकर दातुन तथा मुँह धोने का पानी आदि लाकर देता। मजदूरी या खेती करके जैसा कुछ कमाता उसके अनुसार खिचड़ी-भात आदि तैयार कर पिता का पोषण करता। उसके पिता ने कहा—"तात! तू अकेला ही घर के भीतर और बाहर का काम करता है। तेरे लिए एक कुमारी ले आयें। वह तेरे घर के काम करेगी।"

"तात! स्त्री घर आने पर न तुम्हें ही और न मुझे ही चित्त सुख दे सकेगी। ऐसी बात न सोचें। मैं जीवन भर तुम्हारी सेवा करता रहूँगा और तुम्हारे बाद देख लूंगा।"

उसका पिता उसकी इच्छा न रहने पर भी एक कुमारी ले आया। वह श्वसुर और स्वामी की बहुत सेवा करती अत्यन्त नम्र भाव से। स्वामी भी यह समझ कि यह मेरे पिता की सेवा करती है, जो-जो अच्छा-अच्छा मिलता, लाकर उसे देता। वह भी उसे श्वसुर के ही पास ले आती। लेकिन, आगे चल कर उसने सोचा—"मेरा स्वामी जो पाता है वह पिता को न देकर मुझे ही देता है। निश्चय से पिता के प्रति स्नेह नहीं रहा। एक उपाय से इस बूढ़े को स्वामी के प्रतिकूल बना घर से निकलवाऊँगी।" उसके बाद से वह उसे क्रोध दिलाने वाली बातें करने लगी, जैसे या तो बहुत ठण्डा पानी ला देती या बहुत गर्म, या भोजन में नमक बिलकुल न डालती या बहुत डाल देती, या भात कच्चे-चावल ही रहता या एकदम गीला हो जाता। जब उसे क्रोध आता तो "इस बूढ़े की सेवा कौन कर सकेगा" आदि कठोर वचन कह झगड़ा बढ़ाती। जहाँ-तहाँ थूक कर पति को क्रोध दिलाती—"देख, पिता की

करतूत । 'ऐसा मत कर' कहने पर क्रोध करता है । इस घर में चाहे तो पिता को रखो, चाहे मुझे ।" उसने उत्तर दिया—"भद्रे ! तू जवान है । जहाँ कहीं भी जीती रह सकेगी । मेरा पिता बूढ़ा है । यदि तू उसे सहन नहीं कर सकती तो इस घर से निकल ।" वह डरी और पिता के पैरों पड़ कर क्षमा माँगी—इसके बाद से ऐसा नहीं करूँगी । तब से उसने पूर्ववत् स्वाभाविक तौर पर सेवा करनी आरम्भ की ।

पिछले दिनों में उससे तंग किये जाने के कारण वह उपासक शास्ता के पास धर्म सुनने न जा सका था । उसके स्वाभाविक अवस्था में आने पर गया । शास्ता ने पूछा—"उपासक ! क्या कारण है सात-आठ दिन धर्म सुनने नहीं आया ?" उसने वह हाल कहा । "अब तो तूने उसका कहना न मान पिता को नहीं निकाला, लेकिन पूर्व-जन्म में उसका कहना मान पिता को कच्चे श्मशान में ले जाकर गढ़े में गाड़ दिया । मरने के समय मैंने सात वर्ष का हो माता-पिता के गुण कह पितृ-घात कर्म से रोका । तब तू मेरा कहना मान जीवन भर अपने पिता की सेवा कर स्वर्गगामी हुआ । उस मेरे उपदेश ने जन्मान्तर होने पर भी तुझे नहीं छोड़ा । इसी कारण तूने अब उसका कहना मान पिता को घर से नहीं निकाला ।" इतना कह, उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में बाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक कुल में एक पुत्र था । नाम था वसिट्ठक । वह माता-पिता की सेवा करता था । आगे चल कर माता के मरने पर पिता की सेवा करने लगा आदि सारी कथा 'वर्तमान कथा' की ही तरह कही जानी चाहिए । लेकिन इस कथा में यह विशेष है । उस समय वह स्त्री बोली—"स्वामी अपने पिता की करतूत देखें 'यह मत कर, यह मत कर' कहने पर क्रोध करता है । तुम्हारा पिता चण्ड है, कठोर है, नित्य झगड़ता है । जरा-जीर्ण है, रोगी है, शीघ्र ही मर जायगा । मैं इसके साथ एक घर में नहीं रह सकती । यह स्वयं भी कुछ दिन में मर ही जायगा । तू इसे कच्चे श्मशान में ले जाकर, गढ़ा खोद, उसमें गिरा, कुदाल से सिर फाड़, जान मार, ऊपर मिट्टी डाल कर

आ।" उसके बार-बार कहने पर वह बोला—"भद्रे ! पुरुष-हत्या आसान नहीं। उसे कैसे मारूँगा।"

"मैं तुम्हें उपाय बताऊंगी।"

"तो बता।"

"स्वामी ! तुम प्रातःकाल ही पिता के सोने की जगह पर जाकर सब के सुनने लायक आवाज में जोर से कहना 'तात ! अमुक ग्राम में तुम्हारा ऋणी है, मेरे जाने पर देता नहीं और तुम्हारे बाद देगा ही नहीं। कल गाड़ी में बैठ कर प्रातःकाल ही चलेंगे'। फिर उसके बताये समय पर ही उठ गाड़ी जोत, उसमें उसे बिठा, कच्चे श्मशान में ले जा, गढ़े में गाड़, 'चोरों द्वारा लुट गये' की आवाज कर, सिर से नहा कर आना।"

"यह तो उपाय है" सोच उसने उसका कहना मान गाड़ी तैयार कराई। उसका एक सात वर्ष का पुत्र था पण्डित, मेधावी। उसने माँ का कहना सुन सोचा--मेरी माँ पापिन है। वह पिता से पितृ-घात कर्म करा रही है। मैं इसे पितृ-घात कर्म न करने दूंगा। वह धीरे से जाकर अपने दादा के पास लेट गया। वसिट्ठ ने भी उसके बताये समय पर गाड़ी जोत 'तात ! आओ ऋण लेने चलें' कह पिता को गाड़ी में बिठाया। लड़का भी पहले ही गाड़ी में जा चढ़ा। वसिट्ठ जब उसे रोक नहीं सका तो उसे भी साथ ले कच्चे श्मशान में जा, पिता और पुत्र को गाड़ी में एक ओर खड़ा किया और स्वयं उतर कर कुदाली और टोकरी ले एक छिपी हुई जगह में चौकोर गढ़ा खोदना आरम्भ किया। कुमार उतरा और उसके पास पहुँच कुछ न जानते हुए की तरह बात-चीत आरम्भ करता हुआ पहली गाथा बोला—

न तक्कळा सन्ति न आळुपानि
न बिळालियो न कलम्बानि तात,
एको अरञ्ञम्हि सुसानमज्झे
किमत्थिको तात खणसि कासुं॥१॥

[तात ! न (?) हैं, न आलू हैं, न, (?) हैं और न कदम्ब ही हैं। तब आप इस जंगल में श्मशान में अकेले किसलिये गढ़ा खोद रहे हैं ?]

पिता ने दूसरी गाथा कही—

पितामहो तात सुदुब्बलो ते
अनेक व्याधीहि दुखेन फुट्ठो,
तमज्ज अहं निक्खणिस्सामि सोब्भे
नहि अस्स तं जीवितं रोचयामि॥

[तात ! तेरा पितामह बहुत दुर्बल हो गया है। वह अनेक बीमारियों के दुःख से कष्ट पाता है। आज मैं इसे गढ़े में गाड़ दूंगा। मुझे इसका जीना अच्छा नहीं लगता]

यह सुन कुमार ने आधी गाथा कही—

सङ्कप्पमेतं पटिलद्ध पापं
अच्चाहितं कम्मं करोसि लुद्दं॥

[यह पाप-पूर्ण सङ्कल्प है। तू रौद्र अहितकर कर्म करता है।]

इतना कह उसने पिता के हाथ से कुदाली ले थोड़ी ही दूर पर दूसरा गढ़ा खोदना आरम्भ किया। पिता ने आकर पूछा—तात ! गढ़ा किसलिए खोद रहा है ? उसने उसे उत्तर देते हुए तीसरी गाथा पूरी की—

मयापि तात पटिलच्छसे तुवं
एतादिसं कम्म जरूपनीतो,
तं कुल्लवत्तं अनुवत्तमानो
अहं पि तं निक्खणिस्सामि सोब्भे॥

[तात ! बुढ़ापा आने पर मेरे द्वारा भी तुम इस कर्म को प्राप्त होगे। कुल-परम्परा का अनुकरण करते हुए मैं भी तुम्हें गढ़े में गाड़ूंगा।]

उसके पिता ने चौथी गाथा कही—

फरुसाहि वाचाहि पकुब्बमानो
आसज्ज मं त्वं वदसे कुमार,
पुत्तो मम ओरसको समानो
अहितानुकम्पि मे त्वंसि पुत्त॥

[हे कुमार ! तू मुझे कठोर वचनों द्वारा चोट पहुँचाता हुआ अभिभूत कर रहा है। तू मेरा औरस-पुत्र होकर मेरा अहित-चिन्तक हुआ है।]

ऐसे कहने पर पण्डित-कुमार ने एक प्रत्युत्तर-गाथा और दो उल्लास-गाथाएँ कहीं—

न ताहं तात अहितानुकम्पि
हितानुकम्पि ते अहं पि तात,
पापं च तं कम्मपकुब्बमानं
अरहामि नो वारयितुं ततो हि॥

[तात ! मैं तेरा अहित नहीं चाहता हूँ। मैं तो तेरा हित ही चाहता हूँ। मैं पाप-कर्म करते हुए तुझे (पाप—) कर्म से रोकना उचित समझता हूँ।]

यो मातरं पितरं वा वसिट्ठ
अदूसके हिंसति पापधम्मो,
कायस्स भेदा अभिसम्परायं
असंसयं सो निरयं परेति॥
यो मातरं पितरं वा वसिट्ठ
अन्नेन पानेन उपट्ठहाति,
कायस्स भेदा अभिसम्परायं
असंसयं सो सुगतिं परेति॥

[जो पापी निर्दोष माता-पिता की हत्या करता है, वह मरने पर असंदिग्ध रूप से नरक में जाता है। हे वसिट्ठ ! जो अन्न-पान से माता-पिता की सेवा करता है, वह मरने पर असंदिग्ध-रूप से सुगति को प्राप्त होता है।]

पुत्र की यह धर्म-कथा सुनकर पिता ने आठवीं गाथा कही—

न मे त्वं पुत्त अहितानुकम्पी
हितानुकम्पि मे त्वं सि पुत्त,
अहञ्च तं मातरा वुच्चमानो
एतादिसं कम्मं करोमि लुद्दं॥

[हे पुत्र ! तू मेरा अहित चाहने वाला नहीं है, तू मेरा हित चाहने वाला ही है। मैं तेरी माँ के कहने से ही यह क्रूर कर्म करता हूँ।]

यह सुन कुमार बोला—तात ! स्त्रियाँ द्वेष जाग्रत हो जाने पर उसका

निग्रह न कर सकने के कारण बार-बार पाप-कर्म करती हैं। मेरी माता जिससे फिर ऐसा न कर सके, उसे भगा देना चाहिए। यह कह नौवीं गाथा कही—

या ते सा भरिया अनरियरूपा
माता मम एसा सकिया जनेत्ती
निद्धामसे तं सका अगारा,
अञ्ञं पि ते सा दुक्खं आवहेय्य ॥

[यह जो तेरी अनार्य्य भार्य्या है, यह मुझे जन्म देने वाली मेरी माता है। उसे अपने घर से निकाल दो, अन्यथा यह तुझे और भी दुःख ला सकती है।]

वसिट्ठ ने पण्डित-पुत्र की बात सुनी तो प्रसन्न होकर बोला—तात ! आओ चलें। पुत्र और पिता के साथ वह गाड़ी में बैठ चल दिया। उस अनाचारिणी ने भी 'मनहूस को घर से निकाल दिया' सोच, प्रसन्न हो, गोबर से (घर) लीप, खीर पका कर रखी थी। जब उन्हें आते देखा तो 'निकाले हुए मनहूस को फिर लेकर आ गया' सोच क्रोधित हुई और अपशब्द कहने लगी—रे दुर्गंत ! निकाले हुए मनहूस को फिर ले आया। वसिट्ठ ने चुप रह गाड़ी को खोल 'अनाचारिणी ! क्या कहती है' कहकर अच्छी तरह पीटा और फिर पांव से घसोट कर बाहर कर दिया—अब से इस घर में न घुसना। तब पिता और पुत्र को स्नान कराया और स्वयं भी स्नान किया। तीनों जनों ने खीर खाई। वह पापिन भी कुछ दिन दूसरे घर में रही। उस समय पुत्र ने पिता को कहा—तात ! मेरी माँ इतने से भी नहीं समझती है। तुम मेरी माता को लज्जित करने के लिए 'अमुक गाँव में मेरे मामा की लड़की रहती है। वह मेरे पिता, पुत्र और मेरी सेवा करेगी, उसे लाता हूँ' कह माला गन्ध आदि ले, गाड़ी पर बाहर जा, खेत में घूम कर शाम को लौट आओ। उसने वैसा ही किया। पड़ोसी स्त्रियों ने उसे कहा—तेरा पति दूसरी भार्य्या लाने के लिए अमुक गाँव गया है। वह डरी—अब मैं मारी गई। अब और अवसर नहीं है। उसने सोचा—अब मैं पुत्र से ही प्रार्थना करूँगी। वह धीरे-धीरे पुत्र के पास पहुँची और उसके पैरों पर गिर कर बोली—तुझे छोड़ और कोई मेरा सहारा नहीं। अब से तेरे पिता,

पितामह की और तेरी सेवा अलंकृत चैत्य[1] की तरह करूँगी। फिर मुझे इस घर में दाखिल करा दे। उसने "अच्छा माँ! यदि फिर ऐसा न करेगी, तो (मैं तुझे घर में प्रविष्ट) कराऊँगा।" 'अप्रमादी रहना' कह पिता के आगमन के समय दसवीं गाथा कही—

या ते सा भरिया अनरियरूपा
माता ममेसा सकिया जनेत्ती
दन्ता कणेरू व वसूपनीता
सा पापधम्मा पुनरावजातु॥

[यह जो तेरी अनार्य्या भार्य्या है और मुझे जन्म देने वाली मेरी माता है, वह अब हथिनी की तरह शान्त और वशीभूत हो गई है। अब वह पापिन फिर घर में चली आवे।]

इस प्रकार वह पिता से कह कर और जाकर माता को ले आया। उसने स्वामी और श्वसुर से क्षमा माँगी और तब से शान्त, धर्म-युक्त हो स्वामी, श्वसुर और पुत्र की सेवा करने लगी। वे दोनों जने पुत्र के उपदेशानुसार चल दानादि पुण्य-कर्म कर स्वर्गगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर, जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में पितृ-पोषक स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय पिता, पुत्र और बहू ये ही थे और पण्डित-कुमार तो मैं ही था।

———

१. चैत्य स्तूप।

४४७. महाधम्मपाल जातक

"किते वतं......" यह शास्ता ने प्रथम बार कपिल-वस्तु जाकर पिता के निवास-स्थान निग्रोधाराम में रहते समय राजा के अविश्वास के बारे में कही।

क वर्त्तमान कथा

उस समय बीस हजार भिक्षुओं सहित भगवान् को अपने घर पर यवागु-खञ्जक दे, भोजनानन्तर कुशल-क्षेम की चर्चा करता हुआ सुद्धोदन महाराज बोला--"भन्ते! आपके योगाभ्यास करने के समय देवता ने आकर आकाश में खड़े होकर कहा—तेरा पुत्र आहार न मिलने के कारण मर गया।" शास्ता ने पूछा--महाराज! तुमने विश्वास किया?

"भन्ते! विश्वास नहीं किया। आकाश में खड़े होकर कहने वाले देवता के कथन को भी यह कह कर अस्वीकार किया कि मेरा पुत्र बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त किये बिना परिनिर्वाण को प्राप्त हो ही नहीं सकता।"

"महाराज! पूर्व-जन्म में जब आप महाधम्मपाल होकर पैदा हुए थे, तो प्रसिद्ध आचार्य्य के यह दिखाने पर भी कि ये तेरे पुत्र की हड्डियाँ हैं, आपने यह कह कर कि हमारे-कुल में कभी कोई तरुण मरता ही नहीं, उसका विश्वास नहीं किया था। अब आप कैसे विश्वास करते?"

इतना कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही--

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय काशी राष्ट्र में एक धम्मपाल ग्राम था। उसमें धर्मपाल-कुल के रहने के कारण ही उसका यह नाम पड़ा था। वहाँ दस कुशल-कर्मों के पालन के कारण धर्म-पाल कहलाने वाला एक ब्राह्मण रहता था। उसके कुल में दास और

मजदूर तक भी दान देते, शील की रक्षा करते और उपोसथ-व्रत रखते थे। उस समय बोधिसत्व ने उस कुल में जन्म ग्रहण किया। उसका नाम धर्मपाल कुमार ही रखा गया। बड़े होने पर उसके पिता ने उसे हजार दे शिल्प सीखने के लिए तक्ष-शिला भेजा। उसने वहाँ पहुँच प्रसिद्ध आचार्य्य के पास विद्या सीखी--वह पाँच-सौ विद्यार्थियों में ज्येष्ठ-शिष्य बन गया।

उस समय आचार्य्य के ज्येष्ठ-पुत्र का देहान्त हो गया। विद्यार्थियों से घिरे हुए आचार्य्य ने रिश्तेदारों सहित रोते हुए, श्मशान में उसका दाहकर्म किया। उस समय आचार्य्य, रिश्तेदार और उसके शिष्य रोते-पीटते थे। केवल धर्मपाल ही न रोता था, न पीटता था। उन पाँच सौ विद्यार्थियों के श्मशान से लौट आचार्य्य के पास बैठ 'ओह ! इस प्रकार का सदा-चारी तरुण विद्यार्थी तरुणाई के समय ही माता-पिता को छोड़ मर गया' कहने पर धर्मपाल बोला--"मित्रो ! तुम कहते हो कि तरुणाई के समय मर गया। तरुणाई मे क्यों मर गया ? तरुण रहते मरना अनुचित है।" वे बोले--"मित्र ! क्या तू नहीं जानता कि सभी प्राणी मरणशील हैं ?"

"जानता हूँ, किन्तु तरुण रहते नहीं मरते। बूढ़े होने पर ही मरते है।"

"क्या सभी संस्कार अनित्य नहीं हैं; होकर न रहने वाले ?"

"सत्य ही अनित्य हैं, तो भी प्राणी बालकपन में नहीं मरते, वृद्ध होकर ही अनित्यता को प्राप्त होते हैं।"

"मित्र धर्मपाल ! क्या तुम्हारे घर में कोई नहीं मरते हैं ?"

"लड़कपन में नहीं मरते, बूढ़े होकर ही मरते हैं।"

"क्या यह तुम्हारी कुल-परम्परा है ?"

"हाँ, कुल-परम्परा है।"

विद्यार्थियों ने उसकी बात आचार्य्य से जाकर कही। आचार्य्य ने उसे बुलाकर पूछा--"तात धर्मपाल ! क्या सचमुच तुम्हारे घर में बालकपन में नहीं मरते ?"

"आचार्य्य ! सचमुच।"

उसने उसकी बात सुन सोचा--यह अत्यन्त आश्चर्य्य की बात कहता

है। इसके पिता के पास जाकर और पूछ कर यदि इसका कथन सत्य हो तो मैं भी उस धर्म का पालन करूँगा। उसने पुत्र के लिये जो-जो करणीय था करके सात-आठ दिन बीतने पर धर्मपाल को बुला कर कहा—"तात! मैं बाहर जाऊँगा। जब तक मैं लौट कर न आऊँ तू ही इन विद्यार्थियों को पढ़ाना।" फिर एक भेड़ की हड्डियाँ ले, उन्हें धो, सुगन्धित कर, थैली में रखा और एक छोटे सेवक को साथ ले तक्षशिला से निकला। वह क्रमशः उस गाँव पहुँच, 'यहाँ धर्मपाल का घर कौन-सा है' पूछ जाकर द्वार पर खड़ा हुआ। ब्राह्मण के दासों में से जिस जिसने पहले देखा उस उसने आचार्य्य के हाथ से छाता लिया, जूता लिया और सेवक के हाथ से भी थैली ली। 'तुम्हारे धर्मपाल कुमार का आचार्य्य द्वार पर खड़ा है, जाकर कुमार के पिता को सूचना दो' कहने पर 'अच्छा' कह उन्होंने सूचना दी। उसने शीघ्रता से द्वार पर पहुँच 'इधर से आयें' कह घर में लाकर पलंग पर बिठाया। फिर सब पैर धोना आदि कृत्य किये। आचार्य्य ने भोजनानन्तर सुखपूर्वक बैठने के समय कहा—"ब्राह्मण! तेरा पुत्र धर्मपाल कुमार प्रज्ञावान् था। तीनों वेदों और अठारह विद्याओं में पारङ्गत हुआ। किन्तु एक बीमारी से उसका शरीरांत हो गया। सभी संस्कार अनित्य हैं। चिन्ता न कर।" ब्राह्मण ताली बजा कर जोर से हँसा। पूछा—"ब्राह्मण! हँसा क्यों?"

"मेरा पुत्र नहीं मरता। कोई दूसरा मरा होगा।"

"ब्राह्मण! तेरा ही पुत्र मरा है। हड्डियाँ देखकर विश्वास कर" कह हड्डियाँ निकाल कर दिखाई—ये तेरे पुत्र की हड्डियाँ हैं।

"ये किसी भेड़ या कुत्ते की हड्डियाँ होंगी। मेरा पुत्र नहीं मरा। सात पीढ़ियों तक हमारे कुल में कभी कोई भी तरुण अवस्था में नहीं मरा। तू झूठ बोलता है।"

उस समय सभी ताली पीट कर जोर से हँसे। आचार्य्य ने यह आश्चर्य्य देख, प्रसन्न हो कहा—"ब्राह्मण! तुम्हारे कुल में तरुणों का न मरना अकारण नहीं हो सकता। क्या कारण है तरुण नहीं मरते?"

यह पूछते हुए उसने पहली गाथा कही—

किं ते वतं किं पन ब्रह्मचरियं,
किस्स सुचिण्णस्स अयं विपाको,
अक्खाहि मे ब्राह्मण एतमत्थं,
कस्मा हि तुम्हं दहरा न मीयरे॥१॥

[तुम कौन-सा व्रत रखते हो ? तुम्हारी कैसी श्रेष्ठ चर्य्या है ? यह तुम्हारे किस सुकर्म का फल है ? हे ब्राह्मण ! मुझे यह बता कि तुम्हारे (कुञ्ज में) तरुणों की मृत्यु क्यों नहीं होती ?]

यह सुन ब्राह्मण ने जिन गुणों की कृपा से उनके कुल में तरुणों की मृत्यु नहीं होती, उन्होंने कहा—

धम्मं चराम, न मुसा भणाम,
पापानि कम्मानि विवज्जयाम,
अनरियं परिवज्जेमु सब्बं,
तस्मा हि अम्हं दहरा न मीयरे॥२॥

[धर्मानुसार चलते हैं, झूठ नहीं बोलते, पाप-कर्मों को छोड़ते हैं। सभी अनार्य कर्मों को त्यागते हैं—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते।]

सुणोम धम्मं असतं सतं च
न चापि धम्मं असतं रोचयाम,
हित्वा असन्ते न जहाम सन्ते,
तस्मा हि............॥३॥

[असत्पुरुषों तथा सत्पुरुषों का धर्म सुनते हैं, किन्तु असत्पुरुषों का धर्म पसन्द नहीं करते। असत्पुरुषों का त्याग करते हैं, सत्पुरुषों का त्याग नहीं करते—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते।]

पुब्बे व दाना सुमना भवाम,
ददं पि च अत्तमना भवाम,
दत्वा पि चे नानुतपाम पच्छा
तस्मा हि........॥४॥

[दान देने से पूर्व भी हम प्रसन्न मन रहते हैं, दान देते समय भी प्रसन्न-मन होते हैं और दान दे चुकने पर पश्चात्ताप नहीं करते—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते।]

समणे मयं ब्राह्मणे अद्धिके च
वनिब्बके याचनके दलिद्दे
अन्नेन पानेन अभितप्पयाम
तस्मा हि..........॥५॥

[श्रमण, ब्राह्मण, यात्री, दरिद्र और मँगते—सभी को अन्न-पान से संतुष्ट करते हैं—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते ।]

मयं च भरियं नातिक्कमाम,
अम्हे च भरिया नातिक्कमन्ति,
अञ्ञात्र ताहि ब्रह्मचरियं चराम
तस्मा हि..........॥६॥

[हम अपनी भार्य्या के अतिरिक्त और कहीं मिथ्याचार नहीं करते और हमारी भार्य्या भी इसी प्रकार और कहीं मिथ्याचार नहीं करती। उन्हें छोड़ अन्यत्र हम ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते ।]

एतासु वे जायरे सुज्जवासु
मेधाविनो होन्ति पहूतपञ्ञा
बहुस्सुता वेदगुनो च होन्ति
तस्माहि............॥७॥

[इन उत्तम स्त्रियों से जो पुत्र पैदा होते हैं वे भी मेधावी और बहुप्रज्ञ होते हैं—बहुश्रुत और वेदज्ञ। इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते ।]

माता पिता च भगिनी भातरोच
पुत्ता च दारा च मयं च सब्बे
धम्मं चराम परलोकहेतु
तस्माहि............॥८॥

[माता, पिता, बहिन, भाई, पुत्र और स्त्रियाँ—हम सभी परलोक के लिये धर्माचरण करते हैं। इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते ।]

दासा च दस्सो अनुजीविनो च
परिचारिका कम्मकरा च सब्बे

धम्मं चरन्ति परलोकहेतु
तस्माहि............॥९॥

[दास, दासियाँ अनुजीवी, परिचारक और सभी कमकर परलोक के हेतु धर्माचरण करते हैं—इसीलिए हमारे तरुण नहीं मरते]

अन्त में इन दो गाथाओं से धर्मचारियों का गुण कहा—

धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं
धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति,
एसानिसंसो धम्मे सुचिण्णे
न दुग्गतिं गच्छति धम्मचारी ॥१०॥

[धर्म, धर्मचारी की रक्षा करता है। धर्माचरण सुख देता है। सुचरित धर्म का यही सुफल है। धर्मचारी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता।]

धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं
छत्तं महन्तं विय वस्सकाले,
धम्मेन गुत्तो मम धम्मपालो,
अञ्ञस्स अट्ठीनि, सुखी कुमारो ॥११॥

[धर्म धर्मचारी की रक्षा करता है वैसे ही जैसे वर्षा काल में बड़ा भारी छत्र। धर्म द्वारा रक्षित मेरा धर्मपाल कुमार सुखी है। हड्डियाँ किसी दूसरे की हैं।]

यह सुन आचार्य्य ने कहा—"मेरा आना सु-आगमन हुआ, सफल हुआ, निष्फल नहीं रहा।" उसने हर्षित हो धर्मपाल के पिता से क्षमा माँगी और कहा—"मैं आते समय तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ये भेड़ की हड्डियाँ ले आया था। तुम्हारा पुत्र निरोग ही है। जिस धर्म का तुम पालन करते हो, वह मुझे भी दो।" उसने धर्म को पन्ने पर लिख लिया और कुछ दिन वहाँ रह कर तक्षशिला लौटा। वहाँ धर्मपाल को सब शिल्प सिखा बहुत से अनुयायियों के साथ (घर) भेजा।

शास्ता ने शुद्धोदन महाराज को दी गई इस धर्म-देशना के बारे में सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में राजा आनागामीफल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय माता-पिता महाराज-कुल थे, आचार्य्य सारिपुत्र, परिषद् बुद्ध-परिषद्। धर्मपाल कुमार तो मैं ही था।

---

४४८. कुक्कुट जातक

"नास्मसे कतपापम्हि. . . " यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय वध के प्रयत्न के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

धर्मसभा में भिक्षुओं ने देवदत्त के दुर्गुण कहने आरम्भ किए—"आयुष्मानो ! देवदत्त धनुर्धारियों की नियुक्ति करने आदि उपायों से दस-बल को वध करने का ही प्रयत्न करता है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ, न केवल अभी, पूर्व में भी इसने मेरे वध के लिये प्रयत्न किया ही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कोसम्बी में कोसम्बक नामक राजा राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व एक वेणुवन में मुर्गे की जून में पैदा हो सैकड़ों मुर्गों के साथ जंगल में रहते थे। वहीं थोड़ी दूर पर ही एक बाज रहता था। उसने चालाकी से एक-एक करके बोधिसत्व को छोड़ शेष सारे मुर्गे खा डाले। बोधिसत्व अकेला ही रह गया। वह समय रहते दाना चुग घने बाँसों में छिप रहता। बाज जब उसे नहीं पकड़ सका तो सोचने लगा—उसे चालाकी से बहका कर पकड़ूँगा। उसने उससे थोड़ी ही दूर पर शाखा में छिपकर कहा—"मित्र कुक्कुट-राज ! तू मुझसे क्यों डरता है ? मैं तेरे साथ दोस्ती करना चाहता हूँ। अमुक प्रदेश में चुगने को बहुत है। वहाँ दोनों चुग कर परस्पर प्रेम-पूर्वक रहेंगे"। बोधिसत्व ने उत्तर दिया—"यार ! मेरा तेरे प्रति विश्वास नहीं है। तू जा।"

"यार ! मैंने जो पहले पाप-कर्म किये हैं, तू उन्हीं के कारण मेरा विश्वास नहीं करता। अब से ऐसा नहीं करूँगा।"

"मुझे वैसे मित्र की आवश्यकता नहीं, तू चला ही जा।"

इस प्रकार उसे तीन बार मना करके "जिस आदमी में ये बातें हों उसका विश्वास नहीं करना चाहिये" कह, सारे बन को गुंजाते हुए, देवताओं के 'साधुकार' के बीच धर्म-कथा की स्थापना करते हुए ये गाथायें कहीं—

नास्मसे कतपापम्हि, नास्मसे अलिकवादिने,
नास्मसत्तट्ठपञ्ञम्हि, अतिसन्ते पि नास्मसे॥

[पापी का विश्वास न करे, झूठे का विश्वास न करे। आत्मार्थ में ही जिसकी प्रज्ञा लगी हो उसका भी विश्वास न करे और अति-शान्त का भी विश्वास न करे।]

भवन्ति हेके पुरिसा गोपिपासकजातिका,
घंसन्ति मञ्ञे मित्तानि वाचाय न च कम्मना॥

[कुछ पुरुष प्यासी-गौओं की तरह होते हैं। वे मित्रों को वाणी से प्रसन्न करते हैं, किन्तु कर्म से नहीं।]

सुक्खञ्जलीपग्गहीता वाचाय पलिगुंठिता,
मनुस्सफेग्गु नासीदे यस्मिं नत्थि कतञ्ञुता॥

[खाली हाथ किन्तु वचनों के धनी—ऐसे निस्सार आदमी का विश्वास न करे और अकृतज्ञ आदमी का भी विश्वास न करे।]

नहि अञ्ञासचित्तानं इत्थीनं पुरिसानं वा,
नाना व कत्वा संसग्गं तादिसं पि नास्मसे॥

[चाहे स्त्री हो या पुरुष, जिसका चित्त भिन्न हो, उसका विश्वास न करे और जिसका नाना प्रकार से संसर्ग हो उसका भी विश्वास न करे।]

अनरियकम्मं ओक्कंतं अत्थेतं सब्बघातिनं,
निसितं व पटिच्छन्नं तादिसं पि नास्मसे॥

[जो अनार्य्य-कर्म में रत है, अस्थिर है, सब का घात करने को तैयार है, म्यान में छिपी तलवार के समान है—उसका भी विश्वास न करे।]

मित्तरूपेन इधेकच्चे साखल्लेन अचेतसा,
विविधेहि उपायेहि तादिसम्पि नास्मसे ॥

[कुछ मृदु-वचन तथा कठोर-चित्त वाले व्यक्ति नाना प्रकार से मित्र बने रहते हैं—वैसे का भी विश्वास न करे ।]

आमिसं व धनं वापि यत्थ पस्सति तादिसो,
दूभिं करोति दुम्मेधो तञ्च छेत्वान गच्छति ॥

[वैसा आदमी कोई भी वस्तु या धन जहाँ भी देखता है, ठग लेता है और स्वामी को मार कर चला जाता है ।]

ये चार धर्मराज द्वारा कही गई अभिसम्बुद्ध गाथायें हैं :—

मित्तरूपेन बहवो छन्ना सेवन्ति सत्तवो,
जहे कापुरिसे हेते कुक्कुटो विय सेनकं ॥

[बहुत से शत्रु मित्र रूप में छिपे रहते हैं । इन नीच पुरुषों को वैसे ही छोड़ दे जैसे मुर्गे ने बाज को ।]

यो च उप्पतितं अत्थं न खिप्पमेव अनुबुज्झति,
अमित्तवसमन्वेति पच्छा च मनुतप्पति ॥

[जो उत्पन्न अर्थ को शीघ्र ही नहीं बूझ लेता है, वह अमित्र के हाथ में पड़ जाता है और पीछे अनुताप करता है ।]

यो च उप्पतितं अत्थं खिप्पमेव निबोधति,
मुच्चते सत्तुसम्बाधा कुक्कुटो विय सेनका ॥

[जो उत्पन्न अर्थ को शीघ्र ही बूझ लेता है, वह शत्रुबाधा से वैसे ही मुक्त हो जाता है जैसे बाज से मुर्गा ।]

तं तादिसं कूटमिव ओड्डितं वने
अधम्मिकं निच्चविधंसकारिनं
आरा विवज्जेय्य नरो विचक्खणो
सेनं यथा कुक्कुटो वंसकानने ॥

[बुद्धिमान् आदमी को चाहिए कि बाँस के जंगल में जैसे मुर्गे ने बाज को दूर से ही त्याग दिया उसी प्रकार जंगल में बिछाये जाल के समान, वैसे अधार्मिक नित्य-विध्वंसकारी आदमी को दूर से ही छोड़ दे ।]

उसने भी वे गाथायें कह बाज को धमकाया—यदि इस जगह रहेगा तो तेरे साथ जो करना चाहिए वह जानूँगा। बाज वहाँ से भाग कर अन्यत्र चला गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला और "इस प्रकार भिक्षुओ, देवदत्त ने पहले भी मेरे वध के लिए प्रयत्न किया" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सेनक देवदत्त था। मुर्गा मैं ही था।

———

४४९. मट्टकुण्डली जातक

"अलङ्कतो मट्टकुण्डली..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक ऐसे गृहस्थ के बारे में कही जिसका पुत्र मर गया था।

क. वर्त्तमान कथा

श्रावस्ती में एक बुद्ध-सेवक गृहस्थ का पुत्र मर गया। पुत्र शोक से अभिभूत हुआ वह न नहाता, न खाता, न काम-काज देखता और न बुद्ध की सेवा में ही जाता। 'मेरा प्रिय पुत्र मुझे छोड़ मुझसे भी पहले चला गया' आदि कह कर विलाप करता रहता। शास्ता ने ब्राह्म-मुहूर्त में लोक का विचार करते हुए उसकी स्रोतापत्ति-फल-प्राप्ति की सम्भावना देख अगले दिन भिक्षु-संघ के साथ श्रावस्ती में भिक्षाटन किया। फिर भिक्षुओं को कर्तव्य में प्रेरित कर, आनन्द स्थविर को साथ लिये उसके घर गये। उस गृहस्थ को शास्ता के आने की सूचना दी गई। उसके घरवालों ने आसन बिछाये, शास्ता को बिठाया और गृहस्थ को पकड़ कर शास्ता के पास लाये। प्रणाम कर एक ओर बैठे हुए उसे शास्ता ने करुणा-शीतल वचन से सम्बोधित कर कहा—"उपासक! क्या अपने इकलौते पुत्र की चिन्ता करता है?" "हाँ भन्ते" कहने पर "पूर्वकाल के पण्डित पुत्र के मरने पर शोकाकुल विचरते थे। फिर पण्डितों की बात सुन और तत्त्वतः यह समझ कि अब उनकी प्राप्ति असम्भव है, थोड़ा भी शोक नहीं किया" कह, उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक महावैभवशाली ब्राह्मण का पन्द्रह-सोलह वर्ष का पुत्र किसी व्याधि से पीडित होकर मर गया और देव-लोक में पैदा हुआ। ब्राह्मण उसके मरने

के बाद से श्मशान जा राख की ढेरी बखेरता हुआ रोता, सब कामकाज छोड़ शोकाकुल भटकता। देवपुत्र ने घूमते हुए उसे देख सोचा—एक उपाय से इसका शोक दूर करूँगा। जिस समय वह श्मशान में पहुँच रोता था, देव-पुत्र उसी के पुत्र का रूप बना, सभी आभरणों से सज, एक ओर खड़ा हो, दोनों हाथ सिर पर रख बड़ी जोर से रोने लगा। ब्राह्मण ने आवाज सुनी तो उसकी ओर देखा। उसके मन में पुत्र-प्रेम जाग्रत हो गया। उसने उसके पास खड़े हो कहा—"तात! इस श्मशान में क्यों रो रहा है?" यह पूछते हुए उसने पहली गाथा कही—

अलङ्कृतो मट्टकुन्डली
मालभारी हरिचन्दनुस्सदो
बाहा पग्गय्ह कंदसि
वनमज्झे किं दुक्खितो तुवं॥

[अलंकृत, कुण्डल पहने हुए, माला-धारी और स्वर्ण-वर्ण चन्दन से अनुलिप्त तू वन में किस दुख से दुखी होकर बाँहें पकड़ रोता है?]

उसे उत्तर देते हुए तरुण ने दूसरी गाथा कही—

सो वण्मयो पभस्सरी
उप्पन्नो रथपञ्जरो मम,
तस्स चक्कयुगं न विन्दमि
तेन दुक्खेन जहामि जीवितं॥

[मुझे चमकता हुआ स्वर्णमय रथ-पञ्जर प्राप्त हुआ है। उसके पहियों की जोड़ी नहीं मिलती। इसी दुःख से मैं प्राण छोड़ रहा हूँ।]

सो वण्मयं मणीमयं
लोहमयं अथ रूपिया मयं
[अथ] पावद, रथं कारयामि
चक्कयुगं पटिपादयामि तं॥

[स्वर्णमय, मणिमय, लोहमय, रजतमय—जैसा कहो वैसा रथ बनवा देता हूँ, और पहियों की जोड़ी दूँगा।]

यह सुन तरुण द्वारा कही गई गाथा की प्रथम-पंक्ति शास्ता द्वारा अभिसम्बुद्ध होने पर कही गई है—

सो माणवो तस्स पावदी
[उस माणवक ने उसे कहा]
चन्द सुरिया उभयेत्थ भातरो
सोवण्णयो रथो मम
तेन चक्कयुगेन सोभति

[मेरा रथ चन्द्रमा तथा सूर्य्य दोनों भाइयों के चक्र-युग से शोभा पाता है।]

ब्राह्मण बोला—

बालो खो त्वं सि माणव,
यो त्वं पत्थयसे अपत्थियं
मञ्ञामि तुवं मरिस्ससि
न हि तुवं लच्छसि चन्दसूरिये॥

[हे तरुण! यह जो तू कामना न करने योग्य की कामना कर रहा है, इससे लगता है कि तू मूर्ख है। मैं समझता हूँ कि तुझे चाँद-सूर्य्य नहीं मिलेंगे और तू मर जायगा।]

तरुण बोला—

गमनागमनं पि दिस्सति
वण्णधातू उभयेत्थ वीथियो,
पे तो पन नेव दिस्सति,
को नु खो कन्दतं बाल्यतरो॥

[आना-जाना, वर्ण और दोनों का मार्ग तक दिखाई देता है, लेकिन प्रेत तो दिखाई ही नहीं देता। दोनों रोनेवालों में अधिक मूर्ख कौन है?]

इस प्रकार तरुण के कहने पर ब्राह्मण विचार कर बोला—

सच्चं खो वदेसि मानव,
अहमेव कंदतं बाल्यतरो,
चन्दं विय दारको रुदं
पेतं कालकताभिपत्थये॥

[तरुण ! तू सच कहता है। रोनेवालों में मैं ही मूर्खतर हूँ। मृत्यु-प्राप्त प्रेत की कामना करना ऐसा ही है जैसे बालक का चन्द्रमा की कामना करना]

ब्राह्मण ने तरुण के उपदेश से निश्शोक हो उसकी प्रशंसा करते हुए शेष गाथायें कहीं —

आदित्तं वत मं सन्तं घतसित्तं व पावकं,
वारिना विय ओसिञ्चि सब्बं निब्बापये दरं॥
अब्बहि वत मे सल्लं यमासि हृदयनिस्सितं,
यो मे सोकपरेतस्स पुत्तसोकं अपानुदि॥
सोहं अब्बूलहसल्लोस्मि वीतसोको अनाविलो,
न सोचामि न रोदामि तव सुत्वान माणव॥

[घी से सिञ्चित जलती हुई आग पर जैसे पानी डाल दिया गया हो, उसी तरह से सब दुःख दूर हो गया॥ मुझ शोकाकुल का यह जो पुत्र-शोक दूर कर दिया गया यह ऐसा ही है जैसे हृदय में लगा हुआ शल्य निकाल दिया गया॥ हे मानव ! तेरी बात सुन कर मैं न अब चिन्ता करता हूँ, न रोता हूँ। अब मेरा शल्य निकल गया है, मैं शोकरहित हो गया हूँ, स्थिर हो गया हूँ॥]

तरुण बोला—"ब्राह्मण ! जिसके लिये तू रोता है वह मैं तेरा पुत्र देव-लोक में उत्पन्न हुआ हूँ। अब से मेरे लिए दुःखी न होना। दान देना, शील की रक्षा करना, और उपोसथ व्रत रखना।" यह कह वह अपने स्थान को चला गया। ब्राह्मण भी उसके उपदेशानुसार, दानादि पुण्य-कर्म कर मरने पर देव-लोक में उत्पन्न हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में गृहस्थ स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय धर्मोपदेशक देव-पुत्र मैं ही था।

———

४५० बिळारि कोसिय जातक

"अपचन्तोपि. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक दानी भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह भगवान् का धर्मोपदेश सुन (बुद्ध) शासन में प्रव्रजित होने के बाद से दानी हो गया, दान-स्वभाव वाला। (भिक्षा-) पात्र में जो आ जाता उसमें से बिना दूसरे को दिये नहीं खाता; और तो और पानी भी बिना-दूसरे को दिये न पीता। धर्मसभा में उसके गुण की प्रशंसा होने लगी। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ?" 'अमुक बात-चीत' कहने पर उस भिक्षु को बुला कर पूछा—"क्या तू सचमुच दानी है, दान स्वभाव वाला ?" 'भन्ते ! सचमुच' "भिक्षुओ ! यह पहले अश्रद्धावान् था, अप्रसन्न। तिनके के सिरे पर उठाकर तेल की बूंद तक किसी को नहीं देता था। मैंने इसका दमन कर इसे नम्र बनाया और दान-फल से परिचित किया। इसकी दान-शीलता ने इसे दूसरे जन्म में भी नहीं छोड़ा" कह पूरे-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व सेठ के कुल में पैदा हुए। बड़े होने पर कुटुम्ब का पालन-पोषण करते हुए जब पिता के मरने पर श्रेष्ठि-पद पर प्रतिष्ठित हुए तो एक दिन धन की ओर देखते हुए सोचा—धन तो दिखाई देता है, किन्तु इस धन के कमाने वाले नही दिखाई देते हैं। मुझे चाहिए कि मैं इस धन का त्याग कर दान दूं। उसने दान-शाला बनवाई और जन्म भर महान् दान दिया। मृत्यु के समय उसने पुत्र को उपदेश दिया कि इस दान-परम्परा को जारी रखना और वह त्रयोत्रिंश भवन में शक्र होकर पैदा हुआ। उसका पुत्र भी उसी प्रकार दान देता रहा। अपने पुत्र को उपदेश दे, मरने पर चन्द्रदेव-पुत्र होकर पैदा हुआ। उसका पुत्र सूर्य्य होकर, उसका भी पुत्र

मातलि संग्राहक होकर, उसका पुत्र पञ्चशिख गन्धर्व होकर उत्पन्न हुआ। लेकिन छठा अश्रद्धावान था, कठोर-चित्त, स्नेह-रहित, मात्सर्य्य युक्त। उसने दानशाला नष्ट करवा दी और याचकों को पिटवा कर निकलवा दिया। वह किसी को तिनके के सिरे पर लेकर तेल की बूंद तक न देता था।

तब देवराज शक्र ने अपने पूर्व-कर्म का विचार करते हुए देखा—मेरी दान-परम्परा प्रचलित है वा नहीं? उसे दिखाई दिया कि उसका पुत्र दान दे चन्द्र होकर उत्पन्न हुआ, उसका पुत्र सूर्य्य, उसका पुत्र मातलि और उसका पुत्र पञ्चशिख होकर उत्पन्न हुआ; लेकिन छठे ने उस दान-परम्परा का उच्छेद कर दिया। उसके मन में आया कि इस पापी का दमन कर इसे दान-फल जता कर आऊँगा। उसने चन्द्र, सूर्य्य, मातलि और पञ्चशिख को बुलाकर कहा—"सौम्यो! हमारे वंश में छठे ने कुल-परम्परा का उच्छेद कर दानशाला जला दी और याचकों को निकाल दिया। वह किसी को कुछ नहीं देता। आओ उसका दमन करेंगे।" वह उनके साथ वाराणसी पहुँचा। उस समय सेठ राजा की सेवा में से वापिस लौट सातवें द्वार-ग्रह पर बीच-बाजार देखता हुआ घूम रहा था। शक्र ने उन्हें 'तुम मेरे प्रवेश करने पर क्रमशः आना' कह सेठ के पास खड़े हो कहा—"हे सेठ! मुझे भोजन दे।" "ब्राह्मण तेरे लिये यहाँ भोजन नहीं है, अन्यत्र जा।"

"महासेठ ब्राह्मण के भोजन की याचना करने पर देना होता ही है।" "ब्राह्मण! मेरे घर में न पका भोजन है, न बिना पका भोजन है, जा।"

"महासेठ! मैं तुझे एक श्लोक कहता हूँ, सुन।"

"मुझे तेरे श्लोक की जरूरत नहीं है, जा यहाँ न खड़ा हो।"

शक्र ने उसका कहना अनसुना कर दो गाथायें कहीं—

> अपचन्तापि दिच्छन्ति सन्तो लद्धान भोजनं,
> किमेव त्वं पचमानो यं न दज्जा न तं समं॥१॥
> मच्छेरा च पमादा च एवं दानं न दिय्यति,
> पुञ्जं आकङ्खमानेन देय्यं होति विजानता॥२॥

[शान्त-जन, जो भोजन नहीं पकाते हैं वे (भिक्षुक) भी भोजन प्राप्त कर दूसरों को देते हैं। तू जो पकाने वाला होकर नहीं देता है, यह ठीक

नहीं है ॥१॥ जो दान नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य और प्रमाद के ही कारण, जो बुद्धिमान् पुण्य की आकांक्षा करता हो, उसे दान देना चाहिए ॥२॥]

उसकी बात सुन वह बोला--"तो घर में प्रविष्ट होकर बैठ, थोड़ा मिलेगा।" शक्र अन्दर जाकर बैठ उन श्लोकों का पाठ करने लगा। तब चन्द्र ने आकर भोजन माँगा। कहा गया—जा, तेरे लिए भोजन नहीं है। वह बोला—"अन्दर एक ब्राह्मण बैठा है। पाठ हो रहा होगा। मैं भी प्रवेश करता हूँ।"

"ब्राह्मण-पाठ नहीं है, निकल" कहने पर भी "महासेठ! तो श्लोक सुन" कह दो गाथायें कहीं—

यस्सेव भीतो ददाति मच्छरी तदेव अददतो भयं
जिघच्छा च पिपासा च यस्स भायति मच्छरी
तमेव बालं फुसति अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

[जिस बात से डरकर लोभी आदमी दान नहीं देता, दान न देने से उसे वही भय होता है। लोभी आदमी जिस भूख और प्यास से डरता है, मूर्ख इस लोक और पर-लोक में उसी को प्राप्त होता है ॥३॥

तस्मा विनेय्य मच्छेरं दज्जा दानं मलाभिभू
पुञ्जानि परलोकस्मि पतिट्ठा होन्ति पाणिनं ॥४॥

[इसलिए मात्सर्य का शमन करे और मात्सर्य-रूपी मल को अभिभूत करने वाला दान दे। पुण्य पर-लोक में प्राणियों के सहायक होते हैं ॥४॥]

उसकी भी बात सुन सेठ बोला--तो चला आ, कुछ मिल जायगा। वह अन्दर जा शक्र के पास बैठा। उसके थोड़ी देर बाद सूर्य्य ने भोजन माँग दो गाथायें कहीं—

दुद्ददं ददमानानं दुक्करं कम्मकुब्बतं,
असन्तो नानुकुब्बन्ति, सतं धम्मो दुरञ्जयो ॥५॥
तस्मा सतं च असतं च नाना होति इतो गति,
असन्तो निरयं यन्ति सन्तो सग्गपरायना ॥६॥

[देनेवालों को देना दुष्कर होता है, दान (कर्म) करने वालों को करना दुष्कर होता है। असत्य पुरुष इसे नहीं करते हैं। सत्य-पुरुषों का

धर्म दुर्ज्ञेय होता है ॥५॥ इसलिये सत्यपुरुष और असत्यपुरुष की गति भिन्न होती है—असत्यपुरुष नरकगामी होते हैं और सत्यपुरुष स्वर्गगामी ॥६॥]

सेठ ने ग्रहण करने वालों की अधिकता की ओर न देखते हुए कहा—"तो अन्दर आकर ब्राह्मणों के पास बैठ, कुछ मिल जायगा। तब थोड़ी देर के बाद मातलि ने आकर भोजन माँगा और 'नहीं है' वचन के साथ ही साथ सातवीं गाथा कही—

अप्पस्मेके पवेच्छन्ति, बहुना एके न दिच्छरे,
अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना सहस्सेन समं मिता ॥७॥

[कोई-कोई थोड़ा रहने पर भी देते ही हैं, कोई कोई बहुत होने पर भी नहीं देते। थोड़ा रहने पर जो दान दिया जाता है वह हजार के बराबर माना गया है ॥७॥]

उसे भी उसने कहा—तो भीतर आकर बैठ। उसके थोड़ी देर बाद पञ्चशिख ने आकर भोजन माँगा। 'जी नहीं है' कहने पर—"मैं कहाँ जाऊँ? आगे गया है, मालूम देता है इस घर में पाठ होगा।" कह उसे धर्मोपदेश देते हुए आठवीं गाथा कही—

धम्मं चरे योपि समुञ्छकं चरे
दारं च पोसं ददं अप्पकस्मि पि,
सतं सहस्सानं सहस्सयागिनं
कलं पि नाग्घन्ति तथाविधस्स ते ॥८॥

[जो उञ्छा-चर्य्या से जींता वह भी धर्मानुसार रहे। थोड़ा रहने पर भी पुत्र-दारा का पालन करे और दान दे। हजारों-यज्ञ करने-वालों के लाख जन भी उस तरह के एक आदमी का मुकाबला नहीं कर सकते ॥८॥]

सेठ ने पञ्चशिख की बात सुन विचार किया। उसने अनर्धता का कारण पूछते हुए नौवीं गाथा कही—

केनेस यञ्ञो विपुलो महग्घतो
समेन दिन्नस्स न अग्घमेति,
कथं सहस्सानं सहस्सयागिनं
कलं पि नाग्घन्ति तथाविधस्स ते ॥९॥

[यह बड़ा अनर्घ यज्ञ किस कारण से 'दान' की समता नहीं करता?

हजार-याज्ञिकों के एक लाख जन भी कैसे उस तरह क एक आदमी का एक हिस्सा भी नहीं हैं ?]

पञ्चशिख ने उसे समझाते हुए अंतिम गाथा कही—

ददन्ति हेके विसमे विविट्ठा
झत्वा वधित्वा अथ सोचयित्वा,
सा दक्खिणा अस्सुमुखा सदण्डा
समेन दिन्नस्स न अग्घमेति,
एवं सहस्सानं सहस्सयागिनं
कलं पि नाऽग्घन्ति तथाविधस्स ते॥१०॥

[कोई-कोई दुष्कर्म में स्थापित हो कष्ट देकर, मारकर और दुखी करके (यज्ञ में) दान देते हैं। वंह दक्षिणा साश्रु और सदंड होती है। वह दान की बराबरी नहीं कर सकती। इस प्रकार सहस्र-याज्ञिकों के एक लाख भी उस तरह के आदमी की तुलना नहीं कर सकते ॥१०॥]

उसने पञ्चशिख का धर्म सुनकर कहा—"तो जा बैठ, कुछ मिलेगा।" वह भी जाकर उनके पास बैठा। तब बिलारि कोसिय सेठ ने दासी को बुला कर कहा—इन ब्राह्मणों को एक एक नाली भर धान की भूसी दे दो। वह धान ले ब्राह्मण के पास पहुँची और बोली—

"यह ले जाकर कहीं पकवा कर खा लो।"

"हम धान की आशा नहीं रखते।"

"आर्य ! धान नहीं लेते" उसने कहा। "तो उन्हें चावल दो।" उसने चावल ले जाकर ब्राह्मणों से कहा—"चावल ले लो।"

"हम कच्चा धान नहीं लेते"

"आर्य कच्चा-धान नहीं लेते" उसने कहा। "तो उन्हें बरतन में गो-भोज दो।" उसने उनके लिए बड़े बैलो के लिये पका हुआ भात लाकर दिया। पाँच जनों ने बड़े-बड़े कौर करके मुँह में डाले। वे उनके गले में अटक गये और आँखें बदल कर, बेहोश हो मृत की तरह लेट रहे। दासी ने उन्हें देख 'मर गये होंगे' सोचकर डर के मारे जाकर सेठ को कहा—"आर्य ! वे ब्राह्मण बैलों का भोजन न निगल सकने के कारण मर गये।" सेठ ने सोचा—अब लोग मेरी निन्दा करेंगे कि इस पापी ने सुकुमार

ब्राह्मणों को बैलों का भोजन दिलवाया, और वे निगल न सकने के कारण मर गये। उसने दासी को कहा—शीघ्र जाकर इनके लिये पात्र में भोजन ला और नाना प्रकार के रसों के साथ शाली-चावल परोस। उसने वैसा ही किया। सेठ ने रास्ते चलते आदमियों को इकट्ठा कर कहा—मैं जो भोजन खाता था वही इन ब्राह्मणों को दिलवाया। यह लोभ के कारण बड़े-बड़े कौर खाने लगे और उनके गले में फँस जाने से मर गये। मैं निर्दोष हूँ। लोगों के इकट्ठा हो जाने पर ब्राह्मणों ने उठकर जनता की ओर देखकर कहा—इस सेठ के झूठ को देखें। यह कहता है कि इसने हमें अपने खाने का भोजन दिलवाया। इसने पहले हमें बैलों का भोजन दिलवाया। फिर हमारे मृतवत् गिर जाने पर यह भात परोसवाया। उन्होंने अपने मुँह का भोजन जमीन पर गिरा कर दिखाया। जनता ने सेठ की निन्दा की—अन्धा, मूर्ख अपने वंश का नाश करता है। दानशाला जला दी। याचकों को गरदन से पकड़ कर निकलवा दिया। अब इन सुकुमार ब्राह्मणों को भोजन देने के समय बैलों का भोजन दिलवाया। मालूम होता है जैसे परलोक जाता हुआ यह गृह-वैभव गले से बाँध कर ले जायगा। उस समय शक्र ने जनता से पूछा—"तुम जानते हो इस घर में जो धन है किसका है?"

"नहीं जानते हैं।"

"क्या तुमने सुना है कि अमुक समय में इस नगर में वाराणसी के महासेठ ने दान-शाला बनवा कर महादान किया था?"

"हाँ सुना है।"

"मैं वह सेठ हूँ। वह दान देने से ही शक्र देव-राज होकर पैदा हुआ। मेरे पुत्र ने भी वह वंश-परम्परा जारी रक्खी। वह चन्द्र देव-पुत्र हुआ। उसका पुत्र सूर्य्य। उसका पुत्र मातलि। उसका पुत्र पञ्चशिख हुआ। उनमें से यह चन्द्र है। यह सूर्य्य है। यह मातलि-संग्राहक है। यह इस पापी का पिता पञ्चशिख गन्धर्व पुत्र है। इस प्रकार के माहात्म्य वाला (दान) पण्डितों द्वारा दिया ही जाना चाहिये।"

उसके यह कहते समय वे जनता की सन्देह निवृत्ति के लिये आकाश में ऊपर उठकर, बड़े प्रताप और अनेक अनुयायियों के साथ प्रज्वलित-शरीर हो खड़े हुए। सारा नगर प्रदीप्त हो उठा। शक्र ने जनता को सम्बोधित

कर "हम अपनी दिव्य सम्पत्ति छोड़ इस अपने कुल में अन्तिम, कुल नाशक, पापी बिलारि कोसिय के लिये आए। इस पापी ने अपनी कुल-परम्परा छोड़ दानशाला जला दी और याचकों को गरदन से पकड़ निकलवा दिया। इस प्रकार इसने हमारी परम्परा नष्ट कर दी। हम इस पर दया करने के लिए आये कि यह अदानशील होकर नरक में न उत्पन्न हो" कह दान की महिमा प्रकट करते हुए धर्मोपदेश दिया। बिलारि कोसिय ने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा की—"देव ! मैं अब से पुरानी परम्परा को जारी कर दान दूँगा। आज से पानी तक भी बिना दूसरे को दिए न पीऊँगा॥" शक्र उसका दमन कर, नम्र बना, उसे पाँच शीलों में प्रतिष्ठित कर, चारों देव-पुत्रों को ले अपने निवास-स्थान को चला गया। वह सेठ भी जीवन भर दान देता रह कर त्रयोत्रिंश भवन में पैदा हुआ।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला "भिक्षुओ, इस प्रकार यह भिक्षु पहले अश्रद्धावान् था। किसी को कुछ न देता था। मैंने इसका दमन कर इसे दान-फल से परिचित कराया। यह दूसरे जन्म में भी उसी चित्त-प्रवृत्ति को बनाये हुए है" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सेठ यह दान-शील भिक्षु था, चन्द सारीपुत्र, सूर्य्य मौद्गल्यायन, मातलि काश्यप, पञ्चशिख आनन्द और शक्र तो मैं ही था।

———

४५१. चक्कवाक जातक

"वण्णवा अभिरूपोसि..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक लोभी भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

चीवर आदि से अतृप्त वह भिक्षु यही खोजता रहता था कि संघ-दान कहाँ है, निमन्त्रण कहाँ है? उसका मन वस्तुओं सम्बन्धी बातचीत में ही लगता था। दूसरे सदाचारी भिक्षुओं ने उस पर दया करके शास्ता से कहा। शास्ता ने उसे बुलाकर पूछा—"भिक्षु! क्या तू सचमुच लोभी है?" "भन्ते! सच-मुच" कहने पर "भिक्षु! इस प्रकार के कल्याणकारी (बुद्ध-) शासन में प्रबजित होकर तू लोभी क्यों है? लोभ पाप है। पहले भी तू लोभ के कारण वाराणसी में हाथी की लाश आदि से असंतुष्ट हो जंगल में गया" कह पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक लोभी कौआ वाराणसी में हाथी की लाश आदि से असंतुष्ट हो "जंगल में कैसा होगा" सोच जंगल गया। वहाँ फलाफल से असंतुष्ट हो गङ्गा-तीर पर पहुँचा। गङ्गा तीर पर घूमते हुए उसने चकवा-चकवी के जोड़े को देखकर सोचा—यह पक्षी बहुत ही सुन्दर लगते हैं। मालूम होता है यह इस गङ्गा-तीर पर बहुत माँस खाते हैं। मुझे भी इनसे पूछकर जो यह खाते हैं वही खाकर सुन्दर बनना चाहिये। वह उनसे थोड़ी ही दूर बैठ गया और चकवे से पूछते हुए दो गाथायें कहीं—

वण्णवा अभिरूपोसि घनो सञ्जातरोहितो,
चक्कवाक · सुरूपोसि विप्पसन्नमुखइन्द्रियो ॥१॥

पाठीनं पावुसं मच्छं बालजं मुञ्जरोहितं,
गंगातीरेसु निसिन्नो एवं भुञ्जसि भोजनं ॥२॥

[तू सुवर्ण है, सुन्दर है, भरा शरीर है, तपे हुए सोने के समान है, हे चक्रवाक ! तेरा रूप सुन्दर है और मुख तथा इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं ॥ (प्रतीत होता है कि) तू गङ्गा तीर पर रहकर पाठी, पावुस, वालस, मुञ्ज तथा रोहित मछली का भोजन करता है ॥ १—२ ॥]

चकवे ने उसके कथन का निषेध करते हुए तीसरी गाथा कही—

न वाहं एतं भुञ्जामि जङ्गलानि ओदकानि वा,
अञ्ञत्र सेवालपणका, एतं मे सम्म भोजनं ॥३॥

[मैं शैवाल और पत्तों के सिवाय यह सब जंगल या पानी का माँस नहीं खाता हूँ। मित्र ! यह (शैवाल और पत्ते ही मेरा) भोजन है।]

तब कौवे ने दो गाथायें कही—

न वाहं एतं सद्दहामि चक्कवाकस्स भोजनं,
अहं हि सम्म भुञ्जामि गामे लोणियतेलियं ॥४॥
मनुस्सेसु कतं भत्तं सुचिं मंसूपसेचनं,
न च मे तादिसो वण्णो चक्कवाक यथा तवं ॥५॥

[मैं इस पर विश्वास नहीं करता कि यही चक्रवाक का भोजन है। मित्र ! मैं स्वयं गाँव में निमक-तेल के भोजन खाता हूँ—मनुष्यों के बनाये हुये, पवित्र माँस-युक्त। लेकिन तब भी मेरा ऐसा वर्ण नहीं है जैसा तुम्हारा ॥४—५॥]

चकुवे ने उसे उसके दुर्वर्ण होने का कारण बताते और धर्मोपदेश देते हुए शेष गाथायें कहीं—

सम्पस्सं अत्तनि वेरं हिंसाय मानुसिं पजं,
उत्रस्तो घंससी भीतो, तेन वण्णो ते एदिसो ॥६॥
सब्बलोकविरुद्धोसि धङ्क पापेन कम्मना,
लद्धो पिण्डो न पीणेति, तेन वण्णो ते एदिसो ॥७॥
अहंपि सम्म भुञ्जामि अहिंसा सब्बपाणिनं,
अप्पोसुक्को निरासङ्की असोको अकुतोभयो ॥८॥
सो करस्सु आनुभावं, वीतिवत्तस्सु सीलियं,
अहिंसाय चर लोके, पियो होहिसि ममिव ॥९॥

यो न हन्ति न घातेति न जिनाति न जापये,
मेत्तंसो सब्बभूतेसु बेरं तस्स न केनचि ॥१०॥

[तुझे (दूसरों के प्रति तेरे मन में जो) वैर (है) वह दिखाई देता है, तू मनुष्यों की हानि करता रहता है, तू त्रस्त भयभीत होकर खाता है, इसी से तेरा वर्ण ऐसा है ॥ ६ ॥ हे कौए ! तू पाप-कर्म करने के कारण सारे लोक का विरोधी है। जो भोजन तुझे मिलता है वह तुझे मोटा नहीं करता। इसी से तेरा वर्ण ऐसा है ॥ ७ ॥ हे मित्र ! मैं सब प्राणियों की ओर अहिंसा की भावना रखकर, उत्सुकता और आशंका से रहित, शोक और भय से मुक्त होकर भोजन करता हूँ ॥८॥ इसलिए तुम भी प्रयत्न करो। अपने दुःशील स्वभाव को छोड़ो। अहिंसापूर्वक लोक में विचरो। तुम भी मेरी तरह प्रिय हो जाओगे ॥९॥

जो न हिंसा करता है, न कराता है, न किसी की हानि करता है, न कराता है, जो सब प्राणियों के प्रति मैत्री-चित्त से विहार करता है उसका किसी से वैर नहीं ॥१०॥]

इसलिए यदि लोक में प्रिय होने की इच्छा करता है, तो सब वैरों को छोड़—यह चक्रवाक ने कौवे को उपदेश दिया। कौवा बोला, तुम अपने चुगने की जगह मुझे नहीं बताते और 'कायें-कायें' कर उड़ गया। वह वाराणसी में जाकर गोबर के ढेर पर ही उतरा।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला सत्यों को प्रकाशित किया। सत्यों के अन्त में लोभी भिक्षु अनागामी फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय कौआ लोभी भिक्षु था। चकवी राहुल-माता। चकवा तो मैं ही था।

---

४५२. भूरि पञ्ह जातक

"सच्चं किर......" यह भूरि पञ्ह जातक उम्मग्ग[1] जातक में आयेगी।

---

१. उम्मग्ग जातक (५४६)

४५३. महामंगल जातक

"किं सु नरी ......" यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय महामङ्गल सुत्त के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

राजगृह नगर में किसी कार्य्य से सन्थागार में इकट्ठे हुए लोगों में से एक आदमी "आज मुझे एक मङ्गल क्रिया करनी है" कह उठकर चला गया। दूसरे ने उसकी बात सुन पूछा—"यह 'मङ्गल' कह कर गया है, 'मङ्गल' का क्या मतलब है?" उसे दूसरे ने बताया कि मङ्गल-रूप को देखना मङ्गल है—कोई आदमी प्रातःकाल ही उठकर सर्वश्वेत बैल को देखता है, गर्भिणी स्त्री को देखता है, रोहित मछली को देखता है, पूर्ण-घट देखता है, ताजा गऊ का घी देखता है, नये कपड़े देखता है अथवा दूध देखता है—इससे बढ़कर "मंङ्गल" नहीं है। कुछ लोगों ने उसका अभिनंदन किया—उसका कहा सुकथित है। लेकिन एक दूसरे ने कहा—यह "मङ्गल" नहीं है। सुना गया "मङ्गल" होता है। कोई 'पूर्ण' कहने वालों का शब्द सुनता है, वैसे ही 'बढ़' सुनता है, 'भोजन 'कर' सुनता है, 'खा' सुनता है—इससे बढ़कर "मङ्गल" नहीं है। कुछ लोगों ने उसके कथन को भी 'सुकथित' कहकर अभिनंदन किया। दूसरे ने कहा—यह "मङ्गल" नहीं है जो 'सूंघा-चखा-स्पर्श किया' होता है वह—"मङ्गल" होता है—कोई प्रातःकाल ही उठकर पृथ्वी का स्पर्श करता है, हरे तिनके का स्पर्श करता है, गीले गोबर का स्पर्श करता है, शुद्ध वस्त्र का स्पर्श करता है, रोहित मछली का स्पर्श करता है, सोने-चान्दी का स्पर्श करता है तथा भोजन का स्पर्श करता है—इससे बढ़कर "मङ्गल" नहीं है। उसके कथन का भी कुछ ने 'सुकथित' कह कर अभिनंदन किया। इस प्रकार

दृष्ट-माङ्गलिक, श्रुत-माङ्गलिक और मुत-माङ्गलिक तीन प्रकार से विभक्त जनता परस्पर एक मत न हो सकी। भुम्म-देवताओं से आरम्भ करके ब्रह्म-लोक तक कोई भी तत्त्वतः यह न जान सका कि यह "मङ्गल" है। शक्र ने सोचा कि यह "मङ्गल-प्रश्न" सदेव लोक में भगवान् (बुद्ध) को छोड़ कर और कोई नहीं कह सकता। भगवान् के पास जाकर यह प्रश्न पूछूंगा। उसने रात को तथागत के पास पहुँच, प्रणाम कर, हाथ जोड़ "बहुत देवता..." प्रश्न पूछा। शास्ता ने बारह गाथाओं में अड़तीस मङ्गल, बताये। मङ्गल सूत्र की व्याख्या होते-होते हजार-करोड़ देवता अर्हत्व प्राप्त हुए। स्रोतापन्न आदियों की तो गिनती ही नहीं है। शक्र "मङ्गल" सुन कर अपने स्थान को ही चला गया। शास्ता द्वारा "मङ्गल" कहे जाने पर सारे सदेव लोक ने 'सुकथित' कह अभिनंदन किया। उस समय धर्मसभा में तथागत का गुणानुवाद होने लगा—आयुष्मानो ! तथागत ऐसे महाप्रज्ञावान् कि उन्होंने ऐसे मङ्गल-प्रश्न को जिसका दूसरे उत्तर न दे सकते थे सदेव-लोक के चित्त को संतुष्ट कर, सन्देह मिटा, आकाश में चन्द्रोदय के समान स्पष्ट किया। शास्ता ने आकर पूछा—भिक्षुओ, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ? 'अमुक बात-चीत' कहने पर 'भिक्षुओ, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं यदि मैंने अब बुद्धत्व प्राप्त होने पर मङ्गल-प्रश्न कहा; मैंने तो बोधिसत्व-चर्य्या के समय भी देव-मनुष्यों के सन्देह का निवारण कर मङ्गल-प्रश्न कहा था, वह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में बोधिसत्व एक निगम में वैभवशाली ब्राह्मण के घर में पैदा हुए—नाम रखा गया रक्षित-कुमार। उसने बड़े होने पर तक्षशिला में विद्या सीखी, विवाह किया और माता-पिता के मरने पर धन की ओर देख वैराग्य को प्राप्त हुआ। उसने महादान दिया और काम-भोगों को छोड़ हिमालय प्रदेश में प्रव्रजित हो, ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर, कन्दमूल फल खाता हुआ एक प्रदेश में रहने लगा। क्रमशः उसका परिवार बढ़ गया—पाँच सौ शिष्य। एक दिन उन तपस्वियों ने बोधिसत्व से पूछा—"आचार्य्य ! वर्षा-ऋतु में हिमालय से उत्तर निमक-खटाई खाने के लिये जनपद में घूमें। इस

प्रकार हमारा शरीर भी दृढ़ हो जायगा और भ्रमण भी हो जायगा।" यह कहने पर कि तुम जाओ, मैं यहीं रहूँगा, वे उसे प्रणाम कर, हिमालय से उतर, चारिका करते हुए वाराणसी पहुँच राजोद्यान में ठहरे। उनका महान् सत्कार-सम्मान हुआ। एक दिन वाराणसी सन्थागार में इकट्ठे हुए लोगों में मङ्गल-प्रश्न उठ खड़ा हुआ।...सारी कथा 'वर्तमान कथा' की ही तरह जाननी चाहिए। उस समय जब मनुष्यों का सन्देह निवारण कर मङ्गल प्रश्न का उत्तर दे सकने वाला कोई न दिखाई दिया तो लोगों ने उद्यान में पहुँच ऋषि-गण से पूछा। ऋषियों ने राजा को सम्बोधित कर कहा—"महाराज! हम यह प्रश्न नहीं कह सकते। लेकिन हमारे आचार्य्य, जिनका नाम रक्षित तपस्वी है, महाप्रज्ञावान् हैं और हिमालय में रहते हैं। वह सदैव लोक के चित्त को संतुष्ट कर यह मङ्गल प्रश्न कहेंगे।" राजा बोला—"भन्ते! हिमालय दूर है और दुर्गम है। हम नहीं जा सकेंगे। अच्छा हो यदि तुम ही आचार्य्य के पास जा प्रश्न पूछकर, सीखकर फिर हमें आकर कहो।" उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और आचार्य्य के पास पहुँचे। आचार्य्य द्वारा कुशल-क्षेम, राजा का धार्मिक-भाव और जनपद-आचार पूछे जा चुकने पर उन्होने वह इष्टमङ्गल आदि की कथा आरम्भ से कही और राजा की याचना तथा अपना प्रश्नोत्तर जानने के लिए आना बता प्रार्थना की—"भन्ते! अच्छा हो यदि हमें मङ्गल-प्रश्न स्पष्ट करके कहें।" उस समय प्रधान शिष्य ने आचार्य्य को पूछते हुए पहली गाथा कही—

किं सु नरो जप्पं अधिच्च काले
कं वा विज्जं कतमं वा सुतानं
सो मच्चो अस्मिं च परम्हि लोके
कथङ्करो सोत्थानेन गुत्तो॥१॥

[आदमी (मङ्गल-) प्रार्थना के समय क्या जप करे, कौन सा वेद पढ़े, कौन शास्त्र पढ़े अथवा क्या करे जिसके करने से आदमी इस लोक तथा परलोक में कल्याण-सहित सुरक्षित रहे॥१॥

इस प्रकार प्रधान शिष्य के मङ्गल-प्रश्न पूछने पर बोधिसत्व ने देव-मनुष्यों के सन्देह को दूर करते हुए, 'यह और यह मङ्गल है' करके बुद्ध-लीला से "मङ्गल" कहते हुए इस प्रकार कहा—

यस्स देवा पितरो च सब्बे
सिंरिसपा सब्बभूतानि चापि
मेत्ताय निच्चं अपचितानि होन्ति
भूतेसु वे सोत्थानं तदाहु ॥२॥

[सभी देवता, पितर, रेंगनेवाले जानबर तथा सभी अन्य प्राणी जिसकी मैत्री-भावना द्वारा नित्य पूजा होती है, यह प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना मङ्गल है। इस 'मङ्गल' से वह 'रक्षित' होता है ॥८॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने प्रथम "मङ्गल" कह 'शेष मङ्गल' इन गाथाओं द्वारा कहे—

यो सब्बलोकस्स निवातवुत्ति
इत्थी पुमानं सह दारकानं
खन्ता दुरुत्तानं अपटिक्कूलवादी
अधिवासनं सोत्थानं तदाहु ॥३॥

[जो सारे लोक के प्रति नम्र है, जो स्त्री, पुरुष और बच्चों के भी दुष्ट वचनों को सह लेता है, जो किसी से झगड़ा नहीं करता, उसकी यह सहन-शीलता उसका 'मङ्गल' है, इसी से वह 'रक्षित' होता है ॥ ३ ॥]

यो नावजानाति सहायमित्ते
सिप्पेन कुल्याभिघनेन जच्चा
रुचिपञ्जो अत्थकाले मुतिमा—
सहायेसु वे सोत्थानं तदाहु ॥४॥

[जो विद्या, कुल, धन या जन्म के अभिमान से मित्रों का अनादर नहीं करता, जो प्रज्ञावान् है, जो समय पड़ने पर स्मृतिमान् है, उसका यह मित्रों का अनादर न करना 'मङ्गल' है। इसी से वह 'रक्षित' होता है ॥ ४ ॥]

भिक्षानि वे यस्स भवन्ति सन्तो
संविस्सत्था अविसंवादकस्स
न मित्तदूभी संविभागी धनेन
मित्तेसु वे सोत्थानं तदाहु ॥५॥

[जिस अनिन्दित (पुरुष) के मित्र शान्त होते हैं, विश्वासी होते हैं, जो मित्र-द्रोही नहीं होता और धन को बराबर बाँटने वाला होता है, उसका

मित्रों के प्रति यह भाव 'मङ्गल' है । इसी से उसकी रक्षा होती है ॥ ५ ॥]

यस्स भरिया तुल्यवया समग्गा
अनुब्बता धम्मकामा पजाता
कोलिनिया सीलवती पतिब्बता
दारेसु वे सोत्थानं तदाहु ॥६॥

[जिसकी भार्य्या समान आयु वाली है, एकमन की है, अनुवर्त्तिनी है, धर्म-कामी है, बाँझ नहीं है, कुलीन है, सदाचारिणी है, पतिव्रता है—यह स्त्रियों के विषय में उसका 'मङ्गल' है । इससे उसकी रक्षा होती है ॥ ६ ॥]

यस्स राजा भूतपती यसस्सी
जानाति सोचेय्यं परक्कमञ्च
अद्वेज्झता सुहृदयं ममंति—
राजूसु वे सोत्थानं तदाहु ॥७॥

[यशस्वी, भूतपति राजा जिसके बारे में यह जानता है कि यह पवित्र है, पराक्रमी है, द्वैत-भाव रहित है तथा 'मेरा सुहृदय है'—यह उसका 'मङ्गल' है । यही उसकी रक्षा करता है ॥ ७ ॥]

अन्नं च पानं च ददाति सद्धो
मालं च गन्धं च विलेपनं च
पसन्नचित्तो अनुमोदमानो—
सग्गेसु वे सोत्थानं तदाहु ॥८॥

[श्रद्धावान् प्रसन्नचित्त, संतुष्ट मन से अन्न, पान, माला, गन्ध तथा लेप दान करता है—यह स्वर्ग सम्बन्धी उसका 'मङ्गल' है—यही उसकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥]

यमरियधम्मेन पुनन्ति बुद्धा
आराधिता समचरियाय सन्तो
बहुस्सुताइसयो सीलवन्तो
अरहन्तमज्झे सोत्थानं तदाहु ॥९॥

[(वयो-) वृद्ध, सम्यक्-चर्य्या से पूजित, सत्पुरुष, बहुश्रुत, शीलवान, ऋषिगण जिस आर्य-धर्म से पवित्र होते हैं, वह अरहतों में 'मङ्गल' हैं । इसी से उसकी रक्षा होती है ॥ ९ ॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने अर्हत्व पर समाप्त करते हुए आठ गाथाओं से 'मङ्गल' कहे। फिर उन 'मङ्गलों, की ही स्तुति करते हुए अंतिम गाथा कही—

एतानि खो सोत्थानानि लोके
विञ्ञूपसत्थानि सुखीन्द्रियानि
तानीध सेवेथ वरो सपञ्ञो
न हि मंगले किञ्चनं अत्थि सच्चं ॥१०॥

[यही लोक में वास्तविक 'मङ्गल' है—विज्ञपुरुषों द्वारा प्रशंसित इन्द्रियों को सुख देने वाले प्रज्ञावान् को चाहिए कि इन्हीं का पालन करे। और जो 'मङ्गल' हैं, उनमें कुछ सत्य नहीं है ॥ १० ॥]

ऋषि-गण वह 'मङ्गल' सुन सात-आठ दिन के बाद आचार्य्य की आज्ञा ले वहीं गये। राजा ने उनके पास जाकर पूछा। उन्होंने उसे आचार्य्य के बताये अनुसार ही 'मङ्गल' कहे और फिर स्वयं हिमालय चले गये। तब से लोक में 'मङ्गल' प्रकट हो गये। 'मङ्गलों' के अनुसार आचरण कर मरने वालों ने स्वर्ग-मार्ग भर दिया। बोधिसत्व ब्रह्म-विहारों की भावना कर ऋषि-गण को ले ब्रह्म-लोक में उत्पन्न हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, न केवल अभी, पहले भी मैंने मङ्गल-प्रश्न कहा है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय के ऋषि-गण बुद्ध-परिषद् हुई। मङ्गल-प्रश्न पूछनेवाला प्रधान-शिष्य सारिपुत्र। आचार्य्य तो मैं ही था।

---

४५४. घत जातक

"उट्ठेहि कण्ह. . ." यह शास्ता ने जेतवन में मृत-पुत्र के बारे में कही। (वर्त्तमान-) कथा मट्ठकुण्डलि वस्तु[1] सदृश ही है। यहाँ शास्ता ने उस उपासक से पूछा--उपासक! क्या चिंता करता है? 'हाँ, भन्ते!' कहने पर "उपासक! पुराने पण्डितों ने पण्डितों की बात सुन मृत-पुत्र के बारे में चिन्ता नहीं की" कह पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में उत्तरापथ में कंस-भोग में असितञ्जन नगर में मकाकंस नाम का राजा राज्य करता था। उसके कंस और उपकंस नाम के दो पुत्र थे। देवगर्भा नाम की एक लड़की थी। उसके जन्म के दिन ज्योतिषी ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की--इसकी कोख से जन्म लेने वाला पुत्र कंसगोत्र तथा कंस-वंश का नाश करेगा। राजा स्नेह की अधिकता के कारण बेटी को नहीं मरवा सका। उसने सोचा--भाई देख लेंगे। आयु पर्य्यन्त जीवित रह कर वह मर गया। उसके मरने पर कंस राजा हुआ, उपकंस उपराजा। उन्होंने सोचा--यदि हम बहन को मारेंगे तो निन्दा होगी। इसे किसी को न दे स्वामी-रहित रखकर पालन करें। उन्होंने एक खम्भे वाला प्रासाद बनवाया और उसे उसमें रखा। नन्दगोपा उसकी सेविका थी, और अन्धवेणु नाम का दास, जो उसका स्वामी था, पहरा देता था।

उस समय उत्तर मथुरा में महासागर नाम का राजा राज्य करता था। उसके सागर और उपसागर नाम के दो पुत्र थे। पिता के मरने पर सागर राजा हुआ और उपसागर उपराजा। उपसागर उपकंस का मित्र था। दोनों की पढ़ाई एक आचार्य-कुल में एक साथ हुई थी। उसने भाई के अन्तःपुर में दुष्टता की और पकड़े जाने के भय से भाग कर कंस-भोग में उपकंस के

---

१. मट्ठकुण्डलि जातक (४९४)

पास जा पहुँचा। उपकंस उसे कंस राजा के पास ले गया। राजा ने उसे बहुत वैभव दिया। उसने राजा की सेवा में जाते समय देवगर्भा के एक खम्भे वाले प्रासाद को देखकर सोचा—यह किसका निवास-स्थान है? यह बात ज्ञात होने पर वह देवगर्भा के प्रति आसक्त हो गया। देवगर्भा ने भी एक दिन उसे उपकंस के साथ राज-सेवा में जाते देखा तो पूछा—यह कौन है? जब उसने नन्दगोपा से सुना कि यह महासागर का पुत्र उपसागर है तो वह उस पर आसक्त हो गई। उपसागर ने नन्दगोपा को रिशवत दे पूछा—बहन मुझे देवगर्भा दिखा सकेगी? वह बोली—स्वामी! यह काम भारी नहीं है और देवगर्भा से जाकर कहा। वह स्वाभाविक तौर पर उस पर आसक्त थी। इसलिये यह वचन सुन स्वीकार किया। नन्दगोपा उपसागर को इशारा कर रात को उसे प्रासाद पर चढ़ा ले गई। उसने देवगर्भा के साथ सहवास किया। बारबार के सहवास से देवगर्भा को गर्भ ठहर गया। आगे चलकर उसका गर्भवती होना प्रकट हो गया। भाइयों ने नन्दगोपा से पूछा। उसने उनसे अभय-दान की याचना कर वह भेद कह दिया। उन्होंने सुना तो सोचा—बहन को नहीं मार सकते, यदि लड़की को जन्म देगी तो उसे भी नहीं मारेंगे किन्तु यदि लड़के को जन्म देगी तो उसे मार डालेंगे। उन्होंने देवगर्भा उपसागर को ही दे दी। गर्भ पकने पर उसने लड़की को जन्म दिया। भाइयों ने प्रसन्न हो उसका नाम अञ्जनदेवी रखा। उन्हें गोवड्ढमान भोग-गाँव दे दिया गया। उपसागर देवगर्भा के साथ गोवड्ढमान गाँव में रहने लगा। देवगर्भा को फिर गर्भ ठहरा। नन्दगोपा को भी उसी दिन गर्भ ठहरा। उनका गर्भ पकने पर एक ही दिन देवगर्भा ने पुत्र को जन्म दिया और नन्द-गोपा ने पुत्री को। देवगर्भा ने पुत्र के मारे जाने के डर से पुत्र को छिपा कर नन्दगोपा के पास भिजवा दिया और उसकी पुत्री मँगवा ली। उसके जनमी होने की बात भाइयों को कही गई। उन्होने पूछा—पुत्र जन्मा या पुत्री? जब सुना 'पुत्री' तो बोले 'पालन करो'। इस प्रकार देवगर्भा ने दश पुत्रों को जन्म दिया और नन्दगोपा ने दश लड़कियों को। पुत्र नन्दगोपा के पास बड़े होते रहे, लडकियाँ देवगर्भा के पास। इस भेद को कोई नहीं जानता था। देवगर्भा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम वासुदेव पड़ा, दूसरे का बलदेव, तीसरे का चन्ददेव, चौथा सूर्यदेव, पाँचवाँ अग्नि-देव, छठा वरुण-देव, सातवाँ

अर्जुन, आठवाँ प्रद्युम्न, नौवाँ शत-पण्डित और दसवाँ अङ्कुर था। ये सब 'अंधकवेणु दास-पुत्र दस दुष्ट भाई' करके प्रसिद्ध हुए।

वे आगे चलकर बड़े होने पर शक्ति-बल से युक्त, कठोर-परुष स्वभाव के हो, डाके डालने लगे। वे राजा के लिये जाती भेंट को लूट लेते। आदमियों ने इकट्ठे होकर राजाङ्गण में शिकायत की कि 'अन्धकवेणुदास-पुत्र दस भाई' लूट रहे हैं। राजा ने अन्धकवेणु को बुलवाकर धमकाया—पुत्रों से डाके क्यों डलवाता है? इस प्रकार दूसरी और तीसरी बार आदमियों के शिकायत करने पर राजा ने उसे डराया। उसने मृत्यु से भयभीत हो राजा से अभय-दान की याचना कर वह भेद खोल दिया—देव! वह मेरे पुत्र नहीं हैं, उपसागर के पुत्र हैं। राजा डर गया। उसने अमात्यों से पूछा—इन्हें किस उपाय से पकड़ें? "देव! ये मल्ल हैं। नगर में कुश्ती कराकर उन्हें कुश्ती-मण्डप में आने पर पकड़वाकर मरवायेंगे।" राजा ने चाणूर और मुष्टिक दो मल्लों को भेजकर मुनादी कराई कि अब से सातवें दिन कुश्ती होगी। फिर राज-द्वार पर कुश्ती-मण्डप बनवा, अखाड़ा तैयार कराया और कुश्ती-मण्डप को सजवा जय-पताका बन्धवाई। सारा नगर उबल पड़ा। चक्रों से चक्र और मचानों पर मचान बांधे गये। चाणूर और मुष्टिक कुश्ती-मण्डप में आ, कूदते-गरजते और थापी मारते घूम रहे थे। दस भाइयों ने भी आकर धोबी-गली को लूट सुन्दर वस्त्र पहने और वे गन्धियों की दूकानों से सुगन्धियाँ, मालियों की दुकानों से मालायें लूट, शरीर को (चन्दनादि से) लिप्त कर, मालाएँ धारण कर, कानों को भरे हुये, कूदते, गरजते और थापी मारते कुश्ती-मण्डप में प्रविष्ट हुए। उस समय चाणूर थापी मारता हुआ बिचरता था। बलदेव ने उसे देख संकल्प किया—मैं इसे हाथ से स्पर्श नहीं करूँगा। वह हस्ति-शाला से बड़ी हस्ति-रज्जु ले आया और उछलकर, गर्जकर, रस्सी फेंक चाणूर को पेट पर से बाँध लिया! फिर रस्सी के दोनों सिरों को एक कर, बट कर (उसे) उठा, सिर पर घुमा, जमीन पर मसल, अखाड़े के बाहर फेंक दिया। चाणूर के मरने पर राजा ने मुष्टिक मल्ल को आज्ञा दी। उसने उठकर, कूदकर, गर्जकर थापी मारी। बलदेव ने उसे मसलकर हड्डियाँ चूर चूर कर दीं। वह कहता ही रह गया कि मैं मल्ल नहीं हूँ, मल्ल नहीं हूँ। "मैं नहीं जानता कि तू मल्ल है वा नहीं है" कहते हुए हाथ से पकड़ कर, जीमन पर पीट, जान

मार अखाड़े के बाहर गिरा दिया। मुष्टिक ने मरते-मरते संकल्प किया—यक्ष होकर तुझे खाऊँगा। वह कालमत्ति-अटवी यक्ष होकर पैदा हुआ। राजा स्वयं उठा—इन दुष्ट दास भाइयों को पकड़ो। उस समय वासुदेव ने चक्र घुमाया। उससे दोनों भाइयों के सिर गिर गये। जनता भय-भीत होकर उनके पाँव पड़ी—हमारी रक्षा करें।

उन्होंने दोनों मामों को मार असितञ्जन नगर का राज्य ले, माता-पिता को वहाँ रखा। फिर दसों जने 'सारे जम्बुद्वीप का राज्य लेंगे' सोच निकल पड़े। ये क्रमशः कालसेन राजा के निवास-स्थान अयोध्या नगर पहुँचे और नगर को घेर, घने जंगल को नष्ट कर, प्रकार को तोड़ राजा को पकड़ लिया। उसका राज्य अपने अधीन कर द्वारवती पहुँचे। उस नगर के एक ओर समुद्र और दूसरी ओर पर्वत था। नगर पर अमनुष्याधिकार था। उसकी रक्षा करनेवाला यक्ष शत्रु को देख गधे का रूप बना गधे की आवाज लगाता। उसी क्षण यक्ष के प्रताप से सारा नगर उठ कर समुद्र के बीच में एक द्वीप में पहुँच जाता। शत्रु के चले जाने पर फिर आकर अपने ही स्थान पर स्थित हो जाता। उस समय भी गधे ने उन दसों भाइयों का आना जान गधे के स्वर में आवाज की। नगर उठकर द्वीप पर चला गया। वे नगर न दिखाई देने के कारण लौट गये तो नगर फिर आकर अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया। वे फिर लौटे, गधे ने फिर वैसे ही किया। जब वे द्वारवती नगर का राज्य न ले सके तो वे कृष्ण द्वीपायन के पास गये और प्रणाम करके पूछा—"भन्ते! हम द्वारवती राज्य नहीं ले सक रहे हैं। हमें कोई उपाय बताएँ।"

"खाई के पीछे अमुक स्थान पर एक गधा चरता है। वह शत्रु को आया देख हिनहिनाता है। उसी समय नगर ऊपर उठकर चला जाता है। तुम उसके पैर पकड़ो। यही तुम्हारी सफलता का उपाय है।"

तपस्वी को नमस्कार करने के बाद दसों जने गधे के पाँव पड़े और कहा—"स्वामी! तुम्हें छोड़ और हमें कोई आधार नहीं है। हमारे नगर पर अधिकार करने के समय आवाज न करें।"

"मैं यह नहीं कर सकता कि चुप रहूँ। किन्तु तुम पहले आकर, चार जने, बड़े लोहे के हल लेकर, चारों नगर द्वारों पर भूमि में लोहे के

बड़े-बड़े खम्भे गाड़ दो। फिर नगर के ऊपर उठने के समय हलों को ले, हलों से बँधी हुई लोहे की जंजीर लोहे के खम्भों में बाँध देना। नगर ऊपर नहीं जा सकेगा।"

उन्होंने 'अच्छा' कहा और आधी रात के ही समय हल लेकर चारों नगर-द्वारों पर जमीन में खम्भे गाड़ कर खड़े रहे। उस समय गधे ने आवाज की। नगर ऊपर उठना आरम्भ हुआ। चारों द्वारों पर खड़े हुओं ने चारों हल लेकर, हलों में बँधी लोहे की जंजीर खम्भों में बाँध दी। नगर नहीं उठ सका। तब दस भाई नगर में घुसे और राजा को मारकर नगर पर अधिकार किया। इस प्रकार उन्होंने जम्बुद्वीप के त्रेसठ हजार नगरों में सारे राजाओं को चक्र से मार द्वारवती में रहते समय राज्य को दस हिस्सों में बाँटा। बहन अञ्जन-देवी को भूल गए। फिर 'ग्यारह हिस्से करें' कहने पर अंकुर ने कहा—मेरा हिस्सा उसे दे दें। मैं व्यापार करके जीऊँगा। केवल तुम अपने-अपने जन-पद में मुझसे चुँगी न लेना। उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उसका हिस्सा बहन को दे उसके साथ नौ राजा द्वारवती में रहने लगे। अङ्कुर व्यापार करने लगा।

इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी बेटा-बेटी के होते रहने से समय बीतते माता-पिता काल कर गये। उस समय वासुदेव महाराज का प्रिय-पुत्र काल कर गया। शोकाकुल राजा सब काम छोड़ पलंग की बाँही पकड़ कर बैठ रोने लगा। उस समय घत पण्डित ने सोचा—मेरे अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं है जो भाई का शोक दूर कर सके। पर कौशल से इसका शोक दूर करूँगा। उसने पागल की शकल बनाई और सारे नगर में 'मुझे शश दो, मुझे शश दो" कहता हुआ, आकाश की ओर देखता हुआ घूमने लगा। घत-पण्डित पगला गया सुन सारा नगर क्षुब्ध हो उठा। उस समय रोहिणेय्य नाम के अमात्य ने वासुदेव राजा के पास जा, उसके साथ बात-चीत करते हुए पहली गाथा कही—

उट्ठेहि कण्ह, किं सेसि, को अत्थो सुपिनेन ते,
योपि तायं सको भाता हदयं चक्खुं व दक्खिणं
तस्स वाता वलीयन्ति, घतो जप्पति केसव ॥१॥

[हे कृष्ण ! उठ। क्या सो रहा है ? सोने में क्या प्रयोजन है ? जो तेरे

हृदय या दाहिनी आँख के समान अपना भाई है उसका वायु क्षुब्ध हो गया है। हे केशव ! घत बकता है ॥१॥]

(इस प्रकार) अमात्य के कहने पर उठना जान शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर दूसरी गाथा कही—

तस्स तं वचनं सुत्वा रोहिणेय्यस्स केसवो,
तरमानरूपो वुट्ठासि भातुसोकेन अट्टितो ॥२॥

[उस रोहिणेय्य की यह बात सुनकर भाई के शोक से दुखी केशव तुरन्त उठ खड़ा हुआ ॥२॥]

राजा उठा और शीघ्र प्रासाद से उतर घत-पण्डित के पास जा, उसे दोनों हाथों में अच्छी तरह पकड़ उससे बातचीत करते हुए तीसरी गाथा बोला—

किंनु उम्मतरूपोव केवलं द्वारकं इमं,
ससो ससो ति लपसि, कोनु ते ससं आहरि ॥३॥

[क्या पगले की तरह सारी द्वारिका में 'शश-शश' कहकर बकता फिरता है ? कौन तेरा शश ले गया ?]

राजा के इस प्रकार बोलने पर भी वह बार-बार वही कहता रहा। राजा ने फिर दो गाथायें कहीं—

सोवण्णमयं मणीमयं
लोहमयं अथ रूपियामयं
सङ्खसिला पवाळमय
कारयिस्सामि ते ससं ॥४॥
सन्ति अञ्ञे पि ससका अरञ्ञे वनगोचरा,
ते पि ते आनयिस्सामि, कीदिसं ससमिच्छसि ॥५॥

[मैं तुझे स्वर्णमय, मणिमय, लोहमय, रजतमय, शङ्खमय, शिलामय, अथवा प्रवाळमय—जैसा चाहे वैसा शश बनवा दूंगा ॥४॥ जंगल में दूसरे भी वनचर शश हैं। वे भी तुझे मँगवा दूंगा। तू कैसा शश चाहता है ? ॥५॥]

राजा की बात सुन पण्डित ने छठी गाथा कही—

नवाहं एतं इच्छामि ये ससा पठविं सिता,
चन्दतो ससमिच्छामि, तं मे ओहर केसव ॥६॥

[ये जो पृथ्वी पर शश हैं, ये मुझे नहीं चाहिये। हे केशव ! मैं वह शश चाहता हूँ, जो शश चन्द्रमा में है। मुझे वह उतरवा दे ॥६॥]

राजा उसकी बात सुन दुखी हुआ—निश्चय से मेरा भाई पगला गया। उसने सातवीं गाथा कही—

सो नून मधुरं आति जीवितं विजहिस्ससि,
अपत्थियं यो पत्थयसि चन्दतो ससमिच्छसि॥७॥

[हे भाई ! तू अपने प्रिय प्राण गंवायेगा। तू जो इच्छा करने योग्य नहीं है, उसकी इच्छा करता है। तू चन्द्रमा से शश चाहता है ! ॥७॥]

घत-पण्डित ने राजा की बात सुन, स्थिर हो 'भाई ! तू यह जानते हुए कि चन्द्रमा से शश मिलने की इच्छा करने पर न मिलने से मरना होता है, किस कारण मृत-पुत्र के लिये चिन्ता करता है ?' पूछते हुए आठवीं गाथा कही—

एवं चे कण्ह जानासि यदञ्ञं अनुसाससि,
कस्मा पुरे मतं पुत्तं अज्जापि मनुसोचसि॥८॥

[हे कृष्ण ! यदि इतना ज्ञान है कि दूसरे को उपदेश देता है, तो तू आज भी मरे हुये पुत्र की क्यों चिन्ता करता है ? ॥८॥]

इस प्रकार उसने बाजार के बीच में ही खड़े-खड़े 'भाई ! मैं तो ऐसी चीज चाहता हूँ जो दिखाई तो देती है, लेकिन तुम ऐसी चीज की चिन्ता करते हो जो दिखाई भी नहीं देती' कह धर्मोपदेश देते हुए फिर दो गाथायें कहीं—

यं न लब्भा मनुस्सेन अमनुस्सेन वा पुन,
जातो मे मा मरी पुत्तो कुतो लब्भा अलब्भियं॥९॥
न मन्ता मूल भेसज्जा ओसधेहि धनेन वा,
सक्का आनयितुं कण्ह यं पेतं अनुसोचसि॥१०॥

['मेरा पैदा हुआ पुत्र न मरे' यह अलभ्य बात न मनुष्य को प्राप्त है, न देवताओं को प्राप्त है, यह अलभ्य बात तुम्हें कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥९॥ हे कृष्ण ! जिस प्रेत की तू चिन्ता करता है उसे न अब मन्त्र बल से, न किसी जड़ी-बूटी रूपी औषध से और न धन से ही लाया जा सकता है ? ॥१०]

राजा ने यह सुन 'तात ! ठीक कहा। मेरे शोक को दूर करने के लिए यह तूने सब किया' कह घत-पण्डित की प्रशंसा करते हुए चार गाथायें कही—

यस्स एतादिसा अस्सु अमच्चा पुरिसपण्डिता,
यथा निज्झापये अज्ज घतो पुरिस पण्डितो ॥११॥
आदित्तं वत.......... (पृ० २६३)
अब्बहि वत.......... (पृ० २६३)
सोहं अब्बूळहसल्लोस्मि....... (पृ० २६३)

[जिसके ऐसे पण्डित अमात्य हों जैसे आज घत पण्डित ने मेरा शोक दूर किया...]

अन्त में यह सम्बुद्ध गाथा है—

एवं करोन्ति सप्पञ्ञा ये होन्ति अनुकम्पका,
विनिवत्तयन्ति सोकम्हा घतो जेट्ठं व भातरं ॥

[जो प्रज्ञावान् और करुणा वाले होते हैं वह इसी प्रकार शोक से निकाल लेते हैं जैसे घत-पण्डित ने ज्येष्ठ भाई को ॥]

इस प्रकार घतकुमार द्वारा शोकरहित किये गये केशव को जब राज्यानुशासन करते हुए बहुत समय बीत गया तो दस-भाई-पुत्र कुमारों ने सोचा—कृष्ण द्वीपायन को 'दिव्य-चक्षु' प्राप्त कहते हैं। उसकी परीक्षा करेंगे। उन्होंने एक तरुण राजकुमार को सजाया और उसका गर्भिणी का-सा रंग-ढंग बनाकर पेट पर एक तकिया बाँध दिया। फिर उसे कृष्ण द्वीपायन के पास ले गये—"भन्ते ! यह कुमारी क्या जानेगी ?" तपस्वी ने देखा कि दस-भाई राजाओं का विनाश-काल आ गया है। उसने विचार किया कि उसकी अभी कितनी आयु है ? जब उसे पता लगा कि आज ही उसका मरण-दिवस है तो उसने पूछा—"कुमार ! यह जान कर तुम क्या करोगे ?" "हमें बतायें ही" आग्रह करने पर कहा—"यह आज से सातवें दिन एक लकड़ी का टुकड़ा जनेगी। उससे वासुदेव-कुल का नाश होगा। तुम लकड़ी का टुकड़ा ले कर उसे जला डालना और उसकी राख नदी में फेंक देना"। वे बोले—दुष्ट तपस्वी ! पुरुष जना नहीं करते। उन्होंने उसे ताँत की रस्सी से वहीं जान से मार डाला। राजा ने कुमारों को बुला कर पूछा—

तपस्वी को क्यों मार डाला ? सब हाल जानकर उसने डर के मारे उस पर पहरा बिठा, सातवें दिन उसकी कोख से निकली हुई लकड़ी को जलवाकर, राख नदी में फेंकवा दी। वह बह कर मुख-द्वार पर एक ओर जा लगी। वहाँ अरण्ड का पेड़ उग आया।

एक दिन वे राजा जल-क्रीड़ा करने की इच्छा से नदी के मुख-द्वार पर पहुँचे। वहाँ महा मण्डल बनवा, सजे-सजाये मण्डप में खाते-पीते, खेल ही खेल में एक-दूसरे के हाथ-पाँव पकड़ते हुए दो दलों में बँट बड़ा झगड़ा कर बैठे। उनमें से एक ने और कोई मोगरी हाथ न लगने पर अरण्डवन से एक अरण्ड का पत्ता लिया। वह हाथ में आते ही लकड़ी का मूसल हो गया। उससे उसने लोगों को पीटा। दूसरों ने भी जिस जिस पत्ते को लिया वे सब लकड़ी के मूसल हो गये। वे परस्पर एक-दूसरे को मारकर विनाश को प्राप्त हुए। उनको नष्ट होते देख वासुदेव, बलदेव, बहिन अञ्जन देवी और पुरोहित—चारों जने रथपर चढ़ कर भाग गये। बाकी सभी मारे गये। वे चारों रथ से भागकर कालमत्तिक अटवी पहुँचे। मुष्टिक मल्ल सङ्कल्प करके वहीं यक्ष होकर पैदा हुआ था। जब उसे पता लगा कि बलदेव आया है तो वह वहीं ग्राम बना, मल्ल का भेष पहन "कौन कुश्ती लड़ेगा" कह कूदता, गर्जता, थापी मारता विचरने लगा। बलदेव ने उसे देखते ही 'भाई ! मैं इसके साथ लड़ूँगा' कह वासुदेव के मना करते रहने पर भी रथ से उतर, उसके पास पहुँच थापी मारी। उसके हाथ बढ़ाते ही वह उसे पकड़ मूली की तरह खा गया। वासुदेव को जब पता लगा कि वह मर गया तो वह बहन और पुरोहित को साथ ले सारी रात चलकर सूर्योदय होने पर एक प्रत्यन्त-ग्राम में पहुँचा। वहाँ बहन और पुरोहित को भोजन पकाकर लाने के लिए गाँव भेज स्वयं एक गाछ के नीचे छिप कर लेट रहा। तब जरा नाम के एक शिकारी ने गाछ को हिलता देख 'यहाँ सूअर होगा' समझ शक्ति फेंक कर पाँव जखमी कर दिया। "मुझे किसने जखमी किया ?" यह मनुष्य वाणी सुनकर वह डर के मारे भागा। राजा ने शक्ति को निकाल, उठ, बुलाया—मामा ! डर मत आ। आने पर पूछा—तेरा क्या नाम है ? "स्वामी ! मेरा नाम जरा है।" 'जरा द्वारा बींधे जाने पर मैं मरूँगा, यही पुराने पण्डितों ने कहा था। आज निश्चय ही मैं मरूँगा' समझ उसे कहा—"मामा ! डर मत। आ मेरे जख्म पर

पट्टी बांध।" उससे पट्टी बँधवा उसे विदा किया। तीव्र वेदना हुई। दूसरों का लाया हुआ भोजन न खाया जा सका। उसने उन्हें बुलाकर उत्साहित किया—आज मैं मर जाऊँगा। तुम सुकुमार हो। कोई दूसरा काम करके जीविका न चला सकोगे। यह मन्त्र सीख लो। उसने उन्हें एक मन्त्र सिखाया और वहीं प्राण-त्याग दिये। इस प्रकार अञ्जन देवी को छोड़ शेष सभी विनाश को प्राप्त हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'उपासक! इस प्रकार पुराने पण्डितों की बात सुन अपना पुत्र-शोक छोड़ दिया, चिन्ता मत कर' कह सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। उपासक सत्यों के अन्त में स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय रोहिणेय्य आनन्द था। वासुदेव सारिपुत्र। परिषद् बुद्ध-परिषद। घत-पण्डित तो मैं ही था।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

४५५. मातिपोसक जातक

"तस्स नागस्स विप्पवासेन..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मातृ-पोषक स्थविर के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

'वर्त्तमान-कथा' साम जातक[1] में आयी कथा सदृश ही है। शास्ता ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर "भिक्षुओ, इस पर क्रोध न करो। पुराने पण्डित पशु योनि में उत्पन्न होकर भी, माता से वियोग होने पर, सप्ताह भर आहार न ग्रहण करने के कारण सूखते रहे और राज-भोग मिलने पर भी उन्होंने बिना 'माता' के भोजन नहीं किया और माता को देखकर ही चारा खाया" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व हिमालय प्रदेश में हाथी की जून में पैदा हुए। वह सर्व-श्वेत था, सुन्दर था, अस्सी हजार हाथियों का नेता था। उसकी माता अन्धी थी। वह हाथियों के हाथ मीठे-मीठे फल माता के लिए भेजता। हाथी उसे न दे स्वयं ही खा जाते। परीक्षा करके जब उसे यह पता लगा तो उसने निश्चय किया कि समूह को छोड़ माता की ही सेवा करूँगा। दूसरे हाथियों को बिना पता लगने दिये वह रात को ही माता को ले चण्डोरण पर्वत पहुँचा और वहाँ एक तालाब के पास स्थित पर्वत-गुहा में माता को रख पोसने लगा।

एक वाराणसी-वासी वनचर रास्ता भटककर (ठीक) दिशा न जान सकने के कारण बड़ी जोर से रोता था। बोधिसत्व उसकी वाणी सुन—'यह

---

१. साम जातक (५४०)

पुरुष अनाथ है, यह मेरे अनुरूप नहीं है कि यह मेरे रहते मर जाये' सोच उसके पास पहुँचा। उसे डर से भागते देख पूछा—"हे पुरुष ! तुझे मुझसे डरने का कोई कारण नहीं। डर मत। तू क्यों रोता हुआ भटक रहा है ?"

"स्वामी ! मैं मार्ग भटक गया हूँ। आज सातवाँ दिन है।"

"हे पुरुष ! डर मत। मैं तुझे मनुष्य-पथ तक पहुँचा दूँगा।"

उसने उसे अपनी पीठ पर बैठाया और जंगल से बाहर पहुँचा कर लौट आया। उस पापी के मन में आया कि नगर पहुँच राजा को सूचना दूँगा। वह वृक्षों और पर्वत के निशान बनाता हुआ वाराणसी पहुँचा। उस समय राजा का मङ्गल-हाथी काल कर गया था। राजा ने मुनादी कराई—यदि किसी ने चढ़ने के योग्य हाथी देखा हो तो वह कहे। उस आदमी ने राजा के पास जाकर कहा—"देव ! मैंने आपके चढ़ने योग्य सर्वश्वेत शीलवान् हस्ति-राज देखा है। मैं मार्ग दिखाऊँगा। मेरे साथ हथवानों को भेज उसे पकड़वायें।" राजा ने 'अच्छा' कह वनचर के साथ बहुत से लोग और हथवानों को भेजा। उसने उनके साथ जा बोधिसत्व को तालाब में घुस चरते देखा। बोधिसत्व ने ही हथवानों को देख सोचा—"यह भय और कहीं से पैदा नहीं हुआ होगा। यह उसी पुरुष से पैदा हुआ होगा। मैं महा बलवान हूँ। हजार हाथियों को भी विध्वंस, नष्ट कर सकता हूँ। क्रोधित हो जाऊँ तो राष्ट्र सहित [illegible]ा-वाहन को नष्ट कर सकता हूँ। (किन्तु) यदि क्रोधित होऊँगा तो मेरा [illegible] टूटेगा। इसलिये आज शक्ति चुभोई जाने पर भी क्रोध नहीं करूँगा। उसने यह सङ्कल्प किया और सिर नीचा करके स्थिर भाव से खड़ा हो गया। हथवान पद्म-सरोवर में उतरा और उसकी लक्षण-सम्पत्ति देख बोला—"पुत्र आ। उसी चाँदी की जंजीर जैसी सूण्ड से उसे पकड़ सातवें दिन वाराणसी पहुँचा।" बोधिसत्व-माता ने जब पुत्र को नहीं आता देखा तो सोचा—मेरे पुत्र को राजमहामात्य ले गये होंगे। 'अब उसके चले जाने पर यह जंगल बढ़ेगा' कह, रोती हुई दो गाथायें बोलीं—

तस्स नागस्स विप्पवासेन
विरूळहा सल्लकी च कुटजा च
कुरविन्दकरवीर भिस सामा च
निवाते पुप्फिताकणिकारा॥१॥

कोचिदेव सुवण्णकापूरा
नागराजं भरन्ति पिण्डेन
यत्थ राजा राजकुमारी वा
क्वचं अभिहेस्सति असम्भीतो ॥२॥

[उस नाग के चले जाने से अब इन्द्र शालवृक्ष, कुटज, कुरुविन्द, करवीर, भिस, और शाम उगेंगे। कणिकार वात-रहित प्रदेश में पुष्पित होंगे ॥१॥ कहीं कोई राजा या राजकुमार (सोने के केयूर धारण करने वाले) नागराज को पिण्ड खिलाते होंगें, जिस पर बैठकर वे निर्भीत हो शत्रु का कवच तोड़ेंगे ॥२॥]

हृथवान ने भी रास्ते से ही राजा को संदेश भेजा। राजा ने नगर अलंकृत कराया। हृथवान बोधिसत्व को हस्ति-शाला में ले गया; जो सुगन्धित थी, जो सजी थी। वहाँ उसने उसके गिर्द विचित्र कनात तनवा राजा को सूचना दी। राजा ने नाना प्रकार के भोजन लिवा जाकर बोधिसत्व को दिलवाये। उसने 'माँ के बिना रातिब न खाऊँगा' सोच रातिब ग्रहण नहीं किया।

राजा ने उससे प्रार्थना करते हुए तीसरी गाथा कही—

गण्हाहि नाग कवलं, मा नाग किसको भव,
बहूनि राजकिच्चानि यानि नाग करिस्ससि ॥३॥

[हे नाग! रातिब ग्रहण कर। हे नाग! कृष मत हो। हे नाग! तुझे बहुत से राज-कृत्य करने हैं ॥३॥]

यह सुन बोधिसत्व ने चौथी गाथा कही—

सा नून सा कपणिया अन्धा अपरिनायिका,
खाणुं पादेन घट्टेति गिरिं चण्डोरणं पति ॥४॥

[वह विचारी, अन्धी, जिसे कोई रास्ता दिखाने वाला नहीं, चण्डोरण पर्वत की ओर पाँव से ठूंठों के साथ टकराती है ॥४॥]

राजा ने उससे पूछते हुए पाँचवीं गाथा कही—

का नु ते सा महाभाग अन्धा अपरिनायिका,
खाणुं पादन घट्टेति गिरिं चण्डोरणं पति ॥५॥

[हे महानाग! वह अन्धी, जिसे कोई रास्ता दिखाने वाला नहीं

और जो चण्डोरण-पर्वत की ओर पाँव से ठूठों के साथ टकराती है, तेरी कौन है ? ॥५॥]

माता मे सा महाराज अन्धा अपरिनायिका,
खाणुं पादेन घट्टेति गिरिं चण्डोरणं पति ॥६॥

[हे महाराज! वह अन्धी, जिसको कोई रास्ता दिखाने वाला नहीं और जो चण्डोरण पर्वत की ओर ठूठों से टकराती है, मेरी माता है ॥६॥]

यह छठी गाथा सुन राजा ने उसे छुड़ाते हुए सातवीं गाथा कही—

मुञ्चथेतं महानागं यो यं भरति मातरं,
समेतु मातरा नागो सह सब्बेहि ञातिभि ॥७॥

[उस महानाग को जो माता का पोषण करता है, छोड़ दो। यह नाग माँ के साथ सब रिश्तेदारों से मिले ॥७॥]

आठवीं तथा नौवीं सम्बुद्ध गाथायें हैं—

मुत्तो च बन्धना नागो मुत्तो दाभाय कुञ्जरो,
मुहुत्तं अस्ससित्वान अगमा येन पब्बतो ॥८॥
ततो सो नळिनिं गन्त्वा सीतं कुञ्जरसेवितं,
सोण्डाय उदकं आहत्वा मातरं अभिसिञ्चथ ॥९॥

[नाग बन्धन से मुक्त हुआ, नाग जंजीर से मुक्त हुआ। वह थोड़ी देर विश्राम करके पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ से वह हस्ति-सेवित शीतल सरोवर पर पहुँचा, और सूण्ड में पानी ले जाकर माता को स्नान कराया ॥८-९॥]

बोधिसत्व-माता ने यह समझ कि देव बरस रहा है, उसे कोसते हुए दसवीं गाथा कही—

कोयं अनरियो देवो अकालेन अतिवस्सति,
गतो मे अत्रजो पुत्तो यो मय्हं परिचारको ॥१०॥

[यह कौन अनार्य देव है जो असमय अति-वर्षा कर रहा है। मेरा अपना पुत्र जो मेरी सेवा करता था, चला गया है ॥१०॥]

उसे आश्वासन देते हुए बोधिसत्व ने ग्यारहवीं गाथा कही—

उट्ठेहि अम्म, किं सेसि, आगतो त्याहं अत्रजो,
मुत्तोम्हि कासिराजेन वेदेहेन यसस्सिना ॥११॥

[माँ ! उठ। क्या सो रही है ? मैं तेरा पुत्र आ गया हूँ। मुझे ज्ञानी, यशस्वी काशिराज ने मुक्त कर दिया है ॥११॥]

उसने राजा का अनुमोदन करते हुए अन्तिम गाथा कही--

चिरं जीवतु सो राजा कासीनं रट्ठवड्ढनो,
यो मे पुत्तं अमोचेसि सदा वद्धापचायिकं ॥१२॥

[काशी-राज को बढ़ाने वाला वह राजा चिरकाल तक जीता रहे जिसने सदैव वृद्ध-जनों की सेवा करने वाले पुत्र को छोड़ दिया ॥१२॥]

राजा ने बोधिसत्व के गुणों पर प्रसन्न हो सरोवर से थोड़ी ही दूर गाँव बसा बोधिसत्व और उसकी माता के लिये लगातार सेवा की व्यवस्था कर दी। आगे चलकर माता के मरने पर बोधिसत्व उसका शरीर-कृत्य करके करण्डक नाम के आश्रम पर चला गया। वहाँ हिमालय से उतर पाँच सौ ऋषी-गण रहते थे। वह व्यवस्था उनके लिये कर दी। राजा ने बोधिसत्व के समानाकार की शिला-प्रतिमा बनवाकर महान् सत्कार किया। जम्बुद्वीप-वासी प्रतिवर्ष इकट्ठे हो हस्ती-पूजा नामक उत्सव मनाते थे।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में मातृ-पोषक भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय राजा आनन्द था। हस्तिनी महामाया देवी, मातृपोषक नाग तो मैं ही था।

४५६. जुण्ह जातक

"सुणोहि मय्हं वचनं जनिन्द. . . ." यह शास्ता ने आनन्द स्थविर को जो वर प्राप्त हुए उनके बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

बोधि की प्रथम अवस्था में बीस वर्ष तक तथागत का कोई स्थायी-सेवक नहीं था--कभी स्थविर नागसमाल, कभी नागित, कभी उपवाण, कभी सुनक्खत्त, कभी चुन्द, कभी सागल और कभी मेघिय सेवा में रहते थे। एक दिन भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"भिक्षुओं! अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ। कोई-कोई भिक्षु 'इस रास्ते से चलें' कहने पर दूसरे से जाते हैं, कोई-कोई मेरा पात्र चीवर जमीन पर रख देते हैं, मेरे लिये एक स्थायी-सेवक का निश्चय कर लो।—"भन्ते! मैं सेवा करूँगा, मैं सेवा करूँगा" कहते हुए जब सारिपुत्र स्थविर आदि ने सिर पर हाथ जोड़कर प्रार्थना की तो भगवान् ने मना किया—तुम्हारी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हो सकती। तब भिक्षुओं ने आनन्द स्थविर को कहा—आयुष्मान्! तू सेवक के पद की याचना कर। स्थविर ने आठ वरों--चार प्रतिक्षेप और चार आज्ञाओं--की याचना की—(१) भगवान् मुझे चीवर न दें (२) मुझे पिण्डपात न दें (३) मुझे अपनी गन्धकुटी में एक साथ न रहने दें (४) मुझे किसी निमन्त्रण में साथ न ले जायें (५) जो निमन्त्रण मैं स्वीकार कर लूं उसमें भगवान् चलें (६) यदि दूर देश से दूर जनपद से आये हुये पुरुषों को मैं भगवान् के दर्शनार्थ लाऊँ तो उन आये हुये लोगों को आने के समय ही दर्शन दें (७) जब मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हो तो मैं उसी समय भगवान् के पास जाकर उसे निवारण कर सकूं (८) मेरी अनुपस्थिति में यदि भगवान् किसी को कुछ धर्मोपदेश दें तो वही धर्मोपदेश आकर मुझे भी कहें। भगवान् ने ये वर उसे दिये। वह उस समय से लेकर पच्चीस वर्ष तक स्थिर-सेवक रहा। वह

पाँच बातों में "सर्व प्रथम" हो, धर्म-सम्पत्ति, अनुभूति सम्पत्ति, पूर्वकर्म-सम्पत्ति, अर्थार्थचर्चा-सम्पत्ति, तीर्थ-वास-सम्पत्ति, ठीक से चित्त की एकाग्रता रूपी सम्पदा तथा बुद्धाश्रय-सम्पदा से युक्त हो बुद्ध से आठ वर रूपी दायाद प्राप्त शासन में ऐसे प्रकट हुआ जैसे आकाश में चन्द्रमा। एक दिन धर्म-सभा में बातचीत चली--आयुष्मानों! तथागत ने आनन्द को वर देकर संतुष्ट कर दिया। शास्ता ने आकर पूछा--"भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत"। 'भिक्षुओं, न केवल अभी मैंने आनन्द को वरों से संतुष्ट किया है, पहले भी जो जो इसने याचना की, वह वह मैंने किया।" इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही--

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसका जुण्हकुमार नामक पुत्र तक्षशिला में शिल्प सीख आचार्य्य से आज्ञा ले, रात को अन्धेरे में आचार्य्य के घर से निकला। शीघ्रता से अपने घर जाते समय उसके हाथ धक्के से एक ब्राह्मण का भात का पात्र टूट गया। ब्राह्मण भिक्षाटन के बाद घर लौट रहा था। जुण्हकुमार ने देखा नहीं था। ब्राह्मण गिर कर रोने लगा। कुमार दया करके रुका और उसे हाथ से पकड़ उठाकर बिठाया। ब्राह्मण बोला--"तात! तूने मेरा भात का बरतन तोड़ दिया। मुझे मेरे भोजन का मूल्य दे।" कुमार बोला--"ब्राह्मण! तुम्हें अब भात का मूल्य नहीं दे सकता, लेकिन मैं काशी-नरेश का पुत्र हूँ। मेरा नाम जुण्हकुमार है। जब मैं राजगद्दी पर बैठूँ, तब तू आकर धन की याचना करना।" शिक्षा-प्राप्त राजकुमार ने आचार्य्य को प्रणाम कर, वाराणसी पहुँच, पिता के सामने विद्या का प्रदर्शन किया। पिता ने यह सोच कि मैंने जीते-जी पुत्र देख लिया, अब इसे राजा हुआ भी देख लूँ, उसका राज्याभिषेक किया। वह जुण्हकुमार राजा के नाम से धर्मानुसार राज्य करने लगा। ब्राह्मण ने जब यह समाचार सुना तो उसने सोचा कि अब मैं अपने भात का मूल्य ले आऊँ। वह वाराणसी पहुँचा और जिस समय राजा सजे हुए नगर की प्रदक्षिणा कर रहा था, उसी समय उसने एक ऊँची जगह पर खड़े होकर राजा की जय बुलाई। राजा

बिना देखे आगे बढ़ गया। ब्राह्मण को जब यह मालूम हुआ कि राजा ने उसे नहीं देखा तो बात-चीत उठाते हुए पहली गाथा कही—

सुणोहि मय्हं वचनं जनिन्द,
अत्थेन जुण्हम्हि इधानुपत्तो,
न ब्राह्मणे अद्धिके तिट्ठमाने
गन्तब्बं आहु दिपदानसेट्ठ ॥१॥

[हे राजन् ! मेरी बात सुनें। हे जुण्ह ! मैं यहाँ काम से आया हूँ। हे राजन् (द्विपदों में श्रेष्ठ) यदि ब्राह्मण या राही खड़ा हो तो (बिना उसकी बात सुने) चला जाना (उचित) नहीं कहा जाता है ॥१॥]

राजा ने उसकी बात सुन हाथी को वज्र-अङ्कुश से रोकते हुए दूसरी गाथा कही—

सुणोमि तिट्ठामि वदेहि ब्रह्मे
येनासि अत्थेन इधानुपत्तो,
कं वा त्वं अत्थं मयि पत्थयानो
इधागमो ब्रह्मे तद् इंघ ब्रूहि ॥२॥

[हे ब्राह्मण ! कह। मैं सुनता हूँ और खड़ा हूँ। तू किस अर्थ से यहाँ आया है ? अथवा तू मुझसे किस बात की इच्छा करता हुआ यहाँ आया है ? हे ब्राह्मण ! वह कह ॥२॥

उसके बाद शेष गाथायें ब्राह्मण और राजा का उत्तर-प्रत्युत्तर हैं—

ददाहि मे गामवरानि पञ्च,
दासीसतं सत्त गवं सतानि
परोसहस्सं च सुवण्ण निक्खे
भरिया च मे सादिसी द्वे ददाहि ॥३॥

[मुझे पाँच श्रेष्ठ गाँव दे, सात सौ दासियाँ दे, सौ गौवें दे, हजार से अधिक स्वर्ण निकष दे, और मेरे सदृश दो भार्य्यायें दे ॥३॥

तपो नु ते ब्राह्मण भिंसरूपो,
मन्ता नु ते ब्राह्मण चित्तरूपा,
यक्खा नु ते अस्सवा सन्ति केचि,
अत्थं वा मे अभिजानासि कत्तं ॥४॥

[ब्राह्मण ! क्या तू उग्र तपस्वी है ? क्या तेरे पास विचित्र (प्रभाव वाले) मन्त्र हैं ? क्या तेरे आधीन आज्ञाकारी यक्ष हैं ? अथवा क्या तूने पहले मेरा कोई काम किया है ।।४।।]

न मे तपो अत्थि न चापि मन्ता,
यक्खा च मे अस्सवा नत्थि केचि,
अत्थं पि ते नाभिजानामि कत्तं,
पुब्बे च खो साङ्गतिमत्तमासि ।।५।।

[न मैं तपस्वी हूँ, न मेरे पास मन्त्र हैं, न मेरे आधीन कोई आज्ञाकारी यक्ष हैं और न मैंने तेरा पहले कोई काम किया है । मेरी तुझसे पहले केवल भेंट हुई है ।।५।।]

पठमं इमं दस्सनं जानतो मे,
न ताभिजानामि इतो पुरत्था,
अक्खाहि मे पुच्छितो एतमत्थं,
कदा कुहिं वा अहु साङ्गमो नो ।।६।।

[मैं समझता हूँ कि यही प्रथम दर्शन है । इससे पहले की बात मुझे याद नहीं । मैं पूछता हूँ—मुझे यह बताओ कि हमारी भेंट कब और कहाँ हुई थी ? ।।६।।]

गन्धारराजस्स पुरम्हि रम्भे
अवसिंहसे तक्कसिलाय देव,
तत्थ अन्धकारम्हि तिमीसिकायं
अंसेन अंसं समघट्टयिम्ह ।।७।।
ते तत्थ ठत्वान उभो जनिन्द
साराणियं वीतिसारिम्ह तत्थ,
सा एव नो साङ्गति मत्तमासि
ततो न पच्छा न पुरे कदाचि ।।८।।

[देव ! गान्धारराज के सुन्दर तक्षशिला नगर में रहते थे । वहीं घोर अन्धकार में कन्धे से कन्धा भिड़ा था ।।७।। हे जनेन्द्र ! वहीं (हम) दोनों ने खड़े होकर याद कराने लायक बात-चीत की । वही हमारी दोनों की भेंट थी । न उससे पहले कभी हुई और न बाद में कभी हुई ।।८।।]

यदा कदाचि मनुजेसु ब्रह्मे
समागमो सप्पुरिसेन होति,
न पण्डिता साङ्गति सन्थवानि
पुब्बेकतं वापि विनासयन्ति ॥९॥
बाला च खो साङ्गति सन्थवानि
पुब्बे कतं वापि विनासयन्ति,
बहुम्पि बालेसु कतं विनस्सति
तथा हि बाला अकतञ्ञु रूपा ॥१०॥
धीरा च खो साङ्गति सन्थवानि
पुब्बे कतं वापि न नासयन्ति,
अप्पंपि धीरेसु कतं न नस्सति
तथाहि धीरा सुकतञ्ञु रूपा ॥११॥
ददामि ते गामवरानि पञ्च
दासी सतं सत्त गवं सतानि,
परोसहस्सं च सुवण्णनिक्खे
भरिया च ते सादिसौद्वे ददामि ॥१२॥

[हे ब्राह्मण ! सत्पुरुष-समागम कभी-कभी होता है। पण्डित-जन सङ्गति, मित्रता या पूर्व-कृत उपकार को नष्ट नहीं होने देते ॥९॥ मूर्ख जन सङ्गति, मित्रता या पूर्वकृत उपकार को नष्ट कर देते हैं, और मूर्खों के प्रति किया गया बहुत सा उपकार भी नष्ट हो जाता है ! मूर्ख ऐसे ही अकृतज्ञ होते हैं ॥१०॥ धीरजन संगति, मित्रता, पूर्वकृत उपकार को नष्ट नहीं होने देते। धीर जनों के प्रति किया गया थोड़ा-सा भी उपकार नष्ट नहीं होता। धीरजन ऐसे ही कृतज्ञ होते है ॥११॥ मैं तुझे पाँच श्रेष्ठ गाँव देता हूँ। सौ दासियाँ और सात-सौ गौ। हजार से अधिक स्वर्ण-निकष और तुम्हारे जैसी ही दो भार्य्यायें भी देता हूँ ॥१२॥]

एवं सतं होति समेच्च राजा
नक्खत्त राजारिव तारकानं,
आपूरति कासिपती यथा अहं
तथा हि मे साङ्गमो अज्ज लद्धो ॥१३॥

[हे राजन् ! सत्पुरुषों की संगति ऐसी ही होती है जैसे ताराओं में चन्द्रमा। हे काशी-पति ! जैसे तू आज मुझे सम्पूर्ण कर रहा है, इससे आज ही मुझे तेरी संगति मिली ॥१३॥]

बोधिसत्व ने उसे बहुत ऐश्वर्य्य दिया। शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, न केवल अभी किन्तु मैंने आनन्द को पहले भी आठ वरों से सन्तुष्ट किया है" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय ब्राह्मण आनंद था। राजा तो मैं ही था।

---

४५७. धम्म जातक

"यसोकरो पुञ्ञकरो हमस्मि. ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के पृथ्वी-प्रवेश के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

धर्मसभा में बातचीत चली--"आयुष्मानों ! देवदत्त तथागत का विरोधी बन रसातल को गया।" शास्ता ने आकर पूछा--"भिक्षुओं, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ?" 'अमुक बातचीत' कहने पर शास्ता ने "भिक्षुओं, अब तो मेरे जिन-चक्र मे प्रहार देने के कारण रसातल गया, किन्तु पहले धर्म-चक्र में प्रहार देने के कारण अवीची-गामी हुआ" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व कामावचर लोक में धर्म नामक देवपुत्र होकर पैदा हुए। देवदत्त का नाम था अधर्म। उनमें से धर्म दिव्य अलङ्कारों से सज, दिव्य रथ पर चढ़, अप्सराओं के समूह के साथ, जिस समय मनुष्य शाम का भोजन कर अपने-अपने घर पर सुखपूर्वक बैठे रहते उस समय—पूर्णिमा आदि उपोसथ-दिनों में, ग्राम-निगम-राजधानियों में, आकाश में—खड़े होकर "प्राणतिपात आदि दस अकुशल कर्मों से रुक, मातृ-सेवा-धर्म, पितृ-सेवा-धर्म, त्रिविध सुचरित्र धर्म पालन करो, इस प्रकार स्वर्गगामी होकर महान् वैभव को प्राप्त होंगे" कहते हुए मनुष्यों को दस कुशल कर्मों में प्रेरित करते हुए जम्बुद्वीप की प्रदक्षिण करता। अधर्म 'प्राणियों की हिंसा करो" आदि अकुशल कर्मों में प्रेरित करते हुए जम्बुद्वीप को वाम-मार्ग में लगाता। आकाश में उन दोनों के रथ आमने-सामने हो गये। उनकी परिषद् "तुम किसके ? तुम किसके ?" पूछकर "हम धर्म के, हम अधर्म के" कह रास्ते से हट कर दो

भागों में विभक्त हो गई। धर्म ने भी अधर्म को सम्बोधित कर "मित्र ! तू अधर्म है, मैं धर्म हूँ। मेरा मार्ग ठीक है। अपने रथ को हटाकर मुझे मार्ग दे" कह पहली गाथा कही--

यसोकरो पुञ्ञकरोहमस्मि
सदत्थुतो समणब्राह्मणानं,
मग्गा रहो देवमनुस्सपूजितो
धम्मो अहं, देहि अधम्म मग्गं ॥१॥

[हे अधम ! मैं यश-दायक, पुण्य-दायक, श्रमण-ब्राह्मणी द्वारा प्रशंसित तथा देव-मनुष्यों द्वारा पूजित धर्म हूँ। मैं मार्ग देने योग्य हूँ। मुझे मार्ग दे ॥१॥]

इसके आगे की गाथायें उनका उत्तर-प्रत्युत्तर हैं--

अधम्मयानं दळहं आरूहित्वा
असन्तसन्तो बलवाहमस्मि,
स किस्स हेतुम्हि तवज्ज दज्जं
मग्गं अहं धम्म अदिन्नपुब्बं ॥२॥

[हे धर्म ! मैं दृढ़ अधर्म-यान पर चढ़ा हूँ--निर्भय हूँ, बलवान हूँ। मैंने कभी किसी को पहले मार्ग नहीं दिया है। मैं आज तुझे किसलिये मार्ग ॥२॥]

धम्मो हवे पातुरहोसि पुब्बे
पच्छा अधम्मो उदपादि लोके,
जेट्ठो च सेट्ठोच सनन्तनो च
उय्याहि जेट्ठस्स कनिट्ठ मग्गा ॥३॥

[लोक में पहले धर्म प्रादुर्भूत हुआ, बाद में अधर्म। धर्म ही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, सनातन है। हे कनिष्ठ ! तू ज्येष्ठ के लिए मार्ग छोड़ दे ॥३॥]

न याचनाय न पि पातिरूपा
न अरहति वोहं ददेय्य मग्गं,
युद्धं च नो होतु अभिन्नमज्ज,
युद्धस्मि यो जेस्सति तस्स मग्गो ॥४॥

[न याचना करने के कारण और न उचित होने के ही कारण

मेरे लिये यह योग्य है कि मैं मार्ग दूँ । आज हमारा दोनों का युद्ध हो । जो विजयी हो उसी का मार्ग ॥४॥]

सब्बा दिसा अनुविसटोहमस्मि
महब्बलो अमितयसो अतुल्लो,
गुणेहि सब्बेहि उपेतरूपो
धम्मो, अधम्म त्वं कथं विजेस्ससि ॥५॥

[हे अधर्म ! मैं चारों दिशाओं में फैला हुआ महाबलवान्, अनन्त यशस्वी, अतुलनीय, सभी गुणों से युक्त धर्म हूँ । तू मुझसे कैसे जीतेगा ?]

लोहेन वे हञ्ञति जातरूपं
न जातरूपेन हनन्ति लोहं,
सचे अधम्मो हञ्छति धम्मं अज्ज
अयो सुवण्णं विय दस्सनेय्यं ॥६॥

[लोहे से सोना पिटता है, सोने से लोहा नहीं । अधर्म ही आज धर्म को पीटेगा, जैसे लोहा दर्शनीय स्वर्ण को ॥३॥]

सचे तुवं युद्धबलो स अधम्म
न तुय्ह वद्धा च गरू च अत्थि,
मग्गं च ते दम्मि पियाप्पियेन
वाचा दुरुत्तानि पि ते खमामि ॥७॥

[हे अधर्म ! यदि तुझे युद्ध-बल है और तेरे लिये न कोई ज्येष्ठ है, न गौरव करने योग्य है, तो मैं तुझे अप्रिय की अपेक्षा प्रिय की तरह मार्ग देता हूँ; और तेरे दुर्वचनों को भी क्षमा करता हूँ ॥७॥]

बोधिसत्व के यह गाथा कहते ही अधर्म रथ पर बैठा नहीं रह सका । वह नीचे सिर ऊपर पैर पृथ्वी पर गिरा । पृथ्वी ने रास्ता दे दिया । वह जाकर अवीची नरक में ही पैदा हुआ ।

यह जान भगवान् ने सम्यक् सम्बुद्ध होने पर शेष गाथायें कहीं—

इदं च सुत्वा वचनं अधम्मो
अवंसिरो पतितो उद्धपादो,
युद्धत्थिको चे न लभामि युद्धं
एत्तावतो होति हतो अधम्मो ॥८॥

खन्तिबलो युद्धबलं विजेत्वा
हन्त्वा अधम्मं निहनित्व भुम्या
पायासि वित्तो अभिरुय्ह सन्दनं
मग्गेनेव अतिबलो सच्च निकम्मो ॥९॥
माता पिता समणब्राह्मणा च
असम्मानिता यस्स सके अगारे
इधेव निक्खिप्प सरीरदेहं
कायस्स भेदा निरयं वजन्ति
यथा अधम्मो पतितो अवंसिरो ॥१०॥
माता पिता समणब्राह्मणा च
सुसम्मानिता यस्स सके अगारे
इधेव निक्खिप्प सरीरदेहं
कायस्स भेदा सुगतिं वजन्ति
यथापि धम्मो अभिरुय्ह सन्दनं ॥११॥

[अधर्म यह वचन सुनकर नीचे सिर ऊपर पैर होकर गिरा। 'युद्धार्थी हूँ और युद्ध करना नहीं मिल रहा है'—इतने से अधर्म मारा जाता है ॥८॥ क्षमा-बल वाले (धर्म) ने युद्ध-बल वाले (अधर्म) को जीत, उसे मार कर भूमि पर गिरा दिया और सत्य-पराक्रम युक्त, अति-बलवान्, सन्तुष्ट धर्म रथ पर चढ़ कर गया ॥९॥ जिसके अपने घर में माता-पिता और श्रमण-ब्राह्मण असम्मानित होते हैं, वह अपने शरीर को यहीं छोड़ मरने पर उसी तरह नरक जाता है जैसे अधर्म नीचे-सिर गिरा ॥१०॥ जिसके अपने घर में माता-पिता तथा श्रमण-ब्राह्मण सुसम्मानित होते हैं, वह शरीर को यहीं छोड़ मरने पर सुगति को प्राप्त होता है जैसे धर्म रथ पर चढ़ कर गया ॥११॥]

शास्ता ने इस प्रकार धर्मोपदेश दे—'भिक्षुओ, केवल अभी नहीं, पहले भी देवदत्त मेरा विरोधी बन नरक-गामी हुआ' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय अधर्म देवदत्त था। इसकी परिषद् भी देवदत्त-परिषद् ही थी। धर्म तो मैं ही था और परिषद् भी बुद्ध-परिषद् ही।

———

४५८. उदय जातक

"एका निसिन्ना ···" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही—

क. वर्त्तमान कथा

कथा कुस जातक[1] में आयेगी। शास्ता ने उस भिक्षु को बुलाकर पूछा—"भिक्षु ! क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है ?" "भन्ते ! सचमुच" कहने पर शास्ता ने—"भिक्षु ! इस प्रकार के कल्याणकारी शासन में तू किसलिये कामुकना के वशीभूत होता है ? पुराने पंडितों ने समृद्ध, बारह योजन के सुरंधन नगर में राज्य करते हुये, देवप्सरा सदृश स्त्री के साथ सात वर्ष तक एक कमरे में रहते हुए भी इन्द्रियों को चंचल कर, लोभ के वशीभूत हो उसकी ओर नहीं देखा" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में काशी राष्ट्र में सुरन्धन नगर में काशी राजा राज्य करता था। उसके न पुत्र था न पुत्री। उसने अपनी देवी से कहा—"पुत्र की प्रार्थना कर।" उस समय बोधिसत्व ब्रह्म-लोक से गिरकर उसकी पटरानी की कोख में पैदा हुए। जनता के हृदय को बढ़ाते हुए पैदा होने से उसका नाम उदय-भद्र रखा गया। कुमार के चलने-फिरने लगने पर दूसरा भी प्राणी ब्रह्मलोक से गिरकर उसी राजा की एक दूसरी रानी की कोख से कुमारी होकर पैदा हुआ। उसका नाम भी उदय-भद्रा रखा गया। कुमार बड़े होने पर सब विद्याओं में निष्णात हुआ। लेकिन वह जन्म से ब्रह्मचारी था। स्वप्न में भी मैथुन-धर्म से परिचित न था। उसका चित्त कामुकता में आसक्त न था। राजा ने सन्देश भेजा कि पुत्र को राज्याभिषिक्त कर नाटक दिखलाऊँगा। बोधिसत्व ने इन्कार किया—मुझे राज्य की अपेक्षा

---

१. कुस जातक ५३१.

नहीं। मेरा चित्त काम-भोगों में आसक्त नहीं होता। बार-बार कहे जाने पर उसने लाल जम्बुनद सोने की एक स्त्री-मूर्ति बनवाकर माता-पिता को कहला भेजा "इस प्रकार की स्त्री मिलने पर राज्य स्वीकार करूँगा।" उन्होंने उस स्वर्ण-प्रतिमा को सारे जम्बुद्वीप में घुमाया। वैसी स्त्री न मिली। तब उदय-भद्रा को सजाकर उसके पास रखा। उसने उस स्वर्ण-प्रतिमा को अभिभूत कर दिया। उन दोनों की इच्छा के विरुद्ध मौसेरी बहन उदय-भद्रा कुमारी को पटरानी बना बोधिसत्व को राज्य पर अभिषिक्त किया। वे दोनों जने ब्रह्मचर्य्य-पूर्वक ही रहते थे।

आगे चलकर माता-पिता के मरने पर बोधिसत्व राज्य करने लगा। दोनों ने एक कमरे में रहते हुए भी लोभ के वशीभूत हो, इन्द्रियों को चंचल कर एक-दूसरे को नहीं देखा। लेकिन दोनों ने अपने में तै किया कि जो हममें से पहले मरे वह उत्पन्न-स्थान से आकर बताये कि मैं अमुक स्थान में पैदा हुआ हूँ। अभिषेक के सात-सौ वर्ष बाद बोधिसत्व मर गये। कोई दूसरा राजा नहीं बना। उदय-भद्रा की ही आज्ञा चलती थी। अमात्य शासन चलाते थे। (उदय भद्र) त्रयोत्रिंश भवन में उत्पन्न हो शक्र बने। वैभव की अधिकता से सप्ताह भर उन्हें कुछ याद नहीं रहा। मनुष्यों की गणना के हिसाब से सात सौ वर्ष बीतने पर विचार किया और निश्चय किया कि (मैं) धन से उदय-भद्रा राजकुमारी की परीक्षा ले, सिंहनाद कर, धर्मोपदेश दे, समझौते से मुक्त होकर आऊँगा।

उस समय मनुष्यों की आयु बारह हजार वर्ष की होती थी। राजकुमारी उस दिन रात के समय अच्छी प्रकार बन्द दरवाजों के भीतर, पहरेदारों वाले, सात तल्ले वाले महल में अलंकृत शयनगृह में अकेली निश्चल भाव से अपने शील का विचार करती हुई बैठी थी। शक्र ने स्वर्ण-मासों से भरी एक स्वर्ण-थाली ली और शयन-गृह में ही प्रकट हो, एक ओर खड़े होकर, उससे बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

एका निसिन्ना सुचि सञ्ञतूरु
पासादं आरुय्ह अनिन्दितङ्गी
याचामि तं किन्नरनेत्त चक्खु
इमेकरत्तिं उभयो वसेम ॥१॥

[हे अनिन्दित अङ्गवाली ! हे पवित्र-वासना ! हे सुन्दर जाँघ वाली ! तू प्रासाद पर चढ़कर अकेली बैठी है। हे किन्नर नेत्र सदृश नेत्र वाली ! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि हम दोनों एक रात इकट्ठे रहें ॥१॥]

तब राजकुमारी ने दो गाथायें कहीं—

डक्किण्णन्तरपोरखं दळहमट्टालकोट्ठकं
रक्खितं खग्गहत्थेहि दुप्पवेसं इदं पुरं ॥२॥
दहरस्स युविनो चापि आगमो च न विज्जति
अथ केन नु वण्णेन साङ्गमं इच्छसे मया ॥३॥

[तू इस नगर में, जिसके चारों और खाइयाँ खुदी हैं, जिसकी अट्टालिकायें और द्वार-कोष्ठ दृढ़ हैं, जिस पर खड्गधारी पहरा देते हैं, जिसमें प्रविष्ट होना आसान नहीं, जहाँ कुमार या तरुण किसी का आना नहीं है, कैसे (पहुँच कर) मेरे साथ समागम की इच्छा करता है ?]

शक्र ने चौथी गाथा कही—

यक्खोहं अस्मि कल्याणि, आगतोस्मि तमन्तिकं,
त्वं मं नन्दय भद्दं ते, पुण्णकंसं ददामि ते ॥४॥

[हे कल्याणि ! मैं यक्ष हूँ। मैं (देव-प्रताप से) तेरे पास आया हूँ। तेरा भला हो, तू मुझे सन्तुष्ट कर। मैं तुझे (सोने की) भरी थाली दूँगा ॥४॥]

यह सुन राजकुमारी ने पाँचवीं गाथा कहीं—

देवं वा यक्खं अथवा मनुस्सं
न पत्थये उदयं अतिच्चमञ्ञं,
गच्छेव त्वं यक्ख महानुभाव,
मा चस्सु गन्त्वा पुनरावजित्थ ॥५॥

[मैं उदय के अतिरिक्त न किसी देव की इच्छा करता हूँ, न यक्ष की और न मनुष्य की। हे महाप्रतापशाली यक्ष ! तुम चले ही जाओ। जाकर फिर लौट कर न आना ॥५॥]

उसने उसका सिंह-नाद सुना तो खड़ा न रह कर, जाने वाला-सा होकर वहीं अन्तर्धान हो गया। अगले दिन वह उसी समय स्वर्णमासों से भरी चाँदी की थाली लाकर उससे बातचीत करते हुए छठी गाथा बोला—

या सा रती उत्तमा कामभोगिनं
यं हेतु सत्ता विसमं चरन्ति,
मा तं रतिं जीयि तुवं सुचिम्हिते
ददामि ते रूपियं कंस पूरं ॥६॥

[हे सुहास्य वाली ! जो कामभोगियों की उत्तम रति है, जिनके लिये प्राणी अनेक पापकर्म करते हैं, तू उस रति को मत त्याग। मैं तुझे (स्वर्ण) भरी चान्दी की थाली देता हूँ ॥६॥]

राजकुमारी ने सोचा—इसे बातचीत करना मिलता है। इसलिये यह बार-बार आता है। अब मैं इसके साथ बातचीत नहीं करूंगी। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। शक्र ने जब देखा कि वह कुछ नही बोलती तो वह वहाँ खड़ा न रह अन्तर्धान हो गया और दूसरे दिन उसी समय कार्षापणों से भरी लोहे की थाली लाकर बोला—"भद्रे ! मुझे काम-रति से संतुष्ट कर। मैं तुझे यह कार्षापणों से भरी लोहे की थाली दूँगा।"

यह देख राजकुमारी ने सातवी गाथा कही—

नारी नरो निज्झापयं धनेन
उक्कंसती यत्थ करोति छंदं,
विपच्चनीको तव देवधम्मो
पच्चक्खतो थोकतरेन एसि ॥७॥

[नर जब नारी को धन से लुभाता है तो नारी जिस (धन) को चाहती है वह उसे उत्तरोत्तर बढ़ाता है। लेकिन, तेरा देव-धर्म उलटा है। तू प्रत्यक्ष ही उत्तरोत्तर कम करता है ॥७॥]

यह सुन बोधिसत्व ने कहा—"भद्रे राजकुमारी ! मैं चतुर व्यापारी हूं। मैं निरर्थक धन नही गवाँता। यदि तू आयु और वर्ण में (दिन प्रति-दिन) बढ़े तो मैं तेरी भेंट उत्तरोत्तर बढ़ाकर लाऊँ। लेकिन तू तो घटती ही है, इसलिये मैं भी धन घटाता हूँ।"

इतना कह तीन गाथायें कही—

आयुं च वण्णं च मनुस्सलोके
निहिय्यति मनुजानं सुगत्ते,

तेनेव वण्णेन धनं पि तुय्हं
निहिय्यति जिण्णतरासि अज्ज ॥८॥
एवं मे पेक्खमानस्स राजपुत्ति यसस्सिनि
हायतेव ततो वण्णो अहोरत्तानमच्चये ॥९॥
इमिना च त्वं वयसा राजपुत्ति सुमेधसे
ब्रह्मचय्यं चरेय्यासि, भिय्यो वण्णवती सिया ॥१०॥

[हे सुगात्रे ! मनुष्य लोक में आयु और वर्ण दोनों का क्षय होता है। उसी क्रम से तेरा धन भी कम होता है। आज तू (कल से) जीर्णतर है ॥७॥ हे राज-पुत्री ! हे यशस्विनी ! इस प्रकार मेरे देखते रात-दिन बीतने के साथ वर्ण-क्षय होता जाता है ॥९॥ हे राज-पुत्री ! हे सुमेधाविनी ! यदि तू इसी आयु में ब्रह्मचर्य्य-वास करेगी तो तू और भी सुन्दर हो जायगी ॥१०॥]

तब राजकुमारी ने दूसरी गाथा कही—

देवा न जीरन्ति यथा मनुस्सा
गत्तेसु तेसं वलियो न होन्ति,
पुच्छामि तं यक्ख महानुभाव
कथं न देवानं सरीरदेहो ॥११॥

[मनुष्यों की तरह देवता-गण जीर्णता को प्राप्त नही होते। उनके शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ती। हे महाप्रतापी यक्ष ? मैं पूछती हूँ कि देवताओं के शरीर-देह में कैसे झुर्रियाँ नही पड़ती ?]

शक्र ने उसे उत्तर देते हुए दूसरी गाथा कही—

देवा न जीरन्ति यथा मनुस्सा
गत्तेसु तेसं वलियो न होन्ति,
सुवे सुवे भिय्य तरो व तेसं
दिब्बो च वण्णो विपुला च भोगा ॥१२॥

[मनुष्यों की तरह देवता जीर्णता को प्राप्त नहीं होते। उनके शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। उनका दिव्य वर्ण और उनकी भोग सामग्री दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती है ॥१२॥]

उसने देवलोक की प्रशंसा सुन जाने का मार्ग पूछते हुए यह गाथा कही—

किं सूध भीता जनता अनेका
मग्गो च नेकायतनं पवुत्तो,
पुच्छामि तं यक्ख महानुभाव
कत्थट्ठितो परलोकं न भाये ॥१३॥

[यह अनेक प्रकार की जनता (परलोक-गमन से) क्यों भयभीत है? अनेक प्रका का मार्ग परलोक का बताया जाता है। हे महाप्रतापी यक्ष! कहाँ स्थित रहने से परलोक का भय नहीं होता?]

शक्र ने उत्तर देते हुए यह गाथा कही—

वाचं मनं च पणिधाय सम्मा
कायेन पापानि अकुब्बमानो
बव्हन्नपानं घरं आवसन्तो
सद्धो मुदु संविभागी वदञ्ञू
सङ्गाहको सखिलो सण्हवाचो
एत्थट्ठितो परलोकं न भाये ॥१४॥

[वाणी और मन को ठीक रखकर जो शरीर से पाप-कर्म नहीं करता; जिसके पास गृहस्थ रहते बहुत अन्न-पान है, जो श्रद्धावान् है, जो कोमल-स्वभाव का है, जो बाँट कर खाने वाला है, जो ज्ञानी है, जो दानादि चार संग्रह-वस्तुओं से युक्त है, जो प्रिय-भाषी है तथा जो मृदुभाषी है, वह परलोक से भयभीत नहीं होता ॥१४॥]

तब राजकुमारी ने उसका वचन सुन स्तुति करते हुए अन्य गाथा कही—

अनुसाससि मं यक्ख यथा माता यथा पिता,
उलारवण्ण पुच्छामि को नु त्वं असि सुब्रह ॥१५॥

[हे यक्ष! तू मुझे माता-पिता की तरह उपदेश दे रहा है। हे महावर्ण वाले! हे महा शरीरधारी! मैं पूछती हूँ कि तू कौन है?]

तब बोधिसत्व ने अन्य गाथा कही—

उदयोहं अस्मि कल्याणि साङ्गरत्या इधागतो,
आमन्त खो तं गच्छामि, मुत्तोस्मि तव साङ्गरा ॥१६॥

[हे कल्याणि! मैं उदय हूँ। वचन-बद्ध होने के कारण यहाँ आया, तुझे सूचित करके जाता हूँ। मैं तुझे दिये वचन से मुक्त हुआ ॥१६॥]

[४५८

राजकुमारी ने लम्बी सांस ले, अश्रुधारा बहाते हुए "स्वामी ! आप उदय भद्र राजा हैं। मैं आपके बिना नहीं रह सकती। मुझे वह रास्ता बतायें जिससे मैं तुम्हारे पास आ जाऊँ" कह यह गाथा कही—

सचे खो त्वं उदयोसि सङ्गरत्था इधागतो,
अनुसास मं राजपुत्त यथास्सु पुन साङ्गमो ॥१७॥

[यदि तू उदय है और वचन पूरा करने के लिये यहाँ आया है, तो हे राजपुत्र ! मुझे वैसा उपदेश दें जिससे फिर समागम हो ॥१७॥]

उसे उपदेश देते हुए चार गाथायें कहीं—

अधिपतन्ति वयो खणो तथेव
ठानं नत्थि धुवं, चवन्ति सत्ता
परिजीयति अद्धुवं सरीरं,
उदये मा पमाद, चरस्सु धम्मं ॥१८॥
कसिणा पठवी धनस्स पूरा
एकस्सेव सिया अनञ्ञधेय्या,
तञ्चापि जहाति अवीतरागो,
उदये मा पनाद, चरस्सु धम्मं ॥१९॥
माता च पिता च भातरो च
भरिया वापि धनेन होति कीता
ते चापि जहन्ति अञ्ञमञ्ञं,
उदये मा पमाद, चरस्सु धम्मं ॥२०॥
कायो पर भोजनंति ञत्वा
संसारे सुगती च दुग्गती च
इत्तरवासो ति जानिया,
उदये मा पमाद, चरस्सु धम्मं ॥२१॥

[आयु नष्ट होती है, क्षण भी उसी प्रकार। 'ध्रुव' के लिये जगह नहीं है। प्राणी मरते हैं, अध्रुव शरीर जीर्ण होता है। हे उदये ! प्रमाद न कर। धर्म कर ॥१८॥ चाहे सारी पृथ्वी एक ही आदमी के आधीन हो जाय, उसे भी मरने के समय (आदमी) असंतुष्ट ही छोड़ता है। हे उदये ! प्रमाद न कर। धर्म कर ॥१९॥ माता, पिता, भाई और धन से

खरीदी हुई भार्य्या भी परस्पर एक-दूसरे को छोड़ देते हैं। हे उदये ! प्रमाद न कर। धर्म चर ॥२०॥ यह शरीर (मरने पर) दूसरों का भोजन होता है और संसार में सुगति तथा दुर्गति दोनों ही थोड़े समय के लिये हैं—यह जानकर हे उदये ! प्रमाद मत कर। धर्म चर ॥२१॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उसे उपदेश दिया। उसने भी उसकी धर्म-कथा पर प्रसन्न हो उसकी स्तुति करते हुए अन्तिम गाथा कही—

साधु भासतयं यक्खो अप्पं मच्चान जीवितं,
कसिरं च परित्तं च तञ्च दुक्खेन संयुतं,
साहं एका पब्बजिस्सामि हित्वा कासिं सुरुन्धनं ॥२२॥

[यह यक्ष जो कुछ कहता है ठीक कहता है। मनुष्यों का जीवन-काल बहुत थोड़ा है, कष्टकर है, सीमित है और दुख से युक्त है। इसलिये मैं काशी और सुरुन्धन नगर को छोड़कर अकेली प्रव्रजित होऊँगी ॥२२॥]

बोधिसत्व उसे उपदेश दे अपने निवास-स्थान को गया। वह भी अगले दिन अमात्यों को राज्य सौंप, अपने नगर में ही रमणीय उद्यान में ऋषि-प्रव्रज्या ग्रहण कर धर्मानुसार रहने लगी। आयु की समाप्ति पर त्रयोत्रिंश-भवन में बोधिसत्व की चरण-सेविका होकर उत्पन्न हुई।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय राज-कन्या राहुल-माता थी। शक्र तो मैं ही था।

---

४५९. पानीय जातक

"मित्तो मित्तस्स . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कामुकता के निग्रह करने के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक समय श्रावस्ती-वासी पाँच सौ गृहस्थ-मित्र तथागत की धर्म-देशना सुन प्रव्रजित और उपसम्पन्न हुए। वे करोड़ बिछे भवन में रहते हुए आधी रात के समय काम-भोग सम्बन्धी संकल्प-विकल्प उठाने लगे। सारी कथा पूर्ववत् विस्तार रूप से कहनी चाहिए। भगवान् की आज्ञा से जब आनन्द द्वारा भिक्षु-संघ एकत्र किया गया तो शास्ता ने बिछे आसन पर बैठ, किसी को उद्देश न कर 'काम वितर्कों की कल्पना करते हो न ?' पूछ सर्व-साधारण भाव से कहा—"भिक्षुओ, क्लेश छोटा नहीं होता। भिक्षु को तो चाहिए कि जो-जो काम-वितर्क पैदा हो, उसका दमन करे। पुराने पण्डितों ने उस समय जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, काम-वितर्कों का दमन कर प्रत्येक बुद्धत्व प्राप्त किया।" इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय काशी राष्ट्र के एक गाँव में दो मित्र रहते थे। वे पानी के तूम्बे लेकर खेत पर जाते और उन्हें एक ओर रख, खेत कोंड़, प्यास लगने पर आकर पानी पीते। उनमें से एक पानी के लिये आया। अपना पानी न पी दूसरे का पानी पीकर गया। शाम को जंगल से निकल नहा कर खड़ा सोचने लगा—आज शरीर आदि से मैंने कोई पाप-कर्म तो नहीं किया ? उसे दिखाई दिया कि उसने चुराकर पानी पिया था। उसे संवेग हुआ और वह सोचने लगा कि यह तृष्णा बढ़ी तो मुझे नरक में जा गिरायेगी। इस तृष्णा का दमन करूँगा। उसने चुराकर पानी पीने की बात पर ही

विचार करते-करते विदर्शना-भावना की वृद्धि द्वारा प्रत्येक-बोधि-ज्ञान प्राप्त किया और खड़ा होकर उसी का मनन करने लगा। दूसरा नहा चुका तो बोला—"मित्र! आ घर चलें।"

"जा मुझे घर की आवश्यकता नहीं है, हम प्रत्येक-बुद्ध हैं।"

"क्या प्रत्येक-बुद्ध तुम्हारे जैसे होते हैं?"

"तो कैसे होते हैं!"

"दो अंगुल बालों वाले, काषायवस्त्रधारी, उत्तर-हिमालय में नन्दमूल पर्वत पर रहते हैं।"

उसने सिर को हाथ लगाया। उसी क्षण उसका गृहस्थ वेष अन्तर्धान हो गया, सु-रक्त दुपट्टा धारण हो ही गया, बिजली जैसा काय-बन्धन बन्ध हो गया, रक्त-वर्ण का उत्तरासङ्ग चीवर एक कंधे पर आ ही गया, मेघ-वर्ण पांसुकूल चीवर कंधे पर धारण हो ही गया और भ्रमर-वर्ण मिट्टी का पात्र बायें कंधे पर लटक ही गया। वह आकाश में स्थित हो धर्मोपदेश दे, ऊपर उड़ कर नन्दमूलक पर्वत पर ही जाकर उतरा।

दूसरा भी काशी गाँव में एक गृहस्थ के हो दुकान पर बैठा था। उसने एक पुरुष को देखा कि वह अपनी भार्य्या के साथ जा रहा है। उसने उस उत्तम रूपवाली स्त्री को इन्द्रियों को चंचल करके देखा, तो सोचने लगा—यह लोभ बढ़कर मुझे नरक में जा गिरायेगा। उसे संवेग हुआ और बिदर्शना-भावना बढ़ा, प्रत्येक-बोधि-ज्ञान प्राप्त कर उसने आकाश में स्थित हो धर्मोपदेश किया। वह नन्दमूल पर्वत पर हीं पहुँचा।

काशी-ग्रामवासी ही दो पिता-पुत्र एक साथ रास्ते चले। जंगल के द्वार पर ही चोर खड़े थे। वे पिता-पुत्र को पाते तो पुत्र को पकड़, पिता को यह कह कर छोड़ देते कि तू धन लाकर अपने पुत्र को छुड़ा ले जा। दो भाइयों को पाते तो छोटे को पकड़ बड़े को छोड़ देते। गुरु शिष्य को पा गुरू को पकड़ शिष्य को छोड़ देते। शिष्य विद्या के लोभ से धन ला आचार्य्य को छुड़ा कर ले जाता। उस पिता-पुत्र ने जब यह जाना कि चोर खड़े हैं तो अपने में तै कर लिया कि तू मुझे 'पिता' न कहना और मैं भी तुझे 'पुत्र' नहीं कहूँगा। चोरों ने जब पकड़ कर पूछा कि तुम परस्पर क्या लगते हो तो जान-बूझ कर झूठ बोल दिया—कुछ नहीं लगते।

जङ्गल से निकल कर शाम को नहा कर उन दोनों में से पुत्र ने जब अपने शील का विचार किया तो उसे वह 'मृषावाद' दिखाई दिया। उसने सोचा—"यह पाप बढ़ कर मुझे नरक में जा गिरायेगा। मैं इस चित्त-मैल को दूर करूँगा।" उसने विदर्शना-भावना की वृद्धि कर, प्रत्येक-बोधि-ज्ञान प्राप्त किया और आकाश में खड़े हो, पिता को धर्मोपदेश दे, नन्दमूलक पर्वत पर ही पहुँचा।

काशी-ग्राम में ही एक ग्राम-भोजक पशु हत्या रुकवाता था। बलि-कर्म के समय लोगों ने इकट्ठे हो उससे पूछा—"स्वामी! हम मृग, सूअर आदि मार यक्षों को बलि देते हैं। यह बलि-कर्म करने का समय है?"

"जैसे तुम करते आये हो, वैसे करो।"

मनुष्यों ने बहुत प्राणी-हिंसा की। उसने बहुत मत्स्य-मांस देखा तो उसके मन में पश्चाताप हुआ—इन मनुष्यों ने मेरे एक के कहने से इतने प्राणियों को मार दिया! उसने खिड़की के पास खड़े हो, विदर्शना-भावना बढ़ा, प्रत्येक-बोधि-ज्ञान प्राप्त किया और आकाश में खड़े हो धर्मोपदेश दे नन्द-मूलक पर्वत ही पहुँचा।

दूसरा भी काशी राष्ट्र में ही एक ग्राम-भोजक मद्य की बिक्री रोकता था। लोगों ने पूछा—"स्वामी! पहले इस समय सुरा-उत्सव होता था। क्या करें?" उत्तर दिया—"तुम अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार करो।" मनुष्यों ने उत्सव मनाया और सुरा पीकर झगड़ा करते हुए हाथ-पैर तोड़े, सिर फोड़े, कान काटे और बहुत डण्डे तोड़े। ग्राम भोजक ने उन्हें देख सोचा—यदि मैं आज्ञा न देता, तो वह इतना दुःख न भोगते। वह इतनी बात से पश्चात्ताप करने लगा और विदर्शना भावना बढ़ा, प्रत्येक बोधि प्राप्त कर, आकाश में खड़े हो "अप्रमादी रहो" उपदेश दे, नन्दमूलक पर्वत ही पहुँचा।

आगे चलकर पाँच प्रत्येक बुद्ध भिक्षा-चार के लिये वाराणसी-द्वार पर उतर, अच्छे ढङ्ग से वस्त्र धारण कर, मन को प्रसन्न करने वाली विधि से भिक्षाटन करते हुए राज-द्वार पर पहुँचे। राजा ने उन्हें देखतें ही श्रद्धा-वान् हो राजभवन लिवा जा कर, पैर धो सुगन्धित तेल माख, प्रणीत खाद्य-भोज्य परोसा। फिर एक ओर बैठकर पूछा—"भन्ते। प्रथम-आयु में ही

तुम्हें प्रव्रज्या शोभा देती है। इस आयु में प्रव्रज्या लेते हुए तुमने काम-भोगों का दुष्परिणाम देखा। तुम्हारा मन का विषय क्या था ?"

उन्होंने उसे उत्तर देते हुए क्रमशः पाँच गाथायें कही—

मित्तो मित्तस्स पानीयं अदिन्नं परिभुञ्जिसं,
तेन पच्छा विजिगुच्छि तं पापं पकतं मया,
मा पुन अकरं पापं तस्मा पब्बजितो अहं ॥१॥
परदारं च दिस्वान छन्दो मे उदपज्जथ,
तेन पच्छा...... ॥२॥
पितरं मे महाराज चोरा अगण्हुं कानने,
तेसाहं पुच्छितो जानं अञ्ञथा न वियाकरिं,
तेन पच्छा...... ॥३॥
पणातिपातं अकरुं सोमयागे उपट्ठिते,
तेसाहं समनुञ्ञासिं,
तेन पच्छा........ ॥४॥
सुरामेरय मधुका ये जना पठमं आसु नो
बहुन्नं ते अनत्थाय मज्जपानं अकप्पयुं
तेसाहं समनुञ्ञासिं
तेन पच्छा...... ॥५॥

[मित्र होकर मैंने मित्र का पानी चुराकर पिया। पीछे पश्चात्ताप हुआ कि मैंने यह पाप किया। मैं फिर पाप न करूँ, इसलिये मैं प्रव्रजित हुआ ॥१॥ दूसरे की स्त्री देखकर मेरे मन में इच्छा पैदा हो गयी। पीछे पश्चात्ताप हुआ....॥२॥ महाराज ! मेरे पिता को जंगल में चोरों ने पकड़ लिया। उनके पूछने पर मैंने जान बूझकर झूठ बोला। पीछे पश्चात्ताप हुआ. .॥३॥ सोमयज्ञ का अवसर उपस्थित होने पर प्राणातिपात किया गया मैंने उनकी अनुज्ञा दी। पीछे पश्चात्ताप हुआ . .॥४॥ सुरा, मेरय की मधु की तरह मधुर मानने वाले जो जन थे उन्होने बहुत लोगों के लिये अनर्थकारी मद्यपान किया। मैंने उन्हें अनुज्ञा दी। पीछे पश्चात्ताप हुआ....॥५॥

राजा ने भी एक-एक की व्याख्या सुन प्रत्येक की यह कह कर स्तुति

की कि भन्ते ! आपकी प्रव्रज्या आपके योग्य है।

राजा ने उनका धर्म सुन, प्रसन्न हो, चीवर-वस्त्र और औषधियाँ दे प्रत्येक-बुद्धों को विदा किया। वे भी दानानुमोदन कर वहीं गये। तब से राजा काम-भोगों से विरत हो, अपेक्षा-रहित हो, नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन खा, स्त्रियों से बात-चीत न कर, उनकी ओर न देख, वैरागी हो, उठकर शयन-गृह में जा बैठता और सफेद दीवार पर योग-विधि बना ध्यान का अभ्यास करता उसने ध्यान-लाभी हो काम-भोगों की निन्दा करते हुए यह गाथा कही—

धिरत्थु सुबहू कामे दुग्गन्धे बहु कण्टके,
ये अहं पटिसेवन्तो न लभिं तादिसं सुखं ॥६॥

[इन दुर्गन्धपूर्ण, कण्टकाकीर्ण काम-भोगों को धिक्कार है जिनका सेवन करते हुए मुझे ऐसा सुख नहीं मिला ॥६॥]

उसकी पटरानी ने सोचा—यह राजा प्रत्येक-बुद्धों का उपदेश सुन उद्विग्न हो उठा। बिना हमसे बातचीत किये शयनागार में चला गया। इसे पकड़ें। उसने शयनागार के दरवाजे पर पहुँच जब राजा को काम-भोगों की निन्दा करते हुए प्रीति-वाक्य कहते सुना तो काम-भोगों की प्रशंसा करते हुए उसने यह गाथा कही—

महास्सादा सुखा कामा, नत्थि कामपरं सुखं,
ये कामे पटिसेवन्ति, सग्गं ते उपपज्जरे ॥७॥

[काम-भोगों में बड़ा मजा है, काम-भोगी से परे सुख नहीं। जो काम-भोगों को भोगते हैं वे स्वर्ग में पैदा होते हैं ॥७॥]

यह सुन बोधिसत्व ने "दुष्टा ! तेरा नाश हो। काम-भोगों में सुख कहाँ है ? इनका परिणाम तो दुःख ही है" कह निन्दा करते हुए शेष गाथायें कही—

अप्पस्सादा दुक्खा कामा, नत्थि कामपरं दुखं,
ये कामे पटिसेवन्ति, निरयं ते उपपज्जरे ॥८॥
असि यथा सुनिसितो, नेत्तिंसो व सुपायिको,
सत्तीव उरसी खित्तो, कामा दुक्खतरा ततो ॥९॥

अङ्गरानं व जलितं, कासुं साधिक पोरिसं,
फालं व दिवसंत्तत्तं, कामा दुक्खतरा ततो ॥१०॥
विसं यथा हलाहलं तेलं, उक्कादि्ठतं यथा,
तम्बलोहबिलीनं व, कामा दुक्खतरा ततो ॥११॥

[काम-भोग अल्प-स्वाद वाले होते हैं, दुःख होते हैं, काम-भोगों से परे दुःख नहीं। जो काम-भोगों का सेवन करते हैं, वे नरक में पैदा होते हैं ॥८॥ तेज तलवार, तेज 'नेत्तिस', नामक खड्ग अथवा छाती में घुसी हुई तलवार का जैसा कष्ट होता है—काम-भोगों का दुःख उससे भी अधिक है ॥९॥ ज्वलन्त अङ्गारों का एक पुरुष की ऊँचाई से भी अधिक गहरा गढ़ा, दिन भर (आग में) तपा हुआ फाल जितना दुःख देता है—काम-भोगों का दुःख उससे भी अधिक है ॥१०॥ हलाहल विष, उबलता हुआ तेल, अथवा पिघला हुआ ताम्बा जितना कष्ट देता है-—काम-भोगों का दुःख उससे भी अधिक होता है ॥११॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने देवी को धर्मोपदेश दे अमात्यों को इकट्ठा किया—"अमात्यों ! तुम राज्य करो। मैं प्रव्रजित होऊँगा।" जनता रोती-पीटती रह गई। वह उठा और आकाश में खड़ा हो उपदेश दे, आकाश-मार्ग से ही उत्तर-हिमालय चला गया। वहाँ रमणीय प्रदेश में आश्रम बना ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार प्रव्रजित हो आयु समाप्त होने पर ब्रह्मलोक-गामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं चित्त-मैल छोटा नहीं होता, थोड़ा होने पर भी पण्डित को दूर करना ही चाहिए" कह सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में पाँच सौ भिक्षु अरहत हुए। उस समय प्रत्येक-बुद्धों का परिनिर्वाण हो गया। देवी राहुलमाता थी। राजा तो मैं ही था।

---

४६०. युवञ्जय जातक

"मित्तामच्चपरिब्बूलह. . . ." यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय महाभिनिष्क्रमण के वारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक दिन धर्मसभा में इकट्ठे हुए भिक्षु बैठे शास्ता के गुणों की प्रशंसा कर रहे थे—"आयुष्मानो ! यदि दसबल-धारी (बुद्ध) गृहस्थ रहते तो वह सारे चक्रवाल में चक्रवर्ती राजा होते, सातों रत्नों से युक्त होते, चारों ऋद्धियों से ऋद्धिमान् होते और हजार से अधिक पुत्र-कलत्र होते। वे ऐसे वैभव को छोड़ कर, काम-भोगों में दोष देख, आधी रात के समय, छन्न (सारथी) की सहायता से, कन्थक पर चढ़ निकल पड़े। (फिर) अनोम नदी के किनारे प्रव्रज्या ले छः वर्ष तक दुष्कर तपस्या करके सम्यक् सन्बुद्धत्व प्राप्त किया।"[१] शास्ता ने आकर पूछा—भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ? 'अमुक बातचीत' कहने पर 'भिक्षुओं, तथागत ने केवल अभी ही महाभिनिष्क्रमण नहीं किया, पहले भी बारह योजन का वाराणसी नगर का राज्य छोड़ अभिनिष्क्रमण किया है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में रम्भनगर में सब्बदत्त नाम का राजा था। यही वाराणसी में उदय जातक[१] में सुरुन्धन नगर हुआ, चुल्लसुत सोम जातक[२] में सुदस्सन, सोणनन्द जातक[३] में ब्रह्मवढन, और खण्डहाल जातक[४] में पुष्कवती नाम और इस युवञ्जय जातक में रम्भनगर नाम

१. उदय जातक (४५८)
२. चुल्लसुत सोम जातक (५२५)
३. सोणनन्द जातक (५३२)
४. खण्डहाल जातक (५४२)

हुआ। इस प्रकार समय-समय पर इसका नाम बदलता रहा है। सब्बदत्त राजा के हजार पुत्र थे। उसने युवञ्जय नामक ज्येष्ठ पुत्र को उपराजा बनाया। उसने एक दिन प्रातःकाल ही रथ पर चढ़ बड़े वैभव के साथ उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाते हुए, वृक्षों के सिरों पर, तृणों के सिरों पर और शाखाओं के सिरों पर और मकड़ी के जाल के सूत्र आदि में मोतियों के जाल की तरह लटकती हुई ओस की बूँदें देखीं। तब प्रश्न किया—

"मित्र सारथी ! यह क्या है ?"

"देव ! यह हिमपात के समय पड़ने वाले ओस-बिन्दु हैं।"

वह दिन भर उद्यान में खेलता रहा। शाम को लौटते समय उन्हें न देख पूछा—"मित्र सारथी ! वे कहाँ गये ? अब वे ओस-बिन्दु दिखाई नहीं देते।"

"देव ! वे सूर्य के उदय होने पर, सभी छीज कर पृथ्वी में चले जाते हैं।"

यह सुन उसे संवेग हुआ। वह सोचने लगा—"इन प्राणियों का जीवन भी तिनके पर लगे ओस-बिन्दु के समान है। मुझे व्याधि जरा से अपीड़ित रहते ही रहते, माता-पिता से पूछ कर प्रव्रजित होना चाहिये।" उसने ओस की बूंद का ही ध्यान धर, तीनों भवों को जलता हुआ देख, अपने घर न जा, सजी-सजाई विनिश्चय-शाला में बैठे पिता के पास जा, पिता को प्रणाम कर एक ओर खड़े हो प्रव्रज्या की याचना की—

मित्तामच्चपरिब्बूळहं, अहंवन्दे रथेसभं,
पब्बजिस्सं महाराज, तं देवो अनुमञ्ञतु ॥१॥

[मैं मित्र तथा अमात्यों से घिरे हुए राजा को प्रणाम करता हूँ। हे महाराज ! मैं प्रव्रजित होऊँगा। हे देव ! मुझे आज्ञा दें ॥१॥]

राजा ने उसे रोकते हुए दूसरी गाथा कही—

सचे ते ऊनं कामेहि, अहं परिपूरयामि ते,
यो तं हिंसति वारेमि, मा पब्बजि युवञ्जय ॥२॥

[यदि तुझे काम-भोगों की कमी है, तो मैं उसे पूरा कर देता हूँ। जो तुझे कष्ट देता हो, उसे रोक देता हूँ। युवञ्जय ! प्रव्रजित मत हो ॥२॥]

यह सुन कुमार ने तीसरी गाथा कही—

न मत्थि ऊनं कामेहि, हिंसिता मे न विज्जति,
दीपञ्च कातुमिच्छामि, यं जरा नाभिकीरति ॥३॥

[मुझे काम-भोगों की कमी नहीं है और मुझे कोई कष्ट पहुँचाने वाला भी नहीं है। मैं ऐसा द्वीप बनाना चाहता हूँ, जिसे जरा न डुबा सके ॥३॥]

इस बात को कहते हुए शास्ता ने आधी गाथा कही—

पुत्तो वा पितरं याचे पिता वा पुत्तं ओरसं,

[पुत्र पिता से प्रार्थना करता और पिता पुत्र से . . .]

शेष आधी-गाथा राजा ने कही—

नेगमो याचते तात मा पब्बज युवञ्जय ॥४॥

[तात ! निगमवासी प्रार्थना करते हैं कि प्रव्रजित मत हो ॥४॥]

कुमार ने फिर (निवेदन किया)—

मा मं देव निवारेसि, पब्बजंतं रथेसभ,
माहं कामेहि सम्मत्तो, जराय वसमन्वगु ॥५॥

[हे राजन ! हे देव ! मुझे प्रव्रज्या से मत रोकें। मैं काम-भोगों में प्रमादी होकर जरा के वशीभूत न होऊँ ॥५॥]

यह सुन राजा अप्रतिभ हो गया। माता ने जब सुना कि देवी ! तेरा पुत्र पिता से प्रव्रज्या की आज्ञा माँग रहा है तो वह बोली—तुम क्या कह रहे हो ? वह साँस रोक कर सोने की पालकी में बैठी और शीघ्र ही विनिश्चय-शाला में पहुँच (पुत्र से) प्रार्थना करते हुए छठी गाथा बोली—

अहं तं तात याचामि, अहं पुत्त निवारये,
चिरं तं दट्ठुं इच्छामि, मा पब्बजि युवञ्जय ॥६॥

[हे तात ! मैं तुझ से याचना करती हूँ, हे पुत्र ! मैं तुझे रोकती हूँ। मैं तुझे चिरकाल तक देखते रहना चाहती हूँ। युवञ्जय ! तू प्रव्रजित मत हो ॥६॥]

यह सुन राजकुमार ने सातवीं गाथा कही—

उस्सावो व तिणग्गम्हि, सुरियस्स उग्गमनं पति,
एवं आयु मनुस्सानं, मा मं अम्म निवारये ॥७॥

[सूर्य्य उदय होने पर जैसे तिनके पर की ओस की बूँद नहीं रहती, वही हाल मनुष्यों की आयु का है। माँ! मुझे (प्रव्रज्या से) मत रोक ॥७॥]

ऐसा कहने पर भी उसने बार-बार आग्रह किया। तब बोधिसत्व ने पिता को निमन्त्रित कर आठवीं गाथा कही—

तरमाना इमं यानं, आरोपेन्तो रथेसभ,
मा मे माता तरन्तस्स, अन्तरायकरा अहु ॥८॥

[हे राजन्! मेरी माँ को शीघ्रता से इस पालकी में बिठा दिया जाय। मेरी माता मेरे (संसार-सागर के) तैरने में बाधक न बने ॥८॥]

राजा ने पुत्र की बात सुन कहा--"भद्रे! जा अपनी पालकी में बैठ। रति-वर्धन महल में ही जाकर रह।" वह उसकी बात सुन खड़ी न रह सकने के कारण नारियों के साथ जाकर प्रासाद पर चढ़ी और खड़ी हो विनिश्चय-द्वार की ओर आँख लगाये यही सोचने लगी—पुत्र का समाचार क्या है? बोधिसत्व ने भी माता के चले जाने पर फिर पिता से आज्ञा माँगी। राजा ने उसे रोक न सकने के कारण आज्ञा दे दी--तो तात! अपनी इच्छा पूरी कर। प्रव्रजित हो जा। आज्ञा मिलने के समय बोधिसत्व के छोटे भाई युधिष्ठिर कुमार ने भी पिता को प्रणाम कर आज्ञा माँगी— तात! मुझे भी प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दे दें। दोनों भाई पिता को प्रणाम कर काम-भोगों को छोड़, जनता के साथ विनिश्चय-शाला से निकले। देवी ने 'मेरे पुत्र के प्रव्रजित होने पर रम्य-नगर शून्य हो जायेगा' कह विलाप करते हुए दो गाथायें कहीं—

अभिधावथ भद्दं ते, सुञ्ञं हेस्सति रम्मकं,
युवञ्जयो अनुञ्ञातो, सब्बदत्तेन राजिना ॥९॥
याहु सेट्ठो सहस्सस्स, युवा कञ्चनसन्निभो,
सोयं कुमारो पब्बजितो, कासाय वसनो बली ॥१०॥

[तुम्हारा भला हो, दौड़ो। रम्यक नगर शून्य हुआ जा रहा है। सब्बदत्त राजा ने युवञ्जय को प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दी ॥९॥ जो कञ्चन-समान युवा हजारों (पुत्रों) में श्रेष्ठ था, वह यह बलवान कुमार काषाय-वस्त्र पहन प्रव्रजित होने जा रहा है ॥१०॥]

बोधिसत्व तुरन्त प्रव्रजित नहीं हुआ। वह माता-पिता को प्रणाम कर

छोटे भाई युधिष्ठिर कुमार को साथ ले, नगर से निकला। जनता को (पीछे) रोक, दोनों ने हिमालय में प्रविष्ट हो मनोरम-स्थान में आश्रम बना ऋषि-प्रव्रज्या ली। फिर ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर जीवन भर जगल के फल-मूल खाते हुए बिता कर ब्रह्मलोक-गामी हुए। इस बात को अन्त में अभिसम्बुद्ध गाथा व्यक्त करती है—

उभो कुमारा पब्बजिता, युवञ्जयो च युधिट्ठिलो,
पहाय मातापितरो, सङ्गं छेत्वान मच्चुनो ॥११॥

[युवञ्जय और युधिटि्ठल दोनों कुमार माता-पिता को छोड़ मार-पाश को भेद प्रव्रजित हो गये ॥११॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—"भिक्षुओ, अभी नहीं, तथागत पहले भी राज्य छोड़ प्रव्रजित हुये ही हैं" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय माता-पिता महाराज कुल थे। (युधिष्ठिर) युधिट्ठिल कुमार आनन्द। युवञ्जय मैं ही था।

———

४६१. दसरथ जातक

"एथ लक्खण सीता च. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक ऐसे गृहस्थ के बारे में कही, जिसका पिता मर गया था।

क. वर्तमान कथा

वह पिता के मरने पर शोक से अभिभूत हो सारे काम छोड़ शोक से पगला गया था। शास्ता ने प्रातःकाल ही लोक का विचार करते हुए उसके स्रोतापन्न हो सकने की सम्भावना को देखा। वे अगले दिन श्रावस्ती में भिक्षाटन कर, भोजन कर चुकने पर, भिक्षुओं को विदा कर, एक अनुयायी भिक्षु के साथ उसके घर पहुँचे। उसके प्रणाम कर, बैठने पर शास्ता ने उसे मधुर-स्वर से सम्बोधित करते हुए पूछा —

"उपासक ! चिन्ता करता है ?"

"भन्ते ! हाँ। पितृ-शोक मुझे कष्ट दे रहा है।"

"उपासक ! पुराने पण्डितों ने आठ लोक-धर्मों को तत्वतः जान पिता के मरने पर तनिक भी शोक नहीं किया।" यह कह शास्ता ने उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में महाराज दशरथ चार अगतियों में न पड़ धर्मानुसार राज्य करता था। उसकी सोलह हजार स्त्रियों में से ज्येष्ठ पटरानी ने दो पुत्रों और एक पुत्री को जन्म दिया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम था राम-पण्डित, द्वितीय पुत्र का नाम था लक्खन-कुमार, और पुत्री का नाम सीता-देवी। आगे चलकर पटरानी मर गई। राजा उसके मरने से चिरकाल तक शोकाभिभूत हुआ। फिर अमात्यों के कहने-सुनने से होश में आ, उसका क्रिया-कर्म कर चुकने पर, उसने एक दूसरी पटरानी बनाई। वह राजा की प्रिया थी, मनोरमा थी। उसने भी आगे चलकर गर्भवती हो, गर्भवती के लिये

आवश्यक चीजें पा, पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम भरतकुमार रखा गया। राजा ने पुत्र-स्नेह से कहा—"भद्रे ! तुझे वर देता हूँ, माँग।" उसने "लिया" करके रख दिया और कुमार के साठ वर्ष का हो जाने पर राजा के पास पहुँच कर कहा—"देव ! तुमने मेरे पुत्र को वर दिया था। अब इसे उसे दें।"

"भद्रे ! ले"

"देव ! मेरे पुत्र को राज्य दें।"

राजा ने उँगलियाँ चटखाई और उसे डराया—"चण्डालिनी ! तेरा नाश हो। मेरे दोनों पुत्र अग्नि स्कन्ध के समान प्रज्वलित हैं। उन्हें मरवाकर अपने पुत्र को राज्य देना चाहती है।" वह डर कर शयनागार में जा घुसी। फिर बाद में राजा से बार-बार राज्य की ही याचना करती रही। राजा ने उसे बिना वर दिये ही सोचा—स्त्री अकृतज्ञ तथा मित्र-द्रोही होती है। डर है कि कहीं यह झूठा पत्र या झूठी-मोहर के द्वारा पुत्रों को न मरवा दे। उसने पुत्रों को बुलाया और उस बात से विदित कर कहा—"तात ! यहाँ रहे तो तुम्हारे लिए खतरा भी हो सकता है। तुम किसी सामन्त-राज्य में या जङ्गल में जाकर रहो। मेरे मरने पर आकर अपने वंश के राज्य पर अधिकार करना।" फिर उसने ज्योतिषियों से अपनी आयु की सीमा पूछी। उन्होंने और बारह वर्ष बिताई। तब वह बोला—"तात ! अब से बारह वर्ष बाद आकर छत्र धारण करना।" वे 'अच्छा' कह पिता को प्रणाम कर रोते हुए प्रासाद से उतरे। सीता-देवी बोली—मैं भी भाइयों के साथ जाऊँगी। वह भी पिता को प्रणाम कर, रोती हुई (साथ) निकली। जनता भी उन तीनों के साथ थी। उसे पीछे लौटा क्रमश: वे हिमालय पहुँचे। ऐसी जगह जहाँ पानी और फलाफल सुलभ हो, आश्रम बना वे फलाफल से निर्वाह करते हुए रहने लगे। लक्खण-पण्डित और सीता ने राम-पण्डित से प्रार्थना की कि तुम हमारे लिये पिता-तुल्य हो। तुम आश्रम में ही रहो। हम फलाफल लाकर तुम्हारा पोषण करेंगे। तब से राम-पंडित वहीं रहने लगा। दूसरे (दोनों जने) फलाफल लाकर उसकी सेवा करने लगे। इस प्रकार उनके फलाफल से निर्वाह करते हुए, महाराज दशरथ पुत्र-शोक के कारण नौवें वर्ष में मर गये। उसका शरीर-कृत्य हो जाने पर देवी ने अपने पुत्र भरतकुमार से

कहा—छत्र धारण कर। लेकिन अमात्यों ने बाधा डाली। वे बोले—छत्र के स्वामी जंगल में रहते हैं। भरतकुमार ने सोचा मैं अपने भाई राम-पण्डित को जंगल से लाकर छत्र धारण कराऊँगा। पाँच राजकीय चिह्नों और चतुरङ्गिनी-सेना के साथ वह राम-पण्डित के निवास स्थान पर पहुँचा और उससे थोड़ी दूर पर छावनी डाल दी। फिर कुछ अमात्यों के साथ, जिस समय लक्खण-पण्डित और सीता आरण्य में गये हुए थे, आश्रम पहुँच, भली प्रकार स्थापित स्वर्ण-मूर्ति की तरह राम-पण्डित को निश्चिन्त भाव से सुखपूर्वक बैठे देखा। वह पास जा, प्रणाम कर एक ओर खड़ा हुआ और राजा का समाचार कह, अमात्यों सहित पैरों में गिरकर रोने लगा। राम पण्डित न चिन्तित हुआ, न रोया। उसकी आकृति में विकृति नहीं आई। भरत जब रोकर बैठ गया तो शाम को दोनों जने फलाफल लेकर आ पहुँचे। राम-पण्डित ने सोचा—यह बच्चे हैं। मेरे जितने समझदार नहीं हैं। यकायक यह सुनकर कि हमारा पिता मर गया हैं, शोक को न सह सकने के कारण इनका हृदय भी फट जा सकता है। इन्हें एक ढंग से पानी में खड़ा करके यह समाचार कहूँगा। उसने उन्हें सामने का एक जलाशय दिखाते हुए 'तुम बहुत देर करके आये, तुम्हारे लिए यही सजा है, इस पानी में जाकर खड़े होओ' कह यह आधी गाथा कही—

एथ लक्खण सीता च उभो ओतरथोदकं

[आओ लक्खण और सीता, दोनों पानी में उतरो।]

वे प्रथम कहते ही जाकर खड़े हो गये। तब उन्हें वह वृत्तान्त कहते हुए-शेष आधी गाथा कही—

एवायं भरतो आह राजा दसरथो मतो

[यह भरत ऐसा कहता है कि राजा दशरथ मर गया।]

यह सुनते ही कि पिता मर गया है, वे बेहोश हो गये। दुबारा कहने पर वे दुबारा बेहोश हो गये। इसी प्रकार तीसरी बार भी बेहोश हो जाने पर अमात्यों ने उठा कर पानी से निकाला और भूमि पर बिठाया। जब उन्हें होश आया तो सब परस्पर कर पीट कर बैठे। तब भरत-कुमार ने सोचा—मेरा भाई लक्खणकुमार और बहन सीता पिता के मरने का समाचार सुन शोक सहन न कर सके, किन्तु राम-पण्डित न सोच करता

है, न रोता है। उसके शोक-रहित रहने का क्या कारण है ? मैं उसे पूछूंगा।" उसने उसे पूछते हुए दूसरी गाथा कही—

केन रामप्पभावेन, सोचितब्बं न सोचसि,
पितरं कालकतं सुत्वा, न तं पसहते दुखं ॥२॥

[हे राम ! तू किस प्रभाव के कारण शोचनीय के लिए चिन्ता नहीं करता ? पिता का मर जाना सुनकर तुझे दुःख नहीं होता ॥२॥]

रामपण्डित ने अपने शोक-रहित रहने का कारण बताते हुए इन गाथाओं से अनित्यता का प्रकाश किया—

यं न सक्का पालेतुं पोसेन लपतं बहुं,
स किस्स विञ्ञु मेधावी अत्तानं उपतापये ॥३॥
दहरा च हि वुद्धा च ये बाला ये च पण्डिता,
अड्ढा चेव दलिद्दा च सब्बे मच्चुपरायना ॥४॥
फलानं इव पक्कानं निच्चं पपतना भयं,
एवं जातानं मच्चानं निच्चं मरणतो भयं ॥५॥
सायं एके न दिस्सन्ति पातो दिट्ठा बहुज्जना,
पातो एके न दिस्सन्ति सायं दिट्ठा बहुज्जना ॥६॥
परिदेवमानो चे कञ्चिदेव अत्थं उदब्बहे,
सम्मूळहो हिंसमत्तानं कयिरा चेनं विचक्खणो ॥७॥
किसो विवण्णो भवति हिंसं अत्तानं अत्तनो,
न तेन पेता पालेन्ति निरत्था परिदेवना ॥८॥
यथा सरनं आदित्तं वारिना परिनिब्बये,
एवं पि धीरो सुत्वा मेधावी पण्डितो नरो,
खिप्पं उप्पतितं सोकं वातो तूलं व धंसये ॥९॥
एकोव मच्चो अच्चेति एकोव जायते कुले,
सञ्ञोगपरमा त्वेव सम्भोगा सब्बपाणिनं ॥१०॥
तस्मा हि धीरस्स बहुस्सुतस्स
सम्पस्सतो लोकं इमं परं च
अञ्ञाय धम्मं हृदयं मनञ्च
सोका महन्ता पि न तापयन्ति ॥११॥

सोँह यसं च भोगं च, भरिस्सामि च ञातके,
सेसं सम्पालयिस्सामि, किच्चं एवं विजानतो ॥१२॥

[जिसे आदमी बहुत विलाप करके भी जीवित नहीं रख सकता, उस के लिए कोई बुद्धिमान् मेधावी अपने आपको क्यों कष्ट दे ? ॥३॥ तरुण, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित, धनी तथा दरिद्र——सभी मरणशील हैं ॥४॥ पके फलों को नित्य गिर पड़ने का भय रहता है और जिसने भी जन्म ग्रहण किया है उसे नित्य मृत्यु का भय रहता है ॥५॥ प्रातःकाल बहुत से आदमी दिखाई देते हैं और शाम को उनमें से कुछ नहीं दिखाई देते । शाम को बहुत से आदमी दिखाई देते हैं और प्रातःकाल उनमें से कुछ आदमी नहीं दिखाई देते ॥६॥ रोने-पीटने से अपने को कष्ट देकर मूढजन को यदि कुछ भी लाभ होता हो, तो ज्ञानी आदमी भी रोना-पीटना करे ॥७॥ अपने से अपनी हिंसा करता हुआ आदमी कृष हो जाता है, दुर्वर्ण हो जाता है । रोने-पीटने से मृत आदमियों का पोषण नहीं होता, रोना-पीटना निरर्थक है ॥८॥ जैसे घर को आग लगने पर तुरन्त बुझा दी जाती है, उसी प्रकार धीर-ज्ञानी, मेधावी आदमी को चाहिए कि हवा के रुई को उड़ा देने की तरह शीघ्र ही क्रोध को नष्ट कर दे ॥९॥ आदमी अकेला जाता है, आदमी अकेला ही (किसी न किसी) कुल में पैदा होता है । सभी प्राणियों के सम्भोग संयोग तक ही है ॥१०॥ इसलिये जो धीर है, बहुश्रुत है, इस लोक और पर-लोक को देखता है, (अष्ट) लोक-धर्मों को जानता है, उसके हृदय और मन को बड़े भारी शोक भी कष्ट नहीं देते हैं ॥११॥ इसलिये मैं (वैभव देने योग्य व्यक्तियों को) वैभव दूँगा, (भोग के साधन देने योग्य व्यक्तियों को) भोग दूँगा, और सम्बन्धियों का पोषण करूँगा और शेष जनों का पालन करूँगा —यही बुद्धिमान् के लिये करणीय है ॥१२॥

जनता राम-पण्डित का यह अनित्यता-प्रकाशन धर्मोपदेश सुनकर शोक-रहित हो गई । तब भरतकुमार ने रामपण्डित को प्रणाम करके प्रार्थना की——"वाराणसी-राज्य संभालें ।"

"तात ! लक्खण और सीता देवी को ले जाकर राज्य का अनुशासन करो ।"

"और देव ! तुम ?"

"तात ! मुझे पिता ने कहा था कि बारह वर्ष के बाद आकर राज्य करना। मैं अभी गया तो उनकी आज्ञा का पालन न होगा। शेष तीन वर्षों के बीतने पर आऊँगा।"

"इतनी देर तक कौन राज्य चलायेगा ?"

"तुम करो।"

"हम नहीं चलायेंगे।"

"तो जब तक मैं नहीं आता, ये पादुका राज्य चलायेंगे" कह अपनी तृण-पादुका उतार कर दे दी। वे तीनों जन पादुका ले, राम-पण्डित को प्रणाम कर, जनता सहित वाराणसी पहुँचे। तीन वर्ष पादुकाओं ने राज्य किया। अमात्य तृण-पादुकाओं को राज्य-सिंहासन पर रख मुकदमों का निर्णय करते। यदि मुकदमे का निर्णय ठीक न होता तो पादुका परस्पर लड़ती। उससे वे दुबारा निर्णय होने पर पादुका चुप चाप रहती। (राम) पण्डित ने तीन वर्ष बाद जङ्गल से निकल वाराणसी नगर पहुँच उद्यान में प्रवेश किया। उसके आगमन की सूचना पा अमात्यों सहित कुमारों ने उद्यान पहुँच सीता को पट-रानी बना दोनों का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार अभिषिक्त बोधिसत्व ने अलंकृत रथ पर चढ़, बहुत से अनुयायियों के साथ नगर में प्रवेश कर, (नगर की) प्रदक्षिणा कर, सुचन्दक प्रासाद के ऊँचे तल्ले पर चढ़, सोलह हजार वर्ष धर्मानुसार राज्य कर स्वर्ग लाभ किया।

पर सम्बुद्ध-गाथा उस बात को स्पष्ट करती है—

दस वस्स सहस्सानि, सट्ठि वस्स सतानि च,
कम्बुगीवो महाबाहु, रामो रज्जं अकारयि॥१३॥

[स्वर्ण-ग्रीवा महान् बाहु नाम ने दस हजार और छः हजार (अर्थात् सोलह हजार) वर्ष राज्य किया॥१३॥]

शास्ता ने यह धर्म देशना ला जातक का मेल बैठाया। सत्यों के प्रकाशन के अन्त में गृहस्थ श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय दशरथ महाराज शुद्धोदन महाराज थे, माता महामाया, सीता राहुल माता, भरत आनंद, लक्खण सारिपुत्र, परिषद बुद्ध-परिषद, और राम-पण्डित तो मैं ही था।

———

४६२. संवर जातक

"जानन्तो नो महाराज....." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक हिम्मत-हार भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

उस श्रावस्ती वासी कुल-पुत्र ने शास्ता की धर्म-देशना सुन प्रव्रजित हो, आचार्य्य-उपाध्याय की सेवा के व्रत को पूरा करते हुए, दोनों प्रातिमोक्षों का अभ्यास कर, पाँच वर्ष पूरे होने पर आचार्य्य-उपाध्यायों से पूछा—कर्म-स्थान ग्रहण कर आरण्य में विहार करूँगा? वह कोशल राष्ट्र के एक प्रत्यन्त ग्राम में पहुँचा। वहाँ उसके चलने-फिरने तथा उठने-बैठने के ढंग से प्रसन्न हो मनुष्यों ने पर्णशाला बनवा दी और सेवा करने लगे। वहाँ वर्षा-काल में रहना स्वीकार कर प्रयत्नशील हो, अत्यन्त उत्साह से तीन महीने तक कर्म-स्थान की भावना कर छाया-मात्र भी न दिखाई देने पर सोचने लगा—"निश्चय से मैं शास्ता द्वारा उपदिष्ट चार अयोग्य आदमियों में से एक हूँ। मुझे जंगल-निवास से क्या लाभ? मैं जेतवन जाकर तथागत के दर्शन करता और उनकी मधुर धर्म-देशना सुनता हुआ रहूँगा। उसने प्रयत्न त्याग दिया और जंगल से निकल क्रमशः जेतवन पहुँचा। आचार्य्य-उपाध्यायों ने तथा मिलने-जुलने वालों ने आने का कारण पूछा तो उसने वह बात कही। "ऐसा क्यों किया?" कह, उसकी निन्दा करते हुए वे उसे शास्ता के पास ले गये। शास्ता ने पूछा—भिक्षुओ! अनिच्छुक भिक्षु को क्या लिये आ रहे हो? उत्तर दिया—भन्ते! यह प्रयत्न करना छोड़ चला आया है। शास्ता ने पूछा—क्या सचमुच? "सचमुच भन्ते!" कहने पर "भिक्षु! प्रयत्न करना क्यों छोड़ दिया? इस (बुद्ध) शासन में निर्वीर्य्य आलसी आदमी श्रेष्ठ-फल अर्हत्व को नहीं प्राप्त हो सकता। प्रयत्नवान् इस धर्म को साक्षात् करते हैं। तू पहले जन्म में प्रयत्नशील तथा उपदेश माननेवाला था। इसी कारण तूने वाराणसी नरेश का सब से छोटा पुत्र होने पर भी पण्डितों का उपदेश मान श्वेत-छत्र धारण किया" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय संवरकुमार सौ पुत्रों में सब से छोटा था। राजा ने एक-एक अमात्य को एक-एक कुमार को शिक्षा देने का कार्य सौंपा। संवरकुमार का आचार्य्य अमात्य बोधिसत्व था—पण्डित, मेधावी, राजपुत्र के लिये पितृवत्। राजपुत्र शिक्षित हो गये तो अमात्य उन्हें राजा के सामने ले गये। राजा ने कुमारों को जनपद दिये। सभी शिल्पों में निष्णात संवरकुमार ने बोधिसत्व से पूछा—

"तात ! यदि पिता मुझे जनपद भेजे तो क्या करूँ ?"

"तात ! जब तुझे जनपद देने लगे तो तू जनपद लेना अस्वीकार कर कहना—देव ! मै सब में छोटा हूँ। मैं भी चला गया तो आपके चरणों में कोई न रहेगा। मैं आपके चरणों में ही रहूँगा।" एक दिन जब संवरकुमार प्रणाम करके एक ओर खड़ा था, तो राजा ने पूछा—

"तात ! क्या तेरी विद्या पूरी हो गई ?"

"देव ! हाँ।"

"तुझे जनपद देता हूँ।"

"देव ! आपके चरणों में कोई न रहेगा। मैं आपके चरणों में ही रहूँगा।" राजा ने सन्तुष्ट हो 'अच्छा' कह स्वीकार किया।

तब से राजा के चरणों में ही रहते हुए फिर पूछा—

"तात ! और क्या करूँ ?"

"राजा से एक पुराना उद्यान माँग लो।"

"उसने उद्यान ले, वहाँ पैदा होने वाले फल-फूल नगर के बड़े-बड़े आदमियों को भेंट किये। फिर "क्या करूँ ?" "तात ! राजा की आज्ञा ले नगर में भोजन, वेतन तुम ही दो।" उसने वैसी आज्ञा ले, नगर में किसी को कुछ भी देना न छोड़, मजदूरी-वेतन दी। फिर बोधिसत्व को पूछ और राजा की आज्ञा ले, उसने नगर के दासों, अश्वों और सेना को भी बिना किसी को छोड़े सीधा दिया। दूसरे जनपदों से आये हुये दूतों को निवास-स्थान आदि देना तथा व्यापारियों से चुंगी लेना आदि सब कुछ स्वयं किया। इस प्रकार उसने बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल सभी अन्दर और बाहर के आदमियों, नगर और राष्ट्र के वासियों तथा अतिथियों को उसने लोह-बन्धन से बाँध

लेने की तरह अपने सद्-व्यवहार से बाँध लिया। वह सभी का प्रिय था, सभी को अच्छा लगने वाला।

आगे चलकर मृत्यु-शैय्या पर पड़े हुए राजा से अमात्यों ने पूछा—"देव ! तुम्हारे बाद श्वेत-छत्र किसे दें ?"

"तात ! मेरे सभी पुत्र श्वेत-छत्र के मालिक ही हैं। लेकिन जिसे तुम्हारा मन करे, उसे दो।"

उसके मरने पर उसका शरीर-कृत्य कर, सातवें दिन इकट्ठे होकर मन्त्रियों ने निश्चय किया। राजा ने कहा कि जिसे तुम्हें अच्छा लगे उसे श्वेत-छत्र दो, हमें यह संवरकुमार अच्छा लगता है। उसे उन्होंने स्वर्ण माला तथा श्वेत-छत्र से अलंकृत किया। संवर महाराज ने बोधिसत्व के उपदेश में रह धर्मानुसार राज्य किया। शेष निन्नानवे कुमार 'हमारा पिता मर गया, संवरकुमार को छत्र दिया गया, वह सब से छोटा है, उसे छत्र देना योग्य नहीं। सब से बड़े के सिर पर छत्र धारण करेंगे, सोच इकट्ठे हो आये और नगर को घेर संवरकुमार के पास संदेश भेजा—या तो हमें छत्र दो, या युद्ध करो। संवरकुमार ने बोधिसत्व को वह समाचार कह पूछा—अब क्या करें ? "महाराज ! आपको भाइयों से युद्ध नहीं करना है। आप पितृ-धन के सौ हिस्से करके, उनमें से निन्नानबे हिस्से भाइयों के पास भेंज दें और कहें कि यह तुम्हारा हिस्सा है लो। मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूँगा।" उसने वैसा ही किया। तब सब से बड़े भाई ने जिसका नाम उपोसथ कुमार था, सब को बुला कर कहा—"तात ! राजाओं को कोई हरा नहीं सकता; और यह हमारा छोटा भाई तो हमारा शत्रु भी नहीं रहा। इसने हमारा पितृ-धन भेजकर कहला भेजा है कि मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूँगा। हम सब एक साथ तो छत्र धारण नहीं कर सकते। एक ही के सिर पर छत्र रहेगा। यह (छोटा भाई) ही राजा रहे। आओ, उससे भेंट करके और राज कुटुम्ब उसे ही सौंप कर अपने-अपने जनपद चलें।" उन सभी कुमारों ने नगर के दरवाजे खुलवा, शत्रुता त्याग नगर में प्रवेश किया। राजा ने अमात्यों द्वारा उनका सत्कार करवा अगवानी करवायी। कुमार बहुत से अनुयायियों के साथ पैदल ही आ, राज-भवन पर चढ़, संवर महाराज के प्रति आदर-भाव दिखा नीचे आसन पर बैठे। संवर महाराज

स्वेत-छत्र के नीचे सिंहासन पर बैठा—महान् ठाट-बाट और महान् ऐश्वर्य्य के साथ। जहाँ-जहाँ नजर पड़ती थी, सब जगह काँपती थी। उपोसथकुमार ने संवर कुमार का ऐश्वर्य्य देख सोचा--शायद हमारे पिता ने संवरकुमार का राजा होना जान हमें तो जनपद दिये थे और इसे नहीं दिये थे। उसने उससे बातचीत करते हुए तीन गाथायें कहीं—

जानंतो नो महाराज तव सीलं जनाधिपो,
इमे कुमारे पूजेन्तो न तं केनचि मञ्ञथ ॥१॥
तिट्ठन्ते नो महाराजे आहु देवे दिवं गते,
ञाती तं समनुमञ्ञिसुं सम्पस्सं अत्थमत्तनो ॥२॥
केन संवर वत्तेन सञ्जाते अधितिट्ठसि,
केन तं नातिवत्तन्ति ञातिसंघा समागता ॥३॥

[(ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पिता) राजा ने हे महाराज ! आप के शील की (और आप के ही भविष्य में राजा होने की बात को) जान कर ही इन दूसरे कुमारों को तो जनपद आदृत किया, लेकिन आप को कुछ नहीं दिया ॥१॥ आपको जातियों ने अपना हित देख कर जो राजा बनाया वह महाराज के जीते जी बनाया अथवा उनके दिवंगत होने पर? ॥२॥ हे संवर महाराज ! आप किस शील के कारण अपने निन्नानवे भाइयों पर बाजी मार ले गये और किस कारण से आये हुये जातिसंघ तुम से नहीं बढ़ सकते? ॥३॥]

यह सुन संवर महाराज ने अपना गुण कहते हुए गाथाएँ कहीं—

न राजपुत्त उसुय्यामि, समणानं महेसिनं,
सक्कच्चं ते नमस्सामि, पादे वन्दामि तादिनं ॥४॥
ते मं धम्मगुणे युत्तं, सुस्सूसं अनुसुय्यकं,
समणा अनुसासन्ति, इसी धम्मगुणे रता ॥५॥
तेसाहं वचनं सुत्वा, समणानं महेसिनं,
न किञ्चि अतिमञ्ञामि, धम्मे मे निरतो मनो ॥६॥
हत्थारुहा अनीकट्ठा, रथिका पत्ति कारिका,
तेसु नप्पटिबन्धामि, निबद्धं भत्तवेतनं ॥७॥

महामत्ता च मे अत्थि, मन्तिनो परिचारका,
वाराणसिं वोहरन्ति, बहुमंस सुरोदकं ॥८॥
अथो पि वाणिजा फीता, नाना रट्ठातो आगता,
तेसु मे विहिता रक्खा, एवं जानाहि उपोसथ ॥९॥

[हे राजपुत्र ! मैं ईर्ष्या नहीं करता हूँ, श्रमण महर्षि तथा स्थिर-चित्त व्यक्तियों को दिल से नमस्कार करता हूँ और उनके चरणों में प्रणाम करता हूँ ॥४॥ वे धर्म-गुण में रत श्रमण-ऋषी धर्म-गुण में युक्त मुझे आज्ञाकारी और सुने धर्म का पालन करने वाला जान अनुशासन करते थे ॥५॥ मैं उन श्रमण महर्षियों का धर्म सुन उनकी किसी बात का भी उल्लंघन नहीं करता था, (क्योंकि) मेरा मन धर्म में रत था ॥६॥ जो हाथी-सवार, सैनिक, रथ-सवार तथा अन्य पैदल-सैनिक हैं, मैं उनका बन्धा हुआ भात-वेतन निरन्तर देता हूँ ॥७॥ मेरे महामात्य हैं, मन्त्री हैं, परिचारक हैं—वे मांस, तथा सुरा वाराणसी में बहुत व्यवहार करते हैं ॥८॥ हे उपोसथ ! और यह भी जान ले कि नाना देशों से आये धनी व्यापारियों की भी मैं रक्षा की व्यवस्था करता हूँ ॥९॥]

उसके गुण सुनकर उपोसथकुमार ने दो गाथायें कही—

धम्मेन किर ञातीनं, रज्जं कारेहि संवर,
मेधावी पण्डितो चापि, अथोपि ञातिनं हितो ॥१०॥
तं तं ञातिपरिब्बूळहं, नाना रतन मोचितं,
अमित्ता न प्पसहन्ति, इन्दं व असुराधिपो ॥११॥

[हे संवर ! तू धर्मानुसार जातियों के राज्य का अनुशासन कर रहा है। तू मेधावी है, पण्डित है और जातियों का हितैषी है ॥१०॥ जिस प्रकार असुर-राज इन्द्र को प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार तेरे शत्रु नाना जातियों और रतनों से युक्त तुझे कष्ट नहीं दे सकते हैं ॥११॥]

संवर महाराज ने सभी भाइयों को महान् ऐश्वर्य्य दिया। वे इसके पास महीना-आधा महीना रह यह कहकर कि "महाराज जन-पदों में विद्रोह होने पर हम देख लेंगे, आप राज्य-सुख भोगें", अपने-अपने जनपद चले गये। राजा भी बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल, आयु पूरी होने पर देव-लोकगामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला—'भिक्षु ! पहले तो तू ऐसा उपदेश मानने वाला था, अब क्यों प्रयत्न नहीं करता ?' कह सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में वह भिक्षु श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय संवर महाराजा यह भिक्षु था। उपोसथकुमार सारिपुत्र, शेष भाई स्थविर अनुस्थविर, परिषद बुद्ध-परिषद। उपदेश देने वाला अमात्य तो मैं ही था।

---

४६३. सुप्पारक जातक

"उम्मुज्जन्ति निमुज्जन्ति. . ."यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय प्रज्ञा-पारमिता के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक दिन जब शाम के समय सब भिक्षु धर्म-देशनार्थ बाहर निकलने वाले तथागत की प्रतीक्षा कर रहे थे तो उन्होंने धर्म-सभा में बैठे-बैठे दस बलधारी की प्रज्ञा-पारमिता की प्रशंसा की—"आयुष्मानो ! ओह हमारे शास्ता महा-प्रज्ञावान् हैं, विस्तृत-प्रज्ञा वाले हैं, प्रसन्न-प्रज्ञा वाले हैं, शीघ्र-प्रज्ञा वाले हैं, तीक्ष्ण-प्रज्ञा वाले हैं, उनकी प्रज्ञा बींधनेवाली है, वे हर जगह के लिये उपाय-कौशल से युक्त हैं—पृथ्वी के समान विपुल, महासमुद्र की तरह गम्भीर और आकाश की तरह विस्तृत। सारे जम्बुदीप की प्रज्ञा भी बुद्ध को लांघ कर नहीं जा सकती। जैसे महासमुद्र की लहर किनारे को लांघ कर नहीं जा सकती, किनारे से टकरा कर टूट जाती हैं, उसी प्रकार कोई भी प्रज्ञा में शास्ता पर बाजी नहीं मार ले जा सकता, शास्ता के चरणों से टकरा कर वह चूर-चूर हो ही जाती है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ, तथागत केवल अभी प्रज्ञावान् नहीं हैं, पूर्व समय में जब अभी ज्ञान परिपक्क नहीं था, तब भी तथागत प्रज्ञावान् ही थे। अन्धे होने पर भी, पानी (के स्पर्श) से ही इस समुद्र में यह यही रत्न हैं जान गये" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में भरु राष्ट्र में भरु राजा राज्य करता था। (वहाँ) भरु-कच्छ[1] नाम का एक पत्तन-ग्राम था। उस समय बोधिसत्व ज्येष्ठ-नाविक[2] के

---

१. वर्त्तमान भड़ोच (बी० बी० एण्ड० सी० आई०)। २. निय्याम जेट्ठ।

पुत्र होकर पैदा हुए, सुन्दर स्वर्ण-वर्ण के। नाम रखा गया सुप्पारक कुमार। वह बड़े ठाट से बढ़ा और सोलह वर्ष का होते-होते नाविक-विद्या में पारङ्गत हो गया। आगे चल कर पिता के मरने पर ज्येष्ठ-नाविक हो नाविक-कृत्य करने लगा। वह पण्डित था, ज्ञानी था, जिस नौका पर वह रहता उस पर कभी विपत्ति न आती। ऐसा हुआ कि नमकीन-पानी के स्पर्श से उसकी दोनों आँखें जाती रहीं। तब ज्येष्ठ-नाविक होते हुए भी उसने नाविक का काम छोड़ राज्याश्रय में जीवित रहने का संकल्प किया और राजा के पास गया। राजा ने उसे मूल्य-निर्धारक बनाया। तब से वह राजा के हाथी-रत्न, अश्व-रत्न तथा मुक्ता-मणि आदि का मूल्य निर्धारण कराता था। एक दिन एक काले पत्थर जैसा हाथी लाया गया और कहा गया कि यह राजा का मङ्गल-हाथी होगा। उसे देख राजा ने कहा—पण्डित को दिखाओ। उसे उसके पास ले गये। उसने हाथ से उसका शरीर छूकर कहा—यह मङ्गल-हाथी होने के योग्य नहीं है। इसका पिछला हिस्सा छोटा है। इसकी माँ ने जब इसे जन्म दिया तो वह इसे अङ्क पर सम्भाले नहीं रख सकी। इसलिये भूमि पर गिर पड़ने से यह पिछले पाँव की तरफ छोटा रह गया है। जो हाथी लेकर आये थे उनसे पूछा गया। वे बोले—पण्डित ठीक कहता है। राजा ने प्रसन्न हो उसे आठ कार्षापण दिलवाये।

फिर एक दिन एक अश्व लाया गया और कहा गया कि यह राजा का मङ्गल-अश्व होगा। राजा ने उसे भी पण्डित के पास भेजा। उसने हाथ से स्पर्श करके कहा—"यह मङ्गल-अश्व होने के योग्य नहीं है। इसके उत्पन्न होने के दिन ही इसकी माँ मर गई। इसलिए माँ का दूध न मिलने से यह भली प्रकार बढ़ नहीं सका।" उसका यह कथन भी सत्य ही निकला। राजा ने यह बात सुनकर भी प्रसन्न हो, आठ कार्षापण ही दिलवाये।

एक दिन एक रथ लाया गया और कहा गया कि यह मङ्गल-रथ होगा। राजा ने उसे भी उसके पास भेजा। उसने उसे हाथ से छूकर कहा—"यह रथ वृक्ष का बना है। इसलिए राजा के योग्य नहीं।" उसकी वह बात भी सच्ची निकली। राजा ने उसे भी सुना तो आठ ही कार्पाषण दिलवाये।

उसके पास मूल्यवान् कम्बल लाया गया। वह भी उसने उसी के

पास भेजा। उसने हाथ से छूकर कहा—इसे एक जगह चूहों ने खाया है। तलाश करने पर वह दिखाई दिया तो राजा को कहा गया। राजा ने संतुष्ट होकर आठ ही कार्षापण दिलवाये।

वह सोचने लगा—यह राजा ऐसी-ऐसी आश्चर्य्य की बातें सुनकर भी आठ ही कार्षापण दिलवाता है। इसका दान नाई का दान है। यह नाई का जाया ही होगा। मुझे ऐसे राजा की सेवा में रहने से क्या लाभ ! मैं अपने निवास-स्थान को ही चला जाऊँगा। वह भरु-कच्छ पत्तन को ही वापिस लौट गया।

उसके वहाँ रहते समय व्यापारियों ने नौका तैयार कर परामर्श किया—किसे नियामक बनावें ? उन्होंने सोचा—जिस नौका पर सुप्पारक-पण्डित रहता है, उस पर कभी विपत्ति नहीं आती। यह पण्डित है, उपाय-कुशल है। अन्धा होने पर भी सुप्पारक-पण्डित ही उत्तम है। वह उसके पास गये और बोले—"हमारे नाव-निर्देशक बन जाओ।"

"तात ! मैं अन्धा हूँ ! मैं कैसे नौका का दिशा-निर्देश करूँगा ?"

"स्वामी ! अन्धे होते हुए भी तुम्हीं हमारे लिये श्रेष्ठ हो।"

बार-बार आग्रह करने पर—'अच्छा तात ! तुम्हारे बताये अनुसार नौका का दिशा-निर्देश करूँगा' कह वह नौका पर सवार हुआ। वे नौका से महासमुद्र में उतरे। नौका सात दिन तक निर्विघ्न आगे बढ़ती गई। तब अकाल वायु चलने लगी। वह चार महीने तक प्राकृतिक-समुद्र पर ऊपर-नीचे होती रह कर खुरमाल समुद्र पहुँची। वहाँ मनुष्य-शरीर-समान और उस्तरे की तरह तेज नाक वाली मछलियाँ पानी से ऊपर आतीं और नीचे जाती थीं। व्यापारियों ने उन्हें देख बोधिसत्व से उस समुद्र का नाम पूछते हुए पहली गाथा कही—

उम्मुज्जन्ति निमुज्जन्ति मनुस्सा खुरनासिका,
सुप्पारकं तं पुच्छाम समुद्दो कतमो अयं॥१॥

[उस्तरे जैसी नाक वाले मनुष्य पानी से ऊपर आते हैं और नीचे जाते हैं। हे सुप्पारक ! हम तुझे पूछते हैं, यह कौन-सा समुद्र है ?]

तब बोधिसत्व ने अपने दिशा-निर्धारण सूत्र से मेल बिठा दूसरी गाथा कही—

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं,
नावाम विप्पनट्ठाय खुरमालीति वुच्चति ॥२॥

[भरुकच्छ से निकले, धन की खोज करने वाले, व्यापारियों की नौका को मार्ग-विमूढ करने वाला यह खुरमाली समुद्र है ॥२॥]

उस समुद्र में हीरे होते थे। बोधिसत्व ने सोचा—यदि मैं उन्हें कहूँगा कि यह हीरों का समुद्र है तो ये लोभ के वशीभूत हो बहुत हीरे ले नौका को ही डुबा देंगे। उसने उन्हें नहीं बताया और नौका को रुकवा, उपाय से एक रस्सी ले, मछली पकड़ने के ढङ्ग पर जाल फिकवाया। इस प्रकार चुने हुए हीरे नौका में डाल दूसरा थोड़े मूल्य का सामान फिकवा दिया। नौकायें वह समुद्र पार कर आगे—अग्नि-माल समुद्र में पहुँचीं। उसका प्रकाश-प्रज्वलित अग्नि-स्कन्ध तथा मध्याह्न सूर्य्य के समान था। व्यापारियों ने उससे गाथा में पूछा—

यथा अग्गीव सुरियो व समुद्दो परिदिस्सति,
सुप्पारकं तं पुच्छाम समुद्दो कतमो अय ॥३॥

[हे सुप्पारक ! हम तुझ से पूछते हैं कि यह जो अग्नि और सूर्य्य की तरह दिखाई देता है, यह कौन सा समुद्र है ?]

बोधिसत्व ने बाद की गाथा में उत्तर दिया—

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं,
नावाय विप्पनट्ठाय अग्गिमालीति वुच्चति ॥४॥

[अर्थ ऊपर आ ही गया है।]

उस समुद्र में सोना था। बोधिसत्व ने पहले ही की तरह वहाँ से भी सोना ले नौका में डाला। नौकायें वह समुद्र भी पार कर दूध की तरह, दही की तरह चमकने वाले दधिमालक समुद्र में पहुँचीं। व्यापारियों ने गाथा द्वारा उसका नाम पूछा—

यथा दधिं व खीरं व समुद्दो परिदिस्सति,
सुप्पारकं तं पुच्छाम, समुद्दो कतमो अयं ॥५॥

बोधिसत्व ने बाद की गाथा से उत्तर दिया—

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं,
नावाय विप्पनट्ठाय दधिमालीति वुच्चति ॥६॥

उस समुद्र में चाँदी थी। उसने उसे भी कौशल से उठवा नौका में डलवाया। नौकायें उस समुद्र को भी पार कर हरे तृणों की तरह अथवा उगे धान की तरह के नील-वर्ण-कुश-माल नाम के समुद्र में पहुँचीं। व्यापारियों ने गाथा द्वारा उसका भी नाम पूछा--

यथा कुसो व सस्सो व समुद्दो पटिदिस्सति,
सुप्पारकं तं पुच्छाम, समुद्दो कतमो अयं ॥७॥

उसने बाद की गाथा कही--

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं,
नावाय विप्पनट्ठाय कुसमालीति वुच्चति ॥८॥

उस समुद्र में नील-मणि थी। उसने उसे भी कौशल से उठवा नौका में डलवाया। नौकायें उस समुद्र को भी लांघ बाँसे और बाँसों के बन की तरह दिखाई देने वाले बाल-माल नामक ससुद्र में पहुँचीं। व्यापारियों ने गाथा द्वारा उसका भी नाम पूछा--

यथा नलो व वेलुं व समुद्दो पटिदिस्सति,
सुप्पारकं तं पुच्छाम समुद्दो कतमो अयं ॥९॥

बोधिसत्व ने बाद की गाथा द्वारा कहा--

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं,
नावाय विप्पनट्ठाय नलमालीति वुच्चति ॥१०॥

उस समुद्र में बाँस के रंग के बिल्लौर थे। उसने वह भी उठवा कर नौका में डलवाये।

व्यापारियों ने नलमालि समुद्र लाँघ वलमामुख नामक समुद्र देखा। उसमें से पानी उछल-उछल कर चारों ओर जाता था। उसमें से चारों ओर गया हुआ पानी ऐसा मालूम होता था जैसे चारों ओर से तट टूटा हुआ बड़ा भारी गढा हो, और लहरें ऊपर निकल कर एक प्रपात की तरह प्रतीत होती थीं। डरावनी आवाज होती थी मानों कानों के पर्दे फाड़ डालेगी और हृदय को चूर-चूर कर देगी। उसे देख डरे हुये त्रसित व्यापारियों ने गाथा द्वारा उसका नाम पूछा--

महाभयो भिंसनको समुद्दो सुय्यते अमानुसो,
यथा सोब्भो पपातो च समुद्दो पटिदिस्सति।
सुप्पारकं तं पुच्छाम, समुद्दो कतमो अयं॥११॥

[भिंसनको=भयानक]

बोधिसत्व ने 'भरुकच्छापयातानं... वुच्चति' बाद की गाथा कह उसका नाम बताया। फिर कहा—"तात ! इस वळभा-मुख समुद्र में आ जाने पर कोई लौट नहीं सकता। इसमें जो नौका आ जाय उसे डुबा कर नष्ट कर देता है। उस नौका में सात-सौ जने चढ़े थे। वे सभी मृत्यु से भयभीत हो, एक ही धक्के में अवीची नरक में फेंक दिये की तरह अति करुण स्वर से रोने-पीटने लगे। बोधिसत्व ने सोचा—मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा इन्हें नहीं बचा सकता। सत्य-क्रिया द्वारा इनका कल्याण करूँगा। उसने उन्हें सम्बोधित कर कहा—"तात ! मुझे शीघ्र सुगन्धित जल से नहला, शुद्ध वस्त्र पहनाकर स्वर्ण की थाली तैयार करो और नौका के आगे ले चलो।" उन्होंने शीघ्रता से वैसा ही किया। बोधिसत्व ने दोनों हाथों में स्वर्ण थाली ले, नौका के सिरे पर खड़े हो सत्य-क्रिया करते हुए अन्तिम गाथा कही—

यतो सरामि अत्तानं यतो पत्तोस्मि विञ्ञुतं,
नाभिजानामि संचिच्च एकपाणं पि हिंसितं।
एतेन सच्चवज्जेन सोत्थिं नावा निवत्ततु॥१३॥

[जब से मुझे अपनी याद है, जब से मैंने होश सँभाला है, मुझे स्मरण नहीं कि मैंने जानबूझ कर एक प्राणी की भी हत्या की हो—मेरे इस सत्य-वचन से यह नौका सकुशल लौट चले ॥१३॥]

चार महीनों तक विदेश में भटकती रही नौकायें लौट कर ऋद्धि-बल से ऋद्धिमान की तरह एक ही दिन में भरुकच्छ पत्तन पहुँच गईं। लेकिन जाकर स्थल पर भी नाविक के गृह-द्वार के सामने पृथ्वी से आठ ऋषभ ऊपर रुकीं। बोधिसत्व ने उन व्यापारियों में, स्वर्ण, चाँदी, मणि, मूंगे तथा हीरे बाँट दिये और कहा—"इतने रत्नों से सन्तुष्ट रहो। अब फिर समुद्र में प्रविष्ट न होना।" उन्हें उपदेश दे जीवन भर दानादि करते रह स्वर्गगामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—"भिक्षुओ, इस प्रकार पहले भी तथागत महाप्रज्ञावान् ही थे" कह जातक का मेल बिठाया। उस समय की परिषद बुद्ध-परिषद। सुप्पारक-पण्डित तो मैं ही था।

बारहवाँ परिच्छेद

४६४. चुल्लकुणाल जातक

"लुद्दानं लहुचित्तानं......" यह जातक कुणाल जातक[1] में आयेगी।

---

१. कुणाल जातक (५३६)

४६५. भद्दसाल जातक

"का त्वं सुद्धेहि वत्थेहि..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय रिश्तेदारों के उपकार के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

श्रावस्ती में अनाथ-पिण्डक के घर पाँच-सौ भिक्षुओं का नियमित भोजन होता था, वैसे ही विशाखा और कोशल नरेश के यहाँ। लेकिन कोशल-नरेश के यहाँ चाहे जितना भी बढ़िया भोजन दिया जाता हो, किन्तु वहाँ भिक्षुओं का विश्वस्त कोई नहीं था। इसलिए भिक्षु राजभवन में खाते नहीं थे। भोजन लेकर अनाथ-पिण्डक के घर, विशाखा के घर अथवा किसी अन्य विश्वस्त घर चले जाते और वहाँ खाते। राजा के पास एक दिन भेंट आई। उसने कहा—"भिक्षुओं को दे दो" भोजन-शाला में भिजवाने पर उत्तर आया—"वहाँ भिक्षु नहीं हैं।" "कहाँ गये?" पूछने पर उत्तर मिला, अपने विश्वस्त गृहों में बैठ कर भोजन करते हैं। राजा ने यह सुना तो प्रातःकाल के भोजन के अनन्तर शास्ता के पास जाकर पूछा—"भन्ते। भोजन में श्रेष्ठतम क्या है?" "महाराज, विश्वास है। विश्वस्त की दी हुई काञ्जी मात्र भी मधुर होती है।"

"भन्ते! भिक्षु किसका विश्वास करते हैं?"

"महाराज, रिश्तेदारों का या शाक्य-कुल का।"

राजा ने सोचा—एक शाक्य-लड़की को लेकर पटरानी बनाऊँ, तब भिक्षु रिश्तेदारों की तरह मेरा विश्वास करेंगे। वह आसन से उठा और राज-भवन पहुँच कपिलवस्तु दूत भेजा—"मुझे लड़की दें। मैं तुम्हारे साथ रिश्तेदारी चाहता हूँ।' शाक्यों ने दूत की बात पर इकट्ठे हो विचार किया—हम कोशल-नरेश की राज्य-सीमा में रहते हैं। यदि लड़की न दें तो बड़ा वैर पैदा हो जायगा, यदि दें तो हमारी कुल-परम्परा नष्ट हो जायगी, क्या करें? महानाम बोला—

"चिन्ता न करें। मेरी वासभखत्तिया नाम की लड़की नाग मुण्डा नाम की दासी की कोख से पैदा हुई है। सोलह वर्ष की हो चली। रूप उत्तम है। सौभाग्यवती है। पिता की ओर से क्षत्रिय कन्या है। उसे ही 'क्षत्रिय कन्या' करके भेज दें।" शाक्यों ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और दूत को बुला कर कहा—"अच्छा, लड़की देंगे। तुम इसे लेकर जाओ।" दूतों ने सोचा—"यह शाक्य बड़े जाति-अभिमानी हैं। 'सदृश' कह कर 'असदृश' भी दे सकते हैं। इनके एक-साथ बैठकर खाने वाली ही लेंगे।" वे बोले—"हम ले जाते समय जो तुम्हारे एक साथ बैंठकर भोजन खायेगी, उसे ही ले जायेंगे—" शाक्य दूतों को निवास-स्थान देकर सोचने लगे—"क्या करें?" महानाम बोला—"तुम चिन्ता न करो। मैं उपाय करूँगा। तुम मेरे भोजन के समय वासभ-खत्तिया को अलंकृत कर, लाकर, जब मैंने पहला कौर खाया हो, तभी कहना 'देव! अमुक राजा ने संदेश भेजा है, इस सन्देश को सुनें' और यह कह पत्र दिखाना।" उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार कर उसके खाते समय कुमारी को अलंकृत किया। महानाम बोला—"मेरी बेटी को लाओ। मेरे साथ भोजन करे।" वह उसे अलंकृत कर थोड़ी देर करके लाये। उसने 'पिता के साथ खाऊँगी' सोच एक थाली में हाथ बढ़ाया। महानाम ने उसके साथ एक कौर लेकर मुँह में डाला। दूसरे कौर के लिए हाथ बढ़ाने के समय ही 'देव! अमुक राजा ने पत्र भेजा है, यह शासन सुनें' कह पत्र ले आये। महानाम 'बेटी तू खा' कह दाहिना हाथ थाली में ही रखे बैठा रहा और बायें हाथ में पत्र ले, पत्र देखने लगा। वह उस संदेश पर ही विचार करता रहा और लड़की ने खा लिया। उसके खा चुकने पर उसने हाथ धो, मुँह साफ किया। दूत उस भेद को नहीं जान सके। उन्हें निश्चय हो गया कि यह इसी की लड़की है।

महानाम ने बड़े ठाट-बाट से लड़की को बिदा किया। दूतों ने भी उसे श्रावस्ती ले जाकर कहा—"यह कुमारी जाति वाली है, महानाम की लड़की।" राजा ने प्रसन्न हो सारे नगर को सजा, उसे रत्नों के ढेर में रख पटरानी बनाया। वह राजा की प्रिया थी, मन के अनुकूल थी। थोड़े ही समय में उसे गर्भ रह गया। राजा ने गर्भ परिहार दिलवाया। उसने दस महीने बीतने पर स्वर्ण-वर्ण पुत्र को जन्म दिया। उसके नामकरण के दिन राजा ने अपनी दादी के पास संदेश

भेजा—"शाक्यराज की लड़की वासभखत्तिया ने पुत्र जना है। उसको क्या नाम दिया जाय?" उस संदेश को ले जाने वाला अमात्य थोड़ा बहरा था। उसने जाकर राजा की दादी से कहा। उसने यह सुना तो बोली—"वासभखत्तिया को जब पुत्र नहीं था तो भी उसने सब को अभिभूत कर रखा था, अब तो राजा की अत्यन्त वल्लभ-प्रिया हो जायगी।" बहरे अमात्य ने 'वल्लभ' वचन को ठीक से न सुन 'विडूडभ' समझा और जाकर राजा से कहा—"देव! कुमार का नाम 'विडूडभ' रखें।" राजा ने सोचा, पुराना कुलागत नाम होगा। उसने 'विडूडभ' नाम ही रख दिया।

तब से राजकुमार की तरह बढ़ते हुए कुमार ने सात वर्ष की आयु होने पर जब देखा कि दूसरे कुमारों के नानके से हाथी-घोड़े, खिलौने आते हैं तो माता से पूछा—"माँ, दूसरों के नानकों से भेंट आती है, मुझे कोई कुछ नहीं भेजता, क्या तेरे माता-पिता नहीं हैं?" उसने उसे "तात! तेरे नानके शाक्य-राजा हैं। लेकिन वे दूर रहते हैं। इसीलिये कुछ नहीं भेजते" कह ठगा। सोलह वर्ष की आयु होने पर वह बोला—"माँ, मैं अपने नानके देखना चाहता हूँ।"

"तात! जाने दे, वहाँ जाकर क्या करेगा?"

मना करने पर भी उसने बार-बार आग्रह किया। तब माता ने स्वीकार किया—"तो तात जा!" वह पिता की आज्ञा ले बड़े ठाठ-बाट से निकला। वासभ-खत्तिया ने पहले ही पत्र भेजा—"मैं यहाँ सुखपूर्वक रहती हूँ। स्वामी-गण इसे कुछ भिन्नता न प्रकट होने दें।" शाक्यों ने जब सुना कि विडूडभ आ रहा है तो उसे प्रणाम न कर सकने के कारण उससे छोटी आयु के सब कुमारों को बाहर भेज दिया। कुमार के कपिलवस्तु पहुँचने पर शाक्य सन्थागार में इकट्ठे हुए। वह सन्थागार में जाकर खड़ा हुआ। उसे कहा गया—"तात! यह तेरे नाना हैं, यह मामा हैं।" वह सबको प्रणाम करता फिरता रहा। कमर में दर्द होने तक भी प्रणाम करते रहने पर जब उसे किसी ने प्रणाम नहीं किया तो उसने पूछा—"क्या मुझे नमस्कार करनेवाला कोई नहीं?" शाक्यों ने "तात! छोटे कुमार बाहर गये हैं" कह उसका बड़ा सत्कार किया। वह कुछ दिन रह बड़े ठाठ-बाट से निकला।

एक दासी ने जिस तख्त पर वह सन्थागार में बैठा था, उसे गाली देते हुए दूध-पानी से धोया—"इस तख्त पर वासभखत्तिया दासी का पुत्र बैठा था।" एक आदमी अपना शस्त्र भूल गया था। वह उसे रुक कर लेने लगा तो उसने विडूडभ-कुमार को दी जानेवाली गाली को सुना। यह जान कि वासभखत्तिया महानाम शाक्य से दासी की कोख में पैदा हुई है, जाकर उसने सेना में कहा—"वासभखत्तिया दासी की लड़की है।" बड़ा हल्ला मच गया। कुमार ने सुना तो मन में दृढ़ निश्चय किया—"यह उस तख्त को जिस पर मैं बैठा था, दूध-पानी से धोते हैं, मैं जब राजा होऊंगा तो इसी तख्त को इनके गले के रक्त से धोऊंगा।"

जब वह श्रावस्ती पहुंचा तो अमात्यों ने राजा से सारा वृत्तान्त कहा। राजा शाक्यों पर क्रोधित हुआ कि मुझे दासी की लड़की दे दी। उसने वासभ-खत्तिया और उसके पुत्र को जो कुछ दिया जाता था, वह सब बन्द करके दास-दासी के योग्य ही दिलाया। उसके कुछ दिनों बाद शास्ता जाकर राज-भवन में बैठे थे। राजा ने आकर प्रणाम कर निवेदन किया—"भन्ते! आपके रिश्तेदारों ने मुझे दासी-पुत्री दे दी। मैंने उसे और उसके पुत्र को जो दिया जाता था, वह बन्द करके दास-दासियों के योग्य ही दिलवाया है।" शास्ता बोले—"महाराज! शाक्यों ने अनुचित किया। दे तो समान-जाति की ही लड़की देनी चाहिये। लेकिन फिर भी इस बारे में कहता हूँ? वासभ-खत्तिया राज-पुत्री है, खत्तिय-राजा के घर में अभिषिक्त हुई। विडूडभ खत्तिय-राजा की ही सन्तान है। मातृ-गोत्र क्या करेगा? पितृ-गोत्र ही असली चीज है। पुराने पण्डितों ने लकड़ी लानेवाली दरिद्र-स्त्री को पटरानी बनाया है और उसकी कोख में पैदा हुआ कुमार बारह-योजन की वाराणसी का राजा बन कट्ठवाहन राजा हुआ।" इतना कह शास्ता ने कट्ठहारि-जातक[1] कही। राजा ने धार्मिक कथा सुन और यह सोच कि पिता का गोत्र ही असली चीज है, सन्तुष्ट हो, माता-पुत्र की फिर पूर्व सदृश व्यवस्था कर दी। राजा का बन्धुल नाम का सेनापति था। उसने अपनी मल्लिका नाम की भार्य्या को, बांझ होने के कारण कहा तू अपने

---

१. कट्ठहारि जातक (१.१.७.)।

मायके जा, और उसे कुसी-नारा ही भेज दिया। उसने 'शास्ता के दर्शन करके जाऊँगी' सोच, जेतवन जा, शास्ता को प्रणाम किया और एक ओर खड़ी हुई। शास्ता ने पूछा—"कहाँ जाती है ?"

"भन्ते। मुझे मायके भेज रहा है।"

"क्यों ?"

"बांझ हूँ, अपुत्री हूँ—इसलिये।"

"यदि ऐसा है तो जाने की जरूरत नहीं, रुक।"

वह सन्तुष्ट हो, शास्ता को प्रणाम कर घर लौट गई। स्वामी ने पूछा—"क्यों लौट आई ?" "स्वामी ! मुझे दस-बल (धारी) ने रोक लिया है।" सेनापति बोला—तथागत ने कुछ देखा होगा। उसे शीघ्र ही गर्भ रह गया और दोहद उत्पन्न हुआ। वह बोली—"मुझे दोहद उत्पन्न हुआ है।"

"क्या दोहद है ?"

"वैशाली नगर में गण-राजाओं की जो अभिषेक-मङ्गल-पुष्करिणी है, उसमें उतर, नहा, उसका पानी पीना चाहती हूँ। सेनापति बोला 'अच्छा' और हजार के बल का धनुष ले, उसे रथ पर चढ़ाकर, श्रावस्ती से निकल, रथ को हाँकता हुआ वैशाली पहुँचा।

उस समय कौशल-नरेश के बन्धुल सेनापति के साथ एक ही आचार्य्य-कुल में शिक्षा-प्राप्त महाली नाम का अन्धा लिच्छवि-लिच्छवियों को अर्थ और धर्म के बारे में सलाह देता था और द्वार के पास ही रहता था। उसने देहली में रथ की आवाज सुन कर सोचा—यह बन्धुल मल्ल के रथ की आवाज है। आज लिच्छवियों पर आपत्ति आयगी। तालाब के अन्दर-बाहर भारी पहरा था और ऊपर लोहे का जाल फैला था—पक्षियों तक के लिये भी जगह नहीं थी। सेनापति रथ से उतरा। उसने पहरेदारों पर खड्ग का प्रहार कर उन्हें भगा दिया और लोहे के जाल को काट डाला। फिर तालाब के अन्दर भार्य्या को नहला, पानी पिला, स्वयं भी स्नान कर, मल्लिका को रथ पर चढ़ा, नगर से निकल, आये रास्ते से ही वापिस चला गया। पहरेदारों ने जाकर लिच्छवियों से कहा। लिच्छवीराजाओं को क्रोध आया। पाँच सौ जने, पाँच-सौ रथों पर चढ़ कर निकले कि वन्धुलमल्ल को पकड़ेंगे। महाली को यह

वृत्तान्त कहा गया। वह बोला—"मत जाओ। वह सब को मारेगा।" वे बोले—"हम अवश्य जायेंगे।"

"तो जहाँ चक्र नाभि तक जमीन में धँस जाये, उस जगह से लौट आना, वहाँ से न लौटो तो आगे बिजली का-सा शब्द सुनाई देगा वहाँ से लौट आना, वहाँ से भी न लौटो तो तुम्हें अपने रथ के धुर में छिद्र दिखाई देगा, उस स्थान से लौट ही पड़ना। आगे न जाना।" वे उसके कथनानुसार नहीं लौटे। उन्होंने पीछा किया ही। मल्लिका ने देखकर कहा—"स्वामी! रथ दिखाई देते हैं।" "जब एक ही रथ की तरह दिखाई दें, तो कहना।" जब वे सब एक ही रथ की तरह दिखाई देने लगे तब उसने कहा—"स्वामी! एक ही रथ-शिखर दिखाई दे रहा है।" "तो यह रस्सियाँ पकड़" कह मल्ल ने उसे रस्सियाँ थमा, रथ पर खड़े ही खड़े धनुष चढ़ाया। रथ का पहिया नाभि तक पृथ्वी में चला गया। लिच्छवियों ने जाकर वह जगह देखी किन्तु वहाँ से पीछे नहीं मुड़े। दूसरे ने थोड़ा आगे बढ़कर (धनुष की) डोरी की टङ्कार की, बिजली की आवाज-सी आवाज हुई। वे वहाँ से भी नहीं मुड़े। पीछे लगे ही रहे। बन्धुल ने रथ पर खड़े ही खड़े एक तीर फेंका। उसने पाँच-सौ रथों के शिखर में छेद कर दिया और पाँच सौ राजाओं को पेटी बाँधने के स्थान पर बींध कर पृथ्वी में जा घुसा। वे बिना यह जाने कि वह बिंध गये हैं "अरे! ठहर, अरे। ठहर" कहते हुये उसके पीछे पड़े ही रहे। बन्धुल ने रथ रोककर कहा—"तुम मरे हुये हो। मरे हुओं के साथ मैं नहीं लड़ता हूँ।"

"क्या मरे हुए हमारे जैसे होते हैं?"

"तो जो सब से आगे है, उसकी पेटी खोलो।"

वह खोलते ही मर कर गिर पड़ा। तब उसने उन्हें कहा—"तुम सब इसी तरह के हो। अपने घर जाकर जो व्यवस्था करनी हो कर के, पुत्र-स्त्री को जो कहना हो कह-सुनकर, पेटी खोलो।" उन्होंने वैसा ही किया और उनका प्राणांत हुआ।

बन्धुल भी मल्लिका को श्रावस्ती ले आया। उसने सोलह बार जुड़वें पुत्रों को जन्म दिया। सभी शूर-बलवान् हुए। सभी शिल्पों में निष्णात

हुए । एक-एक के हजार-हजार आदमी थे । पिता के साथ राजभवन जाते तो उन्हीं से आँगन भर जाता ।

एक दिन कुछ मनुष्यों ने जिनके मुकदमे का ठीक निर्णय नहीं हुआ था और जो हार गये थे, बन्धुल को आते देख चीख-पुकार की और न्यायाधीश-अमात्यों के ठीक निर्णय न देने की बात उसे कही। उसने न्यायालय में जा मुकदमे का फ़ैसला कर स्वामी को ही स्वामी बनाया। जनता ने जोर-शोर से साधु-कार किया। राजा ने पूछा कि यह क्या है और उस वृत्तान्त के जानने पर संतुष्ट हो उन सभी अमात्यों को हटा उनके स्थान पर बन्धुल को ही न्यायाधीश नियुक्त किया। वह तब से ठीक-ठीक न्याय करने लगा। तब पुराने न्यायाधीशों ने रिश्वत न मिलने से अल्प-लाभी हो जाने के कारण राज परिवार के मन में फूट डाल दी कि बन्धुल राजा होना चाहता है । राजा ने उनकी बात सुनी तो वह अपने को संयत न रख सका । उसने सोचा—"यदि इसे यहीं मरवाऊंगा तो निन्दा होगी ।" फिर विचारकर उसने अपने भेजे हुए आदमियों से प्रत्यन्त-देश में बगावत कराई और बन्धुल को बुला भेजा—"प्रत्यन्त-देश में बगावत हो गई। अपने पुत्रों के साथ जाकर बागियों को पकड़ो ।" उसके साथ ही दूसरे शक्तिशाली योधाओं को भेजा--"बन्धुल और उसके बत्तीस पुत्रों के सिर काट कर यहीं ले आओ ।"

उसके प्रत्यन्त-देश में पहुँचते ही 'सेनापति आते हैं' सुन बगावत करने वाले आदमी भाग गये। वह उस प्रदेश को बसा, जनता को सन्तुष्ट कर वापिस लौटा। नगर से थोड़ी ही दूर पर उन योधाओं ने पुत्रों सहित उसका सिर काट डाला। उस दिन मालिका ने उन पाँच सौ भिक्षुओं सहित दोनों अग्र-श्रावकों को निमन्त्रण दिया था। पूर्वाह्न के समय ही उसे पत्र दिया गया--पुत्रों सहित तेरे स्वामी का सिर काट दिया गया। वह उस समाचार को जान, किसी को कुछ न कह, पुत्र को गोद में ले, भिक्षु संघ की सेवा में ही लगी रही। उसकी नौकरानी ने भिक्षुओं को भोजन दे, घी का बरतन लाते समय, स्थविरों के सामने हो घी की चाटी फोड़ दी। धर्म-सेनापति बोले--"चिन्ता न करो, जिसका फूटने का स्वभाव है, वह फूट गई ।"

मल्लिका ने गोद में से पत्र निकाल, दिखाते हुए उत्तर दिया--"बत्तीस पुत्रों सहित उनके पिता का सिर काट दिया है, ये यह पत्र लाये

हैं। भन्ते ! मैंने यह सुन कर भी चिन्ता नहीं की है। घी की चाटी के टूटने पर क्या चिन्ता करूँगी ?" धर्म-सेनापति ने "अनिमित्तं अनञ्ञातं" आदि कहा और धर्मोपदेश कर, उठकर, विहार चले गये। उसने भी अपनी बत्तीस पुत्र-वधुओं को बुलाकर कहा—"तुम्हारे निर्दोष स्वामियों ने अपना पूर्व-कर्म-फल पाया। तुम चिन्ता न करो और राजा के प्रति भी मन मैला न करो।" राजा के चर-पुरुषों ने यह बात सुन उनके निर्दोष होने की बात जाकर राजा से कही। राजा ने दुखी हो, उनके घर जा, मल्लिका और उन पुत्र-वधुओं से क्षमा माँग मल्लिका को वर दिया। उसने "लिया हो गया" कह राजा के चले जाने पर श्राद्ध किया। फिर नहाकर राजा के पास गई और बोली—"देव ! तुमने मुझे वर दिया है। मुझे और किसी वर से प्रयोजन नहीं है। मेरी बत्तीस पुत्र-वधुओं को और मुझे अपने मायके जाने दें।" राजा ने स्वीकार किया। उसने बत्तीस पुत्र-वधुओं को उनके मायके भेज दिया और स्वयं अपने मायके कुसीनारा नगर में गई। राजा ने बन्धुल मल्ल के भानजे दीघाकारयान को सेनापति पद दिया। लेकिन वह राजा से बदला लेने की चिन्ता में रहता था कि इसने मेरे मामा को मार दिया है। राजा को भी जब से उसने निरपराध बन्धुल की हत्या कराई थी, पश्चात्ताप रहता था। वह राज-सुख का अनुभव नहीं कर सकता था।

उस समय शास्ता शाक्यों के उलुम्प नामक निगम में विहार करत थे। राजा ने वहाँ पहुँच, आराम से कुछ ही दूर तम्बू लगा, थोड़े से अनुयायियों के साथ ही शास्ता को प्रणाम करने की इच्छा से बिहार जा, पाँचों राज-चिह्न कारयान को दिये और स्वयं अकेले ही गन्ध-कुटी में प्रवेश किया। यहाँ सब कुछ धर्म-चेतियसुत्त में वर्णित प्रकार से ही जानना चाहिये। जिस समय वह गन्धकुटी में था, कारयान ने वह राज-चिह्न ले विडूडभ को राजा बनाया और राजा के लिये एक घोड़ा और एक सेविका छोड़ श्रावस्ती चला आया। राजा शास्ता के साथ प्रिय बात-चीत करते रहने के अनन्तर जब बाहर निकला तो सेना को न देख उसने उस स्त्री से पूछा। उसे वह वृत्तान्त सुनने को मिला। उसने सोचा, भानजे को ले जाकर विडूडभ को पकडूंगा। वह राज-गृह जाते समय विकाल हो जाने

पर नगर-द्वारों के बन्द हो जाने के समय पहुँचने के कारण, बाहर एक शाला में ही पड़ रहा। हवा-धूप से थका हुआ वह रात को वहीं मर गया।

रात बीतने पर उस स्त्री का यह रोना सुनकर कि कोशल-नरेश अनाथ हो गया, राजा को सूचना दी गई। उसने बड़े ठाट-बाट से मामा का शरीर-कृत्य कराया।

विडूडभ को भी जब राज्य मिला तो उसे वह वैर याद आया। 'सभी शाक्यों को मारने' के उद्देश्य से वह बड़ी भारी सेना लेकर निकला। उस दिन शास्ता ने प्रातःकाल लोक का विचार करते हुये जातियों के विनाश की संभावना को देखा। उन्होंने सोचा कि जाति-वालों का उपकार करना चाहिये। इसलिये पूर्वाह्न के समय भिक्षाटन से लौट, गन्ध-कुटी में सिंह-शैय्या से लेट, शाम को आकाश से जा कपिलवस्तु की सीमा में एक कबरी-छाया वाले वृक्ष के नीचे बैठे। उसके पास ही विडूडभ की राज्य-सीमा में बड़ी शीतलछाया वाला गूलर का पेड़ था। विडूडभ ने शास्ता को देखकर पास जाकर प्रणाम किया और प्रार्थना की—"भन्ते! इस गरमी के समय इस छिछली छाया वाले वृक्ष के नीचे क्यों बैठे हैं? भन्ते! इस शीतल छाया वाले गूलर के नीचे बैठें।"

"महाराज! भले ही हो, किन्तु जाति-वालों की छाया शीतल है।"

विडूडभ समझ गया कि शास्ता जाति-वालों की रक्षा करने आये होंगे। वह शास्ता को प्रणाम कर, लौटकर श्रावस्ती ही चला गया। शास्ता भी आकाश-मार्ग से जेतवन चले गये।

राजा शाक्यों का दोष स्मरण कर दूसरी बार भी निकला। किन्तु शास्ता को वहीं देख लौट आया। तीसरी बार भी निकल शास्ता को वहीं देख लौट आया। चौथी बार उसके निकलने पर शास्ता ने शाक्यों के पूर्व-कर्म को देखा और यह जान कि उन्होंने जो नदी में विष फेंकने का पाप-कर्म किया था उसके फल से उनको नहीं बचाया जा सकता, वे चौथी बार नहीं गये। विडूडभ राजा ने दूध पीने वाले बच्चों से लेकर सभी शाक्यों को मार डाला और वह उनके गले के रक्त से तख्त को धोकर वापिस लौटा।

शास्ता के तीसरी बार लौटने के अगले दिन जब वह भिक्षाटन के बाद भोजन कर चुके थे और गन्धकुटी में विश्राम कर रहे थे तो (चारों) दिशाओं

से इकट्ठे हुए भिक्षु धर्म-सभा में बैठ शास्ता की प्रशंसा करने लगे—"आयुष्मानो ! शास्ता ने अपने आपको दिखाकर राजा को रोक दिया और जातिवालों को मृत्यु-भय से मुक्त किया। इस प्रकार शास्ता जातिवालों के उपकारक हैं।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ ! बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ ! तथागत ने न केवल अभी जाति वालों का उपकार किया है, पहले भी किया ही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा, धर्मानुसार राज्य करता हुआ एक दिन सोचने लगा—"जम्बूद्वीप के राजागण अनेक खम्भों वाले महलों में रहते हैं। इसलिये अनेक खम्भों-वाला महल बनवाने में कुछ विशेषता नहीं है। मैं एक खम्भे वाला महल बनवाऊँ। (इस प्रकार) मैं सब राजाओं में अग्र-राजा हो जाऊँगा।" उसने बढ़इयों को बुलाकर कहा—"मेरे लिये बहुत सुन्दर, एक खम्भेवाला महल बनाओ।" उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और जंगल में जाकर सीधे, मोटे, बहुत से ऐसे पेड़ों को देखा जिनसे एक खम्भेवाला महल बनाया जा सके। उन्होंने सोचा—"ये वृक्ष तो हैं, किन्तु रास्ता टेढ़ा है। हम इन्हें नीचे नहीं ला सकते। राजा को कहेंगे।" जब उन्होंने राजा से कहा तो राजा बोला—"किसी भी उपाय से धीरे-धीरे नीचे लाओ।"

"देव ! किसी भी उपाय से नहीं ला सकते।"

"तो मेरे बाग में से कोई एक वृक्ष चुनो।"

बढ़इयों ने उद्यान में पहुँच एक वृक्ष देखा—अच्छी प्रकार उगा हुआ, सीधा, ग्राम-निगम द्वारा पूजित राजकुल तक से बलि-प्राप्त, मङ्गल-शाल वृक्ष। उन्होंने राजा के पास जाकर इस बात की सूचना दी। राजा बोला—"उद्यान का वृक्ष मेरा है। जाओ उसे काट डालो।" उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और हाथ में गन्ध-माला आदि ले, उद्यान जा, वृक्षों पर सुगन्धित पंचंगुल-चिह्न दे, धागे से घेर, पुष्प-कर्णिका लटका, दीपक जला, बलि-कर्म करके सुनाया—"आज से सातवें दिन आकर वृक्ष काटेंगे। राजा

कटवाता है । इस वृक्ष पर रहने वाले देवता अन्यत्र चले जायें । हमारा दोष नहीं है ।"

तब वहाँ रहने वाले देव-पुत्र ने यह बात सुन सोचा— "ये बढ़ई अवश्य ही इस वृक्ष को काट डालेंगे । मेरे निवास-स्थान को नष्ट कर देंगे । मेरा जीना तभी तक है जब तक मेरा निवास-स्थान है । इस वृक्ष को घेर कर जो बहुत से तरुण शाल-वृक्ष हैं, उन पर रहने वाले मेरी जाति के देवताओं के भी बहुत से निवास-स्थान नष्ट हो जायेंगे । मुझे अपना विनाश उतना कष्ट नहीं देता जितना जाति वालों का । इसलिये मुझे उनके जीवन की रक्षा करनी चाहिये ।" वह आधी रात के समय, दिव्य अलङ्कारों से सज, राजा के शयनागार में पहुँचा और सारे कमरे को प्रकाशित कर राजा के सिरहाने खड़ा हो रोने लगा । राजा ने उसे देखा तो वह डरा । उससे बातचीत करते हुए राजा ने पहली गाथा कही—

> का त्वं सुद्धेहि वत्थेहि, अघे वेहासयं ठिता,
> केन त्यस्सूनि वत्तन्ति, कुतो तं भयमागतं ॥१॥

[हे आकाशचारी ! तू शुद्ध वस्त्र पहने हुये कौन है ? किस कारण तेरे आँसू बह रहे हैं ? तुझ पर कहाँ से विपत्ति आई है ? ॥१॥]

यह सुन देवराज ने दो गाथायें कहीं—

> तवेव देव विजिते भद्दसालोति मं विदू,
> सट्ठिं वस्ससहस्सानि तिट्ठतो पूजितस्स मे ॥२॥
> कारयन्ता नगरानि अगारे च दिसम्पति,
> विविधे चापि पासादे न मं ते अच्चमञ्जिसुं,
> यथेव मं ते पूजेसुं तथेव त्वं पि पूजय ॥३॥

[हे देव ! तेरे राज्य में ही आदृत होकर रहते हुये मुझे साठ हजार वर्ष गुजर गये । मुझे भद्दसाल कहते हैं ॥२॥ हे राजन् ! नगर बनवाते समय, (भूमि) गृह बनवाते समय तथा नाना प्रासाद बनवाते समय मुझे उन (पुराने राजाओं) ने कष्ट नहीं दिया । जैसे उन्होंने मेरी पूजा की, वैसे ही तू भी पूजा कर ॥३॥]

तब राजा ने दो गाथायें कहीं—

तं च अहं न पस्सामि थुल्लं कायेन ते दुमं,
आरोहपरिणाहेन अभिरूपो सि जातिया ॥४॥
पासादं कारयिस्सामि एकत्थम्भं मनोरमं,
तत्थ तं उपनेस्सामि, चिरं ते यक्ख जीवितं ॥५॥

[तुम्हारे वृक्ष जैसा मोटा वृक्ष मुझे और नहीं दिखाई देता। तुम्हारा वृक्ष लम्बा-चौड़ा है और उसकी उत्पत्ति सुन्दर है ॥४॥ मैं एक खम्भे वाला सुन्दर महल बनवाऊँगा और तुझे वहाँ ले चलूँगा। हे यक्ष ! (वहाँ) तू चिरकाल तक जीवित रहेगा ॥५॥]

यह सुन देव-राजा ने दो गाथायें कही—

एवं हेतं उदपादि सरीरेन विनाभवो,
पुथुसो मं विकन्तेत्वा खण्डसो अवकन्तथ ॥६॥
अग्गे च छेत्वा मज्झे च पच्छा मूलं विछिन्दथ,
एवं मे छिज्जमानस्स न दुक्खं मरणं सिया ॥७॥

[यदि (तुम्हारे मन में) मुझे शरीर से पृथक् करने (अर्थात् मार डालने) का संकल्प ही पैदा हुआ है, तो मुझे बहुत काट कर मेरे टुकड़े-टूकड़े कर देना ॥६॥ पहले अगला हिस्सा काट कर, फिर बीच में से और अन्त में जड़ को काटना—इस प्रकार काटने से मेरा मरण दुःखपूर्ण नहीं होगा ॥७॥]

तब राजा ने दो गाथायें कहीं—

हत्थ पादं यथा छिन्दे, कण्णनासं च जीविते,
ततो पच्छा सिरो छिन्दे, तं दुक्खं मरणं सिया ॥८॥
सुख नु खण्डसो छिन्नं, भद्दसाल वनस्पति,
किं हेतु कं उपादाय, खण्डसो छिन्नं इच्छसि ॥९॥

[जीते जी हाथ-पाँव काट कर, कान-नाक काटे और उसके बाद सिर काटे, तो वह मरण तो दुःखपूर्ण होता है ॥८॥ हे भद्रसाल वनस्पति ! क्या टुकड़े-टुकड़े करके काटा जाना सुखपूर्ण होता है ? क्या हेतु है, क्या कारण है कि तू टुकड़े-टुकड़े कटना चाहता है ? ॥९॥]

भद्रसाल ने उसे उत्तर देते हुये दो गाथायें कहीं—

यञ्च हेतुं उपादाय हेतुं धम्मूपसंहितं,
खण्डसो छिन्नमिच्छामि महाराज सुणोहि मे ॥१०॥

जाति मे सुखसंवद्धा, मम पस्से निवातजा,
ते पिहं उपहिंसेय्यं, परेसं अस्स दुमोचितं ॥११॥

[हे महाराज ! जिस धार्मिक हेतु के कारण मैं टुकड़े-टुकड़े करके काटे जाने की इच्छा रखता हूँ, सुनें ॥१०॥ मेरे पार्श्व में धूप-हवा से बचकर सुखपूर्वक बढ़े हुये मेरे जाति-वाले वृक्ष हैं। मैं (एक बार ही जड़ से काटे जाने पर, उन पर गिर कर) उनकी हिंसा कर सकता हूँ, और उनका दुःख बढ़ सकता है ॥११॥]

यह सुन राजा ने सोचा—यह देव-पुत्र धार्मिक है, अपने निवास-स्थान के नष्ट होने पर भी जाति-वालों का निवास-स्थान नष्ट हुआ (देखना) नहीं चाहता, जातिवालों का उपकार करता है। मैं इसे अभय करूँगा। उसने सन्तुष्ट हो अन्तिम गाथा कही—

चेतब्बरूपं चेतसि, भद्दसाल वनस्पति,
हितकामोसि जातीनं, अभयं सम्म ददामि ते ॥१२॥

[हे भद्रसाल वनस्पति! जो सोचना उचित है, वही तू सोचता है, तू जाति-वालों का हितचिन्तक है। हे मित्र ! मैं तुझे अभय करता हूँ ॥१२॥]

देव-राज राजा को धर्मोपदेश दे गया। राजा ने उसके उपदेशानुसार चल दानादि पुण्य करते हुए स्वर्ग-लाभ किया।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला 'भिक्षुओ, इस प्रकार पहले भी तथागत ने रिश्तेदारों का उपकार किया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था, तरुण-शाल वृक्षों में उत्पन्न देवतागण बुद्ध परिषद्। और भद्रसाल देवराज तो मैं ही था।

-----

४६६. समुद्दवाणिज जातक

"**कसन्ति वषन्ति ते जना......**" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के पाँच-सौ कुलों को लेकर नरक में जाने के बारे में कहा।

क. वर्त्तमान कथा

वह अग्र-श्रावकों के परिषद् लेकर चले जाने पर शोक को सहन न कर सका। उसके मुंह से गर्म खून निकला। वह भारी रोग से पीड़ित हो गया। तब वह तथागत के गुणों को याद कर सोचने लगा—"मैंने ही नौ महीने तक तथागत का अनर्थ चाहा, शास्ता के मन में मेरे प्रति कुछ पाप नहीं है, अस्सी महास्थविरों के मन में भी मेरे प्रति द्वेष नहीं है, अपने ही किये गये कर्म के कारण मैं अब अनाथ हो गया, शास्ता ने भी मुझे त्याग दिया, महास्थविरों ने भी, श्रेष्ठ-सम्बन्धी राहुल स्थविर ने भी और शाक्य-राजकुलों ने भी। जाकर शास्ता से क्षमा माँगूंगा।" उसने अपनी मण्डली को इशारा किया और चारपाई उठवाकर रात-रात को चलता हुआ कोशल-नगर पहुँचा। आनन्द स्थविर ने शास्ता से निवेदन किया—"भन्ते! देवदत्त आप से क्षमा माँगने आ रहा है।" "आनन्द! देवदत्त को मेरा दर्शन न मिलेगा।" उसके श्रावस्ती पहुँचने पर स्थविर ने फिर निवेदन किया। भगवान् ने भी वैसे ही उत्तर दिया। जब वह जेतवन-द्वार पर जेतवन-पुष्करिणी के समीप पहुँचा, तो उसका पाप का घड़ा भर गया—शरीर में जलन पैदा हुई। नहाकर पानी पीने की इच्छा से उसने कहा—"आयुष्मानो! चारपाई उतारो, पानी पीऊँगा।" उतारकर पृथ्वी पर रखते ही जब उसे चित्त की विश्रान्ति नहीं मिली थी, महा-पृथ्वी फट गई। उसी समय अबाचि नरक से ज्वालाओं ने उठकर उसे घेर लिया। उसने 'मेरा पाप का घड़ा भर गया' सोच तथागत के गुणों को याद कर इस गाथा से तथागत की शरण ग्रहण की—

इमेहि अट्ठीहि तं अग्गपुग्गलं,
देवातिदेवं नरदम्मसारथिं।
समन्तचक्खुं सतपुञ्ञलक्खणं,
पाणेहि बुद्धं सरणं उपेमि ॥

वह शरण ग्रहण करने के साथ ही अवीचि-गामी हुआ। उसके पाँच सौ सेवक-परिवार थे। वे कुल भी उसी के पक्ष के होकर तथागत को गाली देते और अपमानित करते थे, इसलिये वे भी अवीचि में पैदा हुए। इस प्रकार वह पाँच सौ कुलों सहित अवीचि में प्रतिष्ठित हुआ।

एक दिन धर्म-सभा में भिक्षु बैठे बात-चीत कर रहे थे—"आयुष्मानों! पापी देवदत्त ने लाभ के प्रति लोभी होने के कारण, सम्यक् सम्बुद्ध से अकारण द्वेष किया और भावी-भय की ओर नहीं देखा। वह पाँच सौ कुलों के साथ अवीचि-गामी हुआ।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओं, देवदत्त ने लाभ-सत्कार के प्रति लोभी होने के कारण भावी भय को नहीं देखा। पूर्व-जन्म में भी भावी भय की ओर न देख 'वर्त्तमान सुख' के लोभ के ही कारण परिषद् सहित महाविनाश को प्राप्त हुआ' कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय वाराणसी से थोड़ी ही दूर हजार परिवारों वाला बढ़इयों का महाग्राम था। वहाँ के (कुछ) बढ़इयों ने, 'तुम्हारी चारपाई बनायेंगे, तुम्हारा पीढ़ा बनायेंगे, तुम्हारा घर बनायेंगे' कह आदमियों के हाथ से बहुत-सा ऋण ले लिया, किन्तु कुछ भी करके नहीं दे सके। मनुष्य जिस-जिस बढ़ई को देखते उस पर दोषारोपण करते, उसे कष्ट देते। कर्जख्वाहों से पीड़ित (वहाँ) रहने में असमर्थ समझ बढ़इयों ने सोचा—विदेश जाकर कहीं रहेंगे। उन्होंने जंगल जाकर वृक्ष काटे। बड़ी नौका बाँध, उतार कर लाये और उसे गाँव से पौने योजन की दूरी पर रोका। फिर आधी रात के समय गाँव में आकर, स्त्री-बच्चों को ले, नौका के स्थान पर पहुँचे और उस नौका पर चढ़कर क्रमशः महासमुद्र में प्रवेश किया। वे वायु के अनुसार विचरते-विचरते समुद्र में एक द्वीप पर जा पहुँचे।

उस द्वीप में स्वयं उत्पन्न धान, ऊख, केला, आम, जामुन, कटहल तथा नारियल आदि नाना प्रकार के फलाफल थे। एक और आदमी जिसकी नौका टूट गई थी, पहले से उस द्वीप में पहुँचा हुआ था। वह शाली आदि का भोजन करता और ऊख आदि खाता था—मोटा शरीर, नंगा और बढ़े हुए केश तथा दाढ़ी के बालों वाला। बढ़इयों ने सोचा—"यदि यह द्वीप किसी राक्षस के अधिकार में होगा तो हम सब विनाश को प्राप्त होंगे। हम इसकी परीक्षा करें।" तब सात आदमियों ने जो शूर थे, बलवान थे, पाँच आयुध बांधे और उतरकर द्वीप को घेर लिया। उस समय वह आदमी प्रातःकाल का भोजन खा चुकने पर ऊख का रस पीकर, सुखपूर्वक रमणीय प्रदेश में चाँदी के तख्ते जैसी बालुका पर शीतल छाया में सीधा लेटा हुआ "जम्बू द्वीपवासी हल चलाते हैं, बीज बोते हैं, तो भी इस प्रकार का सुख नही प्राप्त करते, जम्बू द्वीप से मेरे लिए यह द्वीप ही अच्छा है" गाता हुआ उल्लास-वाक्य कह रहा था।

शास्ता ने भिक्षुओं को संबोधित कर—"भिक्षुओं, उस आदमी ने उल्लास वाक्य कहा" प्रकट करते हुए पहली गाथा कही—

कसन्ति वपन्ति ते जना,
मनुजा कम्मफलूपजीविनो।
नयिमस्स रट्ठस्स भागिनो,
जम्बुदीपा इदमेव नो वरं ॥१॥

[वे कर्म-फल के अनुसार जीने वाले जम्बुद्वीपवासी जन हल जोतते हैं, बीज बोते हैं। इस राष्ट्र के रहने वाले ऐसा नहीं करते। जम्बुद्वीप से यही द्वीप अच्छा है ॥१॥]

उस द्वीप को घेरे मनुष्यों ने उस गीत की आवाज सुन सोचा—मनुष्य की आवाज प्रतीत होती है, पता लगायें। वे आवाज के अनुसार गये और उस पुरुष को देखकर समझा कि यक्ष होगा। उन्होंने तीर चढ़ा लिये। वह भी उन्हें देख मरने के भय से डरा और बोला—"स्वामी! मैं यक्ष नहीं हूँ, पुरुष हूँ। मुझे जीवनदान दें"। जब उससे पूछा गया कि क्या पुरुष तुम्हारी तरह नंगे रहने वाले होते हैं, तो उसने बार-बार कहकर अपना मनुष्य होना प्रकट किया। उन्होंने उसके पास जाकर कुशल-क्षेम पूछ

उससे प्रश्न किया कि वह वहाँ कैसे आया ? उसने उन्हें सच-सच बताकर कहा—"तुम अपनी पुण्य सम्पत्ति के कारण यहाँ आ पहुँचे। यह एक उत्तम द्वीप है। यहाँ अपने हाथ से काम करके जीना नहीं होता। अपने ही पैदा होने वाले धान और ऊख आदि का यहाँ अन्त नहीं है। अनुद्विग्न हो कर रहो।"

"क्या यहाँ रहने से हमें कोई और खतरा नहीं है ?"

"और तो भय नहीं है ! लेकिन यह अमनुष्य-गृहीत है। अमनुष्य तुम्हारा पेशाब-पाखाना देखकर क्रोधित हो सकते हैं। इसलिए पेशाब-पाखाना करते हुये बालू हटाकर उसे बालू से ढक देना। यहाँ इतना ही डर है, और नहीं। नित्य अप्रमादी रहना।"

वे वहाँ रहने लग गये। उन हजार परिवारों में से पाँच-पाँच सौ परिवारों में ज्येष्ठ दो बढ़ई थे। उनमें से एक था मूर्ख, रस-लोभी, दूसरा था पंडित, रसों में अनासक्त। आगे चलकर वे सब सुखपूर्वक रहते हुए मोटा गये और सोचने लगे—"चिरकाल तक[1] ऊख के रस से शरबत बनाकर पीयें।" उन्होंने शराब बना कर पी और नशे में गाते-नाचते, खेलते मद-मस्त हो जहाँ-तहाँ पेशाब-पाखाना कर दिया। उन्होंने उसे ढका नहीं और इस प्रकार उस द्वीप को घृणित बना दिया। देवताओं को क्रोध आया कि ये हमारे क्रीड़ा-स्थल को घृणित बना रहे हैं। उन्होंने तय किया कि वह समुद्र में उतारकर द्वीप को धोयेंगे। फिर दिन का निश्चय करते हुये निर्णय किया—यह कृष्ण-पक्ष है। आज हमारी सभा भी विसर्जित हो गई है। अब पन्द्रहवें दिन, पूर्णिमा-उपोसथ के दिन, जिस समय चन्द्रमा उदय होगा, इन सबको समुद्र में डुबोकर मार डालेंगे।" उनमें एक धार्मिक देव-पुत्र था। उसने सोंचा—ये मेरे देखते-देखते नष्ट न हों। उसने दया करके जब लोग शाम का भोजन करके गृह-द्वार में बैठे सुखपूर्वक वार्त्तालाप कर रहे थे, सारे अलङ्कारों से युक्त हो और सारे जम्बुद्वीप को प्रकाशित कर उत्तर-दिशा के आकाश में खड़े हो कहा—"हे बढ़इयो ! देवता तुम पर क्रुद्ध हैं। इस स्थान पर मत रहो। अब से पन्द्रह दिन के बाद ही देवता

१. यहाँ पाठ कुछ अस्पष्ट है।

तुम सब को समुद्र में डुबोकर मार देंगे। यहाँ से निकल कर भाग जाओ।"
उसने दूसरी गाथा कही—

तिपञ्चरत्तूपगमम्हि चन्दे,
वेगो महा होहिति सागरस्य।
उपलापयं दीपं इमं उलारं,
मा वो वधी, गच्छथ लेनमञ्ञं ॥२॥

[चन्द्रमा के पन्द्रह रात्रियाँ व्यतीत करने पर सागर का वेग महान् हो जायगा। (देवता-गण) इस बड़े द्वीप को डुबा कर तुम्हें मार न दें, किसी दूसरे स्थान पर चले जाओ ॥२॥]

इस प्रकार वह उन्हें उपदेश दे अपने स्थान को चला गया। उसके चले जाने पर दूसरे साथी देव-पुत्र ने जो कठोर हृदय था, सोचा—इसकी बात मानकर ये भाग भी जा सकते हैं। मैं इनका जाना रोक इन्हें सबको नष्ट कराऊँगा। उसने सभी अलङ्कारों से मण्डित हो, सारे गाँव को प्रकाशित कर, आकर दक्षिण दिशा में आकाश में खड़े हो पूछा—"यहाँ एक देव-पुत्र आया था?" "आया था" कहने पर पूछा—"उसने तुम्हें क्या कहा?" "स्वामी! यह कहा" बताने पर बोला—"वह नहीं चाहता कि तुम यहाँ रहो। वह क्रोध से कहता था। तुम अन्यत्र न जाकर यहीं रहो।" उसने दो गाथायें कहीं—

न जातयं सागरवारिवेगो,
उप्पाटये दीपं इमं उळारं।
तं मे निमित्तेहि बहूहि दिट्ठं,
मा भेथ, किं सोचथ, मोदथव्हो ॥३॥
पहूतभक्खं बहुअन्नपानं,
पतत्थ आवासमिमं उळारं।
न वो भयं पटिपस्सामि किञ्चि,
आपुत्तपुत्तेहि पमोदथव्हो ॥४॥

[यह निश्चय है कि इस सागर के जल का वेग इस बड़े द्वीप को नहीं उजाड़ेगा। मैंने यह बात अनेक लक्षणों से जानी है। डरो मत। क्या सोचते हो? आनन्द करो ॥३॥ तुम इस बड़े भोजन-सामग्री, बहुल-अन्नपान,

बहुल निवास-स्थान को प्राप्त हुये हो। मैं तुम्हारे लिये कोई भय का कारण नहीं देखता। तुम पुत्र-पोतों तक प्रसन्नतापूर्वक रहो ॥४॥]

इस प्रकार वह इन दो गाथाओं द्वारा उन्हें आश्वासन दे चला गया। उसके चले जाने पर धार्मिक देवपुत्र की बात न मान मूर्ख बढ़ई ने सब बढ़इयों को बुला कर "आप मेरा कहना सुनें" कह पाँचवीं गाथा कही—

यो त्वेव अयं दक्खिणायं दिसायं,
खेमं पक्कोसति तस्स सच्चं।
न उत्तरो वेदि भयाभयस्स,
मा भेथ, किं सोचथ, मोधव्हो ॥५॥

[यहाँ जो दक्षिण-दिशा में खड़े होकर कल्याण की बात कहता है उसका कहना ठीक है। भयाभय की बात को उत्तर-दिशा वाला नहीं जानता। मत डरो, क्या सोचते हो; प्रसन्न होओ ॥५॥]

यह सुन उन पाँच सौ रस-लोभी बढ़इयों ने उस मूर्ख का कहना स्वीकार कर लिया। लेकिन दूसरे पण्डित बढ़ई ने उस कथन को अस्वीकार कर उन बढ़इयों को बुला चार गाथायें कहीं—

यथा इमे विप्पवदन्ति यक्खा
एको भयं संसति खेमं एको।
तदिङ्घ मय्हं वचनं सुणाथ,
खिप्पं लहुं मा विनसिह सब्बे ॥६॥

[जिस प्रकार ये यक्ष परस्पर विरोधी बात कहते हैं—एक भय की बात कहता है, एक कल्याण की। उस बारे में मेरा वचन सुनें—हम सभी शीघ्र एकदम नाश को प्राप्त नहीं होंगे ॥६॥]

सब्बे समागम्म करोम नावं,
दोणिं दळहं सब्बयन्तूपपन्नं।
सचे अयं दक्खिणो सच्चं आह,
मोघं पटिक्कोसति उत्तरायं ॥७॥

[हम सब मिलकर सब यन्त्रों से युक्त दृढ़ द्रोणिवाली नौका बनायें। यदि

यह दक्षिण (वाला) सत्य कहता है तो यह जो उत्तर (वाला) कहता है, वह बेकार है ॥७॥]

सा चेव नो होहिति आपदत्था,
इमं च दीपं न परिच्चजेम।
सचे व खो उत्तरो सच्चं आह,
मोघं पटिक्कोसति दक्खिणायं।
तमेव नावं अभिरुव्ह सब्बे,
एवं मयं सोत्थि तरेमु पारं ॥८॥

[यदि हम पर वह आपत्ति नहीं आयेगी, तो इस द्वीप को नहीं छोड़ेंगे। यदि उत्तर (वाला) सत्य कहता है तो यह दक्षिण (वाला) बेकार बोलता है। हम सब उसी नौका पर चढ़ेंगे। इस प्रकार हम सकुशल पार पहुँच जायेंगे ॥८॥]

न वे सुगण्हं पठमेन सेट्ठं,
कनिट्ठं, आपाथगतं गहेत्वा।
यो चीध मञ्ञं पविचेय्य गण्हति,
स वे नरो सेट्ठं उपेति ठानं ॥९॥

[पहले जो-जो कहा, उसे ही सत्य समझना भी ठीक नहीं, इसी प्रकार दूसरे ने जो कहा, उसे भी। जो कान में पड़े उसे लेकर जो विचारपूर्वक सत्य को ग्रहण करता है, वही आदमी श्रेष्ठ पद को प्राप्त करता है ॥९॥]

इस प्रकार कह कर उसने आगे कहा—"भो ! हम दोनों देवपुत्रों का कहना करेंगे। अभी नौका तैयार कर दें। तब यदि पहले का कहना ठीक होगा, तो नौका पर चढ़ कर भाग जायेंगे; यदि दूसरे का कहना ठीक होगा तो नौका को एक ओर रख कर यहीं रहेंगे।" ऐसा कहने पर मूर्ख बढ़ई बोला—"भो ! तुम तो पानी की थाली में मगरमच्छ देखते हो, अति-दीर्घदर्शी हो। पहले देवपुत्र ने जो कुछ कहा, वह हमारे प्रति रोष के कारण कहा। पिछले ने स्नेह के कारण। इस प्रकार के इस श्रेष्ठ द्वीप को छोड़ कर कहाँ जायेंगे ? यदि तुम जाना चाहते हो तो अपनी मण्डली को लेकर नौका बना लो। हमें नौका से प्रयोजन नहीं है।" पण्डित-बढ़ई ने अपनी मण्डली ले, नौका तैयार की और सब सामान को नौका पर चढ़ा अपनी

मण्डली सहित नौका में खड़ा हुआ। तब पूर्णिमा के दिन चांद के उगने के समय समुद्र से लहरें उठीं और जांघ तक ऊँची हो द्वीप को धोकर गयीं। पंडित-बढ़ई ने समुद्र के उतरने की बात जान नौका छोड़ी। मूरख-बढ़ई के पक्ष के पांच सौ परिवार बैठे यही करते रहे—समुद्र से लहरें द्वीप को धोने के लिए आयीं, बस यह इतना ही है। तब कमर तक ऊँची, फिर पुरुष-प्रमाण, फिर ताड़-प्रमाण, फिर सात ताड़-प्रमाण की लहरें द्वीप को ही बहाती हुई आईं। पण्डित-बढ़ई उपाय-कुशल होने से रस के प्रति अनासक्त हो सकुशल लौटा। मूर्ख बढ़ई रस-लोभी होने से भावी भय को न देख पांच सौ परिवारों के साथ विनाश को प्राप्त हुआ।

इसके आगे की तीन गाथायें उपदेश-परक सम्बुद्ध गाथायें हैं—

यथापि ते सागरवारिमज्झे,
सकम्मना सोत्थि वहिंसु वाणिजा।
अनागतत्थं पटिविज्झि यान,
अप्पं पि नाच्चेति स भूरिपञ्ञो ॥१०॥

बाला च मोहेन रसानुगिद्धा,
अनागतं अप्पटिविज्झय अत्थं।
पच्चुप्पन्ने सीदन्ति अत्थे जाते,
समुद्दमज्झे यथा ते मनुस्सा ॥११॥

अनागतं पटिकयिराथ किच्चं,
मा मं किच्चं किच्चकाले ब्यधासि।
तं तादिसं पटिकतकिच्चकारिं,
न तं किच्चं किच्चकाले व्यधेति ॥१२॥

[जिस प्रकार सागर के जल में व्यापारी अपने कर्म के परिणाम स्वरूप सकुशल रहे, उसी प्रकार प्रज्ञावान् आदमी भावी अर्थ का विचार कर अपनी थोड़ी भी हानि नहीं करता ॥१०॥ मूर्ख आदमी अपनी मूढ़ता के कारण रस में आसक्त होकर भावी अर्थ का विचार न कर वर्त्तमान में जो बात पैदा होती है, उसी में डूब जाता है, जैसे वे मनुष्य समुद्र में (डूब गये) ॥११॥ भविष्य के लिये (कल्याणकारी) कर्तव्य को करे जिससे कृत्य के

समय न किया गया कृत्य वाधक न हो । जो भविष्य के लिये कल्याणकारी कृत्य करता है, उसे कृत्य के समय कृत्य बाधा नहीं पहुँचाता ॥१२॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओ, न केवल अभी किन्तु पहले भी देवदत्त वर्तमान-सुख के प्रति आसक्त हो, भविष्य की ओर न देख मण्डली सहित विनाश को प्राप्त हुआ" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय मूर्ख-बढ़ई देवदत्त था। दक्षिण-दिशा में खड़ा हुआ अधार्मिक देवपुत्र कोकालिक था, उत्तर-दिशा में खड़ा देव-पुत्र सारिपुत्र था और पण्डित-बढ़ई तो मैं ही था।

———

४६७. काम जातक

"कामं कामयमानस्स......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक ब्राह्मण के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक श्रावस्ती-वासी ब्राह्मण अचिरवती के किनारे खेत के लिये जंगल काटता था। शास्ता ने उसकी मार्ग-फल-प्राप्ति की संभावना को देखा और श्रावस्ती में पिण्डपात के लिये प्रवेश करते समय मार्ग से हट उसका कुशल समाचार जान पूछा--"ब्राह्मण ! क्या करता है ?"

"गौतम ! खेत के लिये जगह करवा रहा हूँ।"

"अच्छा ब्राह्मण ! काम कर" कह चले गये।

इसी प्रकार कटे वृक्षों को ढो ले जाकर खेत को साफ करने के समय, हल चलाने के समय और मेढ़ बाँधने के समय बार-बार जाकर उससे कुशल-क्षेम की वार्त्ता की। बीज-बोने के दिन ब्राह्मण बोला--"गौतम ! आज मेरा बीज बोने का मङ्गल दिन है। मैं इस फसल के उगने पर बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को महान् दान दूँगा।" शास्ता स्वीकार कर चले गये। फिर एक दिन जब ब्राह्मण फसल की रखवाली कर रहा था, जा पूछा—"ब्राह्मण ! क्या कर रहा है ?" ब्राह्मण बोला—"गौतम ! खेत की रखवाली कर रहा हूँ।" "ब्राह्मण ! अच्छा" कह चले गये। तब ब्राह्मण ने सोचा—"श्रमण गौतम बार-बार आता है। निश्चय से भातार्थी है। मैं उसे भात दूँगा।" इस प्रकार सोचकर जिस दिन वह घर गया, शास्ता भी उस दिन वहाँ पहुँचे। ब्राह्मण के मन में अतीव विश्वास उत्पन्न हो गया। आगे चलकर जब फसल तैयार हो गई, तो ब्राह्मण के यह निश्चय करके लेटने पर कि कल फसल काटेंगे, अचिरवती के ऊपर सारी रात मूसलाधार वर्षा बरसी। बाढ़ आई और एक नली-मात्र भी फसल बाकी न छोड़ सारी फसल समुद्र में बहा ले गई। ब्राह्मण ने जब देखा कि बाढ़ ने आकर सारी फसल नष्ट कर दी तो

वह अपने को संभाले न रख सका। अति शोकाकुल हो, हाथ से छाती पीट, रोता-पीटता घर पहुँचा और लटकर प्रलाप करने लगा। शास्ता प्रातःकाल शोकाभिभूत ब्राह्मण को देख, उसकी सहायता करने की इच्छा से, अगले दिन भिक्षाटन से लौट, भिक्षुओं को विहार में भेज, अनुगामी भिक्षु के साथ उसके गृह-द्वार पर पहुँचे। ब्राह्मण ने सुना तो सोचा कुशल-क्षेम जानने के लिये मेरा मित्र आया होगा। उसे संतोष हुआ और उसने आसन बिछवा दिया। शास्ता ने (घर में) प्रवेश कर, बिछे आसन पर बैठ पूछा—"ब्राह्मण ! उदास क्यों है ? तुझे क्या कष्ट है ?" "गौतम ! अचिरवती के किनारे वृक्ष काटने से लगाकर जो कुछ मैंने किया वह सब आपको ज्ञात है। मैंने सोचा था कि यह फसल पकने पर आपको दान दूँगा। अब मेरी वह सारी फसल बाढ़ के कारण समुद्र में चली गई। कुछ भी नहीं बाकी रहा। सौ गाड़ी धान नष्ट हो गया। इसी से मैं शोकाकुल हुआ।"

"क्या ब्राह्मण ! चिन्ता करने से नष्ट हुआ लौट आयेगा।"

"गौतम ! नहीं।"

"ऐसा होने पर क्यों सोच करता है ? प्राणियों के लिये धन-धान्य उत्पत्ति के समय उत्पन्न होता है, नष्ट होने के समय नष्ट होता है। कोई भी संस्कार अविनाशी नहीं। चिन्ता न कर।" इस प्रकार शास्ता ने उसे आश्वासन दे, उसके लिये उचित धर्मोपदेश दिया और काम-सूत्र का प्रवचन किया। सूत्र के अन्त में विचार करके ब्राह्मण स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। शास्ता उसे शोक-रहित कर, आसन से उठकर बिहार चले गये।

'शास्ता ने अमुक शोकाकुल ब्राह्मण को शोक-रहित कर दिया'—यह बात सारे नगर में फैल गई। धर्म-सभा में बैठे हुए भिक्षुओं ने बातचीत चलाई—आयुष्मानो ! उस बलधारी ने ब्राह्मण के साथ मैत्री कर, उसका विश्वासी बन, एक ढंग से उस शोकाभिभूत को धर्मोपदेश दे, शोकरहित कर स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित किया। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ बैठे क्या बात चीत कर रहे हो ?" "अमुक बात चीत" कहने पर "भिक्षुओ, न केवल अभी, मैंने इसे पहले भी शोक-रहित किया है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के दो पुत्र थे। उसने ज्येष्ठ को उपराजा बनाया और कनिष्ठ को सेनापति। आगे चलकर ब्रह्मदत्त के मर जाने पर अमात्यों ने ज्येष्ठ के राज्याभिषेक की तैयारी की। वह बोला—"मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं। छोटे भाई को दे दो।" बार-बार आग्रह करने पर भी उसने स्वीकार नहीं किया। जब छोटे भाई को राजा बना दिया गया तो उसने यह कहकर कि 'मुझे ऐश्वर्य्य आदि की आवश्यकता नहीं' उपराजा होने की भी इच्छा नहीं की। "तो अच्छे-अच्छे भोजन खाते हुए यहीं रहें" कहने पर उत्तर दिया—"मुझे इस नगर से कोई काम नहीं है।" वह वाराणसी से निकल प्रत्यन्त-देश में चला गया और वहाँ एक सेठ-परिवार का आश्रित बन अपने हाथ से काम करके रहने लगा। आगे चलकर उन्हें उसके राजकुमार होने का पता लग गया। तब वे उसे काम नहीं करने देते थे, राजकुमार की तरह ही पोसते थे।

समय बीतने पर राज-कर्मचारी खेत को मापने के लिये उस गाँव पहुँचे। सेठ राजकुमार के पास आया और बोला—"स्वामी! हम तुम्हें पोसते हैं। छोटे भाई को पत्र भेज कर हमारा 'कर' छुड़वाओ।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और पत्र लिखा—"मैं अमुक सेठ-कुल के आश्रित ही रहता हूँ। मेरे कारण इनका 'कर' छोड़ दो।" राजा ने 'अच्छा' कह वैसा किया। तब सारे ग्राम-वासी और जनपद-वासी उसके पास पहुँचे और बोले—"हम तुम्हीं को 'कर' देंगे। हमारा भी 'कर' छुड़वा दो।" उसने उनके लिये भी पत्र भेज कर 'कर' छुड़वा दिया। तब से वे लोग उसे ही 'कर' देने लगे। उसका लाभ-सत्कार बहुत बढ़ गया। उसके साथ ही उसकी तृष्णा भी बहुत बढ़ गई। आगे चलकर उसने सारा जनपद माँगा, उपराज्य माँगा। छोटे भाई ने उसे सब दिया। तृष्णा बढ़ जाने से उपराज्य से भी असंतुष्ट हो राज्य लेने की इच्छा से, जनपद-वासियों के साथ जा, नगर के बाहर खड़े हो छोटे भाई के पास सन्देश भेजा—"या तो मुझे राज्य दे, या युद्ध कर।" छोटे भाई ने सोचा—"यह मूर्ख पहले राज्य और उपराज्य आदि तक अस्वीकार करके अब कहता है—युद्ध से लूँगा। यदि मैं इसे युद्ध में

मार दूँ तो मेरी निन्दा होगी। मुझे राज्य से क्या ?" उसने उसे उत्तर भिजवाया—"युद्ध की जरूरत नहीं, राज्य ले लो।" उसने राज्य लेकर छोटे भाई को उपराजा बनाया। तब से राजा बन, तृष्णा के वशीभूत हो, एक राज्य से असंतुष्ट हो, वह दो-तीन राज्यों की इच्छा करने लगा। उसकी तृष्णा असीम थी।

तब देवराज शक्र ने यह देखते हुए कि लोक में कौन हैं जो माता-पिता की सेवा करते हैं, कौन हैं जो दानादि-पुण्य कर्म करते हैं, कौन हैं जो तृष्णा के वशीभूत हैं, उसे तृष्णा के वशीभूत देखा। उसने सोचा—यह मूर्ख वाराणसी राज्य से भी सन्तुष्ट नहीं होता। इसे पाठ पढ़ाऊँगा। तब देवराज ने एक विद्यार्थी का रूप धारण कर, राजद्वार पर खड़े हो कहलवाया—"एक उपाय-कुशल ब्रह्मचारी दरवाजे पर खड़ा है।" "प्रवेश करें" आज्ञा मिलने पर जाकर राजा की जय बुलाई। राजा ने पूछा—"किस लिये आया ?"

"महाराज आप से कुछ निवेदन करना है, एकान्त अपेक्षित है।"

शक्र के प्रताप से उसी समय आदमी चले गये। तब ब्रह्मचारी बोला—"महाराज! मुझे तीन नगर ऐसे दिखाई देते हैं, जो धन-धान्य से पूर्ण हैं, मनुष्यों से पूर्ण हैं और सेना रथों से परिपूर्ण हैं। मैं अपने प्रताप से उनका राज्य लेकर तुम्हें दूँगा। बिना देर किये शीघ्र प्रस्थान करना चाहिए।" लोभ के वशीभूत हुए उस राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और शक्र के प्रताप से उससे यह भी नहीं पूछा—तू कौन है ? कहाँ से आया है ? तुझे क्या चाहिए ? शक्र भी इतना कह त्र्योत्रिंश-भवन चला गया। राजा ने अमात्यों को बुलाकर कहा—"एक ब्रह्मचारी ने हमें तीन राज्य लेकर देने को कहा है। उसे बुलाओ और नगर में मुनादी करा के सेना इकट्ठी करो। बिना देर किये तीनों राज्य लेंगे।"

"महाराज। क्या आपने उस ब्रह्मचारी का सत्कार किया ? क्या उससे निवास-स्थान के बारे में पूछा ?"

"न सत्कार किया, न निवास-स्थान के बारे में पूछा। जाओ पता लगाओ।"

पता लगाने पर जब वह नहीं दिखाई दिया तो राजा को सूचना दी

गई--"महाराज ! सारे नगर में ब्रह्मचारी नहीं दिखाई दिया।" यह सुन राजा को अफसोस हुआ--तीन नगरों का राज्य जाता रहा। मेरा बहुत-सा ऐश्वर्य नष्ट हो गया। 'न मुझे खर्चा दिया, न निवास-स्थान' सोच मुझसे क्रुद्ध हो वह चला गया होगा। राजा को बार-बार यही चिंता होने लगी। उस तृष्णा के वशीभूत (राजा) की देह जलने लगी। शरीर के जलने पर, पेट क्षुब्ध होकर खून के जुलाब लग गये। एक भोजन भीतर जाता एक बाहर आता। वैद्य चिकित्सा न कर सकते। राजा कष्ट पाता। उसका रोगी होना सारे नगर में प्रसिद्ध हो गया।

उस समय बोधिसत्व तक्षशिला से सब शिल्प सीख कर वाराणसी नगर में माता-पिता के पास आ गये थे। राजा के इस समाचार को सुन उसने राज-द्वार पर आकर कहा—"मैं चिकित्सा करूँगा।" सूचना दी गई—एक ब्रह्मचारी आपकी चिकित्सा करने के लिये आया है। राजा बोला—"बड़े-बड़े प्रसिद्ध वैद्य भी मेरी चिकित्सा नहीं कर सके, तरुण ब्रह्मचारी क्या (कर) सकेगा ? उसे खर्च देकर बिदा करो।" यह सुन ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया--

"मुझे वैद्य की फीस की आवश्यकता नहीं। मैं चिकित्सा करूँगा। केवल औषध का मूल्य दे दें।"

यह सुन राजा ने 'अच्छा' कह बुलवा लिया। ब्रह्मचारी ने राजा को प्रणाम कर कहा--"राजन् ! डरें नहीं। मैं चिकित्सा करूँगा। किन्तु मुझे रोग की उत्पत्ति बतायें।" राजा ने संकोच से कहा—"तुझे (रोग की) उत्पत्ति से क्या ? दवाई कर।" "महाराज, यह रोग इस प्रकार पैदा हुआ है जान कर ही वैद्य-गण उसके अनुरूप चिकित्सा करते हैं।" राजा ने "तात ! अच्छा" कह रोग की उत्पत्ति बताते हुए 'उस ब्रह्मचारी के आकर तीन नगरों का राज्य लेकर दूँगा' से आरम्भ कर सच-सच बता कर कहा—"तात ! मेरा यह रोग तृष्णा से उत्पन्न हुआ है। यदि चिकित्सा कर सकता है तो कर।"

"महाराज ! क्या चिन्ता करने से नगरों को प्राप्त किया जा सकता है ?"

"तात ! नहीं।"

"यदि ऐसा है, तो महाराज ! किसलिये सोच करते हो ? अपने शरीर से लेकर सारी सजीव-निर्जीव वस्तुयें छोड़कर जाना होता है, चारों नगरों का राज्य लेकर भी तू एक ही बार में भात की चार थालियाँ नहीं खायेगा, न चार बिस्तरों पर सोयेगा, न चार जोड़े कपड़े पहनेगा, तृष्णा के वशीभूत नहीं होना चाहिये। यह तृष्णा बढ़कर चारों नरकों से मुक्त होने नहीं देती।" इस प्रकार उसे उपदेश दे, धर्मोपदेश देते हुए ये गाथायें कहीं—

कामं कामयमानस्स तस्स चेतं समिज्झति,
अद्धा पीतिमनो होति लद्धा मच्चो यद् इच्छति ॥१॥
कामं कामयमानस्स तस्स चे तं समिज्झति,
ततो नं अपरं कामे धम्मे तण्हं व विन्दति ॥२॥
गवं व सिङ्गिनो सिङ्गं वड्ढमानस्स वड्ढति,
एवं मन्दस्स पोस्स बालस्स अविजानतो,
भिटयो तण्हा पिपासा च वड्ढमानस्स वड्ढति ॥३॥
पथब्या सालियवकं गवास्सं दासपोरिसं,
दत्वा वा नालं एकस्स, इति विद्वा समं चरे ॥४॥
राजा पसटह पर्टावं विजेत्वा,
ससागरंतं महिं आवसन्तो।
ओरं समुद्दस्स अतित्तरूपो,
पारं समुद्दस्सापि पत्थयेथ ॥५॥
याव अनुस्सरं कामे मनसा तित्ति नाज्झगा,
ततो निवत्ता पटिक्कम्म दिस्वा,
ते वे तित्ता ये पञ्ञाय तित्ता ॥६॥
पञ्ञाय तित्तिनं सेट्ठं न सो कामेहि तप्पति,
पञ्ञाय तित्तं पुरिसं तण्हा न कुरुते वसं ॥७॥
अपचिनेथेव कामानि, अप्पिच्छस्स अलोलुपो,
समुद्दमत्तो पुरिसो न सो कामेहि तप्पति,
रथकारो व चम्मस्स परिकन्तं उपाहनं ॥८॥

यं यं चजति कामानं तं तं सम्पज्जते सुखं,
सब्बं चे सुखं इच्छेय्य सब्बे कामे परिच्चजे ॥९।'

[काम-भोग की कामना करने वाले को यदि उसकी प्राप्ति हो जाती है तो वह आदमी जो चाहता है उसे मिल जाने से प्रसन्न होता है ॥१॥ काम-भोग की कामना करने वाले को यदि उसकी प्राप्ति हो जाती है तो धूप के समय की प्यास की तरह उसकी कामना और भी बढ़ती है ॥२॥ गौ या किसी दूसरे सींग वाले पशु का सींग उसके शरीर के बढ़ने के साथ बढ़ता है, उसी प्रकार मन्द-बुद्धि, मूर्ख तथा अज्ञानी मनुष्य की तृष्णा और प्यास उसके बढ़ने के साथ बढ़ती है ॥३॥ पृथ्वी भर का धान, जौ, गौ, घोड़े तथा दास दे देने पर (भी) किसी आदमी को संतोष नहीं होता, यह जानकर उचित आचरण करे ॥४॥ राजा बलपूर्वक पृथ्वी को जीत कर सागर के अन्त तक पृथ्वी पर अधिकार करके समुद्र के इस ओर तक से असन्तुष्ट हो, समुद्र पार की भी इच्छा कर सकता है ॥५॥ जो कोई मन से काम-भोगों का स्मरण करता है, वह तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। जो काम-भोगों से विरत हो उनका दुष्परिणाम देख लेते हैं, वे प्रज्ञा से तृप्त (जिन) ही वास्तव में तृप्त हैं ॥६॥ तृप्तों में जो प्रज्ञा-तृप्त है वही श्रेष्ठ है, वह काम-भोगों से तप्त नहीं होता। प्रज्ञा द्वारा तृप्ति-प्राप्त पुरुष को तृष्णा बशीभूत नहीं करती ॥७॥ अलोभी, अल्पेच्छ की कामनाओं को नष्ट करता है। समुद्र जितना बड़ा आदमी कामभोगों से तृप्त नहीं होता, जैसे—चर्मकार चमड़े को काटकर जूते को बनाता है ॥८॥ जिस-जिस कामना को छोड़ता है उतना-उतना सुख प्राप्त होता है। यदि सारे सुख की इच्छा करे तो सारी कामनाओं का त्याग करे ॥९॥]

जिस समय बोधिसत्व ये गाथायें कह रहे थे, राजा का ध्यान श्वेत-छत्र पर एकाग्र होकर श्वेत-कसिण-ध्यांण उत्पन्न हो गया। राजा निरोग हो गया। उसने सन्तुष्ट हो, शैय्या से उठ "इतने वैद्य मेरी चिकित्सा नहीं कर सके, किन्तु पण्डित-ब्रह्मचारी ने अपनी ज्ञान-औषधि से मुझे निरोग कर दिया" कह उससे वार्त्तालाप करते हुए दसवीं गाथा कही—

अड्ढते भासिता गाथा, सब्बा होन्ति सहस्सियो,
पटिगण्ह महाब्रह्मे, साधेतं तव भासितं ॥१०॥

[हे महाब्रह्म ! यह जो तूने आठ गाथायें कहीं, ये सभी हजार-हजार के मूल्य की हैं। (ये आठ हजार) स्वीकार कर। तेरा भाषण कल्याणकर है ॥१०॥]

यह सुन बोधिसत्व ने ग्यारहवीं गाथा कही—

न मे अत्थो सहस्सेहि सतेहि नहुतेहि वा,
पच्छिमं भासतो गाथं कामे मे न रतो मनो ॥११॥

[मुझे सौ, हजार या दस हजार से प्रयोजन नहीं है। अन्तिम गाथा कहते-कहते मेरा मन काम-भोग से विरत हो गया है ॥११॥]

राजा ने और भी अधिक प्रसन्न हो बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुये अन्तिम गाथा कही—

भद्दको वतायं माणवको सब्बलोकविदू मुनि,
यो इमं तण्हं दुक्खजननिं परिजानाति पण्डितो ॥१२॥

[यह सब लोकों का जानकार मुनि माणवक श्रेष्ठ है। यह पण्डित इस दुक्ख-जननी तृष्णा को पहचानता है ॥१२॥]

बोधिसत्व ने "महाराज ! अप्रमादी हो धर्मानुसार रहें" उपदेश दिया और आकाश-मार्ग से हिमालय पहुँच, ऋषि-प्रव्रज्या ले, जीवन भर ब्रह्म-विहारों की भावना कर, ब्रह्मलोकगामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, इस प्रकार मैंने पहले भी इस ब्राह्मण को शोक-रहित किया' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा यही ब्राह्मण था। पण्डित-ब्रह्मचारी तो मैं ही था।

---

४६८. जनसंध जातक

"दस खलु......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कोशल-नरेश को उपदेश देने के लिये कही—

क. वर्त्तमान कथा

एक समय राजा ऐश्वर्य के मद में मस्त हो, कामभोग में आसक्त हो, न्याय भी नहीं करता था, बुद्ध की सेवा में भी नहीं जाता था। उसे एक दिन दशबलधारी (बुद्ध) की याद आई। "प्रणाम करने की" सोच वह प्रातः-काल का भोजन कर, श्रेष्ठ रथ पर चढ़, विहार जा, शास्ता के पास प्रणाम करके बैठा। शास्ता ने पूछा—"महाराज, क्या बात है चिरकाल से दिखाई नहीं दिये ?

"भन्ते ! कार्य की अधिकता से बुद्ध-सेवा में आने का अवकाश नहीं मिला।"

"महाराज ! मेरे जैसे उपदेशक, सर्वज्ञ-बुद्ध के स्थिर रूप से विहार में रहते तुम्हारा प्रमादी होना अनुचित है। राजा को राज्य-कृत्यों में अप्रमादी होना चाहिए। राष्ट्र के निवासियों के लिये माता-पिता के समान होना चाहिए। (चार) अगतियों में न पड़, दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा, राज्य करना चाहिए। राजा के धार्मिक होने पर उसकी परिषद् भी धार्मिक होती है। इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं, यदि तुम मेरी अनुशासना में रहते हुए धर्मा-नुसार राज्य करो। पुराने पण्डित किसी अनुशासक-आचार्य्य के न रहने पर भी स्वबुद्धि से ही त्रिविध सुचरित्र-धर्म में प्रतिष्ठित हो जनता को धर्मोपदेश देते हुए सपरिषद् स्वर्ग-गामी हुये।"

इतना कह शास्ता ने उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में बाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व

ने उसकी पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण किया। उसका नाम जनसंध-कुमार रखा गया। उसके बड़े होने पर और तक्षशिला से सब विद्यायें सीख कर लौटने पर राजा ने सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया और उसे उपराजा बना दिया। आगे चलकर पिता के मरने पर जब वह राजा हुआ तो उसने चारों नगर-द्वारों पर, नगर के बीच में और राजद्वार पर छः दान-शालायें स्थापित कराईं और प्रतिदिन छः लाख का दान कर सारे जम्बुद्वीप को गुँजाते हुये महादान देना आरम्भ किया। उसने बन्धनागारों को एकदम खुलवा दिया और पशु बध-स्थल नष्ट करवा दिये। उसने चारों संग्रह-वस्तुओं द्वारा लोगों से व्यवहार करते हुये, पाँच शीलों का पालन और उपोसथ-व्रत रखते हुये धर्मानुसार राज्य किया। बीच-बीच में राष्ट्र के निवासियों को इकट्ठा कर उन्हें उपदेश दे जनता को चरित्रवान् बनाता—"दान दो, सदाचारी बनो, धर्मानुसार अपने काम-काज और व्यापार चलाओ, बचपन में ही विद्या सीखो, धनार्जन करो, झूठी साक्षी आदि देने के कर्म न करो, कुत्ते न बनो, प्रचण्ड तथा कठोर मत होओ, माता-पिता की सेवा करो तथा ज्येष्ठों का आदर करो।" एक दिन उसने पूर्णिमा-उपोसथ के दिन उपोसथ-व्रत ग्रहण कर जनता के अधिकाधिक कल्याण और उसे अप्रमादी बनाने के लिये धर्मोपदेश देने की इच्छा से मुनादी कराई और अपने रनिवास से प्रारम्भ करके सभी नागरिकों को एकत्र कराया। उसने राजाङ्गन में अलंकृत रत्ननिर्मित मण्डप के नीचे बिछे श्रेष्ठ आसन पर बैठ धर्मोपदेश दिया—"हे नगरवासियो! मैं तुम्हें तपाने वाले और न तपाने वाले धर्मों का उपदेश करता हूँ। अप्रमादी होकर, कान दे, ध्यान से सुनो।"

शास्ता ने सत्य-पूत मुख-रत्न को खोलकर कोशल-नरेश की उस देशना को मधुर स्वर में प्रकट करते हुये ये गाथायें कहीं—

दस खलु इमानि ठानानि, यानि पुब्बे अकरित्वा,
स पच्छा मनुतप्पति, इच्चाह राजा जनसन्धो ॥१॥

[राजा जनसन्ध ने कहा कि ये दस उक्त बातें हैं जिन्हें पहले न करके आदमी पीछे पछताता है ॥१॥]

अलद्धा वित्तं तपति पुब्बे असमुदानितं,
'न पुब्बे धनं एसिस्सं' इति पच्छानुतप्पति ॥२॥

[पहले संग्रह न करने से, न मिलने पर, चित्त को अनुताप होता है। बाद में वह पश्चात्ताप करता है कि हाय ! मैंने पहले धन-संग्रह नहीं किया ! ॥२॥]

सक्यरूपं पुरे सन्तं मया सिप्पं न सिक्खितं,
किच्छा वुत्ति असिप्पस्स इति पच्छानुतप्पति ॥३॥

[मैंने पहले सामर्थ्य रहते कोई शिल्प नहीं सीखा। 'शिल्प-रहित का जीविका चलाना कठिन होता है' सोच बाद में वह पश्चात्ताप करता है ॥३॥]

कूटवेदी पुरे आसिं पिसुणो पिट्ठिमंसिको,
चण्डो फरुसो चासिं इति पच्छानुतप्पति ॥४॥

[मैं तराजू की डण्डी मारने आदि कर्म करने वाला था, चुगल-खोर था, प्रचण्ड था और था कठोर—यह सोच बाद में वह पछताता है ॥४॥]

पाणातिपातो पुरे आसिं लुद्दो चासिं अनारियो,
भूतानं नावदायिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥५॥

[मैं पहले प्राण-घात करने वाला था, दारुण-स्वभाव का था, अनार्य था। मैं प्राणियों पर दया नहीं करता था 'सोच', बाद में वह पछताता है ॥५॥]

बहूसु वत सन्तासु अनापादासु इत्थिसु,
परदारं असेविस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥६॥

[दूसरों द्वारा अपरिगृहीत बहुत-सी स्त्रियों के रहते हुए भी मैंने पराई स्त्रियों को भोगा—यह सोच वह बाद में पछताता है ॥६॥]

बहुम्हि वत सन्तम्हि, अन्नपाने उपट्ठिते,
न पुब्बे अददं दानं, इति पच्छानुतप्पति ॥७॥

[बहुत से अन्न-पान के उपस्थित रहने पर भी मैंने पहले दान नहीं दिया—यह सोच वह बाद में पछताता है ॥७॥]

मातरं पितरञ्चापि जिण्णके गतयोब्बने,
पहु सन्तो न पोसिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥८॥

[वृद्ध, गत-यौवन, माता-पिता का मैंने बहुत धन होते हुए भी पोषण नहीं किया—यह सोच बाद में वह पछताता है ॥८॥]

आचरियं अनुसत्थारं सब्बकामरसाहरं,
पितरं अच्चमञ्ञिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥९॥

[मैंने अपने अनुशासक, सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाले, आचार्य्य पिता की अवज्ञा की—यह सोच बाद में पछताता है ॥९॥]

समणे ब्राह्मणे चापि सीलवन्ते बहुस्सुते,
न पुब्बे पयिरुपासिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥१०॥

[मैंने पहले सदाचारी, बहुश्रुत श्रमण-ब्राह्मणों की उपासना नहीं की—यह सोच बाद में पछताता है ॥१०॥]

साधु होति तपो चिण्णो सन्तो च पयिरुपासति,
न च पुब्बे तपो चिण्णो इति पच्छानुतप्पति ॥११॥

[तपस्या और शान्त पुरुषों की सेवा कल्याणकर होती है। मैंने पहले तपस्या नहीं की—यह सोच बाद में पछताता है ॥११॥]

यो च एतानि ठानानि योनिसो पटिपज्जति,
करं पुरिसकिच्चानि स पच्छा नानुतप्पति ॥१२॥

[जो इन बातों के अनुसार ठीक-ठीक आचरण करता है, वह पुरुष-कृत्य करता है—यह सोच वह बाद में नहीं पछताता ॥१२॥]

इसी प्रकार आधे महीने तक जनता को उपदेश दिया। जनता भी उसके उपदेशानुसार चल, उन उन बातों के अनुसार आचरण कर स्वर्ग-गामी हुई।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'इस प्रकार महाराज! पुराने पण्डितों ने आचार्य्य रहित होते हुये भी अपनी ही बुद्धि से धर्मोपदेश दे जनता को स्वर्ग-गामी बनाया' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय की परिषद् बुद्ध-परिषद् हुई। जनसन्ध राजा मैं ही था।

———

४६९. महाकण्ह जातक

"कण्हो कण्होच. . . . ." यह शास्ता ने जेनवन में विहार करते समय लोक-कल्याण के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

एक दिन धर्म-सभा में बैठे हुये भिक्षुओं ने दस बल-धारी के परोपकार की प्रशंसा की—"आयुष्मानो ! शास्ता जनता के हित-साधन में लगे हैं, वे अपने आराम को छोड़ लोक-कल्याण ही करते हैं, उन्होंने परम सम्बुद्धत्व प्राप्त कर स्वयं पात्र-चीवर ले अट्ठारह योजन मार्ग जा पंच-वर्गीय स्थविरों को धर्मोपदेश दे, पक्ष की पंचमी को अनात्म-लक्षण का उपदेश कर सभी को अरहत्व प्रदान किया, उरुवेल जाकर जटिल तपस्वियों को साढ़े तीन हजार प्रातिहार्य दिखाकर प्रव्रजित किया और गयाशीर्ष पर 'आदित्य-परियाय' सूत्र का उपदेश दे एक सहस्र जटिलों को अरहत्व दिया, तीन गाउत आगे जा महाकाश्यप का स्वागत कर उसे तीन उपदेशों से सम्पन्न किया, भोजनान्तर अकेले पन्तालिस योजन चल पुक्कुसाति कुलपुत्र को अनागामिफल में प्रतिष्ठित किया, महाकप्पिन को एक सौ बीस योजन आगे बढ़ अरहत्व दिया, भोजनान्तर अकेले तीस योजन आगे जा वैसे चण्ड, कठोर अंगुलिमाल को अरहत्व दिया, तीस योजन ही जाकर आलवक को स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित कर कुमार का कल्याण किया, त्रयोत्रिंश-भवन में तीन महीने रहते समय अस्सी करोड़ देवताओं को धर्म-ज्ञान कराया, ब्रह्मलोक जा वकब्रह्मा की मिथ्या-दृष्टि दूर कर दस हजार ब्रह्माओं को अरहत्व दिया। वे प्रतिवर्ष तीनों मण्डलों में चारिका करते हुए अधिकारी मनुष्यों को शरण, शील और मार्ग-फल देते हैं। वे नाग, गरुण, आदि का भी नाना प्रकार से उपकार करते हैं।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ ! यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने

पर "भिक्षुओ ! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है यदि अत्र मैं बुद्धत्व प्राप्त कर लोक का कल्याण करता हूँ, मैंने पूर्व-जन्म में राग-युक्त रहते समय भी लोककल्याण किया ही है" कह पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में काश्यप सम्यक् सम्बुद्ध के समय उसीनर नाम का राजा राज्य करता था। काश्यप सम्यक् सम्बुद्ध के चारों-सत्यों के उपदेश से जनता को बन्धन से मुक्त कर निर्वाण-नगर में प्रविष्ट होने पर बहुत समय जाने के बाद बुद्धशासन का पतन हो गया—भिक्षु इक्कीस प्रकार के अनुचित उपायों से जीविकार्जन करने लगे, भिक्षुणियों से संसर्ग करने लगे तथा बेटा-बेटी का पालन करने लगे, भिक्षुओं ने भिक्षु-धर्म, भिक्षुणियों ने भिक्षुणी-धर्म, उपासकों ने उपासक-धर्म, उपसिकाओं ने उपासिका-धर्म तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म छोड़ दिया, अधिकांश मनुष्य दस अकुशल-कर्म करने लगे। जो मरे वे सभी नरक-गामी हुये। तव देवराज शक्र ने जब नये देव-पुत्रों को नहीं देखा तब मनुष्य लोक की ओर देखकर जाना कि लोग नरक में पैदा हो रहे हैं। उसने शास्ता के शासन का पतन हुआ जान सोचा—क्या करूँ? उसे एक उपाय सूझा—जनता को डराकर, त्रास देकर यह मालूम होने पर कि वह डर गई है, उसे आश्वासन तथा धर्मोपदेश दे नीचे जाते बुद्ध-शासन को पकड़ ऐसा करूँगा कि अभी वह एक हजार वर्ष और चल सके। उसने यह निश्चय कर मातली-देवपुत्र को एक काले महान्-कृष्णवर्ण कुत्ते में परिवर्तित किया, जिसकी केले जितनी बड़ी-बड़ी चार दाढ़ें थीं, जिनमें से किरणें निकल रही थीं, जो इतना घोर भयानक था कि उसे देखने से ही गर्भिनी का गर्भपात ही जाय और था अच्छी नसल के (घोड़े) जितना बड़ा। उसने उसे पाँच जगह से बाँध, लाल माला पहना, रस्सी का सिरा स्वयं अपने हाथ में लिया। फिर दो काषाय वस्त्र पहन, बालों को पिछली ओर बाँध, लाल माला धारण कर, मूँगे के रंग की डोरी वाली चढ़ी हुई धनुष ले, वज्र की नोकवाले तीर को उँगलियों पर घुमाता हुआ शिकारी के वेश में नगर से योजन भर की दूरी पर उतरा। उसने तीन बार आवाज दी—"संसार नष्ट होने जा रहा है, संसार नष्ट होने जा रहा है।" आदमी भयभीत हुए! उसने नगर के पास पहुँच फिर आवाज

लगाई। आदमी कुत्ते को देख भयभीत हुए और नगर में जा राजा को यह समाचार सुनाया। राजा ने जल्दी से नगर-द्वार बन्द करवा दिये। शक्र कुत्ते सहित अठारह-हाथ ऊँची दीवार लाँघ कर नगर में जा पहुँचा। मनुष्य भय के मारे भाग कर घर में घुस गये और दरवाजे बन्द कर लिये। महान् कृष्ण (कुत्ता) भी जिसे जिसे देखता उसका पीछा कर उसे डराता। इस प्रकार वह राजभवन जा पहुँचा। राजाङ्गण के आदमियों ने डर के मारे भाग कर राजभवन में जा द्वार बंद कर लिये उसीनर राजा भी रनिवास को लेकर महल पर जा चढ़ा। महाकृष्ण अगले पैर उठा किवाड़ पर रख जोर से भौंका। उसके भौंकने की आवाज नीचे अवीची (नरक) तक और ऊपर भवाग्र तक पहुँची। सारा चक्रवाल एक शब्द हो गया। पुण्णक-जातक में पुण्णक राजा का शब्द, भूरिदत्त-जातक में सुदस्सन नागराजा का शब्द और इस महाकृष्ण-जातक में यह (कुत्ते का) शब्द--ये तीन शब्द जम्बुद्वीप में महान् शब्द हुये। नगरवासी इतने डर गये कि एक आदमी भी शक्र के साथ बातचीत नहीं कर सका। किन्तु राजा ने ही स्थिरता से काम ले खिड़की खोल शक्र को सम्बोधित किया और पूछा--"हे शिकारी! तेरा कुत्ता क्यों भौंका?"

"भूखा होने के कारण।"

"तो इसे भोजन दिलाता हूँ" कह राजा ने घर के लोगों के लिये और अपने लिये बना सब भोजन दिलवा दिया। उस सारे को कुत्ते ने एक ही कौर में समाप्त कर फिर आवाज लगाई। राजा ने फिर पूछा और जब उसने सुना "अभी मेरा कुत्ता भूखा ही है" तो हाथी आदि के लिये बना सारा भोजन मँगवा कर दिलवाया। उसे भी एक ही झटके में समाप्त करने पर सारे नगर के लिये पका भात दिलवाया। उसे भी वह वैसे ही खा गया और फिर आवाज लगाई। राजा समझ गया--यह कुत्ता नहीं है। यह यक्ष है। इसके आने का कारण पूछूंगा। उसने डरते-डरते पूछते हुए पहली गाथा कही—

कण्हो कण्हो च घोरो च सुक्कदाठो पतापवा,
बंद्धो पञ्चहि रज्जुहि किं धीर सुनखो तव ॥१॥

[हे धीर! यह तेरा कुत्ता, जो काला-काला है, भयानक है, श्वेत-

दाँतों वाला है, प्रतापी है, पाँच जगह रस्सी से बँधा है, क्या (चाहता है ?) ॥१॥]

यह सुन शक्र ने दूसरी गाथा कही—

नायं मिगानं अत्थाय उसीनर भविस्सति,
मनुस्सानं अनयो हुत्वा तदा कण्हो पमोक्खति ॥२॥

[हे उसीनर ! यह जानवरों के लिये नहीं होगा। जब यह मनुष्यों की हानि करेगा तभी यह कृष्ण मुक्त होगा ॥२॥]

तब राजा ने पूछा—"हे शिकारी ! यह तेरा कुत्ता क्या सभी मनुष्यों का माँस खायेगा अथवा तेरे शत्रुओं का ही ?"

"महाराज, शत्रुओं का ही।"

"तेरे शत्रु कौन हैं ?"

"महाराज, जो अधर्म में रत हैं, अधर्मचारी हैं।"

"उन्हें हमें बतायें।"

उन्हें बताते हुए देवराज (शक्र) ने दस गाथायें कहीं—

पत्तहत्था समणका मुण्डा सङ्घाटि पारुता,
नाङ्गलेहि कसिस्सन्ति तदा कण्हो पमोक्खति ॥३॥

[भिक्षा-पात्र धारी, (सिर-) मुण्डे, संघाटी धारी श्रमणक जब हल लेकर खेती करेंगे, तब (उन्हें मारकर) मेरा यह कुत्ता मुक्त होगा ॥३॥]

तपस्सिनियो पब्बजिता मुण्डा संघाटिपारुता,
यदा लोके गमिस्सन्ति तदा... ॥४॥

[तपस्वी, सिर (मुण्डी) संघाटिधारी प्रव्रजिता जब गृहस्थी करने लगेंगी, तब......॥४॥]

दीघुत्तरोठ्ठा जटिला पङ्कदन्ता रजस्सिरा,
इणं चोदाय गच्छन्ति तदा...॥५॥

[लम्बी दाढ़ी वाले, जटाधारी, मलिन-दाँतों वाले, सिर में धूनी रमाने वाले जब ऋण देकर उसके (सूद) से जीविका चलायेंगे, तब.....॥५॥]

अधिच्च वेदे सावित्तिं यञ्ञतन्त्रञ्च ब्राह्मणा,
भतिकाय यजिस्सन्ति तदा...॥६॥

[जब ब्राह्मण वेद, सावित्रि और यज्ञ-तन्त्र को पढ़कर मजदूरी लेकर यज्ञ करायेंगे तब....॥६॥]

मातरं पितरं चापि जिण्णके गतयोब्बने,
पहु सन्तो न भरन्ति तदा...॥७॥

[जब बहुत (धन) होने पर भी गत-यौवन बूढ़े माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करेंगे तब... ॥ ७॥]

मातरं पितरं चापि जिण्णके गतयोबने,
'बाला तुम्हे' ति वक्खन्ति तदा...॥८॥

[जब गत-यौवन वृद्ध माता-पिता को "तुम मूर्ख हो" कहेंगे तब....॥८॥]

आचरियभरियं सखाभरियं मातुलानि पितुच्छक,
यदा लोके गमिस्सन्ति...॥९॥

[जब लोक में आचार्य्य-भार्य्या, मित्र की भार्य्या, मामी और बुआ के पास जाने लगेंगे तब ....॥९॥]

असिचम्मं गहेत्वान खग्गं पग्गय्ह ब्राह्मणा,
पन्थघातं करिस्सन्ति तदा...॥१०॥

[जब ब्राह्मण ढाल-तलवार लेकर रास्ते पर डाके डालने लगेंगे तब......॥१०॥

सुखच्छवी वेधवेरा थुल्लबाहु अपातुभा,
मित्तु भेदं करिस्सन्ति तदा...॥११॥

[जब कोमल चमड़ी वाले, स्थूल-बाहु वाले, (धन कमाने में) अयोग्य व्यक्ति (धनवान्) विधवाओं के साथ रहेंगे और फिर उनसे सम्बन्ध तोड़ लेंगे तब. ...।११॥]

मायाविनो नेकतिका असप्पुरिस चिन्तका,
यदा लोके गमिस्सन्ति तदा कण्हो पमोक्खति॥१२॥

[जब लोक में मायावी, ठग, अकल्याण-कामी लोग होंगे तब उन्हें मारकर (मेरा) कृष्ण मुक्त होगा ॥१२॥]

यह कह "महाराज, ये मेरे शत्रु हैं" कहा और ऐसा दिखाया मानो कुत्ता उछलकर शत्रु-कर्म करने वालों को खा जायगा। फिर जनता के डर

जाने पर कुत्ते को रस्सी से खींच कर बिठा दिया (दिखा) शिकारी वेश छोड़ अपने प्रताप से आकाश में चमकते हुए खड़े हो कहा—"महाराज! मैं देवेन्द्र शक्र हूँ। 'यह संसार नष्ट हो रहा है' जान आया। अब जो भी मरते हैं वे अधर्मचारी होने के कारण नरक जाते हैं, देवलोक खाली-सा रह गया है। अब से 'अधर्मियों से कैसे बरतना चाहिये' देखूँगा। तुम अप्रमादी रहो। इस प्रकार चार याद रखने योग्य गाथाओं द्वारा धर्मोपदेश दे, मनुष्यों को दान-शील में प्रतिष्ठित कर, पतनोन्मुख (बुद्ध-) शासन को और भी हजार वर्ष तक टिके रहने योग्य बना, मातली को ले, अपने निवास-स्थान को गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला और यह कह कि 'भिक्षुओ मैंने पहले भी इसी प्रकार लोककल्याण किया है,' जातक का मेल बैठाया। उस समय मातली आनन्द था। शक्र तो मैं ही था।

---

४७०. कोसिय जातक

कोसिय जातक सुधाभोजन जातक[1] में आयेगी।

---

४७१. मेण्डक जातक

मेण्डक पञ्ह (जातक) उम्मग्ग जातक[2] में आयेगी।

---

१. सुधा भोजन जातक (५३५)।
२. उम्मग्ग जातक (५४६)।

४७२. महापदुम जातक

'नादट्ठा परतो दोसं · · ·" यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय चिञ्चा माणविका के बारे में कही—

क: वर्त्तमान कथा

जिस समय तथागत ने पहले-पहल बुद्धत्व प्राप्त किया था, जिस समय उनके अनन्त देव-मनुष्य शिष्य आर्य-भूमियों को प्राप्त हो गये थे, उस समय उनके गुणों की ख्याति फैल जाने से उनका लाभ-सत्कार बहुत बढ़ गया। सूर्योदय होने पर जैसे जुगनू मन्द पड़ जाते हैं, वैसी ही दशा तैर्थिकों की हो गई। जब उनका लाभ-सत्कार मारा गया तो वे गलियों में खड़े होकर मनुष्यों को सुना-सुनाकर कहने लगे—"क्या श्रमण गौतम ही 'बुद्ध' है, हम भी 'बुद्ध' हैं। क्या उसी को देने का महान्-फल होता है, हमें भी देने का महान्-फल होता है। हमें भी दो, करो।" जब इस प्रकार मनुष्यों में प्रचार करने से भी लाभ-सत्कार प्राप्त न हुआ तो उन्होंने छिपकर मन्त्रणा की—क्या करें कि जिससे लोगों में श्रमण गौतम के दुर्गुण का प्रचार हो, और उसका लाभ-सत्कार नष्ट हो जाय ?

उस समय श्रावस्ती में चिञ्चा माणविका नाम की एक परिव्राजिका थी, उत्तमरूपवाली, सुन्दर, देवप्सराओं के समान। उसके शरीर से (प्रकाश की) किरणें निकलती थीं। तब एक बज्र-हृदय ने सलाह दी—चिञ्चा-माणविका से सम्बन्ध जोड़ कर श्रमण-गौतम की निन्दा कर उसका लाभ-सत्कार नष्ट करेंगे। सबने स्वीकार किया—यह उपाय है। वह माणविका तैर्थिकों के विहार में पहुँची और प्रणाम करके खड़ी हुई। तैर्थिकों ने उससे बातचीत न की। उसने—"आर्यो ! तीन बार प्रणाम करती हूँ" कह कर पूछा—"मेरा क्या दोष है ? मेरा क्या दोष है ? मुझसे क्यों नहीं बोलते ?"

"बहिन ! क्या नहीं जानती है कि श्रमण-गौतम हमें कष्ट देता है, हमारे लाभ-सत्कार को नष्ट कर विहार करता है।"

"आर्यो ! नहीं जानती हूँ । लेकिन मैं इष विषय में क्या कर सकती हूँ ?"

"बहिन ! यदि तू हमें सुखी देखना चाहती है, तो अपना सम्बन्ध बता कर श्रमण-गौतम की निन्दा कर, उसका लाभ-सत्कार नष्ट कर।"

"आर्यो ! अच्छा। अब यह मेरी जिम्मेवारी है। तुम चिन्ता मत करो" कह वह चली गई।

माणविका स्त्री-माया में कुशल थी। तब से, जिस समय श्रावस्ती-वासी धर्मोपदेश सुन जेतवन से बाहर आते वह वीर-बहूटी के वर्ण का वस्त्र पहन और हाथ में गन्ध-माला ले जेतवन की ओर जाती। यदि कोई पूछता कि इस समय कहाँ जाती है, तो उत्तर देती—"तुम्हें क्या, मैं कहीं जाऊँ ?" फिर जेतवन के समीप तैर्थिकों के आराम में (रात भर) रहकर प्रातःकाल ही 'श्रेष्ठ वन्दनीय की वन्दना करेंगे' सोच नगर से निकलने वाले उपासक-जनों से ऐसे भेंट करती मानो रात भर जेतवन में रहकर लौटी हो। कोई पूछता—"कहाँ रही ?" उत्तर देती—"तुम्हें मेरे रहने की जगह से क्या ?" इस प्रकार महीना आधा-महीना पूछी जाने पर उसने कहा—"जेतवन में श्रमण-गौतम के साथ गन्धकुटी में अकेली रही।" उसने सामान्य जनों के मन में सन्देह पैदा कर दिया—यह सत्य है अथवा नहीं ? फिर तीन-चार महीने बीतने पर पेट पर चीथड़े लपेट, गर्भिणी की शक्ल बना, ऊपर से लाल कपड़ा लपेट लिया। उसने अन्धे-मूर्खों को विश्वास दिला दिया कि श्रमण गौतम से उसे गर्भ रहा है। फिर आठ-नौ महीने बीतने पर पेट पर लकड़ी का चक्का बाँध, ऊपर से लाल कपड़ा लपेट लिया। उसने अपने हाथ पाँव मोगरी[1] से कुटवा लिये जिससे सूजे हुए मालूम हों। इस प्रकार बड़ी थकी हुई सी होकर वह शाम को उस धर्म-सभा में पहुँची जहाँ तथागत अलंकृत धर्मासन पर बैठे धर्मोपदेश दे रहे थे। उसने वहाँ पहुँच चन्द्रमा पर गूँह उछालने का प्रयत्न करती हुई की तरह परिषद् के बीच में तथागत के सामने खड़े हो उन पर आक्षेप किया—"महा-श्रमण ! जनता को उपदेश तो देता है, वाणी तेरी मधुर है और दाँत भी

---

१. गोहनुकेन=बैल की जाढ़ की हड्डी से।

खिले हुए हैं; लेकिन मैं जो तुझ से गर्भ धारण करके परिपूर्ण-गर्भ हो गई हूँ, मेरे लिये न तू प्रसूति-गृह की चिन्ता करता है न घी-तेल आदि की। स्वयं व्यवस्था न करके किसी अपने सेवक को, कोशल-नरेश को, अनाथ-पिण्डिक को अथवा महाउपासिका विशाखा को भी यह नहीं कहता कि इस बालिका के लिये जो करना है करो। रमण करना ही जानता है, गर्भ की व्यवस्था करना नहीं जानता ?" तथागत ने धर्म-सभा रोक सिंह की तरह गर्जना की—"बहिन ! जो कुछ तूने कहा है उसकी सचाई या झुठाई मुझे और तुझे ही मालूम है।"

"हाँ श्रमण ! तेरे और मेरे ज्ञान में ही यह हुआ है।"

उसी समय शक्र का आसन गर्म हो गया । उसने ध्यान लगा कर देखा तो उसे पता लगा कि चिञ्चा माणविका ने तथागत पर झूठा दोषारोपण किया है। उसने सोचा कि उसकी परीक्षा करूँगा और चार देव-पुत्रों सहित वह आ पहुँचा। देव-पुत्रों ने चूहियों के बच्चों का रूप बना लकड़ी के चक्के को बाँधने वाली रस्सी को एक झटके में ही काट दिया। हवा ने पहने हुये कपड़े को उड़ा दिया। लकड़ी का चक्का उसके पाँव पर गिरा। उसके दोनों पंजे टूट गये। आदमियों ने उसके सिर पर थूका और उसे ढेले तथा डंडे मारकर जेतवन से निकाल दिया—मनहूस ! सम्यक् सम्बुद्ध पर दोष लगाती थी। उसके तथागत की दृष्टि से ओझल होते ही महापृथ्वी फटी और उसमें दरार हो गई। अवीची-नरक से ज्वाला निकली। वह कुल-प्राप्त कम्बल ओढ़ लेने वाली की तरह (ज्वाला से लिपट कर) अवीची नरक में पहुँची। अन्य तैर्थिकों का लाभ-सत्कार घट गया, दस बलधारी का और भी बढ़ गया। अगले दिन धर्म-सभा में बात चली--"आयुष्मानो ! चिञ्चा माणविका इस प्रकार के गुण-बहुल, अग्र-पूज्य सम्यक् सम्बुद्ध पर झूठा आरोप लगाकर महाविनाश को प्राप्त हुई।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बात चीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर शास्ता ने "भिक्षुओं, न केवल अभी, यह पहले भी मुझ पर झूठा आरोप लगा कर विनाश को प्राप्त हुई" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व

ने उसकी पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण किया। उसके मुख की शोभा खिले हुये पद्म के सदृश होने से उसका नाम पद्मकुमार ही रखा गया। उसने बड़े होने पर सभी शिल्प सीखे। उसकी माँ मर गई। राजा ने दूसरी पटरानी बना पुत्र को उपराजा बना दिया।

आगे चलकर राजा जब अपने प्रदेश में उठे हुए विद्रोह को शान्त करने के लिये जाने लगा तो पटरानी से बोला—"भद्रे ! यहीं रह। प्रत्यन्त देश को मैं शान्त करने के लिये जा रहा हूँ।"

"देव ! मैं नहीं रहूँगी। मैं भी साथ चलूंगी।"

उसने उसे युद्ध-भूमि के खतरे दिखाकर कहा—"जब तक मैं लौटकर आता हूँ तब तक तू निश्चिन्त होकर रह। मैं पद्मकुमार को आज्ञा देकर जाता हूँ कि वह आलस्य छोड़कर तुम्हारी सेवा में रहे।"

वैसा किया गया और शत्रु को भगाकर जनपद को सन्तुष्ट करके लौटा। उसने वापिस आकर नगर के बाहर छावनी डलवाई। बोधिसत्व को पिता के आने की सूचना मिली तो नगर को अलंकृत कर राजगृह की देख-भाल रखता हुआ वह अकेला ही उसके पास गया। वह उसके रूप पर मोहित हो गई। बोधिसत्व ने उसे नमस्कार कर पूछा—

"माँ, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ?"

"मुझे 'माँ' कह कर पुकारता है" कह उसने उसे हाथ से पकड़ा और बोली—शैय्या पर आओ।

"क्या करूँगा ?"

"जब तक राजा आता है, तब तक दोनों रमण करेंगे।"

"अम्म ! तू मेरी माता है और 'स्वामी' वाली है ! मैंने परिगृहीत स्त्री की ओर कभी इन्द्रियों को चञ्चल करके देखा तक नहीं है। मैं तेरे साथ ऐसा निकृष्ट-कर्म कैसे करूँगा।"

उसके दो-तीन बार कहने पर भी जब वह राजी न हुआ तो उसने पूछा—"मेरा कहना नहीं करेगा ?"

"हाँ, नहीं करूँगा।"

"तो राजा से कहकर तेरा सीस कटवाऊँगी।"

"जो तेरे मन में आये करना" कह बोधिसत्व उसे लज्जित कर चला

गया। भीत-त्रसित हो उसने सोचा--यदि यह पहले ही जाकर कह देगा तो मेरी जान नहीं बचेगी, मैं ही पहले कहूँगी। उसने बिना भोजन किये, मैले-कुचैले वस्त्र पहन, शरीर पर नाखून की खरोंच के चिह्न बना, सेविकाओं को आज्ञा दी कि राजा के यह पूछने पर कि देवी कहाँ है, कहना कि वह रोगिणी हैं, और 'रोगिणी' बन कर लेट गई। राजा ने भी नगर की प्रदक्षिणा कर, घर पहुँच, उसे न देख पूछा--"देवी ! कहाँ है ? सुना 'रोगिणी' है।" वह शयनागार में गया और जाकर पूछा--"देवी ! तुझे क्या बीमारी है ?" उसने उसका कहना अनसुना कर दो-तीन बार पूछने पर कहा--"महाराज ! क्या बोलते हैं, चुप रहें, स्वामी वाली स्त्रियाँ मेरे जैसे होती हैं !"

"किसने कष्ट दिया, मुझे बता, मैं उसका सिर काट डालूँगा।"

"महाराज, तुम नगर किसे सौंप कर गये थे ?"

"पद्मकुमार को।"

"वह मेरे निवास-स्थान पर आया और यह कहने पर भी कि 'तात ! ऐसा मत कर, मैं तेरी माता हूँ' बोला--मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई राजा नहीं है। मैं तुझे घर में कर तेरे साथ रमण करूँगा। उसने मुझे बालों से पकड़ा और इधर-उधर खींचा। जब मैंने उसका कहना नहीं किया तो वह मुझे मार-पीट गया।"

राजा ने बिना विचार किये ही विषैले सर्प की तरह क्रुद्ध हो आदमियों को आज्ञा दी--"जाओ पद्मकुमार को बाँध लाओ।" वे नगर को छान डालते हुए उसके घर गये और उसे बाँध कर, पीट कर, उसकी बाहें पीछे की ओर जोर से बाँधी। (फिर) उन्होंने उसके गले में लाल कनेर की माला डाली और उसे 'बध्य' बना कर पीटते हुये लाये। वह जान गया कि यह देवी की करनी है, इसलिये वह 'हे पुरुषों ! मैंने राजा के प्रति कोई दोष नहीं किया है, मैं निरपराध हूँ' कहता हुआ, रोता-पीटता आ रहा था। सारा नगर क्षुब्ध हो उठा--राजा औरत का कहना मान कर महापद्मकुमार को मरवा रहा है। नगर-निवासी इकट्ठे होकर कुमार के चरणों में गिर कर जोर-जोर से विलाप करने लगे--"स्वामी ! यह (दण्ड-कर्म) तुम्हारे योग्य नहीं है।" राजा ने देखा तो अपने पर काबू न रख सका और बोला--"यह बिना राजा हुए ही राजा बनता है, इसने मेरा पुत्र होकर पटरानी को दूषित

किया। जाओ इसे चोर-प्रपात से गिराकर मार डालो। बोधिसत्व ने पिता से प्रार्थना की—"तात! मेरा ऐसा अपराध नहीं है। स्त्री का कहना मान मुझे जान से न मरवावें।" राजा ने उसकी प्रार्थना नहीं मानी, तब अन्तःपुर की सोलह हजार स्त्रियों ने विलाप किया—"तात महापद्मकुमार! जो तुम्हें नहीं मिलना चाहिये, वह तुम्हें मिला।" सभी क्षत्रिय महाशाल आदि ने तथा अमात्यों ने भी "देव! कुमार शीलाचारगुण युक्त है, वंश-रक्षक है, राज्याधिकारी है, स्त्री का कहना मान कर बिना विचार किये इसे मत मरवावें, राजा को विचारवान् होना चाहिये" कह सात गाथायें कहीं—

नादट्ठापरतोदोसं अनुंथूलानि सब्बसो,
इस्सरो पनये दण्डं सामं अप्पटिवेक्खिय ॥१॥
यो च अप्पटिवेक्खित्वा दण्डं कुब्बति खत्तियो,
सकण्टकं सो गिलति जच्चन्धो व समक्खिकं ॥२॥
अदण्डियं दण्डियति दण्डियं च अदण्डियं,
अन्धो व विसमं मग्गं न जानाति समासमं ॥३॥
योच एतानि ठानानि अनुंथूलानि सब्बसो,
सुदिट्ठं अनुसासेय्य स वे वोहातुं अरहति ॥४॥
न एकन्तमुदुना सक्का एकन्ततिखिणेन वा,
अत्तं महन्ते थापेतुं, तस्मा उभयं आचरे ॥५॥
परिभूतो मुदु होति अतितिक्खो च वेरवा,
एतञ्च उभयं ञत्वा अनुमज्झं समाचरे ॥६॥
बहुं पि रत्तो भासेय्य दुट्ठो पि बहु भासति,
न इत्थिकारणा राज पुत्तं घातेतुं अरहसि ॥७॥

[किसी के छोटे-बड़े सभी दोष न देख कर, (जो) राजा स्वयं जांच न कर दण्ड की व्यवस्था करता है; जो क्षत्रिय बिना परीक्षा किये दण्ड देता है, वह जन्मान्ध आदमी की तरह काँटे सहित अथवा मक्खी-सहित भोजन करता है। जो दण्डनीय को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीय को दण्ड देता है, वह अन्धे आदमी की तरह ऊँचे-नीचे मार्ग को नहीं जानता ॥१—३॥ जो

इन सब छोटी बड़ी बातों का विचार कर अनुशासन करता है, वह ही राज्य करने योग्य है ॥४॥ न मृदुता ही मृदुता से और न कठोरता ही कठोरता से आदमी अपने आपको महान् बना सकता है, इसलिए आदमी दोनों का आचरण करे ॥५॥ कोमल (राजा) अभिभूत हो जाता है, कठोर (राजा) के वैरी हो जाते हैं —इन दोनों बातों को जानकर मध्यस्थ आचरण करे ॥६॥ राग से भी आदमी बहुत बोलता है, द्वेष के कारण भी बहुत बोलता है— राजन् ! स्त्री के कारण पुत्र को मरवाना उचित नहीं ॥७॥]

इस प्रकार नाना तरह से समझा कर भी अमात्य अपनी बात नहीं समझा सके। बोधिसत्व भी याचना करके अपनी प्रार्थना स्वीकार नहीं करवा सका। उस अन्धे मूर्ख राजा ने 'इसे ले जा कर चोर-प्रपात में गिरा दो' आज्ञा देते हुए आठवीं गाथा कही—

सब्बो च लोको एकन्तो, इत्थी च अयं एकिका,
तेनाहं पटिपज्जिस्सं, गच्छ पक्खिपथ एव नं ॥८॥

[सब लोग एक ओर हैं, यह स्त्री अकेली है। इसलिए मैं इसकी बात ठीक मानता हूँ। जाओ, इसे चोर-प्रपात से गिरा ही दो ॥८॥]

ऐसा कहने पर सोलह हजार स्त्रियों में से एक भी होश सँभाले नहीं रह सकी। सारे नगर-निवासी बाहें उठा कर, केश फैलाकर विलाप करने लगे। राजा ने सोचा 'ये इसका प्रपात से गिराना रोक भी सकते हैं', इसलिए उसने अनुयायियों के साथ जा, रोती हुई जनता की परवाह न कर, उसे ऊपर-पाँव नीचे सिर कर, पकड़वाकर प्रपात से गिरवा दिया। उसकी मैत्री-भावना के प्रताप से पर्वत पर रहनेवाली देवी ने उसे आश्वासन दिया—महापद्म डर मत। उसने उसे दोनों हाथों से ले, छाती से लगा, दिव्य-स्पर्श से छुआ, उतार कर पर्वत की तलहटी में पर्वतस्थित नाग-भवन में नागराज के फण के पास लाकर रखा। नाग-राज बोधिसत्व को नागभवन ले गया और अपनी सम्पत्ति को आधा बाँट कर दिया। उसने वहाँ एक वर्ष रहने के बाद कहा—"आदमियों की बस्ती में जाऊँगा। "कहाँ ?" बोला— "हिमालय जाकर प्रव्रजित होऊँगा।" नागराजा ने 'अच्छा' कहा और उसे मनुष्य-लोक में पहुँचा कर, प्रव्रजित की आवश्यकतायें दे स्वयं अपने निवास-स्थान को लौट आया। वह भी हिमालय में गया और ऋषि-प्रव्रज्या

ले, ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर, जंगल के फल-मूल खाता हुआ वहीं रहने लगा।

एक वाराणसी-वासी वनचर वहाँ पहुँचा और बोधिसत्व को पहचान कर पूछा—"देव! क्या तुम महापद्मकुमार नहीं हो?" "सौम्य! हाँ" कहने पर उसने उसे प्रणाम किया और कुछ दिन वहाँ रहा। फिर उसने वाराणसी जा राजा से कहा--"देव! तुम्हारे पुत्र ने हिमालय में ऋषि-प्रव्रज्या ले रखी है और पर्णकुटी में रहता है। मैं उसके पास रहकर आया हूँ।"

"क्या तूने प्रत्यक्ष देखा है?"

"देव! हाँ।"

राजा ने बड़ी भारी सेना ली और वहाँ पहुँच वन के एक सिरे पर छावनी डाली। फिर अमात्यों सहित वह पर्णशाला में पहुँचा, जहाँ पर्णशाला के द्वार पर कंचन-रूप-सदृश बोधिसत्व बैठे थे। राजा प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। अमात्य भी प्रणाम कर कुशल-क्षेम पूछ बैठे। बोधिसत्व ने भी राजा से फलाफल खाने के लिए तथा उसका कुशल-क्षेम पूछा। राजा ने उसे "तात! मैंने तुझे गहरे प्रपात में फिंकवा दिया था, तू जीवित कैसे है?" पूछते हुए नौवीं गाथा कही—

अनेक ताले नरके गम्भीरे सुदुरुत्तरे,
पातितो गिरिदुग्गस्मिं केन त्वंत्थ नामरि॥९॥

[अनेक ताड़ गहरे, निकलने में असम्भव, नरक तुल्य पर्वत-प्रपात में तुझे गिरवाया। तू किस कारण से नहीं मरा?]

(उसने उत्तर दिया)—

नागबलो जातबलो तत्थ थामवा गिरि सानुजो,
पच्चमाही मं भोगेहि तेनाहं तत्थ नामरि॥१०॥

[वहाँ बलधारी, शक्तिशाली नाग था, जो पर्वत में पैदा हुआ था। उसी ने मुझे फन से ग्रहण कर लिया। इसी से मैं नहीं मरा॥१०॥]

(राजा बोला)—

एहि तं पीटनेस्सामि राजपुत्त सकं घरं,
रज्जं कारेहि, भद्दं ते, किं अरञ्ञे करिस्ससि॥११॥

[राजपुत्र! आ, तुझे घर ले चलूंगा। वहाँ राज्य कर। तेरा भला हो।

जंगल में क्या करेगा ?]

(उसने उत्तर दिया)—

यथा गिलित्वा बलिसं उद्धरेय्य सलोहितं,
उद्धरित्वा सुखी अस्स सुखं पस्सामि अत्तनि ॥१२॥

[जिस तरह मछली फँसाने के काँटे को निगल कर मछली रक्त-सहित बाहर निकाल दे तो वह निकाल देने से सुखी होती है। इसी प्रकार मैं अपने-आप को सुखी देखता हूँ ॥१२॥]

(राजा बोला)—

किं नु त्वं बलिसं ब्रूसि, किं त्वं ब्रूसि सलोहितं,
किं नु त्वं उब्भतं ब्रूसि, तं मे अक्खाहि पुच्छितो ॥१३॥

[तू मछली का काँटा किसे कहता है ? रक्त सहित किसे कहता है ? बाहर निकला किसे कहता है ?--पूछे जाने पर बता ॥१३॥]

(उसने उत्तर दिया)—

कामाहं बलिसं ब्रूमि, हत्थिस्सं सलोहितं,
चत्ता हे उब्भतं ब्रूमि, एवं जानाहि खत्तिय ॥१४॥

[काम-भोग मछली का काँटा है। हाथी-घोड़ों को रक्त-सहित कहता हूँ। त्याग को 'काँटा निकलना' कहता हूँ—हे क्षत्रिय ! इस प्रकार जान ॥१४॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने पिता को उपदेश दिया—"महाराज ! मुझे राज्य से मतलब नहीं। तू राजधर्मों के विरुद्ध न जा, अगति गमन छोड़ धर्मानुसार राज्य कर।" उसने रोते-पीटते हुए नगर को लौटते समय रास्ते में अमात्यों से पूछा—

"मुझे किसके कारण इस प्रकार के सदाचारी पुत्र का वियोग सहना पड़ा ?"

"पटरानी के कारण।"

राजा ने उसे उलटे पैर करा, पकड़वा, चोर प्रपात से गिरवाया और नगर में प्रवेश कर धर्मानुसार राज्य किया।

शास्ता ने इस प्रकार धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, यह पहले भी मुझे ..-शब्द कह विनाश को प्राप्त हुई" कह अन्तिम गाथा कही—

चिञ्चमाणविका माता देवदत्तो च मे पिता,
आनन्दो पण्डितो नागो सारिपुत्तो च देवता,
अहं तदा राजपुत्तो एवं धारेथ जातकं ॥१५॥

[चिञ्चमाणविका माता थी, देवदत्त पिता था। पण्डित आनन्द नाग था, सारिपुत्र देवता। उस समय मैं राजपुत्र था। इस प्रकार इस जातक को धारण करो ॥१५॥]

यूँ जातक का मेल बैठाया।

४७३. मित्तामित्त जातक

"कानि कम्मानि कुब्बानि"...यह शास्ता ने कोशल-नरेश का उपकार करने वाले अमात्य के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

वह राजा का बहुत उपकार करने वाला था। राजा उसका विशेष सम्मान करता था। दूसरे लोगों ने इसे सहन न कर सकने के कारण राजा का मन उसकी ओर से खट्टा कर दिया-- देव ! अमुक अमात्य आपका अहित-चिन्तक है। राजा ने उसकी परीक्षा ली। जब उसे अमात्य का कोई दोष न दिखायी दिया तो उसने सोचा---मुझे इसका कोई दोष दिखाई नहीं देता। मैं इसका मित्र वा शत्रु होना कैसे जानूं ? उसने तै किया---"इस प्रश्न का उत्तर तथागत के अतिरिक्त कोई दूसरा न दे सकेगा। जाकर पूछूं।" उसने प्रातःकाल का भोजन किया और शास्ता के पास जाकर पूछा---"भन्ते ! आदमी किसी का मित्र या शत्रु होना कैसे जान सकता है ?" शास्ता ने---"महाराज ! पहले भी पण्डितों ने इस प्रश्न का विचार कर पण्डितों से पूछा है और उनके बताये अनुसार शत्रुओं से बच मित्रों की संगत की है" कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही---

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसका एक अर्थ-धर्मानुशासक अमात्य था। तब शेष लोगों ने वाराणसी राजा का मन एक उपकारी अमात्य के विरुद्ध कर दिया। राजा ने उसका दोष न देख "मित्र या शत्रु को कैसे पहचाना जाये ?" पूछते हुए पहली गाथा कही---

कानि कम्मानि कुब्बानं कथं विञ्ञू परक्कमे,
अमित्तं जानेय्य मेधावी दिस्वा सुत्वाव पण्डितो ॥१॥

[बुद्धिमान् पुरुष किस-किस कर्म करने वाले को देखकर या सुनकर

अमित्र समझे और जानने के लिये प्रयत्न करे ॥१॥]

बोधिसत्व ने अमित्र का लक्षण बताते हुए ये पाँच गाथायें कहीं—

न नं उम्हयते दिस्वा न च नं पटिनन्दति,
चक्खूनि चस्स न ददाति पटिलोमं च वत्तति ॥२॥
अमित्ते तस्स भजति मित्ते तस्स न सेवति,
वण्णकामे निवारेति अक्कोसन्ते पसंसति ॥३॥
गुय्हं च तस्स न अक्खाति तस्स गुय्हं न गूहति,
कम्मं तस्स न वण्णेति पञ्ञस्स न प्पसंसति ॥४॥
अभवे नन्दति तस्स भवे तस्स न नन्दति,
अच्छरियं भोजनं लद्धा तस्स नुप्पज्जते सति,
ततो नं नानुकम्पति, अहो सो पि लभेय्य इतो ॥५॥
इच्चेते सोलसाकरा अमित्तस्मिं पतिट्ठिता,
येहि अमित्तं जानेय्य दिस्वा सुत्वा व पण्डितो ॥६॥

[उसे देखकर खिल नहीं पड़ता, उसका अभिनन्दन नहीं करता, उसकी आँख में नहीं देखता, उससे उल्टा बरतता है, उसके शत्रुओं की संगत करता है, मित्रों की संगत नहीं करता, उसकी प्रशंसा करने वालों को रोकता है, निन्दा करने वालों की प्रशंसा करता है, उसे गुप्त बात नहीं कहता, उसकी गुप्त बात की रक्षा नहीं करता, उसके कर्म की प्रशंसा नहीं करता, उसकी प्रज्ञा की बड़ाई नहीं करता, उसके घाटा होने पर प्रसन्न होता है, वृद्धि होने पर प्रसन्न नहीं होता, उसे बढ़िया भोजन मिलने पर उसकी याद नहीं आती, उसे यह भावना नहीं होती कि उसे भी इसमें से दूँ—ये सोलह बातें हैं जो शत्रु में रहती हैं। इन्हें ही देख सुनकर पण्डित शत्रु को जान ले ॥२—६]

इस गाथा से मित्र के लक्षण पूछे गये—

कानि कम्मानि कुब्बानं कथं विञ्ञू परक्कमे,
मित्तं जानेय्य मेधावी दिस्वा सुत्वा व पण्डितो ॥७॥

तब शेष गाथायें कहीं—

पवुत्थं त तं सरति आगतं अभिनन्दति,
ततो केलायितो होति वाचाय पटिनन्दति ॥८॥

मित्ते तस्सेव भजति अमित्ते तस्स न सेवति,
अक्कोसन्ते निवारेति वण्णकामे पसंसति ॥९॥
गुय्हं च तस्स अक्खाति तस्स गुय्हं च गूहति,
कम्मं च तस्स वण्णेति पञ्ञं तस्स पसंसति ॥१०॥
भवे च नन्दति तस्स अभवे तस्स न नन्दति,
अच्छरियं भोजनं लद्धा तस्स उप्पज्जते सति,
ततो नं अनुकम्पति, अहो सो पि लभेय्य इतो ॥११॥
इच्चेते सोलसाकारा मित्तस्मिं सुप्पतिट्ठिता,
येहि मित्तं सु जानेय्य दिस्वा सुत्वा व पण्डितो ॥१२॥

[विदेश गये को उस उससे याद करता है, आने पर अभिनन्दन करता है, प्रेम करता है और वाणी से प्रसन्नता प्रकट करता है ॥८॥......अर्थ स्पष्ट है ॥९—१२॥]

राजा ने बोधिसत्व की बातचीत पर प्रसन्न हो, उसे बड़ा धन दिया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "महाराज ! इस प्रकार पहले भी यह प्रश्न पैदा हुआ। पण्डितों ने बताया कि इन बत्तीस बातों से शत्रु-मित्र को पहचानना चाहिए" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था। पण्डित-अमात्य तो मैं ही था।

तेरहवाँ परिच्छेद

४७४. अम्ब जातक

"अहासि मे अम्बफलानि पुब्बे . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के बारे में कही।

क. वर्त्तमान कथा

देवदत्त "मैं बुद्ध होऊँगा, श्रमण गौतम न मेरा आचार्य्य है, न उपाध्याय है" कह आचार्य्य का प्रत्याख्यान कर, ध्यान से पतित हो, संघ में भेद उत्पन्न कर, क्रमशः श्रावस्ती पहुँच, जेतवन के बाहर पृथ्वी के मुँह खोल देने पर अवीची-नरक में पहुँचा। उस समय धर्म-सभा में बातचीत चली—"आयुष्मानो! देवदत्त आचार्य्य का प्रत्याख्यान कर महाविनाश को प्राप्त हुआ और अवीची-नरक में पहुँचा।" शास्ता ने आकर "भिक्षुओ, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ, न केवल अभी, पहले भी देवदत्त आचार्य्य का प्रत्याख्यान कर महाविनाश को प्राप्त हुआ" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसका पुरोहित-कुल प्लेग[1] से नष्ट हो गया। एक ही लड़का दीवार तोड़कर भागकर बचा। वह तक्षशिला पहुँचा और प्रसिद्ध आचार्य्य से वेद तथा अन्य शिल्प सीख, उन्हें प्रणाम कर देश-भ्रमण करने की आज्ञा ले निकला। वह घूमता-घूमता एक प्रत्यन्त-नगर पहुँचा। उसके पास ही एक महाचाण्डाल ग्रामड़ा था। उसी समय बोधिसत्व उसी गाँव में रहते थे—पण्डित, मेधावी।

---

१. अहिवातक रोग (?)

वह असमय फल पैदा करने का मन्त्र जानते थे। प्रातःकाल ही बैंहगी ले, गाँव से निकल, आरण्य में एक आम्र-वृक्ष के पास जा उससे सात कदम की दूरी पर खड़े हो, मन्त्र पढ़कर पानी का छींटा देते। वृक्ष से उसी समय पुराने पत्ते झड़ जाते, नये आ जाते, फूल लगकर गिर जाते, आम लगकर, उसी समय पक कर मधुर, ओज-पूर्ण दिव्य-फलों के सदृश हो पेड़ से गिरते। बोधिसत्व उन्हें चुनकर, यथेच्छ खा, बैंहगी भर कर घर ले जाते और उन्हें बेंचकर स्त्री-पुत्र का पालन करते।

उस ब्राह्मण कुमार ने जब असमय बोधिसत्व को आम्र-फल लाकर बेंचते देखा तो सोचा--यह निस्सन्देह मन्त्र-बल से ही पैदा किये गये होंगे! इस आदमी से यह अमूल्य मन्त्र प्राप्त करूँगा। उसने बोधिसत्व के फल लाने की विधि की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर, जब अभी वह जंगल से नहीं लौटे थे, उसके घर जा, एक अजान की तरह उसकी भार्य्या से पूछा—

"आचार्य्य! कहाँ है?"

"जंगल गये हैं।"

वह आने की प्रतीक्षा करता रहा। आने पर आगे बढ़, हाथ से बैंहगी ले, लाकर घरपर रखा। बोधिसत्व ने उसे देख भार्य्या से कहा—"भद्रे! यह तरुण मन्त्र के लिये आया है। लेकिन इसके पास मन्त्र नहीं ठहरेगा। यह असत्पुरुष है।" तरुण ने भी सोचा कि मैं आचार्य्य की सेवा करके यह मन्त्र ग्रहण करूँगा। तब से वह उसके घर में सेवा-कार्य्य करने लगा— लकड़ियाँ लाता, धान कूटता, पकाता, मुँह धोने के लिए जल आदि देता तथा पैर धोता। एक दिन बोधिसत्व ने उससे कहा--"तात! माणवक! मेरी चारपाई के पाँव के नीचे सहारा लगा दो।" उसे कुछ और नहीं मिला तो वह सारी रात चारपाई को जांघ में रखकर ही बैठा रहा। आगे चलकर बोधिसत्व की भार्य्या ने पुत्र को जन्म दिया। उसने उसका सारा प्रसूति-कर्म किया। एक दिन वह स्वामी से बोली—"स्वामी! यह ब्रह्मचारी (ऊँची) जात का होकर भी मन्त्र के लिए हमारी सेवा करता है। इसके हाथ में मन्त्र रहे, चाहे न रहे, इसे मन्त्र दे दें।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उसे मन्त्र देते हुए कहा—"तात! यह मन्त्र अमूल्य है। इससे तुझे बहुत लाभ-सत्कार मिलेगा। चाहे राजा चाहे महामात्य

पूछे कि तेरा आचार्य कौन है, तो मेरा नाम मत छिपाना। यदि "मैंने चाण्डाल से मन्त्र सीखा" इस लज्जा के कारण "मेरा आचार्य्य ब्राह्मण महाशालि है" कहेगा तो इस मन्त्र का फल नहीं मिलेगा। वह बोला—"छिपाऊँगा क्यों? कोई पूछेगा तो तुम्हारा ही नाम लूंगा।" उसने प्रणाम किया और चाण्डाल-ग्राम से निकल मन्त्र का जापकर, क्रमशः वाराणसी पहुँच आम बेचकर बहुत धन प्राप्त किया।

एक दिन एक माली ने उसके हाथ से आम लेकर राजा को दिया। राजा ने खाकर पूछा—"तुझे ऐसा आम कहाँ से मिला?"

"देव! एक आदमी अकाल-पके आम लाकर बेचता है। मैंने उससे लिया।"

"उसे कहो कि अब से यहीं फल ले आया करे।"

उसने वैसा ही किया।

तरुण भी तब आमों को राजकुल ही ले जाता। राजा बोला—"मेरी ही सेवा में रह।" उसने राज-सेवा में रहते हुए बहुत धन प्राप्त किया और क्रमशः बहुत विश्वस्त हो गया। एक दिन राजा ने पूछा—"इस प्रकार के वर्ण-गन्ध-रस-युक्त आम के फल तू कहाँ पाता है? क्या तुझे नाग, गरुड़, देव अथवा और कोई देता है या मन्त्र-बल है?"

"राजा, मुझे कोई देता नहीं है। मेरे पास अमूल्य-मन्त्र है। यह उसी का बल है।"

"तो हमारी भी एक दिन मन्त्र-बल देखने की इच्छा है।"

"अच्छा, देव! दिखाऊँगा।"

अगले दिन राजा उसके साथ उद्यान गया और बोला—"दिखाओ।" उसने 'अच्छा' कहा और आम के पेड़ के पास पहुँच, सात कदम की दूरी पर खड़े रह, मन्त्र का जप कर, पेड़ को पानी का छींटा दिया। उसी समय आम के पेड़ ने पूर्वोक्त प्रकार से फल धारण कर भारी वर्षा बरसने की तरह आमों की वर्षा की। जनता ने साधुवाद दिया। पगड़ियाँ उछालीं। राजा ने फल खा, उसे बहुत-सा धन देकर पूछा—"तरुण! इस प्रकार का आश्चर्य्यकर मन्त्र तूने किस से सीखा?"

'यदि मैं 'चाण्डाल से' कहूँगा तो यह मेरे लिए लज्जा की बात

होगी। (लोग) मेरी निन्दा करेंगे। अब मुझे मन्त्र का अभ्यास हो ही गया है। वह नष्ट नहीं होगा। प्रसिद्ध आचार्य्य का नाम ले दूँ सोच, उसने झूठ बोलते हुए कहा—"तक्षशिला के प्रसिद्ध आचार्य्य से मुझे यह मन्त्र प्राप्त हुआ है।" इस प्रकार उसने अपने यथार्थ आचार्य्य का प्रत्याख्यान किया। उसी समय मन्त्र अन्तर्धान हो गया। राजा प्रसन्न था। वह उसे लेकर नगर गया। फिर एक दिन आम खाने की इच्छा से, उद्यान पहुँच, मङ्गल-शिलातल पर बैठ बोला—"तरुण! आम ला।" उसने 'अच्छा' कहा और आम के वृक्ष के पास जा, सात कदम की दूरी से मन्त्र का जाप करना चाहा। जब मन्त्र याद नहीं आया तो वह समझ गया कि मन्त्र अन्तर्धान हो गया और लज्जा के मारे खड़ा हो गया। राजा ने यह सोचा कि पहले तो लोगों के सामने ही इसने मुझे आम लाकर दिये, घनी वर्षा की तरह आमों की वर्षा की, अब जड़ बना खड़ा है, क्या कारण है? उसे पूछने के लिए पहली गाथा कही—

अहासि मे अम्बफलानि पुब्बे
अणूनि थूलानि च ब्रह्मचारी,
ते हेव मन्तेहि न दानि तुय्हं
दुमप्फला पातुभवन्ति ब्रह्मे ॥१॥

[ब्रह्मचारी! पहले तू अन्यून और स्थूल फल लाया। अब उन्हीं मन्त्रों से तेरे लिए वृक्ष के फल प्रादुर्भूत नहीं होते! ॥१॥]

यह सुन ब्रह्मचारी ने यह सोच कि यदि यह कहूँगा कि आज आम्रफल ग्रहण नहीं कर सकता, तो राजा मुझ पर क्रोधित होगा, मैं उसे झूठ बोल कर ठगूँगा, दूसरी गाथा कही—

नक्खत्तयोगं पतिमानयामि
खणं मुहुत्तं न मं तोसयन्ति,
नक्खत्तयोगं च खणं च लद्धा
अथाहरिस्सं अम्बफलं पहूतं ॥२॥

[नक्षत्र-योग की प्रतीक्षा करता हूँ, नक्षत्र तथा मुहूर्त्त की मुझ पर कृपा नहीं है। नक्षत्र-योग और (उचित) क्षण आने पर बहुत आम्रफल लाऊँगा ॥२॥]

राजा ने 'यह पहले नक्षत्र-योग की बात नहीं करता था, (अब) यह क्या है ?' पूछने की इच्छा से दो गाथायें कही—

नक्खत्तयोगं न पुरे अभाणि
खणं मुहुत्तं न पुरे पसंसि,
अथाहरि अम्बफलं पहूतं
वण्णेन गन्धेन रसेनुपेतं ॥३॥
मन्ताभिजप्पेन पुरस्स तुय्हं
दुमप्फला पातुभवन्ति ब्रह्मे,
स्वज्ज न पारेसि जपं पि मन्ते
अयं सो को नाम तवज्ज धम्मो ॥४॥

[पहले न नक्षत्र-योग की बात की और न पहले क्षण-मुहूर्त की ही प्रशंसा की। (पहले तो) वर्ण-गन्ध तथा रस से युक्त बहुत आम्रफल लाया ॥३॥ हे ब्रह्म ! पहले तेरे मन्त्र के जाप से वृक्षों को फल लगते थे। आज तू मन्त्रों का जाप तक भी नहीं कर सकता है। यह आज तेरा क्या धर्म है ? ॥४॥]

'मैं राजा को झूठ बोल कर नहीं ठग सकता, सत्य बोलने से यदि वह (दण्ड—) आज्ञा करता है तो करे, सत्य ही बोलूंगा' सोच दो गाथायें कहीं—

चण्डालपुत्तो मम सम्पदासि
धम्मेन मन्ते पकतिं च संसि,
मा चस्सु मे पुच्छितो नाम गोत्तं
गुय्हित्थो मा तं विजहेय्य मन्तो ॥५॥
सोहं जनिन्देन जनं पि पुट्ठो
मक्खाभिभूतो अलिकं अभाणि,
मन्ता इमे ब्राह्मणस्स, तिमिच्छा
पहीनमन्तो कपणं रुदामि ॥६॥

[मुझे यह मन्त्र चाण्डाल-पुत्र ने बिना कुछ छिपाये दिये और इन मन्त्रों का स्वभाव भी बता दिया—(गुरु का) नाम-गोत्र पूछने पर उसे छिपाना मत। छिपाने से कहीं तुझे यह मन्त्र छोड़ न जायें ॥५॥ मैंने राजा

से पूछे जाने पर भी म्रक्ष से अभिभूत होने के कारण झूठ बोल दिया। यह ब्राह्मण से प्राप्त मन्त्र हैं—यह बात मिथ्या हैं। अब मन्त्र नाश होने पर मैं दरिद्र रोता हूँ ॥६॥)

यह सुन राजा ने 'इस पापी ने इस प्रकार के रत्न पर ध्यान नहीं दिया, इस प्रकार के उत्तम-रत्न के मिलने पर जाति क्या करेगी ?' सोच, क्रोधित हो दो गाथायें कहीं—

एरण्डा पुचिमन्दा वा, अथवा पलिभद्दका,
मधुं मधुत्थिको विन्दे, सोहि तस्स दुमुत्तमो ॥७॥
खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डाल पुक्कुसा,
यस्मा धम्मं विजानेय्य सोहि तस्स नरुत्तमो ॥८॥
इमस्स दण्डञ्च वधञ्च दत्वा
गले गहेत्वा खलयाथ जम्मं,
यो उत्तमत्थं कसिरेन लद्धं
मानातिमानेन विनासयित्थ ॥९॥

[अरण्डी, (?) अथवा (?) —कोई भी वृक्ष हो, जिस वृक्ष से भी मधुगवेषक को मधु मिल जाता है, वह ही उसके लिए उत्तम वृक्ष रहता है ॥७॥ इसी प्रकार, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा फूल छोड़ने वाला—कोई भी मनुष्य हो जिस मनुष्य से किसी को धर्म का ज्ञान प्राप्त हो, वह ही उसके लिए उत्तम-नर है ॥८॥ इस दुष्ट को, जिसने बड़ी कठिनाई से प्राप्त उत्तम-अर्थ को मान तथा अतिमान के कारण नष्ट कर डाला दण्ड और वध (की आज्ञा) देकर, गले से पकड़कर (इसको) पीटो ॥९॥]

राजपुरुषों ने वैसा ही किया और उसे देश-निकाला दे दिया—"अपने आचार्य के पास जाकर, उसे प्रसन्न कर यदि फिर मन्त्र मिलें तो यहाँ आना, अन्यथा इधर न देखना।" वह अनाथ हो गया। उसने सोचा—"आचार्य के अतिरिक्त और कोई मेरा शरण-स्थान नहीं है। उसी के पास जाकर उसे प्रसन्न कर फिर मन्त्रों की याचना करूँगा।" वह रोता हुआ उस गाँव गया। उसे आता हुआ देख बोधिसत्व ने भार्य्या को बुलाकर कहा—"भद्रे ! देख, वह पापी मन्त्र-विहीन होकर फिर आ रहा है। उसने

बोधिसत्व के पास आ, प्रणाम कर, एक ओर बैठ 'क्यों आया ?' पूछने पर 'आचार्य्य ! मैंने झूठ बोलकर आचार्य्य का प्रत्याख्यान किया और महाविनाश को प्राप्त हुआ' कह दोष स्वीकार करते हुए तथा फिर मन्त्रों की याचना करते हुए गाथा कही—

यथा समं मञ्ञमानो पतेय्य
सोब्भं गुहं नरकं पूतिपादं,
रज्जूतिवा अक्कमे कण्हसप्प
अन्धो यथा जोतिं अधिट्ठहेय्य,
एवंपि मं त्वं खलितं सपञ्ञा
पहीनमन्तस्स पुनप्पसीद ॥१०॥

[जैसे कोई सम-भूमि समझ, गर्त्त, गुहा अथवा भयानक पूति-पाद[1] में जा गिरे, रस्सी मानकर काले-साँप को लांघे, या अन्धा आग में जा पड़े, उसी प्रकार आप प्रज्ञा से मुझ मन्त्र-विहीन अपराधी पर फिर कृपा करें ॥१०॥]

उसे आचार्य्य ने उत्तर दिया—"तात ! तू क्या कह रहा है ? अन्धे को यदि सचेत कर दिया और पहचान बता दी जाय तो वह गर्त्त आदि से बच जाता है। मैंने तुझे पहले ही कह दिया था। अब तू किसलिए मेरे पास आया है ?" फिर आचार्य्य ने ये गाथायें कहीं—

धम्मेन मन्ते तव सम्पदासिं
त्वंपि धम्मेन पटिग्गहेसि,
पकतिं पि ते अत्तमनो असंसि
धम्मे ठितं तं न जहेय्य मन्तो ॥११॥
यो बाल मन्तं कसिरेन लद्धं
यं दुल्लभं अज्ज मनुस्सलोके,
किच्छापि लद्धा जीविकं अप्पञ्ज
विनासयी अलिकं भासमानो ॥१२॥

---

१. हिमालय में वृक्षों के सूखकर, मर जाने पर, सड़ जाने पर, बड़ा गड्ढा हो जाता है, उसे पूत्तिपाद कहते हैं।

बालस्स मूल्हस्स अकतञ्ञुनोच
मुसा भणंतस्स असञ्ञतस्स,
मन्ते मयं तादिसके न देम
कुतो मन्ता, गच्छ न मय्ह रुच्चसि ॥१३॥

[तुझे धर्म (भाव) से ही मन्त्र दिये। तूने भी धर्म (भाव) से ग्रहण किये। तुझे इन मन्त्रों का स्वभाव भी बता दिया कि जब तक धर्म से रहेगा, तब तक ये मन्त्र तुझे न छोड़ेंगे ॥११॥ उस (तू) मूर्ख ने कठिनाई से प्राप्त, आज संसार में दुर्लभ, जीविका को अपनी मूर्खता से झूठ बोलकर नष्ट कर दिया ॥१२॥ जो मूर्ख है, मूढ़ है, अकृतज्ञ है, झूठा है तथा असंयमी है, ऐसे आदमी को हम वैसे मन्त्र नहीं देते हैं। अब मन्त्र कहाँ ? जा मुझे (तू) अच्छा नहीं लगता ॥१३॥]

इस प्रकार आचार्य्य द्वारा धिक्कारे जाकर उसने सोचा, मैं जीकर क्या करूँगा ? वह जंगल में जाकर अनाथ-मृत्यु को प्राप्त हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, 'भिक्षुओ, न केवल अभी किन्तु पहले भी देवदत्त आचार्य्य का प्रत्याख्यान कर महाविनाश को प्राप्त हुआ' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय अकृतज्ञ ब्रह्मचारी देवदत्त था। राजा आनन्द। चाण्डाल-पुत्र तो मैं ही था।

---

४७५. फन्दन जातक

"कुठारिहत्थो पुरिसो· · · · ·" यह शास्ता ने रोहिणी नदी के किनारे रिश्तेदारों के झगड़े के बारे में कही। (वर्तमान) कथा कुणाल-जातक[1] में आयेगी। उस समय शास्ता ने रिश्तेदारों को बुलवा. . . . .

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय नगर के बाहर बढ़इयों का गाँव था। वहाँ एक ब्राह्मण-बढ़ई जंगल से लकड़ियाँ ला, रथ बना, जीविका चलाता था। उस समय हिमालय-प्रदेश में महास्पन्दन नाम का एक वृक्ष था। एक कालसिंह शिकार खोजता-खोजता आकर उसकी जड़ में लेट रहा। हवा चलने पर एक दिन एक सूखा टहना उसकी गर्दन पर आ पड़ा। कन्धा दुखने से वह थोड़ा भयभीत हो गया। भागा। रुका। जब उसने पीछे मुड़कर किसी को आता न देखा तो सोचा—"कोई सिंह या व्याघ्र मेरा पीछा नहीं कर रहा है। मालूम होता है कि इस वृक्ष पर रहने वाले देवता को मेरा यहाँ रहना सहन नहीं है। अच्छा, देखूंगा।" उसने अनुचित क्रोध कर, वृक्ष पर एक झपटा मार, वृक्ष-देवता को धमकाते हुए कहा—"न तेरे वृक्ष के पत्ते खाता हूँ, न टहनियाँ तोड़ता हूँ, दूसरे पशुओं का यहाँ रहना सहन होता है, मेरा रहना सहन नहीं होता। मेरा क्या दोष है? कुछ दिन प्रतीक्षा कर। तुझे जड़ से उखड़वाकर टुकड़े-टुकड़े करूंगा।"

तब वह एक पुरुष को ढूंढता हुआ विचरने लगा। उस समय वह ब्राह्मण बढ़ई दो-तीन आदमियों के साथ रथ की लकड़ी खोजता हुआ गाड़ी पर वहाँ पहुंचा। उसने गाड़ी को एक ओर खड़ा किया और वासी तथा कुल्हाड़ा ले वृक्षों को देखता हुआ स्पन्दन-वृक्ष के पास पहुँचा। कालसिंह ने

---

१. कुणाल जातक (५३६)।

सोचा—'आज मुझे शत्रु की पीठ देखनी चाहिये।' वह जाकर वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया। बढ़ई इधर-उधर देखता हुआ स्पन्दन-वृक्ष के पास से गुजरा। उसने उसे पास से गुजरने से पहले ही कहने की इच्छा से पहली गाथा कही—

कुठारिहत्थो पुरिसो वनं, ओगय्ह तिट्ठसि,
पुट्ठो मे सम्म अक्खाहि, किं दारुं छेत्तुं इच्छसि ॥१॥

[हे कुल्हाड़ी वाले आदमी ! तू वन में आकर खड़ा है। हे मित्र ! मैं तुझसे पूछता हूँ, क्या तू लकड़ी काटना चाहता है ? ॥१॥]

उसने उसकी बात सुनी तो सोचा—आश्चर्य्य है, इससे पहले मैंने किसी पशु को मनुष्य की वाणी बोलते नहीं देखा। यह रथ के योग्य लकड़ी पहचानता है ? इसे पूछूंगा। (तब) उसने दूसरी गाथा कही—

ईसो वनानि चरसि समानि विसमानि च,
पुट्ठोमे सम्म अक्खाहि किं दारुं निमिया दलहं ॥२॥

[हे (सिंह) राज ! तुम सम-विषम बनों में घूमते हो। हे मित्र ! मेरे पूछने पर यह कहो कि नेमी के लिये कौन-सी लकड़ी अच्छी है ? ॥२॥]

यह सुन 'अब मेरी इच्छा पूरी होगी' सोच (उसने) तीसरी गाथा कही—

नेव सालो न खदिरो नस्सकण्णो कुतो धवो,
रुक्खोव फन्दनो नाम तं दारुं नेमिया दलहं ॥३॥

[न शाल, न खैर और न अश्व-कर्ण अच्छा है। धव (?) तो कहाँ से होगा। फन्दन नामक वृक्ष ही नेमी के लिये मजबूत लकड़ी है ॥३॥]

यह सुन उसे हर्ष हुआ—आज मैं अच्छे दिन जंगल में आया हूँ। पशु तक मुझे रथ के योग्य लकड़ी बता रहे हैं। ओह (कितना) अच्छा है ! उसने प्रश्न करते हुए चौथी गाथा कही—

कीदिसानिस्स पत्तानि, खन्धो वा पन कीदिसो,
पुट्ठो मे सम्म अक्खाहि, यथा जानेसु फन्दनं ॥४॥

[उसके पत्ते कैसे हैं ? उसका तना कैसा है ? हे मित्र ! मैं पूछ रहा हूँ, मुझे बताओ कि फन्दन (-वृक्ष) को कैसे पहचानें ? ॥४॥]

उसे उत्तर देते हुए दो गाथायें कहीं—

यस्स साखा पलम्बन्ति नमन्ति न च भञ्जरे,
सो रुक्खो फन्दनो नाम यस्स मूले अहं ठितो ॥५॥
अरानं चक्कनाभीनं ईसा नेमी रथस्स च,
सब्बस्स ते कम्मनियो, अयं हेस्सति फन्दनो ॥६॥

[जिसकी शाखायें लम्बी होती हैं, झुकती हैं किन्तु टूटती नहीं है, वह (यह) वृक्ष फन्दन है जिसके नीचे मैं खड़ा हूँ ॥६॥ यह फन्दन (वृक्ष) तेरे रथ के पहिये के डण्डों के, चक्र-नाभियों के, बन्धुओं के तथा चक्के के घेरे के— सभी के काम का होगा ॥७॥]

इस प्रकार कह वह संतुष्ट-चित्त हो एक ओर घूमने लगा। बढ़ई ने भी वृक्ष का काटना आरम्भ किया। वृक्ष-देवता ने सोचा—मैंने इसके ऊपर कुछ नहीं गिराया। यह अनुचित बैर करके मेरे निवास-स्थान को नष्ट कराने जा रहा है। मैं तो नष्ट होऊँगा ही, एक उपाय से इस (सिंह)-राज को भी नष्ट कराऊँगा। उसने एक जंगल में काम कराने वाले आदमी का रूप धारण किया और उसके पास आकर पूछा—

"हे पुरुष ! तुम्हें अच्छा वृक्ष मिला है। इसे काटकर क्या करोगे ?"

"रथ के पहियों के घेरे बनाऊँगा।"

"इस वृक्ष से रथ बनेगा, यह तुमसे किसने कहा ?"

"एक काल-सिंह ने।"

"अच्छा, उसने ठीक कहा है। इस वृक्ष का रथ बहुत अच्छा बनेगा। लेकिन यदि काल-सिंह के गले का चमड़ा उधेड़ कर, चार अंगुल जगह पर लोहे के पट्टे की तरह पहिये के घेरे में लपेट दिया जायगा तो घेरा मजबूत होगा और बहुत धन मिलेगा।"

"काल-सिंह का चर्म कहाँ मिलेगा ?"

"क्या मूर्ख है ? यह जो बन में तेरा वृक्ष है, यह तो भाग नहीं जायगा। तुझे जिसने यह वृक्ष बताया है, उसी के पास जाकर कह—"स्वामी ! तुमने जो वृक्ष बताया है उसे किस जगह से काटूँ ?" इस प्रकार उसे ठग कर यहाँ ले आ। फिर जब वह निश्शंक होकर मुँह आगे करके 'यहाँ से काट' बतायेगा, उस समय तेज कुल्हाड़े का प्रहार कर जान से मार डालना और

चर्म लेकर तथा श्रेष्ठ मांस खाकर वृक्ष छेदना। उसने उसके मन में वैर जमा दिया।

इसी अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने ये गाथायें कही—

इति फन्दनरुक्खोपि, तावदे अज्झभासथ,
मय्हंपि वचनं अत्थि, भारद्वाज सुणोहि मे॥७॥
इस्सस्स उपखन्धम्हा, ओक्कच्च चतुरङ्गुलं,
तेन नेमिं परिहरेसि, एवं दल्हतरं सिया॥८॥
इति फन्दनरुक्खो पि, वेरं अप्पेसि तावदे,
जातानं च अजातानं, ईसानं दुक्खं आवहि॥९॥

[इस प्रकार फन्दन-वृक्ष भी उसी समय बोला--"हे भारद्वाज ! मुझे भी कुछ कहना है, मेरी बात सुन। सिंह-राज के कन्धे को काट कर, चार अंगुल चर्म लेकर चक्के के घेरे को लपेटना। उससे वह मजबूत होगा।" इसी प्रकार फन्दन वृक्ष ने भी उसी समय वैर जागृत किया। वह उत्पन्न तथा अनुत्पन्न सिंहों के दु:ख का कारण हुआ॥६—९॥]

बढ़ई ने वृक्ष-देवता की बात सुनी तो सोचा--आज मेरा मङ्गल-दिवस है। उसने काल-सिंह को मार डाला और वृक्ष काट कर चला गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने कहा—

इच्चेव फन्दनो ईसं ईसोच पन फन्दनं,
अञ्ञमञ्ञं विवादेन अञ्जमञ्जं अधातयुं॥१०॥
एवमेव मनुस्सेसु विवादो यत्थ जायति,
मयूरनच्चं नच्चन्ति यथा ने ईसफन्दना॥११॥
तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेथ समागता,
सम्मोदथ मा विवदित्थ, मा होथ ईसफन्दना॥१२॥
सामग्गि एव सिक्खेथ, बुद्धेथ एतं पसंसितं,
सामग्गिरतो धम्मट्ठो, योगक्खेमा न धंसति॥१३॥

[इस प्रकार फन्दन (वृक्ष) ने (सिंह)-राज को और (सिंह)-राज ने फन्दन (वृक्ष) को—दोनों ने परस्पर झगड़ा करके एक-दूसरे को मार डाला॥१०॥ इसी प्रकार मनुष्यों में भी जहाँ झगड़ा हो जाता है, वहाँ वे (सिंह)-राज तथा फन्दन की तरह मोर-नाच नाचते हैं॥११॥ मैं तुम्हें

कहता हूँ, तुम्हारा भला हो, जितने भी यहाँ आये हों, मेल से रहो, झगड़ा न करो (सिंह -) राज और फंदन (- वृक्ष) न बनो। मेल-मिलाप का अभ्यास करो। बुद्धों ने इसकी प्रशंसा की है। मेल-मिलाप से रहने वाले, धर्मिष्ठ (आदमी) के योग-क्षेम की हानि नहीं होती ॥१२—१३॥]

राजागण धर्म-कथा सुन मेल-मिलाप से रहने लगे। शास्ता ने यह धर्म-देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय उस वन-खण्ड में उस बात को देखने वाला देवता मैं ही था।

---

४७६. जवन हंस जातक

"इधेव हंस निपत......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय दळ्हधम्म सुत्तन्त के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

भगवान बोले—"भिक्षुओं, जैसे चार मजबूत धनुर्धारी हो, सिद्धहस्त, और वे चारों दिशाओं की ओर मुँह करके खड़े हों। अब एक आदमी आये और कहे कि मैं इन मजबूत सिद्धहस्त धनुर्धारियों द्वारा चलाये हुए तीरों को जमीन पर गिरने से पहले लेकर चला आऊँगा, तो भिक्षुओं क्या यह कहना अनावश्यक नहीं है कि वह आदमी गतिमान् है, परम गतिमान् है?" "भन्ते! हाँ।" "भिक्षुओ, जो उस आदमी की गति है, जो चन्द्र-सूर्य की गति है उससे भी शीघ्रतर; और भिक्षुओं, जो उस आदमी की गति है, जो चन्द्रसूर्य्य की गति है और जो देवतागण चन्द्र-सूर्य्य के आगे-आगे दौड़ते हैं उन देवताओं की जो गति है उस गति से भी शीघ्रतर; और भिक्षुओं, जो उस आदमी की गति है......जो चन्द्र-सूर्य्य ....जो उन देवताओं की गति है, उस गति से भी शीघ्रतर आयु-संस्कारों का क्षय होता है। इसलिये भिक्षुओं, यह सीखना चाहिये कि अप्रमादी होंगे...इसलिये यह सीखना चाहिये।" इस सूत्र के उपदेश के दूसरे दिन धर्म-सभा में बातचीत चली—"ओह! बुद्धों की महिमा! आयुष्मानो! शास्ता ने अपनी बुद्ध-भूमि पर खड़े हो, इन प्राणियों के आयु-संस्कार को तुच्छ, दुर्बल करके दिखाकर पृथक्जन भिक्षुओं को बहुत डरा दिया।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर शास्ता ने "भिक्षुओ, इसमें क्या आश्चर्य्य है, यदि मैं अब सर्वज्ञ होने पर आयु-संस्कारों की तुच्छता दिखाकर भिक्षुओं को संवेग-युक्त कर धर्मोपदेश देता मैंने पूर्व समय में जब मैं अहेतुक हंस-योनि में उत्पन्न हुआ था, आयु-

संस्कारों को तुच्छता दिखाकर, वाराणसी-नरेश से आरम्भ करके सारी राज्य-परिषद् को संवेग-युक्त कर धर्मोपदेश दिया' कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व जवन हंस की योनि में उत्पन्न होकर नौवे हजार हंसों के साथ चित्रकूट (पर्वत) पर रहते थे। एक दिन दूसरे हंसों के साथ वह जम्बुद्वीप के किसी तालाब पर स्वयं उत्पन्न शाली-धान खाकर, आकाश में सुनहरी-चटाई बिछाने की तरह, बड़े ठाट से बाराणसी नगर के ऊपर-ऊपर मन्द गति से आनन्दपूर्वक चित्रकूट को जाता था। वाराणसी राजा ने उसे देख सोचा—यह भी मेरे जैसा राजा होगा। उसने मन्त्रियों को कहा और उसके प्रति स्नेह उत्पन्न कर, माला-गन्ध-विलेप आदि ले, बोधिसत्व को देखते हुए सारे वाद्य बजवाये। बोधिसत्व ने अपना सत्कार होता देख हंसों से पूछा—"राजा मेरा इस प्रकार से सत्कार करके मुझसे क्या आशा करता है?"

"देव! तुम्हारे साथ मैत्री करना चाहता है।"

"तो हमारी राजा के साथ मैत्री-स्थापित हो।"

इस प्रकार राजा के साथ मैत्री स्थापित करके वह चला गया। फिर एक दिन जब राजा उद्यान गया था, उसने अनोतप्त सरोवर पर जा, एक पंख पर पानी और दूसरे पर चन्दन-चूर्ण लेकर, राजा को उस पानी से नहला उस पर चन्दन-चूर्ण छिड़क दिया और फिर जनता के देखते ही देखते साथियों सहित उड़कर चित्रकूट पर चला गया। तब से राजा बोधिसत्व को देखने की इच्छा से 'आज मेरा मित्र आयेगा' सोच बैठा उसकी प्रतीक्षा करता रहता था। उस समय बोधिसत्व से छोटे दो हंस-बच्चों ने सूर्य्य के साथ दौड़ लगाने की सलाह करके बोधिसत्व से कहा—"तात! हम सूर्य्य के साथ दौड़ेंगे।" "तात सूर्य्य की गति तेज है, सूर्य्य के साथ दौड़ न लगा सकोगे, बीच में ही मर जाओगे, मत जाओ।" उन्होंने दूसरी बार और फिर तीसरी बार भी आज्ञा माँगी। बोधिसत्व ने तीनों बार मना ही किया। वे अभिमान में मस्त थे। अपने बल को न जानते थे। उन्होंने बोधिसत्व को

बिना कहे ही सूर्य्य के साथ दौड़ लगाने का निश्चय किया और सूर्य्य के उगने से पहले ही जाकर युगन्धर पर्वत पर बैठे। बोधिसत्व ने जब उन्हें नहीं देखा तो पूछा—"कहाँ गये?" जब उसे उनका हाल ज्ञात हुआ तो सोचा—वे सूर्य्य के साथ दौड़ नहीं लगा सकेंगे, बीच में ही विनाश को प्राप्त होंगे, मैं उनकी जान बचाऊँगा। वह भी जाकर युगन्धर (पर्वत) के शिखर पर बैठा। तब सूर्य्य-मण्डल के उदय होने पर हंस-पोतकों ने उड़कर सूर्य्य के साथ दौड़ लगानी आरम्भ की। बोधिसत्व भी उनके साथ उड़ने लगे। छोटा भाई पूर्वाह्न समय तक उड़ता रहकर थक गया। उसके परों के जोड़ों में ऐसा हुआ जैसे आग लग गई हो। उसने बोधिसत्व को इशारा किया—भाई! उड़ नहीं सकता हूँ। बोधिसत्व ने उसे दिलासा दिया—डर मत। तेरी जान की रक्षा करूँगा। उसने उसे पंखों से घेरा और आश्वासन दे चित्रकूट पर्वत पर ले जा हंसों के बीच पहुँचा दिया। फिर उड़ा और सूर्य्य को प्राप्त हो दूसरे के साथ चला। वह लगभग मध्याह्न तक सूर्य्य के साथ उड़कर थक गया। उसके भी पंखों के जोड़ में आग-सी लग गई। तब उसने बोधिसत्व को इशारा किया—भाई! उड़ नहीं सकता हूँ। उसे भी बोधिसत्व ने वैसे ही आश्वासन दे परों के घेरे में ले जा, चित्रकूट ही पहुँचा दिया। उस समय सूर्य्य आकाश के बीच में पहुँच गया था। बोधिसत्व ने सोचा—आज मैं अपने शरीर-बल की परीक्षा करूँगा। वह एक उड़ान में उड़कर युगन्धर पर्वत के शिखर पर जा पहुँचा। फिर वहाँ से उड़कर एक ही उड़ान में सूर्य्य के पास पहुँच, थोड़ी देर आगे और थोड़ी देर पीछे उड़ा। तब उसने सोचा—मेरा सूर्य्य के साथ दौड़ लगाना बेकार है, यह अविचार का परिणाम है। मुझे इससे क्या लाभ है? मैं वाराणसी पहुँच अपने मित्र राजा को अर्थ-धर्मयुक्त कथा कहूँगा। वह रुका और सूर्य्य के आकाश के मध्य में रहते ही रहते सारे चक्रवाल को एक सिरे से दूसरे सिरे तक लाँघकर अपने वेग को कम करके सारे जम्बुद्वीप को एक सिरे से दूसरे सिरे तक लाँघकर वाराणसी पहुँचा। बारह योजन का सारा नगर हंसों से ढका हुआ-सा हो गया, (कहीं) छिद्र नहीं दिखाई देता था। क्रमशः वेग के घटने पर आकाश में छिद्र दिखाई देने लगे। बोधिसत्व वेग को कम करके, आकाश से उतर, झरोखे के

सामने खड़ा हुआ। राजा ने यह जान कि मेरा मित्र आ गया, प्रसन्न हो उसके बैठने के लिए सुनहरी-पीढ़ा बिछवाया। उसने 'मित्र आ, यहाँ बैठ' कह पहली गाथा कही—

इधेव हंस निपत, पियं मे तव दस्सनं,
इस्सरो सि अनुप्पत्तो यं इध अत्थि पवेदय ॥१॥

[हे हंस ! तू यहाँ बैठ। तेरा दर्शन मुझे प्रिय है। तू इस घर का स्वामी है। जो कुछ इस घर में है, वह (निस्संकोच) माँग ॥१॥]

बोधिसत्व स्वर्णासन पर बैठा। राजा ने शत-पाक, सहस्रपाक तेल उसके परों में चुपड़वाया और सोने की थाली में मधु-खील रख, शरबत के साथ दिलाई। फिर मधुर सत्कार कर पूछा—"मित्र ! तू अकेला ही आया है, कहाँ आगमन हुआ ?" उसने विस्तार से वह समाचार कहा। राजा बोला—"मित्र ! मुझे भी सूर्य्य के साथ की दौड़ दिखाओ।"

"महाराज ! वह गति देखी नहीं जा सकती।"

"तो उससे मिलती-जुलती दौड़ दिखाओ।"

"अच्छा महाराज ! मिलती-जुलती दौड़ दिखाऊँगा। अचूक निशाना लगाने वाले धनुर्धारियों को इकट्ठा करवाओ।"

राजा ने इकट्ठे करवाये। बोधिसत्व ने चार धनुर्धारी लिए और राज-भवन से उतर, राजाङ्गण में पत्थर का खम्भा गड़वा, अपनी गर्दन में घंटी बँधवा पत्थर के खम्भे पर बैठा। फिर चारों धनुषधारियों को पत्थर के खम्भे के सहारे चारों ओर मुँह किये खड़ा कर निवेदन किया—"महाराज ! ये चारों जने एक ही साथ चारों ओर चार तीर छोड़ें। उन्हें मैं जमीन पर गिरने से पहले लाकर इनके चरणों में रख दूँगा। मेरे तीर लेने जाने की बात घंटी की आवाज से जानियेगा, मैं दिखाई नहीं दूँगा।" उन्होंने एक साथ जो तीर छोड़े वह उन्हें ले आया और उनके चरणों में रखकर पत्थर के खम्भे पर जा बैठा और बोला—"महाराज ! मेरा वेग देखा ? यह वेग न उत्तम है, न मध्यम है, यह तो मामूली निकृष्ट दर्जे का है। महाराज ! हमारा वेग इतना शीघ्र होता है।"

राजा ने प्रश्न किया—'मित्र ! तुम्हारे वेग से शीघ्रतर वेग भी है ?"

"हाँ महाराज ! हमारे श्रेष्ठ वेग से भी सौ गुने, हजारगुने, लाख गुने

वेग से इन प्राणियों के आयु-संस्कार क्षय होते हैं, छीजते हैं, विनाश को प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार उसने रूप-धर्मों का क्षणिक-निरोध समझाया। राजा ने बोधिसत्व की बात सुनी तो मृत्यु से भयभीत होने के कारण होश सँभाले न रख सका। वह जमीन पर गिर पड़ा। जनता को त्रास हुआ। राजा के मुँह पर पानी के छीटे डालकर उसे होश में लाया गया। बोधिसत्व ने उसे उपदेश दिया—"महाराज! डरें नहीं। मरणानुस्मृति की भावना करें। धर्माचरण करें। दान दें। पुण्य करें। अप्रमादी रहें।" राजा बोला—"स्वामी! मैं तुम्हारे सदृश ज्ञानी आचार्य्य के बिना न रह सकूँगा। चित्रकूट पर्वत पर आ, मुझे धर्मोंपदेश देते हुये मेरे उपदेशकाचार्य्य होकर यहीं रहें।" उसने प्रार्थना करते हुए दो गाथायें कहीं—

सवनेन चेकस्स पिया भवन्ति
दिस्वा पनेकस्स विहेति छन्दो,
दिस्वा च सुत्वा च पिया भवन्ति
कच्चिनु मे पिय्यसि दस्सनेन ॥२॥
सवनेन पियो मेसि भिय्यो चागम्म दस्सनं,
एवं पियदस्सनो समानो वस हंस मम सन्तिके ॥३॥

[कोई-कोई उनके बारे में सुनना मिलने से 'प्रिय' हो जाते हैं, किन्तु देखने पर प्रेम नहीं रहता है। कोई-कोई सुनने और देखने दोनों पर प्रिय होते हैं। क्या तू मुझे देखने पर भी प्रेम करता है? ॥१॥ मुझे तो तू सुनने पर भी 'प्रिय' लगा और दिखाई देने पर अति-प्रिय। इस प्रकार हे प्रिय-दर्शन हंस! मेरे पास रह ॥३॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया—

वसेय्याम तवागारे निच्चं सक्कतपूजिता,
मत्तो व एकदा वज्जा 'हंस राजं पचन्तु मे' ॥४॥

[मैं नित्य तेरे घर संत्कृत-आदृत होकर रहूँ। लेकिन (सुरा से) मत्त होकर तू किसी दिन भी कह देगा—मेरे लिये हंसराज पकाया जाय ॥४॥]

तब राजा ने "तो मद्यपान ही नहीं करूँगा" प्रतिज्ञा करने के लिए यह गाथा कही—

धिरत्थु तं अन्नपानं यं मे पियतरं तया,
न चापि मज्जं पायामि याव मे वच्छसी घरे ॥५॥

[मेरे अन्न-पान को धिक्कार है जो मुझे तुझसे भी अधिक प्रियतर है। जब तक तू मेरे घर रहेगा, मैं मद्य-पान नहीं करूँगा ॥५॥]

तब बोधिसत्व ने छः गाथायें कहीं—

सुविजानं सिगालानं सकुन्तानं च वस्सितं,
मनुस्सवस्सितं राज दुब्बिजानतरं ततो ॥६॥
अपि च मञ्ञती पोसो ञातिमित्तो सखातिवा,
यो पुब्बे सुमनो हुत्वा पच्छा सम्पज्जते दिसो ॥७॥
यस्मिं मनो निविसति अविदूरे सहापि सो,
सन्तिके हि पि सो दूरे यस्मा विवसते मनो ॥८॥
अन्तो पि यो होति पसन्नचित्तो
पारं समुद्दस्स पसन्नचित्तो,
अन्तोपि यो होति पदुट्ठचित्तो
पारं समुद्दस्स पदुट्ठचित्तो ॥९॥
संवसन्तो विवसन्ति ये दिसा ते रथेसभ,
आरा सन्तो संवसन्ति मनसा रट्ठवड्ढन ॥१०॥
अतिचिरं निवासेन पियो भवति अप्पियो,
आमन्त खो तं गच्छाम पुरा ते होम अप्पिया ॥११॥

[हे राजन् ! श्रृगालों और पक्षियों की (वाणी) समझ में आती है, किन्तु मनुष्य-वाणी उनकी अपेक्षा दुर्ज्ञेय है ॥६॥ जो आदमी पहले सुमन होकर दूसरे को 'रिश्तेदार-मित्र' अथवा 'सखा' मानता है, पीछे वही शत्रु हो जाता है ॥७॥ जिस आदमी से मन मिलता है वह दूर रहता हुआ भी पास है और जिससे मन नहीं मिलता वह पास रहता हुआ भी दूर है ॥८॥ जो पास रहने पर 'प्रसन्न-चित्त' होता है वह समुद्र पार रहता हुआ भी प्रसन्न-चित्त ही रहता है, और जो पास में रहते हुये दुष्ट-चित्त होता है, वह समुद्र पार रहता हुआ भी दुष्ट-चित्त ही होता है ॥९॥ हे राजन् ! जो शत्रु होते हैं वे पास रहते भी दूर रहते हैं, जो मित्र होते हैं वे दूर रहते हुए भी मन से पास ही रहते हैं ॥१०॥ दीर्घकाल (साथ) रहने से 'प्रिय' भी

'अप्रिय' हो जाता है। हम तेरे अप्रिय बनने से पहले तुझे सूचित करके जाते हैं ॥११॥]

तब उससे राजा ने कहा—

एवं चे याचमानानं अञ्जलिं नावबुज्झसि,
परिचारकानं सत्तानं वचनं न करोसि नो,
एवं तं अभियाचाम पुन कयिरासि परियायं ॥१२॥

[यदि इस प्रकार हाथ जोड़ कर की गई प्रार्थना को नहीं मानता और अपने सेवक-समान प्राणियों का कहना नहीं करता तो हम तुझसे यह याचना करते हैं कि फिर भी (समय-समय पर) दर्शन देना ॥१२॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया—

एवं चे नो विहरंतं अन्तरायो न हेस्सति
तुय्हं वापि महाराज मय्हं वा रट्ठवड्ढन
अप्पेव नाम पस्सेम अहोरत्तानं अच्चये ॥१३॥

[यदि इस प्रकार विहार करने से हे राजन् ! मुझे या तुझे कोई खतरा नहीं होगा तो हम (एक-दूसरे को) दिन-रात के बीतने पर देखेंगे ॥१३॥]

इस प्रकार बोधिसत्व राजा को उपदेश दे चित्र-कूट ही चला गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—"भिक्षुओ, इस प्रकार पूर्व समय में पशुयोनि में पैदा होकर भी मैंने आयु-संस्कारों की दुर्बलता दिखाकर धर्मोपदेश दिया" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था, छोटा मौद्गल्यायन, विचला सारिपुत्र, शेष हंस-समूह बुद्ध-परिषद्, वेगवान् हंस तो मैं ही था।

---

४७७. चुल्लनारद जातक

"न ते कट्ठानि भिन्नानि. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय 'स्थूल कुमारी' पर आसक्ति के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

एक श्रावस्तीवासी गृहस्थ के घर में सोलह वर्ष की एक लड़की थी; सुन्दर। किन्तु कोई उससे शादी नहीं करता था। तब उसकी माँ ने सोचा—मेरी लड़की की आयु हो गई है। कोई इसे व्याहता नहीं है। माँस के टुकड़े से मछली फँसाने की तरह मैं इससे किसी शाक्यभिक्षु को लुभा, उसे गृहस्थ बनवा, उसके सहारे जीवन-यापन करूँ। उस समय श्रावस्तीवासी एक तरुण (बुद्ध-) शासन के प्रति भक्ति-भाव से प्रव्रजित हुआ था। वह उपसम्पदा के समय से लेकर, नियम-पालन की इच्छा छोड़, आलसी तथा शौकीन बनकर रहने लगा।

महा उपासिका ने घर में यवागु तथा अन्य खाद्य-भोज्य तैयार कर; द्वार पर खड़ी हो गली में से गुजरने वाले भिक्षुओं के बारे में विचार किया कि वह उन भिक्षुओं में से किस एक भिक्षु को रस-तृष्णा से बाँधकर घर में रख सकती है? उसे बहुत से अनुयाइयों के साथ चले जाने वाले त्रिपिटक-अभिधर्म तथा विनय-धरों में से कोई एक भी इस योग्य न लगा। उनके पीछे चले जाने वाले मधुर धर्म-कथिक तथा निर्मल आकाश सदृश पिण्डपातिक भिक्षुओं में भी कोई इस योग्य न लगा। तब उसे एक व्यक्ति दिखाई दिया जिसके आँखों में बाहर तक अंजन पोता हुआ था, जिसके केश चिकने थे, जो रेशमी अन्तर्वासक पहने था, जिसका चीवर घुटा-मंजा था, जो मणिवर्ण पात्र लिये जा रहा था, जो मनोरम छत्र धारण किये हुए था, जिसकी इन्द्रियाँ विश्वस्त थीं और जिसका शरीर भी अधिकांश गठा हुआ था। उसने सोचा—इसे फँसाया जा सकता है. वह उसका भिक्षा-पात्र ले,

"भन्ते आयें" कहकर उसे घर में लिवा ले गई और बिठाकर यवागु आदि परोसा। फिर भोजन की समाप्ति पर बोली—"भन्ते ! अब से यहीं आया करें।" वह भी उसके बाद से वहीं जाने लगा और आगे चल कर विश्वस्त हो गया।

एक दिन -महा-उपासिका ने उसको सुनाकर कहा—"इस घर में उपभोग के लिये धन है, किन्तु उसकी व्यवस्था करने योग्य पुत्र वं जवाई नहीं है।" उसकी बात सुनी तो उसके हृदय में एक जिज्ञासा-सी पैदा हो गई—यह ऐसा क्यों कहती है ? माँ ने लड़की से कहा—"इसे लुभा कर अपने वश में कर"। तब से वह बन ठन कर स्त्रियों के हाव-भाव से उसे लुभाने लगी। 'स्थूल-कुमारी' से यह नहीं समझना चाहिये कि वह स्थूल शरीर वाली थी, मोटी हो या पतली हो, पाँच काम-भोगों की स्थूलता के कारण हीं उसे स्थूल-कुमारी कहा गया। उस तरुण ने काम-चेतना के वशीभूत हो सोचा—मैं अब बुद्ध-शासन में प्रतिष्ठित नहीं रह सकूँगा। वह विहार पहुँचा और पात्र-चीवर सौंप आचार्य्य-उपाध्यायों से बोला—"मैं उद्विग्न-चित्त हूँ।" वे उसे शास्ता के पास ले गये और जाकर कहा—"भन्ते ! यह भिक्षु उद्विग्न चित्त है।" भगवान् ने—"भिक्षु, क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है" पूछकर उसके "भन्ते ! सचमुच" कहने पर पूछा—'किसने उद्विग्न कर दिया ?"

"भन्ते ! स्थूल-कुमारी ने।"

"भिक्षु ! उसने पूर्व जन्म में भी जब तू जंगल में रहता था, ब्रह्मचर्य्य का नाश कर महान् अनर्थ किया। तू फिर उसी के लिये क्यों उद्विग्न है ?"

भिक्षुओं के प्रार्थना करने पर भगवान् ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व काशी-राष्ट्र के एक ऐश्वर्य्यशाली ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो, शिल्प सीख, परिवार पालते थे। उनकी भार्य्या एक पुत्र को जन्म देकर मर गई। उसने सोचा—जैसे मेरी प्रिया भार्य्या के पास आते लाज नहीं लगी उसी

प्रकार मृत्यु को मेरे पास आते भी लाज नहीं लगेगी। मैं घर में रहकर क्या करूँगा? मैं प्रव्रजित होऊँगा। उसने कामभोगों का जीवन छोड़ दिया और पुत्र को लेकर हिमालय चला गया। वहाँ उसके साथ ऋषि-प्रव्रज्या ले, ध्यान तथा अभिञ्ञा का लाभ कर जंगल के कन्द-मूल-फल खाकर रहने लगा।

उस समय सीमांत के चोर जनपद में आ, गाँव को लूट, लोगों को 'दास' बना, उनके सिर पर सामान उठवा, फिर सीमान्त चले गये। उनके बीच में सुन्दर कुमारी थी--ठग सकने वाली। उसने सोचा--ये मुझे ले जाकर दासी बनाकर मौज करेंगे। किसी तरीके से भागना चाहिये। वह 'स्वामी! शौच करना चाहती हूँ' कह थोड़ी रुक कर खड़ी हुई और चोरों को ठग कर भाग गई। जंगल में घूमती हुई वह, पूर्वाह्न समय जब बोधिसत्व पुत्र को आश्रम में छोड़ फलाफल के लिये गये थे, आश्रम में पहुँची और तपस्वी-कुमार को काम-रति से लुभा, उसके शील का खंडन कर उसे अपने वश में कर लिया। फिर बोली—"तुझे जंगल में रहने से क्या लाभ? आ बस्ती में चलें। वहाँ रूप आदि काम-भोग की वस्तुयें सुलभ हैं।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया, लेकिन साथ ही कहा—"मेरा पिता जंगल से फलाफल लाने के लिये गया है, उससे भेंट कर दोनों इकट्ठे चलेंगे।" उसने सोचा, यह तरुण कुमार कुछ नहीं जानता। लेकिन इसका पिता बुढ़ापे में प्रव्रजित हुआ होगा। वह आकर 'तू यहाँ क्या करती है?' कह कर मुझे पीटकर पाँव से पकड़ खींच कर जंगल में फेंक देगा। उसके आने के पहले-पहले भाग जाना चाहिये। 'मैं आगे-आगे चलती हूँ, तू पीछे आना' कह रास्ते का चिह्न बता चली गई। उसके जाने के बाद से उसका चित्त अस्वस्थ हो गया और वह पूर्व की तरह कोई काम न कर, सिर ढक कर पर्णशाला में अफसोस करता हुआ लेट रहा। बोधिसत्व ने फलाफल लेकर लौटने पर उसके पद-चिह्नों को देखकर सोचा—यह स्त्री के पद-चिह्न हैं। मेरे पुत्र का शील नष्ट हो गया होगा। उसने पर्णशाला में प्रवेश कर, फलाफल उतारकर, पुत्र को पूछते यह पहली गाथा कही—

ने ते कट्ठानि भिन्नानि, ने ते उदकं आभतं,
अग्गी पि ते न हापितो, किं नु मन्दो व झायति ॥१॥

[न तूने लकड़ियाँ तोड़ीं, और न पानी लाकर रखा। तूने आग भी नहीं जलाई—क्या मन्दबुद्धि की तरह सोच कर रहा है ? ॥१॥]

उसने पिता की बात सुन उठ कर प्रणाम किया और जंगल में न रहने की इच्छा सदार निवेदन करते हुए दो गाथायें कहीं—

न उस्सहे वने वत्थुं, कस्सपामंतयामि तं,
दुक्खो वासो अरञ्जस्मिं, रट्ठं इच्छामि गन्तवे ॥२॥
यथा अहं इतो, गंत्वा, यस्मि जनपदे वसं
आचारं ब्रह्मे सिक्खेय्यं धम्मं अनुसास मं ॥३॥

[हे काश्यप ! मैं तुझे सम्बोधन करके कहता हूँ कि मैं जंगल में रहना नहीं चाहता। जंगल में रहना दुःखकर है। मैं बस्ती (=राष्ट्र) में रहना चाहता हूँ ॥२॥ हे ब्रह्म ! मुझे उस धर्म का उपदेश दे जिसके अनुसार चलने से मैं जिस जन-पद में जाऊँ, वहाँ का आचार सीख लूँ ॥३॥]

बोधिसत्व ने 'अच्छा देशाचार तुझे बताता हूँ' कह दो गाथायें कहीं—

सचे अरञ्ञं हित्वान, वनमूल फलानि च,
रट्ठे रोचयसे वासं, तं धम्मं निसामेहि मे ॥४॥
विसं मा पटिसेवित्थो, पपातं परिवज्जय,
पङ्के च मा विसीदित्थो, यत्तो चासीविसं चरे ॥५॥

[यदि जंगल और उसके फलमूल छोड़कर बस्ती में रहना चाहता है, तो वह धर्म सुन ॥४॥ विष का सेवन न करना, प्रपात से दूर रहना, कीचड़ में न फँसना और आसि-विष रूप से सावधान रहना ॥५॥]

तपस्वी कुमार ने इस संक्षिप्त कथन का अर्थ न समझ सकने के कारण पूछा—

किं नु विसं पपातो वा पङ्को वा ब्रह्मचारिनं,
कं त्वं आसीविस ब्रूहि, तं मे अक्खाहि पुच्छितो ॥६॥

[ब्रह्मचारियों के लिये विष क्या है ? प्रपात क्या है ? कीचड़ क्या है ? मैं पूछ रहा हूँ, मुझे बताओ कि तुम आसि-विष सर्प किसे कहते हो ? ॥६॥]

उसने उसकी व्याख्या की—

आसवो तात लोकस्मिं सुरा नाम पवुच्चति,
मनुञ्जा सुरभी वग्गू वग्गू सादुखुद्दरसूपमा,
विसं तद आहु अरियासे ब्रह्मचरियस्स नारद ॥७॥
इत्थियो तात लोकस्मिं पमत्तं पमथेन्ति ता,
हरन्ति युविनो चित्तं तूलं भट्ठं व मालुतो,
पपातो एसो अक्खातो ब्रह्मचरियस्स नारद ॥८॥
लाभो सिलोको सक्कारो पूजा परकुलेसु च,
पङ्को एसोव अक्खातो ब्रह्मचरियस्स नारद ॥९॥
ससत्था तात राजानो आवसन्ति महिं इमं,
ते तादिसे मनुस्सिन्दे महन्ते तात नारद ॥१०॥
इस्सरानं अधिपतानं न तेसं पादतो चरे,
आसीविसो सो अक्खातो ब्रह्मचरियस्स नारद ॥११॥
भत्तत्थो भत्तकाले यं यं गेहं उपसङ्कमे,
यदेत्थ कुसलं जञ्ञा तत्थ घासेसनं चरे ॥१२॥
पविसित्वा परकुलं पानत्थो भोजनाय वा,
मितं खादे मितं भुञ्जे न च रूपे मनं करे ॥१३॥
गोट्ठं मज्जं किरासं वा सभानि किरणानि च,
आरका परिवज्जेहि यानिव विसमं पथं ॥१४॥

[हे नारद ! लोक में 'सुरा' कहलाने वाली जो आसव है वह मनोज्ञ है, सुगन्धित है, सुन्दर है, स्वादिष्ट है, थोड़ा रस है। आर्य उसी को ब्रह्मचर्य्य के लिए 'विष' कहते हैं ॥७॥ हे नारद ! लोक में जो स्त्रियाँ हैं वह प्रमादी को और भी प्रमादी बना देती हैं। वह उसी प्रकार तरुणों के चित्त को हर लेती हैं जैसे हवा भटकती हुई रूई को। इन्हें ही ब्रह्मचर्य्य का प्रपात कहा गया है ॥८॥ हे नारद ! लाभ, यश, सत्कार और दूसरों के घरों में होने वाली (अपनी) पूजा ब्रह्मचर्य्य के लिये कीचड़ कही गई है ॥९॥ हे नारद ! इस पृथ्वी पर सशस्त्र राजागण रहते हैं, मनुजेन्द्र, बड़े-बड़े। वैसे ऐश्वर्य्यवान् अधिपति राजाओं के आस-पास न रहे। वे ब्रह्मचर्य्य के लिये आसि-विष कहे गये हैं ॥१०—११॥ भोजन के समय भोजनार्थी होकर जिस-जिस घर

जाये उनमें जहाँ भिक्षाटन करना योग्य हो, वहीं भिक्षाटन करे ॥१२॥ (कुछ) पीने के लिये अथवा भोजन के लिये यदि पर-कुल में जाये तो अधिक न खाये-पीये और (उस घर की स्त्रियों के) रूप की ओर ध्यान न दे ॥१३॥ गोठ, मद्यपान-स्थान, दुष्ट-जन-सभायें और सोना चाँदी के क्रय-विक्रय की जगह—इन सबको वैसे ही छोड़ दे जैसे गाड़ी वाला विषम पथ को ॥१४॥]

तरुण को पिता के कहते ही कहते होश आ गया और वह बोला—"तात ! मैं बस्ती की ओर नहीं जाऊँगा।" उसके पिता ने उसे मैत्री आदि भावना का उपदेश दिया। उसने उनके उपदेशानुसार चल थोड़े ही समय में ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त की। दोनों पिता-पुत्र ध्यानारूढ़ रह ब्रह्मलोक में पैदा हुए।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय वह लड़की यही स्थूल-कुमारी थी। तपस्वी-कुमार उद्विग्न-चित्त भिक्षु। पिता तो मैं ही था।

---

४७८. दूत जातक

"दूते ते ब्रह्मे पाहेसिं......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय अपनी प्रज्ञा की प्रशंसा के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

धर्म-सभा में बातचीत चली—आयुष्मानो ! दस बल (=धारी) की उपाय-कुशलता देखो—नन्दकुल-पुत्र को अप्सरायें दिखा अर्हत्व प्रदान किया, चुल्लपन्थक को कपड़े का टुकड़ा दे पटिसम्भिदा (=ज्ञान) के साथ अर्हत्व प्रदान किया, कुमार-पुत्र को पद्म दिखा कर अर्हत बनाया। इस प्रकार नाना उपायों से प्राणियों को शिक्षा देते हैं। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत।" "भिक्षुओ, न केवल अभी तथागत 'इससे यह होता है' की जानकारी रखने वाले उपाय-कुशल हैं, पहले भी उपाय-कुशल ही रहे हैं" कह पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय जनपद धन-रहित हो गया था। राजा ने जनपद को पीड़ित कर धन खींच लिया था। उस समय बोधिसत्व काशीग्राम में ब्राह्मणकुल में पैदा हुये। बड़े होने पर तक्षशिला पहुँच 'पीछे धर्मानुसार भिक्षा माँग कर आचार्य्य-धन लाकर दूँगा' कह विद्यारम्भ किया। शिल्प सीख चुकने पर भक्ति दिखा उसने 'आचार्य्य आपका आचार्य्य-धन लाता हूँ' कह विदा ली। जनपद में घूम कर, धर्मानुसार सात निकष प्राप्त कर उसने सोचा कि आचार्य्य को दूँगा। वह चलते-चलते रास्ते में गङ्गा पार करने के लिये नौका पर चढ़ा। नौका उलट जाने से उसका वह सोना पानी में गिर पड़ा। उसने सोचा—"जनपद में सोना मिलना कठिन है, फिर आचार्य्य-धन खोजने में झंझट

होगा। मैं गङ्गा-तट पर ही निराहार होकर बैठूं। मेरे (इस प्रकार) बैठने की बात क्रमशः राजा तक पहुँचेगी। तब वह अमात्यों को भेजेगा। मैं उनके साथ बात नहीं करूँगा। तब राजा स्वयं आयेगा। इस प्रकार उससे आचार्य्य-धन प्राप्त करूँगा।" वह गङ्गा-तट पर ऊपर का वस्त्र पहन जनेऊ[1] बाहर कर, चाँदी के पटड़े जैसे बालू में सोने की प्रतिमा की तरह बैठा। उसे निराहार बैठा देख जनता ने पूछा—"क्यों बैठा है"? किसी को उत्तर नहीं दिया। अगले दिन द्वार-ग्रामवासियों ने उसके वहाँ बैठे रहने की बात सुन आकर पूछा। उन्हें भी कुछ नहीं कहा। वे उसका कष्ट देख रोते हुए चले गये। तीसरे दिन नगर-निवासी आये। चौथे दिन नगर के ऐश्वर्य्यशाली लोग। पाँचवें दिन राज्य-परिषद्। छठे दिन राजा ने अमात्यों को भेजा। उनसे भी बात न की। सातवें दिन राजा ने भयभीत हो उसके पास पहुँच पूछते हुए पहली गाथा कही—

दूते ते ब्रह्मे पाहेसिं गङ्गातीरस्मिं झायतो,
तेसं पुट्ठो न ब्याहासि, दुक्खं गुय्ह मतं नु ते ॥१॥

[हे गङ्गातट पर ध्यान करने वाले ब्राह्मण! मैंने तेरे पास दूत भेजे। उनके पूछने पर तूने कुछ नहीं कहा। मुझे लगता है कि तेरा दुःख गोपनीय है ॥१॥]

यह सुन बोधिसत्व ने 'महाराज, (अपना) दुःख उसी से कहना चाहिये जो दूर कर सके, किसी और से नहीं' कह सात गाथायें कहीं—

सचे ते दुक्खं उप्पज्जि कासीनं रट्ठवड्ढन,
मा खो नो तस्स अक्खाहि यो तं दुक्खं न मोचये ॥२॥
यो च तथा दुक्खजातस्स एकन्तं पि भासतो,
विप्पमोचेय्य धम्मेन कामं तस्स पवेदय ॥३॥
सुविजानं सिगालानं सकुन्तानं च वस्सितं,
मनुस्सवस्सितं राज दुब्बिजानतरं ततो ॥४॥
अपि च मञ्ञती पोसो ञातिमित्तो सखा ति वा,
यो पुब्बे सुमनो हुत्वा पच्छा सम्पज्जते दिसो ॥५॥

---

१. यज्ञ-सूत्र।

यो अत्तनो दुक्खं अनानुपुट्ठो
पवेदये जन्तु अकालरूपे,
आनन्दिनो तस्स भवन्तमित्ता
हितेसिनो तस्स दुखी भवन्ति ॥६॥
कालं च ञत्वान तथाविधस्स
मेधाविनं. एकमनं विदित्वा,
अक्खेय्य तिप्पानि परस्स धीरो
सण्हं गिरं अत्थवतिं पमुञ्चे ॥७॥
सचे च जञ्ञा अविसय्हं अत्तनो
नायं नीति मय्ह सुखागमाय,
एको व तिप्पानि सहेथ धीरो
सच्चं हिरोतप्पं अपेक्खमानो ॥८॥

[हे काशी नरेश ! यदि तुझे कोई दुःख हो तो वह उससे मत कह जो तुझे उससे मुक्त न कर सकता हो ॥२॥ जो उत्पन्न दुःख को थोड़ा भी कहने पर उचित उपाय से उसका निवारण कर दे उसे भले ही सुनाये ॥३॥ देखो, पृष्ठ....४१७ ॥४—५॥ जो प्राणी असमय ही बिना किसी के पूछे अपने दुःख को कहता है, उसके शत्रु प्रसन्न होते हैं और हितैषी दुःखी होते हैं ॥६॥ यदि उचित समय हो और समान-मन वाला वैसा मेधावी हो तो धीर पुरुष को चाहिये कि अर्थवान मधुरवाणी मुँह से निकाले ॥७॥ यदि जाने कि न स्वयं न दूसरा इसे दूर कर सकता है तो यह सोचकर कि यह लोक-परम्परा 'सुख' ही के लिये नहीं है, धीर-पुरुष को चाहिये कि सत्य और लज्जा भय का ध्यान रख उस दुःख को अकेला ही सहन करे ॥८॥]

इस प्रकार सात गाथाओं से राजा को उपदेश दे, अपनी प्राचार्य्य-धन खोजने की बात प्रकट करते हुए चार गाथायें कहीं—

अहं रट्ठानि विचरन्तो निगमे राजधानियो,
भिक्खमानो महाराज आचरियस्स धनत्थिको ॥९॥
गहपति राजपुरिसे महासाले च ब्राह्मणे,
अलत्थं सत्तनिक्खानि सुवण्णस्स जनाधिप,
ते मे नट्ठा महाराज, तस्मा सोचं अहं भुसं ॥१०॥

पुरिसा ते महाराज मनसानुविचिन्तिता,
नालं दुक्खा पमोचेतुं, तस्मा तेसं न ब्याहरिं ॥११॥
त्वं च खो मे महाराज मनसानुविचिन्तितो,
अलं दुक्खा पमोचेतुं, तस्मा तुय्हं पवेदयिं ॥१२॥

[मैंने राष्ट्रों में निगमों और राजधानियों में घूमकर आचार्य्य-धन के लिये भिक्षाटन कर, गृह-पतियों, राजपुरुषों तथा महाशाल ब्राह्मणों से सात निकष इकट्ठे किये थे, वे जाते रहे। इसीलिये मैं बहुत चिन्ता करता हूँ, ॥९—१०॥ महाराज ! तुम्हारे जो आदमी थे वह मन से सोचने पर मुझे दु:ख से मुक्त कर सकने में समर्थ नहीं लगे, इसलिए उन्हें नहीं कहा ॥११॥ हे महाराज ! सोचने पर तुम दु:ख से मुक्त करने में समर्थ लगे, इसलिये तुम्हें कहा है ॥१२॥]

राजा ने उसकी धार्मिक बात सुन "ब्राह्मण ! चिन्ता न कर, मैं तुझे आचार्य्य-धन दूँगा" कह दुगुना दिया।

इस अर्थ को प्रकट करने वाली शास्ता ने यह अन्तिम गाथा कही—

तस्सादासि पसन्नत्तो कासीनं रट्ठवड्ढनो,
जातरूपमये निक्खे सुवण्णस्स चतुद्दस ॥१३॥

[प्रसन्न चित्त काशी-नरेश ने उसे सोने के चौदह निकष दिये ॥१३॥]

बोधिसत्व ने राजा को उपदेश दे, आचार्य्य को धन दे, दानादि पुण्य-कर्म किये। राजा ने भी उसके उपदेश के अनुसार आचरण कर धर्मानुसार राज्य किया। दोनो यथा-कर्म (परलोक) गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—"न केवल अभी भिक्षुओ, पहले भी तथागत उपाय-कुशल ही रहे हैं" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था, आचार्य्य सारिपुत्र, ब्राह्मण-तरुण तो मैं ही था।

४७६. कालिंग बोधि जातक

"राजा कालिङ्गो चक्कवति......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय आनन्द स्थविर द्वारा महाबोधि की जो पूजा की गई, उसके बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

जिस समय तथागत शिक्षा-कामी संघ के (हित के) लिये जनपद-चारिका के लिये निकले थे, श्रावस्तीवासी गन्ध-माला आदि हाथ में लकर जेतवन जाते और दूसरा पूज्य-स्थान न देख गन्धकुटी के द्वार पर ही गिरा कर चले आते। उससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। अनाथ-पिण्डिक को जब इसका पता लगा तो उसने तथागत के जेतवन लौट आने पर आनन्द-स्थविर के पास जाकर निवेदन किया—"भन्ते! तथागत के चारिका के लिये चले जाने पर यह विहार अश्रद्धेय होता है, आदमियों के लिये गन्ध-माला आदि से पूजने की जगह नहीं रहती। अच्छा हो भन्ते! आप तथागत से यह बात पूछकर एक पूज्य-स्थान की सम्भावना वा असम्भावना की बात जानें।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और तथागत के आने पर पूछा—"भन्ते! चैत्य कितने हैं!"

"आनन्द! तीन।"

"भन्ते! कौन से!"

"शारीरिक, पारिभोगिक तथा उद्देशिक।"

"भन्ते! क्या आप के जीते जी भी चैत्य बन सकता है!'

"आनन्द! शारीरिक-चैत्य नहीं बन सकता। वह तो बुद्धों का परिनिर्वाण होने पर ही होता है। उद्देशिक चैत्य अवास्तविक होता है, केवल मानसिक। किन्तु, बुद्धों द्वारा उपमुक्त महाबोधि जीते जी भी और परिनिर्वाण होने पर भी चैत्य ही है।"

"भन्ते ! तुम्हारे चारिका के लिये चले जाने पर जेतवन विहार निराधार हो जाता है, मनुष्यों के लिये कोई पूज्य-स्थान नहीं रह जाता। भन्ते ! महाबोधि से बीज लाकर जेतवन-द्वार पर लगाता हूँ।"

"अच्छा, आनन्द लगा। ऐसा होने पर जेतवन में मेरा स्थायी निवास-सा होगा।"

स्थविर ने अनाथ-पिण्डिक, विशाखा और राजा को कहकर जेतवन-द्वार में बोधि (=वृक्ष) लगाने के स्थान पर गढ़ा खुदवाया और महामोग्गल्लान स्थविर को कहा—"भन्ते ! मैं जेतवन-द्वार में बोधि लगाऊँगा। महाबोधि से मुझे पका (फल) ला दें।" स्थविर ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और आकाश से बोधिमण्ड पहुँच, डंडी से गिरते हुए पके फल को बिना भूमि पर गिरे ही चीवर से ढक कर लाकर दिया। आनन्द स्थविर ने कौशल-नरेश को कहलवाया—"आज बोधि रोपूँगा।" राजा शाम को बड़े ठाट-बाट से सारे सामानों के साथ आया और वैसे ही अनाथ-पिण्डिक, विशाखा तथा अन्य साधुजन। स्थविर ने महाबोधि रोपने की जगह पर बड़ा भारी सोने का कड़ाहा रख, नीचे छेद करवा, सुगन्धित मिट्टी से भरवा, राजा को देते हुए कहा—"महाराज ! इस बोधिबीज को रोपें।" उसने सोचा—'राज्य सदैव हमारे हाथ में नहीं रहता। यह मुझे अनाथ-पिण्डिक से लगवाना चाहिए।' उसने वह बीज महा-सेठ के हाथ में रख दिया। अनाथ-पिण्डिक ने सुगन्धित मिट्टी को हिलाकर उसमें रख दिया। उसके हाथ से छूटते ही, सभी के देखते-देखते, हल के सिर जैसा पचास हाथ ऊँचा बोधि-वृक्ष खड़ा हो गया। चारों दिशाओं में और ऊपर की ओर पचास ही हाथ की पाँच महा-शाखायें फूट पड़ीं। वह उसी समय ज्येष्ठ-वृक्ष हो गया। बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने सोने-चाँदी के, सुगन्धित जल से भरे, कुछ नीले कमलों से सुशोभित सात सौ घड़ों की एक पूर्ण घटपंक्ति महाबोधि के चारों ओर रखवाई। सात रत्नमय वेदिका बनवाई। सोना-मिला बालू बिखेरा। चारों ओर प्राकार घिरवाई। सात रत्नमय द्वार-कोष्ठक बनवाया। महान् सत्कार हुआ। स्थविर ने तथागत के पास पहुँच निवेदन किया—"भन्ते ! आपने बोधि-वृक्ष के नीचे जो ध्यान लगाया था, वही ध्यान जनता के हित के लिये मेरे द्वारा लगाई गई महाबोधि के नीचे लगायें।"

"आनन्द, क्या कहता है ! मैंने महाबोधि के नीचे जो ध्यान लगाया था, वही ध्यान लगाकर बैठने पर और कोई प्रदेश सहन न कर सकेगा।"

"भन्ते ! जनता के हित के लिये, इस भूमि-प्रदेश के सामर्थ्यानुसार, इस बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान लगायें।"

शास्ता ने वहाँ ध्यान-सुख में एक रात बिता दी।

स्थविर ने कोशल-नरेश आदि को कहकर बोधि-पूजा कराई। आनन्द स्थविर द्वारा लगाई जाने के कारण वह 'आनन्द-बोधि' नाम से ही प्रसिद्ध हुई। धर्म-सभा में बातचीत चली—"आयुष्मानो ! आयुष्मान् आनन्द ने तथागत के जीते जी बोधि लगवाकर महापूजा करवाई। ओह ! महास्थविर कितने गुणी हैं !" शास्ता ने "भिक्षुओ, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो" कह 'अमुक बातचीत' कहे जाने पर "भिक्षुओं, न केवल अभी, किन्तु आनन्द ने पहले भी उपद्वीपों सहित चारों महाद्वीपों में. आदमियों को ले और बहुत-सी सुगन्धित-मालायें मँगवा महाबोधि-मण्ड में बोधि-पूजा कराई" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कलिङ्ग राष्ट्र के दन्तपुर नगर में कालिङ्ग (राजा) राज्य करता था। उसके महाकालिङ्ग और चूळ कालिङ्ग—दो पुत्र थे। भविष्य-वक्ताओं ने ज्येष्ठ लड़के के बारे में भविष्यवाणी की कि पिता के मरने पर राजा बनेगा और छोटे लड़के के बारे में कहा कि यह ऋषि-प्रव्रज्या ले भिक्षाटन करेगा, लेकिन साथ ही कहा कि इसका पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा। आगे चलकर पिता के मरने पर ज्येष्ठ-पुत्र राजा हुआ और छोटा उपराजा। 'मेरा पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा' सोच छोटे को अभिमान हो गया। राजा से सहन न हो सका। उसने अपने एक हितैषी को आज्ञा दी—चूळ-कलिङ्ग को पकड़ो। उसने जाकर कुमार से कहा—"राजा तुझे पकड़वाना चाहता है, अपने प्राण की रक्षा कर।" उसने अपनी मुद्रा, सूक्ष्म कम्बल और खड्‌ग हितैषी अमात्य को दिखाई और कहा कि इन तीन चीजों को पहचानकर मेरे पुत्र को राज्य देना। वह स्वयं जंगल जा, रमणीय-प्रदेश में ऋषि-प्रव्रज्या ले, नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहने लगा।

मद्र राष्ट्र के सागल नगर में भी मद्र-नरेश के यहाँ लड़की पैदा हुई। उसके बारे में भी भविष्य-वक्ताओं ने कहा--यह भिक्षाटन करके जीयेगी, किन्तु इसका पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा। सारे जम्बु-द्वीप के राजाओं ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने एक-बारगी ही आकर नगर को घेर लिया। मद्र राजा ने सोचा—यदि इसे मैं एक को दूँगा तो शेष राजा क्रुद्ध होंगे। मैं अपनी लड़की को रखूँगा। उसने लड़की तथा भार्य्या को साथ लिया और भेष बदल जंगल को भाग गया। वहाँ कालिङ्ग-कुमार के आश्रम से ऊपर की ओर आश्रम बना, प्रव्रजित हो, उञ्छाचरिया[1] से जीविका चलाते हुए वहाँ रहने लगा। माता-पिता लड़की को पालने की इच्छा से उसे आश्रम में छोड़ स्वयं फल-मूल के लिये जाते। उनकी अनुपस्थिति में वह नाना प्रकार के फूल इकट्ठे कर उनकी माला बनाती। वहीं गङ्गा के किनारे एक आम्र-वृक्ष था, जिस पर खूब मौर आया हुआ था और जिस पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ-सी बनी थीं। वह उस पर चढ़ जाती और खेलकर उस पुष्पमाला को पानी में फेंक देती। गंगा में कालिङ्गकुमार नहाता था। पुष्पमाला एक दिन जाकर उसके सिर से लगी। उसने उसे देखकर सोचा—यह माला किसी स्त्री की बनाई हुई है। बूढ़ी स्त्री की नहीं, तरुण स्त्री की है। इसकी परीक्षा करूँगा। आसक्ति के वशीभूत हो वह गंगा के ऊपर की ओर गया और वहाँ उसे आम्र-वृक्ष पर मधुर-स्वर से गीत गाते हुए देखा। पूछा—"भद्रे! तेरा क्या नाम है?"

"स्वामी! मैं मानवी हूँ।"

"तो उतर।"

"स्वामी! मैं नहीं उतर सकती। मैं क्षत्रिया हूँ।"

"भद्रे! मैं भी क्षत्रिय हूँ। उतर।"

"स्वामी! कहने मात्र से कोई क्षत्रिय नहीं होता। यदि क्षत्रिय है तो क्षत्रिय माया कह।"

उन दोनों ने परस्पर एक-दूसरे को क्षत्रिय-माया कही। राजकन्या उतर आई। उन्होंने परस्पर सहभोग किया। उसने माता-पिता के लौटने पर

---

१. चुग कर खाना।

उसका कालिङ्ग राजपुत्र होना और जंगल में प्रवेश करने की बात विस्तार से कही। उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और वह उसे दे दी। उनके प्रेमपूर्वक साथ रहते हुए राजकन्या को गर्भ रह गया। उसने दस महीने बीतने पर धान्य-पुण्य-लक्षण वाले पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम कालिङ्ग रखा गया। बड़े होने पर उसने पिता और नाना से सब शिल्प सीख लिये। पिता ने नक्षत्र-योग से जाना कि भाई मर गया। उसने पुत्र से कहा—"तात ! तेरा ताऊ महाकालिङ्ग मर गया है। तू दन्तपुर जाकर परम्परागत राज्य प्रात कर।" उसने उसे लायी हुई अँगूठी, कम्बल और खङ्ग दी और कहा—"तात ! दन्तपुर-नगर में अमुक गली में हमारा हितैषी अमात्य रहता है, सन्ध्या समय उसके घर पहुँच, ये तीन चीजें दिखाकर मेरा पुत्र होने की बात कहना। वह तुझे राज्य पर प्रतिष्ठित करेगा।" उसने माता-पिता तथा नाना-नानी को प्रणाम किया और पुण्यमय ऋद्धि के बल से आकाश से जा अमात्य के पलंग के ही पास उतरा। उससे पूछा गया—"तू कौन है ?" उसने 'मैं चूल कालिङ्ग का पुत्र हूँ' कह वे तीन रत्न दिखाये। अमात्य ने राज्य-परिषद् को सूचना दी और अमात्यों ने नगर को सजवा उसके सिर पर छत्र झुलाया।

उसके कालिङ्ग भारद्वाज नाम के पुरोहित ने दस चक्रवर्ती-धर्म कहे। उसने उन्हें पालन किया। पूर्णिमा-उपोसथ के दिन चक्र-सरोवर से चक्र-रत्न, उपोसथ-कुल से हस्ति-रत्न, बलाहक-कुल से अश्व-रत्न, वैपुल्य से मणि-रत्न, आया और स्त्री, गृहपति तथा परिणायक-रत्न प्रकट हुए। समस्त चक्रवाल के बीच राज्य प्राप्त कर एक दिन वह छत्तीस योजन लम्बी अनुयायियों की परम्परा ले, कैलाश-कूट सदृश सर्व-श्वेत हाथी पर चढ़, बड़े ठाट-बाट के साथ माता-पिता के पास गया। सब बुद्धों के समाधि-स्थान पृथ्वी के मध्यबिन्दु, महाबोधि-मण्डप के ऊपर से वह हाथी नहीं जा सका। राजा ने बार-बार प्रेरणा की, वह नहीं ही जा सका।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने पहली गाथा कही—

राजा कालिङ्गो चक्कवत्ती
धम्मेन पठविं अनुसासं

अगमा बोधिसमीपं
नागेन महानुभावे ॥१॥

[धर्मानुसार पृथ्वी पर राज्य करता हुआ चक्रवर्ती कालिङ्ग-नरेश महाप्रतापी हाथी के साथ बोधि-मण्डप के पास पहुँचा ॥१॥]

राजा के साथ जाने वाले राजपुरोहित ने सोचा--आकाश में कुछ बाधा नहीं है। क्या कारण है कि राजा हाथी को बढ़ा नहीं सक रहा है? मैं पता लगाऊँगा। वह आकाश से उतरा और सभी बुद्धों के ध्यान-स्थान पृथ्वी के मध्य-बिन्दु महाबोधि-मण्डप को देखा। उस समय वहाँ करीष-मात्र स्थान पर खरगोश की मूँछ जितना भी तृण उगा न था, चाँदी के तख्ते सदृश बालू बिखरी थी, चारों ओर तृणलता तथा वनस्पतियाँ बोधिमण्डप की प्रदक्षिणा करती हुई उसे चारों ओर से घेर कर बोधिमण्डप के सामने खड़ी थीं। ब्राह्मण ने उस भूमि-प्रदेश को देखा तो सोचा—यह सभी बुद्धों के सभी क्लेशों के नाश का स्थान है। शक्र आदि भी इसके ऊपर से नहीं जा सकते हैं। वह कालिङ्ग-नरेश के पास गया और बोधिमण्डप का माहात्म्य सुना, उसे हाथी से उतरने के लिये कहा। इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने यह गाथा कही—

कालिङ्ग भारद्वाजो राजानं कालिङ्गं समणकोलञ्ञं।
चक्कं वत्तयतो परिणेत्वा पञ्जली इदं अवोच ॥२॥
पच्चोरोह महाराज, भूमिभागो यथा समनुगीतो।
इध अनधिवरा बुद्धा अभिसम्बुद्धा विरोचन्ति ॥३॥
पदक्खिणतो आवत्ता तिणलता अस्मि भूमिभागस्मि।
पुथवियायं मण्डो, इति नो सुतं महाराज ॥४॥
सागरपरियन्ताय मेदिनिया सब्बभूतधरणिया।
पुथवियायं मण्डो, ओरोहित्वा नमो करोहि ॥५॥
ये ते भवन्ति नागा अभिजाता मातितो च पितितो च।
एत्तावता पदेसं ते नागा नेवमुपयन्ति ॥६॥
अभिजातो ते नागो, कामं पेसेहि कुञ्जरं दन्ति।
एत्तावता पदेसो सक्का नागेनुपगन्तुं ॥७॥

तं सुत्वा राजा कालिङ्गो वेय्यञ्जनिय वचो निसामेत्वा।
सम्पेसेसि नागं, अस्साम मयं यथा इदं वचनं॥८॥
सम्पेसितो व रञ्ञा नागो कोञ्चो व आनदित्वा।
पटिसक्कित्वा निसीदि गरुभारं असहमानो॥९॥

[कालिङ्ग भारद्वाज ने श्रमणपुत्र चक्रवर्ती कालिङ्ग-नरेश की (भूमि-भाग की) परीक्षा कर हाथ जोड़ यूँ कहा ॥२॥ महाराज (हाथी से) उतरें। यह प्रशंसित भूमि भाग है। इसे अनुपम बुद्धों ने अभिसम्बुद्ध होकर प्रकाशित किया है ॥३॥ महाराज इस प्रदेश की प्रदक्षिणा करती हुई सी तृण-लतायें इसे चारों ओर से घेरे हुये है। क्या यह नहीं सुना है कि यह पृथ्वी का मण्डप है ? ॥४॥ सब प्राणियों को धारण करने वाली सागर पर्य्यन्त पृथ्वी का यह मण्डप है। उतर कर इसे नमस्कार कर ॥५॥ जो माता और पिता की ओर से कुलीन हाथी होते हैं, वे इतने स्थान पर नहीं ही आते हैं ॥६॥ तेरा हाथी कुलीन है। (उसे) चाहे तू (जितनी) प्रेरणा कर वह उतने ही प्रदेश में आ सकता है ॥७॥ राजा ने उस लक्षणज्ञ कालिङ्ग भारद्वाज की बात सुन यह देखने के लिये कि उसका कहना ठीक है या नहीं, हाथी को (वज्र-अंकुश) मारा ॥८॥ राजा के द्वारा वज्र-अंकुश चुभोये जाने पर हाथी ने क्रौञ्च-पक्षी की तरह आवाज की और भार को सहन न कर सकते हुए की तरह पीछे हट कर बैठ गया ॥९॥]

बार-बार अंकुश चुभोये जाने पर जब वह वेदना न सह सका तो मर गया। राजा को उसके मरने का पता नहीं लगा था। वह वैसे ही बैठा था। कालिङ्ग भारद्वाज ने कहा—"महाराज ! तुम्हारा हाथी जाता रहा। अब दूसरे हाथी पर चढ़ें।"

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने दसवीं गाथा कही—

कालिङ्ग भारद्वाजो नागं खीणायुकंविदित्वा,
राजानं कालिङ्गं तरमानो अज्झभासित्थ।
अञ्ञं सङ्कम नागं, नागो खीणायुको महाराज॥१०॥

[कालिङ्ग भारद्वाज ने जब यह जाना कि हाथी का प्राणान्त हो गया तो उसने शीघ्रता से कालिङ्ग राजा को कहा--राजन् ! इस हाथी का तो प्राणान्त हो गया। दूसरे पर चढ़ें ॥१०॥]

राजा के पुण्य-ऋद्धि बल से उपोसथ-कुल से दूसरा नाग आ गया और उसने राजा के सामने पीठ झुका दी। राजा उसकी पीठ पर बैठा। उस समय मरा हुआ हाथी जमीन पर गिर पड़ा।

इसी अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने यह गाथा कही—

तं सुत्वा कालिङ्गो तरमानो
सङ्कमि नागं, सङ्कन्ते च रञ्ञो
नागो तत्थेव पति भूम्या
वेय्यञ्जनियवचो यथा तथा अहु नागो॥११॥

[यह सुन कालिङ्ग शीघ्र से (दूसरे) नाग के पास गया। राजा के जाते ही नाग वहीं भूमि पर गिर पड़ा। लक्षण-ज्ञ का जैसा कहना था, वैसा ही वह नाग हुआ ॥११॥]

तब राजा ने आकाश से उतर, बोधिमण्डप को देख, आश्चर्य्य पर ध्यान दे, भारद्वाज की प्रशंसा करते हुए (कहा)--

कालिङ्ग भारद्वाजं कालिङ्गो ब्राह्मणं इदं अवोच।
त्वं एवासि सम्बुद्धो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी॥१२॥

[कालिङ्ग ने कालिङ्ग-भारद्वाज ब्राह्मण को यह कहा—तू ही सम्बुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वद्रष्टा है ॥१२॥]

ब्राह्मण ने इसे सहन नहीं किया और अपने को नीचे स्थान पर रख बुद्धों को ही ऊँचा स्थान दे, उनका गुणानुवर्णन किया। इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने ये गाथा कही—

तं वचनं अनधिवासेन्तो कालिङ्गब्राह्मणो इदं अवोच।
वेय्यञ्जनिया मयं, बुद्धा सब्बञ्ञुनो व महाराज॥१३॥
सब्बञ्ञु सब्बविदूच बुद्धा लक्खणेन जानन्ति।
आगम पुरिसा मयं, बुद्धा सब्बं पजानन्ति॥१४॥

[उस वचन को अस्वीकार करते हुए कालिङ्ग ब्राह्मण ने यह कहा--हम तो लक्षणज्ञ हैं। महाराज ! बुद्ध ही सर्वज्ञ हैं, सर्वविद् हैं, (वे) लक्षणों से ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम तो केवल शास्त्र-बल से जानते हैं। बुद्ध सब जानते हैं ॥१४॥]

राजा ने बुद्ध गुण सुन, प्रसन्न हो, सारे चक्रवाल-वासियों द्वारा बहुत सुगन्धित तथा मालायें मँगवा, एक सप्ताह तक महाबोधि-मण्डप की पूजा करायी।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने ये दो गाथायें कहीं—

महायितवान सम्बोधिं नाना तुरियेहि वज्जमानेहि

मालागन्ध विलेपनं आहरित्वा पाकार परिक्खेपं कारेसि, अथ राजा पायासि ॥१५॥

सट्ठिवाह सहस्सानं पुप्फानं सन्निपातयि।

पूजेसि राजा कालिंगो बोधिमण्डं अनुत्तरं ॥१६॥

[नाना प्रकार के बजते हुए वाद्य-यंत्रों से सम्बोधि की पूजा कर, माला, गन्ध तथा विलेपन मँगवा प्राकार-सीमा बनवायी। फिर राजा चला गया ॥१५॥ फूलों के साठ हजार भार इकट्ठे करा अनुपम बोधि-वृक्ष की पूजा की ॥१६॥]

इस प्रकार महाबोधि की पूजा कर, वह जाकर माता-पिता को ले आया, और दन्तपुर ही आ, दानादि-पुण्य कर त्रयोत्रिंश-भवन में पैदा हुआ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला 'भिक्षुओं ! न केवल अभी आनन्द ने बोधि-पूजा की, पहले भी की है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय कालिङ्ग आनन्द था। कालिङ्ग भारद्वाज तो मैं ही था।

४८०. अकित्ति जातक

"अकित्ति दिस्वान सम्मतं . . . ." यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय एक श्रावस्ती-वासी दान-पति के बारे में कही—

क. वर्त्तमान कथा

उसने शास्ता को निमन्त्रित कर सप्ताह भर तक बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को महादान दे, अन्तिम दिन आर्य-संघ को सभी आवश्यक वस्तुओं का दान दिया। शास्ता ने परिषद् के बीच में दानानुमोदन करते हुए कहा—"उपासक ! यह तेरा महान्-परित्याग है। तू ने अति दुष्कर कार्य किया है। यह दान-परम्परा पुराने पण्डितों की परम्परा है। दान गृहस्थ तथा प्रव्रजित दोनों के ही द्वारा दिया जाना चाहिए। पुराने पण्डितों ने जंगल में रहते समय अलूने, बिना छौंके, मात्र पानी से भिगोये कार (?) के पत्ते खाते हुए भी आगत-याचकों को यथेच्छ दे स्वयं प्रीति-सुख से यापन किया है।" "भन्ते ! यह सब वस्तुओं का दान तो जनता को प्रकट है, किन्तु आप ने जो कहा सो अप्रकट है। हमें वह कहें।" उनके प्रार्थना करने पर भगवान् ने पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व अस्सी करोड़ धनवाले ब्राह्मण महाशाल कुल में उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया अकीर्ति। जब वह पैरों चलने लगा, तब उसे एक बहिन हुई। उसका नाम यशवती रखा गया। बोधिसत्व सोलह वर्ष की आयु होने पर तक्षशिला जा, सभी शिल्प सीख लौटा। उसके माता-पिता का देहान्त हो गया। उन का क्रिया-कर्म कर चुकने पर धन की ओर देखते हुए जब उसने सुना कि अमुक इतना धन छोड़ गया है और अमुक इतना धन छोड़ गया है तो उसे वैराग्य हो गया और वह सोचने लगा—"यह धन ही दिखाई देता है, किन्तु

इस धन के संग्रह करने वाले नहीं, सभी इस धन को छोड़कर ही गये, मैं क्या इसे लेकर जाऊँगा ?" उसने बहन को बुलाकर कहा—"तू इस धन को सँभाल ।"

"तेरा क्या विचार है ?"

"मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ ।"

"तात ! मैं तुम्हारे थूके हुए को सिर पर न धारण करूँगी ।

"मुझे इसकी जरूरत नहीं है । मैं भी प्रव्रजित होऊँगी ।"

उसने राजा की आज्ञा ले मुनादी करा दी—धनार्थी पण्डित के घर जायें । सप्ताह भर तक महादान देते रहने पर भी जब धन समाप्त होता नहीं दिखाई दिया तो उसने सोचा--मेरे आयु-संस्कारों का क्षय हो रहा है । मुझे इस धन-क्रीड़ा से क्या काम ? अर्थी (स्वयं) ले लेंगे । उसने घर का दरवाजा खोल दिया और घोषणा की—दिया, ले जायें । इस प्रकार स्वर्ण भरे घर को छोड़ रिश्तेदारों के रोते रहते वह अपनी बहन को साथ ले वाराणसी के जिस दरवाजे से निकला वह अकीर्ति-द्वार कहलाया और जिस तट से नदी पार की वह अकीर्ति-तीर्थ कहलाया । दो-तीन योजन चलने पर एक रमणीय स्थान पर पहुँच, पर्ण-कुटी बना, वह बहिन के साथ प्रव्रजित हो गया । उसके प्रव्रजित होने के बाद बहुत से ग्राम-निगम-राजधानी वासी भी प्रव्रजित हो गये । बड़ी भारी मण्डली हो गई । लाभ-सत्कार बहुत बढ़ गया । बुद्ध की उत्पत्ति का सा समय हो गया ।

तब बोधिसत्त्व ने सोचा—यह लाभ-सत्कार भी बहुत है, मण्डली भी बहुत बड़ी है, मुझे अकेले ही विहार करना चाहिए । वह असमय ही, बहन तक को सूचना न दे, अकेले निकल दमिळ राष्ट्र पहुँचा । वहाँ कावीर-पत्तन के पास उद्यान में रहते समय ध्यान लाभ किया । वहाँ भी उसे बहुत लाभ-सत्कार प्राप्त होने लगा । उसने घृणा के कारण उसे भी छोड़ दिया और आकाश-मार्ग से जाकर नागद्वीप के समीप कार-द्वीप में उतरा । उस समय कार-द्वीप अहि-द्वीप था । उसने वहाँ बड़े भारी कार-वृक्ष के पास पर्ण-कुटी बनायी और वही रहने लगा । कोई नहीं जानता था कि वह वहाँ रहता है । उसकी बहन भाई को खोजती-खोजती क्रमशः दमिळ राष्ट्र पहुँची । जब उसे वह न दिखाई दिया तो वह उसके रहने की जगह ही रहने लगी ।

हाँ, वह ध्यान लाभ नहीं कर सकी । बोधिसत्व अल्पेच्छु होने से कहीं न जाते । उस वृक्ष में फल लगने के समय फल खाते, पत्तों के समय पत्तों को ही पानी में भिगोकर खाते। उसके सदाचार के तेज से शक्र का पाण्डु-कम्बल वर्ण का शिलासन गर्म हो उठा। शक्र सोचने लगा--"कौन है जो मुझे मेरे इस स्थान से च्युत करना चाहता है ?" जब उसने देखा कि 'पण्डित' है, तो चिन्ता हुई कि यह तपस्वी किस उद्देश्य से शील की रक्षा करता है ? यह शक्रत्व चाहता है अथवा अन्य कुछ ? इसकी परीक्षा करूँगा। यह बड़े कष्ट से जीवन व्यतीत कर रहा है, पानी में भिगोये पत्ते खाता है। यदि यह शक्रत्व चाहता होगा तो अपने पानी में भिगोये पत्ते मुझे दे देगा, नहीं तो नहीं देगा । वह ब्राह्मण-भेष बनाकर उसके पास गया ।

बोधिसत्व ने भी कार (?) के पत्तों को उबाल, उतार कर रखा कि ठंडे होने पर खाऊँगा और पर्ण कुटी-द्वार पर बैठा। उसके आगे शक्र भिक्षार्थ आकर खड़ा हुआ । बोधिसत्व ने उसे देखा तो हर्ष हुआ । उसने सोचा--यह मेरे लिये बड़ा लाभ है कि मुझे याचक के दर्शन हुए हैं। आज अपना मनोरथ पूरा कर दान दूँगा । उसने जिस बरतन में पत्ते पकाये थे वह बरतन ही ले, 'मेरा यह दान सर्वज्ञता-ज्ञान का प्रत्यय हो' संकल्प से अपने लिये कुछ न बचा उसके भिक्षा-पात्र में डाल दिया। ब्राह्मण ने दान लिया और थोड़ा जाकर अन्तर्धान हो गया। बोधिसत्व ने भी उसे दे, फिर कुछ न पका प्रीति-सुख में ही बिता दिया। अगले दिन भी पकाकर पर्ण-कुटी के द्वार पर बैठा । शक्र फिर ब्राह्मण-भेष में आया । फिर उसे देकर बोधिसत्व ने उसी प्रकार बिता दिया। तीसरे दिन भी उसी प्रकार देकर सोचने लगा--ओह ! मुझे कितना लाभ हुआ है ? कार के पत्तों से मैंने महान् पुण्य प्राप्त किया है ! इस प्रकार प्रसन्न-चित्त वह निराहार रहने से दुर्बल हो जाने के कारण भी मध्याह्न के समय पर्ण-कुटी से निकल दान का विचार करता हुआ पर्ण कुटी के दरवाजे पर बैठा। शक्र ने भी सोचा—यह ब्राह्मण तीन दिन तक निराहार रहने के कारण दुर्बल हो जाने पर भी दान देता हुआ प्रसन्नतापूर्वक ही दान देता है, चित्त में तनिक विकार नहीं आता। मैं नहीं जानता हूँ कि यह अमुक कारण से दान देता है। इससे

पूछकर और इसका विचार सुनकर मैं इसके दान देने का कारण जानूंगा। उसने दोपहर बिता दी और तरुण-सूर्य्य की तरह चमकते हुए, बड़े ठाट-बाट से आकर बोधिसत्व के सामने खड़े हो पूछा—"हे तपस्वी ! इस प्रकार की गर्म हवा चल रही है; और इस प्रकार का खारे पानी वाला यह जंगल है, इसमें तू किसलिये तपस्या कर रहा है ?"

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने पहली गाथा कही—

अकित्ति दिस्वान सम्मतं सक्को भूतपति ब्रवि,
किमत्थियं महाब्रह्मे एको सम्मसि धम्मनि ॥१॥

[देवेन्द्र शक्र ने तपस्वी अकित्ति को देखकर पूछा—हे महाब्रह्म ! धूप में अकेला किस उद्देश्य से तपस्या कर रहा है ? ॥१॥]

बोधिसत्व ने जब यह सुना और यह जान लिया कि यह शक्र है तो यह प्रकट करने के लिये कि 'मैं इसकी सम्पत्ति नहीं चाहता हूँ, किन्तु सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिये तपस्या करता हूँ' दूसरी गाथा कही—

दुक्खो पुनब्भवो सक्क सरीरस्स च भेदनं
सम्मोहमरणं दुक्खं, तस्मा सम्मामि वासव ॥२॥

[हे शक्र ! बार-बार जन्म लेना दुःख है, शरीर का नाश होना भी दुःख है, सम्मोह-मरण भी दुःखकर है। इसीलिये हे वासव ! मैं तपस्या करता हूँ ॥२॥]

यह सुन शक्र प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—"यह सारे लोकों के प्रति वैराग्य-युक्त है और निर्वाण के लिये जंगल में रहता है। मैं इसे वर दूँगा।" उसने उसे वर मांगने के लिये कहते हुए तीसरी गाथा कही—

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,
वरं कस्सप ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छसि ॥३॥

[हे काश्यप ! मैं तेरे इस सुन्दर, उचित, सुभाषित से प्रसन्न होकर जो तू इच्छा करे, सो वर देना चाहता हूँ ॥३॥]

बोधिसत्व ने 'वर' माँगते हुए चौथी गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
येन पुत्ते च दारे च धन-धञ्ञं पियानि च,
लद्धा नरा न तप्पन्ति सो लोभो न मयी वसे ॥४॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो यह 'वर' दे कि वह लोभ जिसके कारण आदमी पुत्र, दारा, धन-धान्य तथा अन्य प्रिय वस्तुयें प्राप्त कर संतुष्ट नहीं होते, वह मुझ में न रहे ॥४॥]

इससे शक्र प्रसन्न हुआ और उसने और भी 'वर' देते हुए तथा बोधिसत्व ने ग्रहण करते हुए ये गाथायें कहीं—

एतस्मिं ते..............इच्छसि ॥५॥
वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं च गवास्सं दासपोरिसं,
येन जातेन खीयन्ति सो दोसो न मयी वसे ॥६॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता तो यह 'वर' दे कि वह द्वेष जिसके पैदा होने से खेत, वस्तु, सोना, गौवें, घोड़े तथा दासों का नाश होता है, वह मुझ में न रहे ॥६॥]

एतस्मिं ते.................इच्छसि ॥७॥
वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
बालं न पस्से न सुणे न च बालेन संवसे,
बालेन अल्लाप सल्लापं न करे न च रोचये ॥८॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो यह 'वर' दे कि न मूर्ख (आदमी) दिखाई दे, न उसकी बात सुनने को मिले, न उसके साथ रहना हो, न उसके साथ बातचीत हो और न अच्छी ही लगे ॥८॥]

शक्रः—किं नु ते अकरं बालो, वद कस्सप कारणं,
केन कस्सप बालस्स दस्सनं नाभिकङ्खसि॥९॥
कस्सपः—अनयं नयति दुम्मेधो अधुरायं नियुञ्जति,
दुन्नयो सेय्यसो होति, सम्मा वुत्तो पकुप्पति,
विनयं सो न जानाति, साधु तस्स अदस्सनं॥१०॥

[हे काश्यप ! मूर्ख आदमी ने तेरा क्या (अपकार) किया है ? हे काश्यप ! तुझे किस कारण से मूर्ख आदमी का दर्शन अच्छा नहीं लगता ? ॥९॥ काश्यप—मूर्ख आदमी उलटे रस्ते ले जाता है, अनुचित कर्म में लगाता है, उसके लिये दुष्कर्म अच्छा होता है और वह उचित बात कहने पर बुरा मानता है। वह शिक्षा जानता ही नहीं। उसका अदर्शन अच्छा है ॥१०॥]

एतस्मिं ते...............इच्छसि ॥११॥
वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
धीरं पस्से सुणे धीरं धीरेन सह संवसे,
धीरेन अल्लाप सल्लापं तं करे तं च रोचये॥१२॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो यह 'वर' दे कि बुद्धिमान् (आदमी) दिखाई दे . . . . अच्छा लगे ॥१२॥]

शक्रः—किंनु ते अकरं धीरो......अभिकङ्खसि॥१३॥
कस्सपः—नयं नयति मेधावी...साधु तेन समागमो॥१४॥

[हे काश्यप ! बुद्धिमान् (आदमी) ने तेरा . . . . अच्छा लगता है ॥१३॥ बुद्धिमान् आदमी सीधे रस्ते ले जाता है . . . उससे भेंट होना अच्छा है ॥१४॥]

एतस्मिं ते...............इच्छसि॥१५॥
वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर,
ततो रत्या विवसने सुरियस्सुग्गमनं पति.
दिब्बा भक्खा पातुभवेय्युं सीलवन्तो च याचक॥१६॥
ददतो च मे न खीयेथ, दत्वा नानुतपेय्य अहं,
ददं चित्तं पसादेयं, एतं सक्क वरं वरे॥१७॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो यह 'वर' दे कि रात के बीतने पर, सूर्योदय होते-होते दिव्य भोजन उपस्थित हो जायें और सदाचारी याचक ॥१६॥ मैं देता रहूँ, किन्तु (दान-वस्तु) समाप्त न हो, देने पर मेरे मन में अनुताप न हो और देते समय प्रसन्नता रहे—यह वर हे शक्र ! मुझे चाहिये ॥१७॥]

एतस्मिं ते....................इच्छसि ॥१८॥
वरं चे मे अदोसक्क सब्बभूतानं इस्सर,
न मं पुन उपेय्यासि, एतं सक्क वरं वरे ॥१९॥

[हे सब प्राणियों के स्वामी शक्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो यह 'वर' दे कि तू फिर कभी मेरे पास न आवे ॥१९॥]

बहूहि वत चरियाहि नरा च अथ नारियो,
दस्सनं माभिकङ्खन्ति, किं नु मे दस्सने भयं ॥२०॥

[नर तथा नारियाँ अनेक व्रतों और धर्माचरणों द्वारा मेरे दर्शन की इच्छा करती हैं, तुझे मेरे दर्शन से कौन-सा भय है ? ॥२०॥]

तं तादिसं देववण्णं सब्बकाम समिद्धिनं,
दिस्वा तपो पमज्जेय्य, एतं ते दस्सने भयं ॥२१॥

[सब कामनाओं की पूर्ति करने वाले तेरे इस प्रकार के देव-वर्ण को देखकर तपस्या में प्रमादी न हो जाऊँ। यही तेरे दर्शन में भय है ॥२१॥]

शक्र 'अच्छा भन्ते ! अब से मैं तेरे पास नहीं आऊँगा' कह उसे प्रणाम कर, क्षमा माँग चला गया। बोधिसत्व जीवन भर वहीं रह ब्रह्म-विहारों की भावना कर ब्रह्म-लोक में उत्पन्न हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय शक्र अनुरुद्ध था, अकीर्ति-पण्डित मैं ही था।

४८१. तक्कारिय जातक

"अहमेव दुब्भासितं भासि बालो ···" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कोकालिक (भिक्षु) के बारे में कही।

क: वर्तमान कथा

एक वर्षावास के समय दो अग्रश्रावक मण्डली से पृथक् एकान्त में रहने की इच्छा से, शास्ता से आज्ञा ले कोकालिक राष्ट्र में कोकालिक (भिक्षु) के निवास-स्थान पर जाकर बोले—

"आयुष्मान् कोकालिक ! तुम से हमें और हमसे तुम्हें सुख मिलेगा। इन तीन महीनों तक हम यहीं रहें।"

"आयुष्मानो ! मुझसे तुम्हें क्या सुख मिलेगा ?"

"आयुष्मान् ! यदि तुम किसी को यह न बताओगे कि दोनों अग्र-श्रावक यहाँ रहते हैं तो हम सुख-पूर्वक रहेंगे। यह हमें तुम से सुख मिलेगा ?"

"और तुमसे मुझे क्या सुख मिलेगा ?"

"हम तुझे तीन महीने तक धर्म पढ़ायेंगे, धर्मकथा सुनाएँगे। यह तुम्हें हम से सुख मिलेगा।"

"आयुष्मानो ! यथा-विचार निवास करो" कह उसने उन्हें बढ़िया शयनासन दिया। वह ध्यान-सुख में सुखपूर्वक रहे। किसी को उनके वहाँ रहने का पता नहीं लगा। वर्षावास की समाप्ति के अनन्तर उहोंने उससे आज्ञा ली—"आयुष्मान् ! हम तेरे सहारे रहे। अब हम शास्ता को प्रणाम करने जाते हैं।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उन्हें लेकर पड़ोसी गाँव में भिक्षाटन किया। भोजनान्तर स्थविर लोग गाँव से निकले। कोकालिक ने उन्हें विदा कर, रुक कर मनुष्यों को कहा—"उपासको ! तुम पशु समान हो। दो अग्रश्रावक तीन माह तक पड़ोस के विहार में रहते रहे और तुम्हें पता नहीं लगा। अब वे चले गये।"

आदमी "भन्ते ! हमें क्यों नहीं बताया ?" कह बहुत सा घी-तेल आदि औषध-वर्ग तथा वस्त्र ले स्थविरों के पास पहुँचे और प्रणाम करके निवेदन किया—"भन्ते ! क्षमा करें। हम नहीं जानते थे कि आप अग्रश्रावक हैं। आज कोकालिक भदन्त के कहने से ज्ञात हुआ। हम पर कृपाकर यह औषध-वर्ग तथा वस्त्र ग्रहण करें।" कोकालिक ने समझा कि स्थविर तो अल्पेच्छुक हैं, सन्तुष्ट हैं, ये वस्त्र स्वयं न ले मुझे दे देंगे। इसलिए उपासकों के साथ वह भी स्थविर के पास गया। स्थविरों ने उस भिक्षु के हेतु से प्राप्त होने के कारण न उस वस्त्रों को स्वयं लिया न उसे दिलवाया। उपासकों ने प्रार्थना की—"भन्ते ! अब स्वीकार नहीं करते फिर भी हम पर कृपा करने के लिये यहाँ पधारें।" स्थविर स्वीकार कर, शास्ता के पास चले।

कोकालिक के मन में बैर-भाव जाग्रत हो गया—इन स्थविरों ने अपने तो लिये ही नहीं, मुझे भी नहीं दिलवाये। स्थविर थोड़ा समय शास्ता के पास रहकर अपनी मण्डली के पाँच-पाँच सौ भिक्षु अर्थात् हजार भिक्षुओं के साथ चारिका करते हुये कोकालिक राष्ट्र पहुँचे। उन उपासकों ने अगवानी की और स्थविरों को उसी विहार में ले जा प्रतिदिन बड़ा सत्कार किया। बहुत औषध-वर्ग तथा वस्त्र लाभ होने लगा। स्थविरों के साथ आये भिक्षुगण चीवरों को बाँटते समय साथ आये भिक्षुओं को ही देते, कोकालिक को न देते। स्थविर भी उसे न दिलाते। कोकालिक को जब चीवर न मिला तो वह स्थविरों की निन्दा करने लगा—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, पापेच्छुक हैं। पहले तो दी हुई वस्तुओं को अस्वीकार किया, अब उन्हें ही स्वीकार करते हैं। उनकी इच्छा की पूर्ति नहीं की जा सकती। वे दूसरे की ओर देखते ही नहीं। स्थविरों ने सोचा—यह हमारे कारण मन मैला करता है। वे समण्डली चल दिये। आदमियों ने आग्रह किया—भन्ते ! और कुछ दिन रहें। तो भी उन्होंने स्वीकार नहीं ही किया।

एक छोटा भिक्षु बोला—"उपासको ! स्थविर कैसे ठहरें ? तुम्हारा कुल विश्वस्थ-स्थविर इनका ठहरना पसन्द ही नहीं करता।" वे उसके पास पहुँचे और बोले—"भन्ते ! तुमसे स्थविरों का यहाँ रहना सहन नहीं होता। जायें उनसे क्षमा माँगकर उन्हें रोकें, अन्यथा यहाँ से भागकर अन्यत्र जाकर रहें।" उसने उपासकों के डरके मारे जाकर स्थविरों से प्रार्थना की।

स्थविर—"आयुष्मान्! जा। हम नहीं रुकते" कह चले गये। जब वह उन्हें रोक नहीं सका तो विहार ही लौट आया।

उपासकों ने पूछा—"भन्ते! तुम स्थविरों को लौटा लाये?"

"लौटा सकने में असमर्थ रहा।"

"तो आयुष्मान्! यह क्या?"

तब उन्होंने सोचा—"इस पापी भिक्षु के यहाँ रहते सदाचारी भिक्षु यहाँ नहीं रहेंगे। इसे निकालें।" उन्होंने कहा—"भन्ते! आप यहाँ न रहें। आपके लिये यहाँ कुछ नहीं है।" उनसे अनादृत हो उसने पात्र चीवर लिया और जेतवन पहुँच शास्ता के पास जाकर कहने लगा—"भन्ते सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पापी हैं। वे पापी इच्छाओं के वशीभूत हैं।"

"कोकालिक! ऐसा मत कह। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के प्रति श्रद्धावान् हो। यह समझ कि वे सदाचारी हैं।"

"भन्ते! आप अपने अग्रश्रावकों का विश्वास करते हैं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है। ये पापी हैं, ये छिपकर पापकर्म करनेवाले हैं।"

शास्ता के मना करने पर भी उसने तीन बार इसी प्रकार कहा और तब आसन से उठ कर चला गया। उसके जाने के साथ ही उसके शरीर में सरसों के दाने जैसी फुंसियाँ निकल आयीं। वे क्रमशः बढ़कर बेल जितनी बड़ी-बड़ी होकर फूटीं और उनमें से पीप तथा खून निकलने लगा। वह वेदना के मारे कराहता हुआ जेतवन के द्वार पर गिर पड़ा। 'कोकालिक ने दोनों अग्रश्रावकों की झूठी निन्दा की'—यह हल्ला ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा। उसके उपाध्याय ने जो अब 'तुदु' नाम का ब्रह्मा था, यह बात जान सोचा—जाकर स्थविर से क्षमा मँगवाऊँगा। वह आया और आकाश में खड़े होकर बोला—"कोकालिक! तूने बड़ा भारी अपराध किया। अग्रश्रावकों को प्रसन्न कर।"

"आयुष्मान्! तू कौन है?"

"मैं तुदु नाम का ब्रह्मा हूँ।"

"आयुष्मान्! क्या तेरे बारे में भगवान ने यह नहीं कहा कि तू अनागामी होगा, उस लोक से लौटकर नहीं आयेगा? तू कूड़े-करकट की जगह पर यक्ष होगा।"

उसने इस प्रकार महा-ब्रह्मा को भी रुष्ट किया। ब्रह्मा ने जब देखा कि वह उससे अपनी बात नहीं मनवा सका तो "तुम्हारा कथन तुम्हें ही फले" कह शुद्धावास को ही चला गया। कोकालिक भी मर कर पद्म नरक में पैदा हुआ। उसके वहाँ पैदा होने की बात सहम्पति महा-ब्रह्मा ने तथागत से कही। शास्ता ने भिक्षुओं को बताई। भिक्षुओं ने उसकी निन्दा करते हुए धर्म-सभा में बातचीत चलायी—आयुष्मानो ! कोकालिक ने सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की निन्दा की और अपने मुँह के कारण पद्म नरक में पैदा हुआ।

शास्ता ने आकर "भिक्षुओ, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" पूछ 'अमुक बातचीत' कहने पर 'भिक्षुओ, कोकालिक न केवल अभी अपनी वाणी के कारण मारा गया और मुख के कारण कष्ट भोग रहा है, किन्तु इसने पूर्व-जन्म में भी मुख के कारण दुःख पाया है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उसका पिंगल वर्ण का पुरोहित था। उसके दाँत बाहर निकले हुए थे। उसकी ब्राह्मणी ने दूसरे ब्राह्मण के साथ अनाचार किया। वह भी वैसा ही था। पुरोहित ने ब्राह्मणी को बार-बार रोका। जब असमर्थ रहा तो उसने सोचा—"मैं अपने इस वैरी को अपने नहीं मार सकता। इसे चतुराई से मरवाऊँगा।" वह राजा के पास जाकर बोला—"महाराज ! आप का नगर सारे जम्बुद्वीप में प्रधान नगर है। आप सबसे बड़े राजा हैं। किन्तु आपके सबसे बड़े राजा होते हुए भी आपका दक्षिण-द्वार ठीक नहीं जड़ा हुआ है; और अमाङ्गलिक है।"

"आचार्य्य ! अब क्या करें ?"

"मङ्गल करके फिर से लगवाना चाहिए।"

"किस-किस चीज की अपेक्षा होगी ?"

"पुराना दरवाजा उखड़वाकर, माङ्गलिक लकड़ी ले, नगर-रक्षक भूतों को बलि दे, मङ्गल नक्षत्र में (नया दरवाजा) लगवाना चाहिए।"

"तो ऐसा ही करो।"

उस समय बोधिसत्व तक्कारिय नामक ब्रह्मचारी के रूप में उसके पास विद्या ग्रहण करते थे। पुरोहित ने पुराना दरवाजा उखड़वा कर नया तैयार करवा कर राजा को कहा—"देव ! द्वार तैयार हो गया। कल अच्छा नक्षत्र है। उसको बिना चूकने दिये, बलि देकर, दरवाजा लगवाना चाहिए।"

"आचार्य्य ! बलि-कर्म के लिए क्या-क्या चाहिए ?"

"देव ! बड़े दरवाजे पर बड़े-बड़े देवता रहते हैं। एक पिङ्गल-वर्ण ब्राह्मण को जिसके दाँत निकले हों और जिसका रक्त माता-पिता दोनों की ओर से शुद्ध हो, मारकर उसके मांस-रक्त की बलि देकर, उसका शरीर नीचे गाड़कर ऊपर दरवाजा लगवाना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा और नगर का कल्याण होगा।"

"अच्छा आचार्य्य ! इस प्रकार के ब्राह्मण को मारकर दरवाजा प्रतिष्ठित कराओ।"

उसने सन्तुष्ट हो 'कल शत्रु की पीठ देखूँगा' सोच, उत्साह के मारे अपने घर जाकर मुँह बन्द न रख सकने के कारण जल्दी-जल्दी ब्राह्मणी से कहा—"पाप चण्डाली ! अब किसके साथ रमण करेगी ? कल तेरे जार को मारकर बलि-कर्म करूँगा।"

"निरपराध को क्यों मारेगा ?"

"राजा ने आज्ञा दी है कि घोर (?) पिङ्गल ब्राह्मण रक्त-मांस से बलि करके नगर-द्वार को प्रतिष्ठित कर। तेरा जार घोर-पिङ्गल है। उसे मार कर बलि-कर्म करूँगा।"

उसने जार के पास सन्देश भेजा—"राजा, घोर पिङ्गल ब्राह्मणों को मार कर बलि देना चाहता है। यदि जीते रहना है तो अपने जैसे दूसरे भी ब्राह्मणों को लेकर कल समय से ही भाग जा।"

उसने वैसा ही किया। यह बात नगर में फैल गयी। सारे नगर के सभी घोर-पिङ्गल-वर्ण भाग गये। पुरोहित नहीं जानता था कि उसका शत्रु भाग गया। वह प्रातःकाल ही राजा के पास पहुँचा और जाकर बोला—"देव ! अमुक स्थान पर घोर-पिङ्गल ब्राह्मण रहता है, उसे पकड़वा मँगायें।" राजा ने आदमियों को भेजा। जब वह उन्हें नहीं दिखायी दिया

२९

तो उन्होंने लौटकर कहा—"वह भाग गया।" "दूसरी जगह खोजो।" सारे नगर में खोजने पर भी वह दिखायी नहीं दिया। "शीघ्र खोजो" कहने पर उन्होंने उत्तर दिया—"देव! आपके पुरोहित को छोड़कर और वैसा कोई नहीं।"

"पुरोहित को नहीं मार सकते।"

"देव! क्या कर रहे हैं? पुरोहित के कारण आज दरवाजा न लगने पर नगर अरक्षित रहेगा। आचार्य्य ने कहते हुए कहा है कि आज नक्षत्र चूक गये तो वर्ष भर बाद फिर नक्षत्र मिलेगा। वर्ष भर तक नगर बिना दरवाजे के रहा तो शत्रुओं को मौका मिल जायगा। जिस किसी को मार कर और दूसरे पण्डित ब्राह्मण से बलि-कर्म करा द्वार प्रतिष्ठित करें।"

"आचार्य्य के समान कोई दूसरा पण्डित-ब्राह्मण है?"

"देव! उन्हीं का शिष्य तक्कारिय नामक तरुण है। उसे पुरोहित-पद देकर दरवाजे पर मङ्गल-कृत्य करें।"

राजा ने उसे बुलवाया और उसका आदर करवा उसे पुरोहित-पद दिया और फिर वैसा करने की आज्ञा दी। वह बड़े ठाट-बाट से नगर-द्वार पर पहुँचा। पुरोहित राजाज्ञा से बाँध कर लाया गया। बोधिसत्व ने दरवाजा जड़ने की जगह गढ़ा खुदवा कर कनात तनवा दी। वह आचार्य्य के साथ उस कनात में था। आचार्य्य ने गढ़ा देखा तो समझा कि अब कुशल नहीं है। उसने सोचा—"मैंने स्व-हित किया था, किन्तु मूर्खता से मुँह न बन्द रख सकने के कारण जल्दी ही पापी स्त्री को बता दिया। मैं स्वयं अपने वध का कारण बना हूँ।" बोधिसत्व को सम्बोधित कर उसने पहली गाथा कही—

अहमेव दुब्भासितं भासि बालो
भेकोव अरञ्ञे अहिं अव्हयानो,
तक्कारिये सोब्भमिमं पतामि
न किरेव साधु अति वेलं भाणि॥१॥

[मैंने ही मूर्खता से न कहने योग्य बात कही। जंगल में मेण्डक अपनी आवाज से ही अपने को खाने वाले सर्प को बुलाता है। हे तक्कारिय! अब मुझे इस गढ़े में गिरना होगा। अधिक बोलना अच्छा नहीं॥१॥]

बोधिसत्व ने उसे सम्बोधित कर यह गाथा कही—

पप्पोति मच्चो अतिवेलभाणी
एवं बधं सोकपरिद्दवं च,
अत्तानमेव गरहासि एत्थ
आचेर यं तं निखणन्ति सोब्भे॥२॥

[अत्यधिक बोलने वाला आदमी इसी प्रकार शोक तथा वध को प्राप्त होता है। हे आचार्य्य! यह जो तुझे गढ़े में गाड़ रहे हैं, अब इस विषय में तू अपने को ही दोष दे॥२॥]

इस प्रकार कह, बोधिसत्व ने उसे 'आचार्य्य! वाणी की रक्षा न कर सकने के कारण तू ही दुःख को प्राप्त नहीं हुआ, दूसरे भी प्राप्त हुये हैं' कहा और पूर्व-जन्म की कथा सुनायी।

ग. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में काली नाम की वेश्या थी। उसका तुण्डिल नाम का एक भाई था। काली एक दिन के हजार लेती थी। लेकिन तुण्डिल को स्त्री-व्यसन था, शराब का व्यसन और जूए का व्यसन था। वह उसे धन देती। तुण्डिल को जो-जो मिलता, वह नष्ट कर डालता। उसने उसे रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु रोक न सकी। एक दिन वह जूए में हार कर, वस्त्र तक गँवा कर केवल एक अँगौछा पहने उसके घर आया। उसने दासियों को आज्ञा दे रखी थी—"तुण्डिल के आने पर उसे कुछ भी न दे, उसे गरदन पकड़ कर निकाल देना।" उन्होंने वैसा किया। वह दरवाजे से लगकर रोने लगा।

एक सेठ-पुत्र प्रतिदिन काली के लिये हजार लेकर पहुँचता था। उस दिन उसे देखकर उसने पूछा—"तुण्डिल! किस लिए रोता है?"

"स्वामी! जूए में हार कर मैं बहन के पास आया। दासियों ने मुझे गरदन पकड़ कर निकाल दिया।"

"तो ठहर! मैं तेरी बहन को जाकर कहता हूँ।"

उसने जाकर कहा—"तेरा भाई एक अँगौछा पहने खड़ा है, उसे वस्त्र क्यों नहीं देती?"

"मैं तो नहीं देती हूँ। यदि तुझे प्रेम है तो तू दे।"

उस वेश्या के घर में यह प्रथा थी। आने वाले हजार में से पाँच सौ वेश्या के होते और पाँच सौ वस्त्र-गन्धमाला आदि का मूल्य होते। आने वाले आदमी उसके घर से कपड़े ले, पहन, रात भर रह, अगले दिन लौटते समय अपना लाया वस्त्र ही पहन कर लौटते। इसलिए उस सेठ-पुत्र ने उसका दिया वस्त्र पहन, अपने वस्त्र तुण्डिल को दे दिये। तुण्डिल वस्त्र पहन, हल्ला मचाता हुआ शराबखाने में जा पहुँचा। काली ने भी दासियों को आज्ञा दी—कल जब यह जाने लगे तो इसके वस्त्र फाड़ देना। उन्होंने, जब वह जाने लगा तो इधर-उधर से दौड़कर लूट मचाने की तरह उसके कपड़े फाड़ उसे नंगा करके कहा—"कुमार! अब जा।" वह नंगा ही बाहर निकला। लोग हँसी उड़ाने लगे। वह लज्जा से 'मैंने ही यह किया, मैं ही अपने मुँह को बन्द न रख सका।' कहता हुआ रोने-पीटने लगा। यही प्रकट करने के लिये तीसरी गाथा कही—

किमेव अहं तुण्डिलं आनुपुच्छेय्यं
करेय्य सं भातरं कालिका यं,
नग्गोव हं वत्थयुगञ्च जीनो
अयम्पि अत्थो अहु तादिसोव॥३॥

[मैं तुण्डिल की क्या बात पूछूँ कि कालिका ने भाई के साथ क्या किया? मैं स्वयं नग्न हो गया। कपड़ा जोड़ा फट गया। यह भी वैसा ही मामला हुआ॥३॥]

एक दूसरी भी कथा। वाराणसी में गड़रियों की लापरवाही से गोचर-भूमि में दो भेड़े लड़ने लगे। तब तक पक्षी ने सोचा—"अब ये सिर फुड़ाकर मरेंगे। मैं इन्हें रोकूँ।" उसने कहा—"मामा! युद्ध न करो।" जब उन्होंने उसकी बात न सुनी और युद्ध करते ही रहे तो उसने उनकी पीठ पर और सिर पर बैठकर मना किया। जब नहीं माने तो 'मुझे मारकर लड़ो' कह दोनों के सिरों के बीच में जा रहा। उन्होंने परस्पर चोटें कीं ही। वह बारीक पीसने वाली चीज से पीसे जाते हुए की तरह अपनी करतूत से विनाश को प्राप्त हुआ। इस दूसरी कथा को भी प्रकट करने के लिये यह चौथी गाथा कही—

यो युज्झमानानं अयुज्झमानो
मेण्डन्तरं अच्चुपती कुलिङ्को,
सो पिंसितो मेण्डसिरेहि तत्थ,
अयं पि अत्थो अहु तादिसोव ॥४॥

[जो पक्षी स्वयं युद्ध न करता हुआ युद्ध करने वाले मेढों के बीच में जाकर गिरा, वह मेढों के सिरों द्वारा वहीं पीस दिया गया। यह भी वैसा ही मामला हुआ ॥४॥]

और भी कथा। वाराणसी वासियों ने ग्वाल द्वारा पोषित एक ताड़ का पेड़ देखा। उन्होंने एक जने को फल के लिये ऊपर चढ़ा दिया। जब वह फल गिरा रहा था, तब एक काला सर्प बांबी से निकल ताड़ के पेड़ पर चढ़ा। नीचे खड़े हुए लोगों ने दण्ड आदि से पीटा। तो भी वह उसे रोक नहीं सके। उन्होंने उसे कहा—सर्प ताड़ पर चढ़ रहा है। वह डर के मारे जोर से चिल्लाया। नीचे खड़े हुए लोगों ने एक मजबूत चादर के चारों कोने पकड़कर उसे कहा—"इसके बीच में गिरा।" वह लटक कर चारों के बीच में चादर के मध्य में गिरा। उसके जोर से गिरने को सँभाल न सकने के कारण उसके सिर परस्पर जोर से टकराये और सिरों के फूटने से वे मर गये। इस बात को प्रकट करने के लिये पाँचवीं गाथा कही—

चतुरो जना पोत्थकं अग्गहेसुं
एकं च पोसं अनुरक्खमाना,
सब्बेव ते भिन्नसिरा सयिंसु
अयं पि अत्थो अहु तादिसोव ॥५॥

[चारों जनों ने एक आदमी को बचाने के लिये मोटी चादर पकड़ी। उन सब के सिर फूट गये और वे मर गये। यह भी वैसा ही मामला हुआ ॥५॥]

और भी कथा। वाराणसी-वासी भेड़ की चोरी किया करते थे। उन्होंने रात को एक बकरी चुरायी और 'जंगल में खाने के लिये' उसका मुँह बाँध—जिससे वह आवाज न निकाल सके—उसे बाँसों के झुंड में छोड़ दिया। अगले दिन उसे खाने के लिये आये तो आते समय आयुध भूल आये। जब उन्होंने कहा कि आयुध लाओ, बकरी को मारकर मांस पकाकर खायें

तो किसी एक के पास भी आयुध नहीं मिला। उन्होंने सोचा—आयुध के बिना इसे मारकर भी मांस नहीं लिया जा सकता। इसलिये इसे छोड़ दें। यह पुण्यवान् है। उन्होंने उसे छोड़ दिया।

उस समय एक बाँस-फोड़ा बाँस लेने के लिये आया और फिर लेने आने के लिये अपनी बाँस चीरने की कटार बाँसों के अन्दर रख कर चला गया। बकरी ने सोचा—मैं मुक्त हूँ। वह प्रसन्न हो बाँसों के नीचे खेलने लगी और उसने पिछले पाँव की मार से वह कटार गिरा दी। चोरों ने कटार गिरने का शब्द सुना तो खोज की। उसे देख वे प्रसन्न हुए और बकरी को मारकर खा गये। वह बकरी भी अपनी ही करनी के कारण मरी—प्रकट करने के लिये छठी गाथा कही—

अजा यथा वेळुगुम्बस्मि बद्धा
अवेक्खिपन्ती असिकज्झगच्छि,
तेनेव तस्सा गलकावकन्तं
अयंपि अत्थो अहु तादिसो व॥६॥

[जैसे बाँसों के वन में बँधी हुई बकरी (टाँगें) उछाल कर कटार से टकरायी और फिर उसी कटार से उसका गला काटा गया—यह भी वैसा ही मामला हुआ ॥६॥]

यह कह 'अपने वचन की रक्षा कर अल्प-भाषण करने वाले मृत्यु-भय से मुक्त होते हैं' दिखाकर किन्नर-कथा कही—

वाराणसी-वासी शिकारी-पुत्र हिमालय गया और वहाँ से किसी उपाय से पति-पत्नी दो किन्नरों को ले आया। उसने उन्हें लाकर राजा को दिया। राजा ने पहले कभी किन्नरों को नहीं देखा था। इसीलिये पूछा—"शिकारी! इसकी क्या विशेषता है? "देव! ये मधुर स्वर से गाते हैं और सुन्दर नाचते हैं। मनुष्य इस प्रकार से गाना-नाचना नहीं जानते।" राजा ने शिकारी को बहुत धन देकर किन्नरों को कहा—"गाओ, नाचो।" वे सोचने लगे—यदि हम गाते समय व्यञ्जनों को पूरा-पूरा न व्यक्त कर सके तो खराब-गाना होगा, हमारी निन्दा होगी, हमें मारेंगे। और बहुत बोलने से झूठ बोलना भी होगा। इस 'झूठ बोलने के डर' के मारे राजा के बार-बार कहने पर भी न

वे बोले न नाचे। राजा ने क्रोधित हो 'इन्हें मार, इनका मांस पका कर लाओ' आज्ञा देते हुए सातवीं गाथा कही—

नयिमे देवा न पि गन्धब्ब-पुत्ता
मिगा इमे अत्थवसाभता इमे
एकञ्च नं सायमासे पचन्तु
एकञ्च नं पातरासे पचन्तु॥७॥

[न ये देव-गण हैं, न गन्धर्व-पुत्र हैं। ये मृग हैं जो अर्थ (के लोभ) के कारण मेरे पास लाये गये हैं। इनमें से एक सायंकाल के लिये पकाया जाय, दूसरा प्रातःकाल के समय पकाया जाय ॥७॥]

किन्नरी ने सोचा—राजा क्रुद्ध है। निस्सन्देह मरवा डालेगा। अब बोलने का समय है। इसलिये उसने अगली गाथा कही—

सतं सहस्सं दुब्भासितानं
कलं पि नाग्घन्ति सुभासितस्स
दुब्बभासितं सङ्कमानो किलेसो
तस्मा तुण्ही किं पुरिसा, न बाल्या॥८॥

[लाखों दुर्भाषित एक सुभाषित के एक हिस्से के भी बराबर नहीं होते। दुर्भाषित के डर से कष्ट पाने के कारण किं-पुरुष चुप रहे, मूर्खता के कारण नहीं ॥८॥]

राजा ने किन्नरी की बात पर प्रसन्न हो अगली गाथा कही—

या मेसा ब्याहासि पमुञ्चथेतं
गिरिं च नं हिमवन्तं नयन्तु,
इमं च खो देन्तु महानसाय
पातो च नं पातरासे पचन्तु॥९॥

[यह जो बोलती है, इसे छोड़ दो और इसे हिमालय ले जाया जाय। किन्तु इसे रसोई-घर में दे दिया जाय। प्रातःकाल इसका प्रातराश हो ॥९॥]

किन्नर ने राजा की बात सुन सोचा—यदि मैं चुप रहा तो यह मुझे अवश्य मरवायेगा। अब बोलना चाहिये। उसने दूसरी गाथा कही—

पज्जुन्ननाथा पसवो, पसुनाथा अयं पजा,
त्वं नाथोस्मि महाराज, नाथोहं भरियाय च
द्विन्नं अञ्ञतरं ञत्वा मुत्तो गच्छेय्य पब्बतं ॥१०॥

[पशु बादलों पर निर्भर हैं, जनता पशुओं पर निर्भर है, महाराज ! मैं आप पर निर्भर हूँ और मेरी भार्य्या मुझ पर निर्भर है। हम दोनों में से एक (मरा हुआ) जानकर ही दूसरा मुक्त होकर (हिमालय) पर्वत को जायेगा ॥१०॥]

यह कह उसने 'महाराज ! हम तुम्हारी आज्ञा का पालन न करने के लिये चुप नहीं रहे, किन्तु बोलने में दोष (की सम्भावना) देखकर ही नहीं बोले' कहा और इसे प्रकट करने के लिये ये दो गाथायें कहीं—

न वे निन्दा सुपरिवज्जया वे।
नानाजना सेवितब्बा जनिन्द,
येनेव एको लभते पसंसं
तेनेव अञ्ञो लभते निन्दितारं ॥११॥
सब्बो लोको परचित्तो अचित्तो
सब्बो लोको चित्त वसम्हि चित्तो,
पच्चेक चित्ता पुथु सब्बचित्ता
कस्सीध चित्तस्स वसे न वत्ते ॥१२॥

[हे राजन् ! नाना प्रकार के जनों की संगति करनी होती है। निन्दा से बचना आसान नहीं है। जिस बात से एक की प्रशंसा होती है; उसी बात से दूसरा निन्दित होता है ॥११॥ सारा संसार परचित्त वाला है, अचित्त है। सारा संसार अपने चित्त को जानने के कारण चित्त वाला है। नाना प्रकार के सारे प्राणियों का चित्त पृथक्-पृथक् है। यहाँ किसी के चित्त के वशीभूत होकर न रहे ॥१२॥]

राजा ने सोचा—किन्नर पण्डित है, यथार्थ बात कहता है। उसने प्रसन्न हो, अन्तिम गाथा कहीं—

तुण्ही अहू किंपुरिसो सभरियो
यो दानि व्याहसि भयस्स भीतो,
सो दानि मुत्तो सुखितो अरोगो
वाचा किरेव अत्थवती नरानं ॥१३॥

[जो किन्नर अब भयभीत होने के कारण बोला था वह अब भार्य्या सहित चुप हो गया। अब वह मुक्त हो गया, सुखी हो गया, नीरोग होगा। आदमियों के लिए वाणी ही कल्याणकारी है ॥१३॥]

राजा ने किन्नरों को सोने के पिंजरे (?) में बिठवा, उसी शिकारी को बुलवाकर उन्हें छुड़वा दिया——जो इन्हें जहाँ से पकड़ा था, वहीं छोड़ आ।

बोधिसत्व ने भी उसे कहा, 'आचार्य्य ! इस प्रकार किन्नर वाणी का संयम कर समय आने पर ही बोलने के कारण मुक्त हुए, लेकिन तुम दुर्भाषित के कारण महान् दुःख को प्राप्त हुए।' इस प्रकार कह फिर 'डरें मत। मैं तुम्हारी जान की रक्षा करूँगा' कह आश्वासन दिया। लेकिन जब उसने कहा, तुम ही मेरी रक्षा करना, तो उसने उत्तर दिया——अभी नक्षत्र-योग ठीक नहीं है। इस प्रकार दिन बिताकर, मध्याह्नोत्तर एक मरी भेड़ मँगवा कर, 'ब्राह्मण ! तू जहाँ-कहीं जाकर रह' कह, बिना किसी को पता दिये उसे बिदा कर, भेड़ के मांस की बलि दे, द्वार स्थापना की।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, न केवल अभी, कोकालिक पहले भी वाणी से ही मारा गया था' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय घोर-पिङ्गल कोकालिक था। तक्कारिय-पण्डित तो मैं ही था।

४८२ रूरु जातक

'कस्स गामवरं दम्मि......' यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय देवदत्त के बारे में कही—

क. वर्तमान कथा

उस भिक्षु को जब यह कहा गया कि आयुष्मान् देवदत्त शास्ता ने तुम्हारा बहुत उपकार किया है, शास्ता से तुम्हें प्रव्रज्या मिली है, तीन-पिटक सीखे हैं और लाभ-सत्कार प्राप्त हुआ है, तो उसने उत्तर दिया— "आयुष्मानो ! शास्ता ने मेरा तिनके के सिरे जितना भी उपकार नहीं किया, मैं स्वयं ही प्रव्रजित हुआ हूँ, स्वयं तीनों पिटक सीखे हैं और स्वयं लाभ-सत्कार को प्राप्त हुआ हूँ।" भिक्षुओं ने धर्मसभा में बात-चीत चलायी— "आयुष्मानो ! देवदत्त अकृतज्ञ है, अकृतवेदी है।" शास्ता ने आकर पूछा— 'भिक्षुओ, बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो ?" 'अमुक बातचीत' कहने पर 'भिक्षुओं न केवल अभी देवदत्त अकृतज्ञ है, वह पहले भी अकृतज्ञ रहा है। पहले मैंने इसे जीवन-दान दिया तो भी इसने मेरा गुण-मात्र नहीं स्वीकार किया' कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय अस्सी करोड़ धन वाले एक सेठ ने पुत्र प्राप्त कर उसका नाम महाधनक रखा। उसने सोचा कि शिल्प सीखने से मेरे पुत्र को कष्ट होगा, इसलिए उसे कुछ शिल्प नहीं सिखाया। वह गाने, नाचने, खाने-पीने से अधिक कुछ नहीं जानता था। आयु होने पर माता-पिता ने उसके योग्य एक स्त्री ला दी। स्वयं काल कर गये। उनके मरने पर उसे स्त्री, शराब तथा जूए की लत लग गयी। इस प्रकार उसने नाना व्यसनों में अपना सब धन नष्ट कर दिया और जब

लिया हुआ ऋण न चुका सका और कर्जेवालों ने दोष दिया तब सोचने लगा—"मैं जीकर क्या करूँगा ? इसी जन्म में मैं कुछ और ही सा हो गया । मेरे लिए मरना ही श्रेयस्कर है।" उसने कर्जे-वालों से कहा—"तुम अपने-अपने ऋण-पत्र लेकर आओ। गङ्गा-तट पर मेरा परम्परागत धन गड़ा है। वह तुम्हें दूँगा।" वे उसके साथ गये। वह 'यहाँ धन है, यहाँ धन है' खजाना बताता हुआ गङ्गा में डूब मरने की इच्छा से गङ्गा में जा कूदा। तेज धार में बहते हुए वह करुणा भरे स्वर में चिल्लाया।

उस समय बोधिसत्व रूरु मृग होकर उत्पन्न हुए थे। उसने अपना झुण्ड छोड़ दिया था और अकेला ही गङ्गा के मोड़ पर शाल-मिश्रित सुपुष्पित आम्रवन में रहता था। उसके शरीर की चमड़ी सोने के चिकने पर जैसी थी, हाथ-पाँव लाख से मढ़े हुए से थे, पूँछ चमरी (गाय) की पूँछ के समान थी, सींग चाँदी की माला के वर्ण के थे, आँखें चिकनी मणि-गोलियों जैसी थीं, मुँह उलटी रखी हुई लाल कम्बल की गेण्डुली की तरह था। उसने जब उसकी करुणा-पूर्ण आवाज सुनी तो सोचा—"यह मनुष्य-शब्द सुनाई देता है। मैं इसे जीवन दान दूंगा।" वह अपने सोने की झाड़ी में से निकल नदी के किनारे पहुँचा और बोला—"हे आदमी ! डर मत। मैं तेरी जान बचाऊँगा।" इस प्रकार उसे आश्वासन दे, स्रोत को चीरते हुए वह उसके पास पहुँचा और उसे पीठ पर बिठाकर किनारे ले आया। फिर वहाँ से अपने रहने की जगह ले जाकर, फलादि दे दो-तीन दिन के बाद कहा—"हे आदमी ! मैं तुझे इस जङ्गल से निकाल कर वाराणसी के रास्ते पर छोड़ आऊँगा। तू सुखपूर्वक चला जायगा, लेकिन धन के लोभ से राजा अथवा उसके अमात्य को यह मत बताना कि अमुक जगह स्वर्ण-मृग रहता है।" उसने 'स्वामी ! अच्छा' कह स्वीकार किया। बोधिसत्व ने उससे प्रतिज्ञा करायी। फिर उसे अपनी पीठ पर बिठा, वाराणसी के रास्ते पर छोड़ा और लौट आया।

जिस दिन उसने वाराणसी में प्रवेश किया उसी दिन खेमा नामक राजमहिषी ने प्रातःकाल निद्रा में देखा कि एक सोने का मृग उसे धर्मोपदेश दे रहा है। उसने सोचा—"यदि ऐसा मृग न होता तो मुझे स्वप्न में भी दिखायी नहीं देता। निश्चय से होगा। राजा से कहूँगी।" वह राजा के पास

पहुँची और बोली—"महाराज ! मैं सुनहरी-मृग से धर्मोपदेश सुनना चाहती हूँ। यदि मिलेगा तो जीऊँगी और यदि नहीं मिलेगा तो जीती नहीं रहूँगी।" राजा ने आश्वासन दिया—"यदि मनुष्य लोक में होगा तो मिलेगा।" उसने ब्राह्मणों को बुलवाया और पूछा—"क्या स्वर्ण-मृग होते हैं ?"

"देव ! होते हैं।"

उसने सजे-सजाये हाथी पर सोने की पेटी में हजार की थैली रखवायी और सोचा कि यदि कोई स्वर्ण-मृग का पता बतायेगा तो उसे सोने की पेटी के साथ हजार की थैली, वह हाथी अथवा उससे भी अधिक दे दूँगा। उसने सोने की तख्ती पर एक गाथा लिखायी और एक अमात्य को कहा—"तात ! यहाँ आ और मेरी ओर से यह गाथा नगर-वासियों को सुना।" उसने इस जातक की पहली गाथा कही—

कस्स गामवरं दम्मि नारियो च अलङ्कता,
को मे तं मिगं अक्खाति मिगानं मिगं उत्तमं ॥१॥

[मैं किसे श्रेष्ठ-गाँव और अलंकृत नारियाँ दूँ ? मुझे कौन उन मृगों में श्रेष्ठ मृग का पता देगा ? ॥ १॥]

अमात्य ने सोने की तख्ती ले, सारे नगर में पढ़वायी। उस सेठ-पुत्र ने वाराणसी में घुसते ही जब वह बात सुनी तो अमात्य के पास पहुँच कहा—"मुझे राजा के पास ले चलो। मैं राजा को ऐसा मृग बताऊँगा।" अमात्य ने हाथी से उतर उसे राजा के पास ले जाकर पेश किया—'देव ! यह आपको मृग का पता देगा।' राजा ने पूछा—

"हे आदमी ! क्या सचमुच ?"

उसने 'महाराज, सचमुच। आप यह सम्पत्ति मुझे ही देंगे' कहते हुए दूसरी गाथा कही—

मय्हं गामवरं देहि नारियो च अलङ्कता,
अहं ते मिगं अक्खिस्सं मिगानं मिगं उत्तमं ॥२॥

[मुझे श्रेष्ठ गाँव और अलंकृत नारियाँ दें। मैं तुम्हें मृगों में श्रेष्ठ मृग का पता दूँगा ॥२॥]

यह सुना तो राजा उस मित्र-द्रोही पर प्रसन्न हुआ। पूछा—"भो वह मृग कहाँ रहता है ?" जब उसने बताया कि देव, अमुक स्थान पर,

तो राजा उसे ही मार्ग-दर्शक बना बहुत-से अनुयायियों के साथ वहाँ पहुँचा। तब वह मित्र-द्रोही बोला—"देव! सेना को रोक दें।" जब सेना शान्त हो गयी तो उसने हाथ के इशारे से 'देव! स्वर्ण-मृग यहाँ रहता है' बताते हुए तीसरी गाथा कही—

एतस्मिं वनसण्डस्मिं अम्बा साला च पुप्फिता,
इन्दगोपकसंच्छन्ना एत्थ एसो तिट्ठति मिगो ॥३॥

[इस वन-खण्ड में आम और शाल के वृक्ष फले हैं। यहाँ की भूमि वीर-बहूटी के समान लाल रंग के तिनकों से ढकी है। यहीं वह मृग रहता है ॥३॥]

राजा ने उसकी बात सुन मन्त्रियों को आज्ञा दी—"उस मृग को भागने न देकर शीघ्र ही हथियार-बन्द आदमियों को ले, वनखण्ड घेर लो।" उन्होंने वैसा करके शोर मचाया। राजा कुछ आदमियों के साथ एक ओर खड़ा हो गया। वह आदमी भी उसके पास खड़ा था। बोधिसत्व ने वह आवाज सुनकर सोचा—सेना का बड़ा भारी शोर है। उसी आदमी से मेरे लिये यह भय पैदा हुआ होगा। उसने उठकर सारी परिषद् को देखा और राजा के खड़े होने की जगह देख, सोचा—जहाँ राजा खड़ा है, वहीं मेरा कल्याण होगा। मुझे वहाँ जाना चाहिये। वह राजा के ही सामने खड़ा हो गया और सोचने लगा—"हाथी के बल वाला मृग बढ़ा चला आ रहा है। तीर तान कर, इसे डरा कर, और यदि भागे तो बींध कर, दुर्बल करके पकड़ूँगा।"

इस बात को प्रकट करने के लिये शास्ता ने दो गाथायें कहीं—

धनुं अदेज्झं कत्वान उसुं सन्धाय उपागमि
मिगो च दिस्वा राजानं दूरतो अज्झभासथ,
आगमेहि महाराज, मा मे विज्झि रथेसभ
कोनु ते इदमक्खासि, एत्थ एसो तिट्ठति मिगो ॥४-५॥

[धनुष तान कर और तीर चढ़ा कर (राजा) आया। मृग ने राजा को देखा तो वह दूर से ही बोला—राजा प्रतीक्षा कर। मुझे मत बींध, यह कह कि तुझे किसने बताया कि मृग यहाँ रहता है? ॥४-५॥]

राजा उसकी मधुर वाणी पर मुग्ध हो, धनुष उतार, गौरवपूर्वक खड़ा हो गया। बोधिसत्व भी राजा के पास पहुँच, मधुर आवभगत कर, एक ओर खड़ा हुआ। जनता ने भी सब शस्त्र छोड़, आकर राजा को घेर लिया। उस समय सुनहरे घुंघरू का-सा शब्द करते हुए उसने मधुर स्वर से राजा से पूछा—तुझे यह किसने बताया कि यहाँ मृग रहता है ? उसी समय वह पापी थोड़ा आगे बढ़कर ऐसी जगह खड़ा था जहाँ से उसे सुनायी दे सके। राजा ने 'इसने मुझे तेरा पता दिया' कहते हुए छठी गाथा कही—

एस पापचरो पोसो सम्म तिट्ठति आरका,
सो हि मे इधमक्खासि, एत्थ सो तिट्ठते मिगो ॥६॥

[मित्र ! यह दूर खड़ा हुआ पापी है, जिसने मुझे बताया कि यहाँ मृग रहता है ॥६॥]

यह सुन बोधिसत्व ने उस मित्र-द्रोही की निन्दा करते हुए और राजा से बातचीत करते हुए सातवीं गाथा कही—

सच्चं किरेवं आहंसु, नरा एकच्चिया इध,
कट्ठं विप्लावितं सेय्यो न त्वेव एकच्चियो नरो ॥७॥

[कुछ आदमियों ने यह ठीक ही कहा है कि किसी-किसी आदमी को डूबने से बचाने की अपेक्षा लकड़ी को डूबने से बचाना अच्छा है ॥७॥]

यह सुन राजा ने अन्य गाथा कही—

किं नु रुरू गरहसि मिगानं
किं पक्खिनं किं पन मानुसानं,
भयं हि मं विन्दति नप्परूपं
सुत्वान तं मानुसिं भासमानं ॥८॥

[हे रूरु ! क्या तू पशुओं में से किसी की निन्दा कर रहा है, या पक्षियों में से किसी की, अथवा मनुष्यों में से किसी की ? मुझे तेरी मानुषी वाणी सुनकर बड़ा डर लग रहा है ॥८॥]

तब बोधिसत्व ने यह प्रकट करते हुए कि 'महाराज न मैं किसी पशु की निन्दा कर रहा हूँ, न पक्षी की, किन्तु मनुष्य की ही निन्दा कर रहा हूँ, नौवीं गाथा कही—

यं उद्धरिं वहने वुह्यमानं
महोदके सलिले सीघसोते
ततो निदानं भयमागतं मम
दुक्खो हवे राज असब्भि सङ्गमो॥९॥

[जिसे बड़े भारी, तेजी से बहते हुए जल में से डूबने से बचाया, उसी आदमी से मेरे लिए भय उत्पन्न हुआ। राजा असत्पुरुष की संगति दुःखदायक होती है ॥९॥]

यह सुन राजा को उस पर क्रोध आया। उसने सोचा—इस दुष्ट को मारूँगा। इसने ऐसे उपकार को भी भुला दिया। उसने दसवीं गाथा कही—

सोहं चतुप्पत्तं इदं विहङ्गमं
तनुच्छिदं हदये ओस्सजामि,
हनामि मित्तुं अकिच्चकारिं
यो तादिसं कम्मकतं न जानाति॥१०॥

[इस चार-पैरों वाले आकाश-गामी को मैं छोड़ता हूँ और उस मित्र-द्रोही, दुष्कर्मी के हृदय में तीर बींध कर उसे मारता हूँ, जिसने ऐसे उपकार को भी भुला दिया ॥१०॥]

तब बोधिसत्व ने 'यह मेरे कारण न मरे' सोच ग्यारहवीं गाथा कही—

धीरस्स बालस्स हवे जनिन्द
सन्तो बधं नप्पसंसन्ति जातु,
कामं घरं गच्छतु पापधम्मो
यञ्चस्स भत्तं तदेतस्स देहि,
अहञ्च ते कामकरो भवामि॥११॥

[राजन् ! इस मूर्ख को धिक्कार है। सन्त-पुरुष वध की प्रशंसा नहीं करते, इस पापी को घर चला जाने दें। जो इसे देने को कहा है वह दे दें। मैं तेरी सेवा में हूँ ॥११॥]

तब राजा ने संतुष्ट हो, बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुए अन्य गाथा कही—

अद्धा रूरु अञ्ञतरो सतं सो
यो दूभतो मानुसस्स न दुब्भि,
कामं घरं गच्छतु पापधम्मो
यञ्चस्स भठ्ठं तदेतस्स दम्मि,
अहञ्च ते कामचारं ददामि॥१२॥

[हे रूरु ! तू निश्चय से पण्डित है जो द्वेष करनेवाले मनुष्य के साथ भी द्वेष नहीं करता है। वह पापी घर चला जाय। जो उसे देने को कहा, वह उसे देता हूँ। और तुम्हें मैं अभय अथवा यथारुचि चरने की स्वतन्त्रता देता हूँ॥१२॥]

बोधिसत्व ने उसे 'महाराज ! मनुष्य मुँह से दूसरी बात कहते हैं और दूसरी करते हैं' कह उसकी परीक्षा लेने के लिये दं थायें कहीं—

सुविजानं सिगालानं सकुन्तानं च ्वस्सितं,
मनुस्सवस्सितं राज दुब्बिजानतरं ततो॥१३॥
अपि चे मञ्ञती पोसो जातिमित्तो सखातिवा,
यो पुब्बे सुमनो हुत्वा पच्छा सम्पज्जते दिसो॥१४॥

[अर्थ पहिले आ चुका है।]

यह सुन राजा बोला—"मृगराज ! मुझे ऐसा न समझें। मैं राज्य छोड़ दूँगा किन्तु तुझे दिया हुआ वरदान दूँगा ही। मुझ पर विश्वास रख।" बोधिसत्व ने उससे वरदान लेते हुए अपने से आरम्भ करके सभी प्राणियों के लिये अभयदान ग्रहण किया। राजा भी बोधिसत्व को वरदान दे उसे नगर ले गया तथा उसे और नगर को सजवा कर उसने (अपनी) देवी को धर्मोपदेश सुनवाया। बोधिसत्व ने देवी से आरम्भ करके राजा तथा राज्य-परिषद् को मधुर मानुषी वाणी में धर्मोपदेश दिया। (इस प्रकार) वह राजा को दस राजधर्मों का उपदेश दे, जनता को अनुशासन कर, जंगल में जा मृगों के बीच रहने लगा। राजा ने नगर में मुनादी करा दी कि सब प्राणियों को अभय करता हूँ। तब से कोई भी पशु-पक्षियों को हाथ नहीं लगा सकता था। मृग, मनुष्यों की खेती खा जाते। कोई न रोक सकता। जनता ने जाकर राजा से शिकायत की।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने यह गाथा कही—

समागता जानपदा नेगमा च समागता,
मिगा धञ्ञानि खादन्ति, तं देवो पटिसेधतु ॥१५॥

[जनपद के लोग आये हैं, निगमों के लोग आये हैं—मृगधान्य खाते हैं ! हे देव ! उन्हें रोकें ॥१५॥]

यह सुन राजा ने दो गाथायें कहीं—

कामं जनपदो मासि, रट्ठं चापि विनस्सतु,
न त्वेवाहं रुरूं दुब्भे दत्वा अभयदक्खिणं ॥१६॥
मा मे जनपदो आसि, रट्ठं चापि विनस्सतु,
न त्वेवाहं मिगराजस्स वरं दत्वा मुसा भणे ॥१७॥

[चाहे जनपद रहे न रहे, चाहे राष्ट्र भी नष्ट हो जाय, मैं रूरु को अभय-दान देकर अब उससे द्वेष नहीं कर सकता ॥१६॥ मेरा जनपद भी न रहे, राष्ट्र का भी नाश हो जाय तो भी मैं मृगराज को 'वर' देकर अब झूठ नहीं बोलूँगा ॥१७॥]

जनता राजा की बात सुन, कुछ न कह सकने के कारण लौट गयी। वह बात (भी) फैल गयी। यह सुन बोधिसत्व ने मृगों को इकट्ठा किया और उपदेश दिया—अब से मनुष्यों की खेती मत खाया करो। उसने मनुष्यों को भी सन्देश भिजवाया कि अपने-अपने खेतों में पत्तों का चिह्न बाँधा करें। मनुष्यों ने वैसा किया। उसी चिह्न से मृग आज तक खेती नहीं खाते।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—'भिक्षुओ, केवल अभी अकृतज्ञ नहीं है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सेठ-पुत्र देवदत्त था, राजा आनन्द रूरु मृग तो मैं ही था।

---

४८३. सरभमिग जातक

"आसिसेथेव पुरिसो......" यह शास्ता ने संक्षिप्त प्रश्न के उत्तर में धर्म-सेनापति द्वारा की गयी विस्तृत-व्याख्या के बारे में कही—

क. वर्त्तमान कथा

उस समय शास्ता ने संक्षेप से प्रश्न पूछा। देवारोहण के सम्बन्ध में यह क्रमशः संक्षिप्त कथा है। राजगृह-मेठ के पास जब आयुष्मान् पिण्डोल भारद्वाज ने ऋद्धि-बल से चन्दन का पात्र उतार लिया तो शास्ता ने भिक्षुओं के लिये ऋद्धि-बल प्रदर्शन मना कर दिया। तब तैर्थिकों ने सोचा कि श्रमण गौतम ने ऋद्धि बल-प्रदर्शन मना कर दिया है, इसलिये अब स्वयं भी ऋद्धि-बल का प्रदर्शन नहीं करेगा। जब उनके निस्तेज शिष्य-गण ने प्रश्न किया कि भन्ते, ऋद्धि-बल से पात्र क्यों नहीं उतारा तो उन्होंने उत्तर दिया—"आयुष्मानो! हमारे लिये यह कठिन नहीं है, किन्तु यही सोचकर नहीं ग्रहण किया कि तुच्छ लकड़ी के बरतन के लिये कौन अपने सूक्ष्म गुण का गृहस्थों के सामने प्रदर्शन करे। किन्तु शाक्यपुत्र श्रमणों ने अपने लोभीपन के कारण ऋद्धि-बल का प्रदर्शन कर उसे ग्रहण कर लिया। यह मत सोचो कि हमारे लिये ऋद्धि-बल दिखाना कोई बड़ी बात है। श्रमण गौतम के शिष्यों की बात तो जाने दो, यदि हम चाहें तो हम श्रमण गौतम के मुकाबले पर भी ऋद्धि-बल प्रदर्शित कर सकते हैं। यदि श्रमण गौतम एक ऋद्धि दिखायेगा तो हम दो दिखायेंगे।" यह सुन भिक्षुओं ने भगवान् से निवेदन किया—"भन्ते! तैर्थिक लोग ऋद्धि-बल का प्रदर्शन करेंगे।" शास्ता बोले—"वे करें, मैं भी करूंगा।" यह सुन राजा बिम्बिसार ने भगवान् से आकर पूछा—"भन्ते! ऋद्धि दिखायेंगे।"

"महाराज! हाँ।"

"भन्ते ! क्या नियम नहीं बनाया है ?"

"महाराज ! वह नियम मैंने शिष्यों के लिये बनाया है, बुद्धों के लिये नियम नहीं हैं। महाराज ! इसे ऐसा ही समझें कि जैसे तुम्हारे बाग के फल-फूल दूसरों के लिये मना हैं, किन्तु तुम्हारे लिये नहीं।"

"भन्ते ! ऋद्धि कहाँ दिखायेंगे ?"

"श्रावस्ती नगर में गण्डम्ब वृक्ष के नीचे।"

"हमें वहाँ क्या करना है ?"

"महाराज ! कुछ नहीं।"

अगले दिन शास्ता जो करणीय हैं, उन्हें समाप्त कर चारिका पर निकले। मनुष्यों ने पूछा—"भन्ते ! शास्ता कहाँ जाते हैं ?" भिक्षु उन्हें उत्तर देते—"श्रावस्ती नगर-द्वार पर गण्डम्ब वृक्ष के नीचे तैर्थिकों का मान-मर्दन करने वाली यमक ऋद्धि दिखाने के लिये।" जनता घर-बार छोड़ शास्ता के साथ-साथ हो ली—आश्चर्यंकर ऋद्धि-प्रदर्शन होगा। उसे देखेंगे। दूसरे तैर्थिक भी यह कहते हुए कि हम भी जहाँ श्रमण-गौतम ऋद्धि दिखायेगा, ऋद्धि दिखायेंगे, अपने शिष्यों सहित शास्ता के पीछे-पीछे हो लिये। शास्ता क्रमशः श्रावस्ती पहुँचे। राजा ने पूछा—"भन्ते ! ऋद्धि दिखायेंगे ?"

"हाँ दिखाऊँगा।"

"भन्ते ! कब ?"

"आज से सातवें दिन आषाढ़ पूर्णिमा को।"

"भन्ते ! मण्डप बनवाता हूँ।"

"महाराज ! रहने दें। जहाँ मैं ऋद्धि दिखाऊँगा, वहाँ शक्र बारह योजन का रत्न-मण्डप बनवायेगा।"

"भन्ते ! इस बात की नगर में घोषणा करवाता हूँ।"

"महाराज ! करवा दें।"

राजा ने धर्म-घोषक को सजे हुए हाथी की पीठ पर बिठाकर प्रतिदिन घोषणा करायी—"आज से सातवें दिन शास्ता श्रावस्ती-द्वार पर गण्डम्ब वृक्ष के नीचे तैर्थिकों का (मान-) मर्दन करनेवाली ऋद्धि दिखायेंगे।" तैर्थिकों ने यह जान कि गण्डम्ब वृक्ष के नीचे दिखायेंगे, मालिकों को धन दे श्रावस्ती के आस-पास के सारे आम्र-वृक्ष कटवा दिये। धर्म-घोषक ने

पूर्णिमा के दिन घोषणा की कि आज प्रातःकाल ही ऋद्धि-प्रदर्शन होगा। देवताओं के प्रताप से ऐसा हो गया मानों वह घोषणा सारे जम्बुद्वीप में द्वार-द्वार पर खड़े होकर की गयी हो। जिस-जिसके मन में श्रावस्ती पहुँचने का संकल्प हुआ, उसने अपने आपको श्रावस्ती पहुँचा हुआ ही पाया। बारह योजन की परिषद् हो गयी।

शास्ता प्रातःकाल ही श्रावस्ती में भिक्षाटनार्थ निकले। राजा का गण्ड नामक माली कुम्भ जितना बड़ा, एकदम पका आम्र-फल राजा के लिये ले जा रहा था। उसने शास्ता को नगर-द्वार पर खड़ा देख सोचा--यह इनके ही योग्य है। उसने वह आम्र-फल उन्हें ही दे दिया। शास्ता ने स्वीकार कर वहीं एक ओर बैठकर खाया और आनन्द को कहा—"आनन्द! यह गुठली माली को इसी जगह लगाने के लिये दे। यह गण्डम्ब वृक्ष होगा।" स्थविर ने वैसा किया। माली ने मिट्टी हटाकर रोपा। उसी क्षण गुठली फूटकर उसकी जड़ें नीचे उतर गईं। हल के फाल जितना रक्त-वर्ण अंकुर निकल आया। जनता के देखते-ही-देखते पचास हाथ के तने वाला और पचास हाथ की शाखाओं वाला सौ हाथ ऊँचा आम्र-वृक्ष उठ खड़ा हुआ। उसी समय उसमें फूल और फल भी लग गये। वह मधुर स्वर्ण वर्ण फलों से लदा हुआ आकाश को छूता हुआ वृक्ष हो गया। हवा चलने पर मीठे पके फल गिरे। पीछे आने वाले भिक्षु उन्हें खाकर आये।

शाम को देवराज (शक्र) ने विचार किया कि सात रत्नों वाला मण्डप बनाने का भार हम पर डाला गया है। उसने यह जान विश्वकर्मा को भेजा और नील कमलों से ढका हुआ सात रत्नों का मण्डप बनवाया। इस प्रकार दस हजार चक्र-वालों के देवतागण इकट्ठे हो गये। शास्ता ने शिष्य-मंडली के लिये असम्भव, तैर्थिकों का मानमर्दन करनेवाली यमक ऋद्धि दिखायी। इस प्रकार बहुत जनता को प्रसन्नता जान (आकाश में) चढ़कर बुद्धासन पर बैठ धर्मोपदेश दिया। बीस करोड़ प्राणियों ने अमृत-पान किया। तब शास्ता ने विचार किया कि पहले के बुद्ध ऋद्धि कर चुकने के बाद कहाँ गये? उन्हें ध्यान-बल से मालूम हुआ कि त्र्योत्रिंश भवन। वह बुद्धासन से उठे और दाहिना पाँव युगन्धर पर्वत के शिखर पर रखा और बायें पाँव से सुमेरु पर्वत लाँघ, पारिछत्त के वृक्ष के नीचे पाँडु

कम्बल वर्ण शिला पर वर्षावास कर तीन महीने तक देवताओं को अभिधर्म का उपदेश दिया। जनता को यह पता नहीं लगा कि शास्ता कहाँ गये। वह 'देखकर ही जाने' के निश्चय होने के कारण वहाँ तीन मास रही। 'पवारणा' के समीप रह जाने पर महामौद्गल्यायन स्थविर ने जाकर भगवान् से कहा। शास्ता ने उससे पूछा—"इस समय सारिपुत्र कहाँ है?" "भन्ते! इस ऋद्धि से प्रभावित हो प्रव्रजित हुए पाँच सौ भिक्षुओं के साथ संकाशय (सकस्स) नगर में रहते हैं।"

"मौद्गल्यायन! मैं आज से सातवें दिन संकस्स नगर के द्वार पर उतरूँगा। जो उसे देखना चाहें वे संकाशय नगर-द्वार पर इकट्ठे हों।"

स्थविर ने 'अच्छा' कहा और आकर यह बात जनता को सुना, सब लोगों को श्रावस्ती से तीस योजन दूर संकास्स नगर एक मुहूर्त भर में पहुँचा दिया। शास्ता ने वर्षावास समाप्त होने पर पवारणा कर शक्र से कहा—'महाराज! मनुष्य-लोक जाऊँगा।" शक्र ने विश्वकर्मा को बुलाया और आज्ञा दी कि दस बलधारी (बुद्ध) के मनुष्य-लोक जाने के लिये सीढ़ी बनाये। उसने सुमेरु पर्वत के शिखर पर सीढ़ी का ऊपर का सिरा रख संकाशय के नगर-द्वार तक लगातार सीढ़ी बना दी। उसने बीच में मणिमय, एक ओर रजतमय तथा दूसरी ओर स्वर्णमय इस प्रकार तीन सीढ़ियाँ बनाईं। उसका सात रत्नों का वेदिका का घेरा था। शास्ता ने लोक-विवरण नामक ऋद्धि दिखायी और बीच की मणिमय सीढ़ी से उतरे। शक्र ने पात्र-चीवर लिया, सुयान ने पंखा। सहम्पति ब्रह्मा ने छत्र धारण किया। दस सहस्र चक्रवाल के देवताओं ने दिव्य माला-गन्ध आदि से पूजा की। शास्ता के सीढ़ी के निचले सिरे पर पहुँचने पर पहले सारिपुत्र ने वन्दना की, बाद में शेष जनता ने। उसके आने पर शास्ता ने सोचा—"मौद्गल्यायन ऋद्धि मान प्रसिद्ध है। उपाली विनयधर। सारिपुत्र का महाप्रज्ञावान् होना प्रकट नहीं है। मेरे अतिरिक्त कोई और इसके समान प्रज्ञावान् नहीं है। मैं इसका प्रज्ञावान् होना प्रकट करूँगा।" उसने पहले पृथक्-जन प्रश्न पूछा। उसका उत्तर पृथक्-जनों ने दिया। तब स्रोतापन्न के योग्य प्रश्न पूछा। उसका उत्तर स्रोतापन्नों ने दिया, पृथक्-जन नहीं समझ सके। इसी प्रकार सकृदागामी, अनागामी, क्षीणास्रव तथा

महाश्रावकों की योग्यता के प्रश्न पूछे। उन्हें नीचे की योग्यतावालों ने नहीं समझा, ऊपर-ऊपर की योग्यतावालों ने समझा। अग्र-श्रावकों की योग्यता के प्रश्नों का उत्तर तो अग्र-श्रावकों ने ही दिया। दूसरों ने नहीं समझा। तब सारिपुत्र की योग्यता का प्रश्न पूछा। उसका उत्तर सारिपुत्र ने ही दिया। दूसरों की समझ में नहीं आया। मनुष्यों ने पूछा--"यह कौन स्थविर है जो शास्ता के साथ बातचीत करता है ?" जब उन्हें पता लगा कि वह धर्म सेनापति सारिपुत्र स्थविर हैं तो वे बोले--"ओह ! महाप्रज्ञावान् ?" तब से देवताओं तथा मनुष्यों में स्थविर का महाप्रज्ञावान् होना प्रसिद्ध हो गया। तब शास्ता ने उसे एक बुद्ध-विषयक प्रश्न पूछा और कहा—"सारिपुत्र ! इस संक्षिप्त कथन की विस्तृत व्याख्या क्या होगी ?" वह गाथा इस प्रकार है—

ये च सङ्खतधम्मासे ये च सेखा पुथू इध,
तेसं मे निपको इरियं पुट्ठो पब्रूहि मारिस॥१॥

[जो जात-धर्म हैं तथा जो बहुत से शैक्ष हैं, हे बुद्धिमान् ! तू पूछे जाने पर उनकी चर्य्या कह॥१॥]

स्थविर ने प्रश्न की ओर देखा तो असन्दिग्धरूप से समझ गये कि शास्ता शैक्ष-अशैक्ष भिक्षुओं की प्रतिपत्ति पूछ रहे हैं। किन्तु उन्हें सन्देह हुआ कि प्रतिपत्ति तो स्कन्धादि प्रकार से अनेक तरह कही जा सकती है, न जाने किस तरह कहने से शास्ता के विचारानुसार होगा ? शास्ता ने जान लिया कि सारिपुत्र ने प्रश्न तो असन्दिग्धरूप से समझ लिया है, किन्तु आशय के विषय में सन्दिग्ध है। यदि मैं इसे कुछ इशारा न करूंगा तो यह उत्तर न दे सकेगा। मैं इसे कुछ इशारा करूँगा। यह सोच शास्ता ने पूछा—"सारिपुत्र ! देख, यह सत्य है।" उनके मन में हुआ कि सारिपुत्र मेरे आशय को ग्रहण कर स्कन्धों के अनुसार उत्तर देगा। इशारा करते ही स्थविर के सामने वह प्रश्न सौ तरह से, हजार तरह से उपस्थित हो गया। उसने शास्ता का इशारा ग्रहण कर उस प्रश्न का उत्तर दिया जो बुद्धों का ही विषय है। उसने बारह योजन में फैली हुई परिषद् को धर्मोपदेश दिया। तीस करोड़ प्राणियों ने अमृत-पान किया।

शास्ता परिषद् को विदा कर चारिका करते हुए क्रमशः श्रावस्ती

पहुंचे। अगले दिन श्रावस्ती में भिक्षाटन कर, भिक्षाटन से लौट, भिक्षुओं के अपने-अपने कर्तव्य कर चुकने पर गन्धकुटी में प्रवेश किया। शाम को धर्म-सभा में बैठे भिक्षु स्थविर का गुणानुवाद कर रहे थे—"आयुष्मानो, सारिपुत्र महाप्रज्ञावान् हैं. बहुत प्रज्ञावान् हैं, उनकी प्रज्ञा गतिवान् है, उनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है, उनकी प्रज्ञा बींधने वाली है। शास्ता ने जो संक्षिप्त प्रश्न पूछा. उन्होंने उसे विस्तार से कहा।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओं, यह बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत"—"न केवल अभी पूर्वजन्म में भी इसने संक्षिप्त प्रश्न का विस्तृत उत्तर दिया ही है" कह पूर्व जन्म की कथा कही--

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व सरभ-मृग की योनि में उत्पन्न हो जंगल में रहता था। राजा मृगया का शौकीन था, दूसरे बलवान् आदमी को आदमी भी नही समझता था। एक दिन जब वह शिकार के लिये गया तो उसने अमात्यों को कहा—"जिसके पास से मृग निकल जायगा उसे ही दण्ड भुगतना पड़ेगा।" उन्होंने सोचा—कभी-कभी घर में खड़े रहने पर भी कोठा नहीं मिलता। जो मृग आये उसे जैसे-तैसे राजा के ही पास पहुंचाना चाहिये। उन्होंने आपस में सलाह करके राजा को सिरे पर खड़ा किया। फिर एक बड़ी झाड़ी को घेरे मुग्दर आदि से भूमि पीटने लगे। पहले ही सरभमृग उठा और तीन बार झाड़ी के चारों ओर चक्कर काट उसने भागने की जगह देखी। शेष दिशाओं में आदमियों की बांह से बांह और धनुष से धनुष मिलाये लगातार खड़े देख उसे जहाँ राजा खड़ा था वहीं भागने की जगह दिखायी दी। वह आँखें खोलने पर उनमें बालू डाल देने की तरह राजा के सामने पहुँचा। राजा ने उसे पास आया देखा तो तीर खेंच कर छोड़ा। सरभ-मृग तीर बचा जाने में पटु होते हैं—तीर सामने से आये तो वेग रोक कर खड़े हो जाते हैं. पीछे से आये तो शीघ्रता से आगे बढ़ जाते हैं, ऊपर से आये तो पीठ को झुका लेते हैं, एक तरफ से आये तो थोड़ा हट जाते हैं, पेट में लगने के लिये आता दिखायी दे तो उलट जाते हैं और बाण के गुजर जाने पर वायु-छिन्न-बादल की तरह भाग जाते हैं। उस राजा ने भी जब वह

पलटकर गिरा तो आवाज की कि मैंने सरभ-मृग बींध डाला। सरभ उठकर सेना के घेरे को चीरता हुआ वायु-वेग से भाग गया। दोनों ओर खड़े अमात्यों ने सरभ-मृग को भागा जाता देखा तो मिलकर पूछा "--मृग किसके स्थान से निकल भागा?" "राजा की जगह से।" "राजा कहता है कि मैंने उसे बींध दिया। उसने किसे बींधा? हमारे राजा का निशाना खाली नहीं जाता। उसने भूमि को बींधा।" इस प्रकार वह नाना तरह से राजा का उपहास करने लगे। राजा ने सोचा—यह मेरा परिहास करते हैं। मेरे बल को नहीं जानते। उसने धोती कसी और पैदल ही तलवार लेकर सरभ को पकड़ने के लिये तेजी से भागा। उसने तीन योजन तक उसका पीछा किया: सरभ जंगल में घुस गया। राजा भी घुसा। सरभ-मृग के रास्ते में एक साठ हाथ का अत्यन्त सड़ा हुआ गढ़ा था, जिसमें तीस हाथ पानी था और जो घास से ढका था। सरभ ने पानी की गन्ध से ही जान लिया कि गढ़ा है और थोड़ा बचकर निकल गया। राजा सीधा आकर उसी में गिरा।

सरभ को जब उसके पाँव का शब्द नहीं सुनाई दिया तो उसने रुककर देखा। न दिखायी देने पर वह समझ गया कि वह भयानक गढ़े में गिर पड़ा होगा। उसने आकर देखा तो वह गहरे पानी में बिना आश्रय के दुःख पा रहा था। उसने उसके अपराध की ओर ध्यान न दे, करुणा के कारण सोचा—मेरे देखते राजा का विनाश न हो, मैं इसे दुःख से मुक्त करूँगा। उसने गढ़े के किनारे खड़े होकर कहा--"महाराज! डरें नहीं। मैं तुम्हें दुःख से मुक्त करूँगा।" उसने प्रिय पुत्र को बचाने का-सा प्रयत्न करते हुए उसे बचाने के लिये एक शिला का सहारा ले "बींधने" के लिये आये राजा को साठ हाथ के नरक में से निकाला। फिर, उसे आश्वासन दे, पीठ पर बिठा जंगल से निकाल, सेना से कुछ ही दूर पर लाकर छोड़ा और उपदेश देकर पाँच शीलों में प्रतिष्ठित किया। राजा बोधिसत्व को छोड़ कर न जा सकता था। वह बोला—"स्वामी सरभराज! मेरे साथ वाराणसी आयें। मैं तुम्हें बारह योजन वाराणसी का राज्य दूँगा। वहाँ राज्य करें।"

"महाराज! हम पशु हैं। हमें राज्य नहीं चाहिये। यदि तुम्हारा मेरे प्रति स्नेह है तो मेरे दिये हुए शीलों की रक्षा करते हुए अपने राष्ट्रवासियों से भी उन शीलों की रक्षा करवाओ।"

सरभ-मृग उसे उपदेश दे जंगल ही में चला गया। वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसके गुणों की याद करता हुआ सेना में आ शामिल हुआ और सेना के अङ्गों के साथ नगर में पहुँचा। उसने नगर में धर्म-भेरी बजवायी—"अब से सब राष्ट्रवासी पंचशीलों की रक्षा करें।" उसने बोधिसत्व द्वारा किये गये उपकार की किसी से चर्चा नहीं की। नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन खा, सजे हुए शयनासन पर सो, प्रातःकाल बोधिसत्व के उपकार की याद कर, उठकर शैय्या पर पालथी मार कर बैठ, प्रसन्न-चित्त हो छः गाथाओं से उल्लास प्रकट किया—

आसिंसेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो,
पस्सामि वो हं अत्तानं, यथा इच्छिं तथा अहु ॥१॥
आसिंसेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो,
पस्सामि वोहं अत्तानं उदका थलं उब्भतं ॥२॥
वायमेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो,
पस्सामि वोहं अत्तानं, यथा इच्छिं तथा अहु ॥३॥
वायमेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो,
पस्सामि वोहं अत्तानं, उदका थलं उब्भतं ॥४॥
दुक्खूपनीतो पि नरो सपञ्ञो
आसं न छिन्देय्य सुखागमाय,
बहूपि फस्सा अहिता हिता च
अवितक्किता मच्चुं उपब्बजन्ति ॥५॥
अचिन्तितं पि भवति, चिन्तितं पि विनस्सति,
न हि चिन्तामया भोगा, इत्थिया पुरिसस्स वा ॥६॥

[आदमी को चाहिये कि वह आशावान् रहे, पण्डित निराश न हो। मैं अपने आप को देखता हूँ कि मैं जैसा चाहता था, वैसा हो गया ॥१॥ आदमी को चाहिये......निराश न हो। मैं अपने आप को देखता हूँ कि मैं जल से स्थल पर ऊपर आ गया ॥२॥ आदमी को चाहिये कि वह प्रयत्न करे, पण्डित निराश न हो। मैं अपने आपको देखता हूँ कि मैं जैसा चाहता था वैसा हो गया ॥३॥ आदमी को चाहिये......निराश न हो। मैं अपने आपको देखता हूँ कि मैं जल से स्थल पर ऊपर आ गया ॥४॥ प्रज्ञावान्

आदमी को चाहिये कि वह दुःख से घिरा होने पर भी सुख की आशा न छोड़े। बहुत सारे दुःख तथा सुख और (जीवन तथा) मृत्यु बिना ही विचारे आ जाते हैं ॥५॥ अचिन्तित भी हो जाता है, चिन्तित भी नहीं होता। स्त्री अथवा पुरुष को भोगों की प्राप्ति उनके चिन्तन के ही अनुसार नहीं होती ॥६॥]

उसके इस प्रकार उल्लास प्रकट करते ही करते अरुणोदय हो गया। प्रातःकाल ही जब पुरोहित 'सुखपूर्वक सोये' पूछने के लिये आकर द्वार पर खड़ा हुआ और उसने वह उदान-गाथायें सुनीं तो सोचने लगा—"राजा कल शिकार के लिये गया था। वहाँ सरभ-मृग चूक गया होगा। तब अमात्यों ने हँसी उड़ायी होगी। तब वह क्षत्रिय-मान के कारण 'उसे मार कर लाऊँगा' कह उसके पीछे-पीछे गया होगा। वहाँ वह साठ हाथ के नरक में गिर पड़ा होगा। तब दयालु सरभ-मृग ने राजा के दोष का ख्याल न कर राजा का उद्धार किया होगा। मालूम होता है उसी से उदान-वाक्य कह रहा है।" इस प्रकार ब्राह्मण ने जब राजा का सर्वाङ्ग सम्पूर्ण उल्लास-वाक्य सुना तो उसे साफ शीशे में मुँह की छाया की तरह राजा और सरभ की बात प्रकट हो गयी। उसने नाखून से द्वार खटखटाया। राजा ने पूछा—"कौन है यह ?" "देव ! मैं पुरोहित।" उसके लिये दरवाजा खुलवा कर राजा ने कहा—"आचार्य्य ! यहाँ आयें।" वह अन्दर आया और राजा की 'जय' बुलाकर उसने एक ओर खड़े होकर कहा—"महाराज ! आपने जो जंगल में किया सो मैं जानता हूँ। आप एक सरभ-मृग का पीछा करते-करते नरक में जा गिरे। तब उस मृग ने शिला के सहारे खड़े हो आपका नरक से उद्धार किया। आप उसके उपकार को याद कर उल्लास-वाक्य कहते हैं।" उसने दो गाथायें कहीं—

सरभं गिरिदुग्गस्मिं यं त्वं अनुसरी पुरे,
अलीनचित्तस्स तुवं विक्कन्तं अनुजीवसि ॥७॥
यो तं विदुग्गा नरका समुद्धरि
सिलाय योग्गं सरभो करित्व,
दुक्खूपनीतं मच्चुमुखा पमोचयि
अलीनचित्तं त मिगं वदेसि ॥८॥

[जिस सरभ-मृग का तूने गिरि-दुर्ग में पीछा किया, उस अनासक्त-चित्त के प्रयत्न के कारण तू जी रहा है ॥७॥ जिस सरभ-मृग ने शिला के सहारे से तेरा उस गढ़े से, नरक से उद्धार किया, दुःख में पड़े हुए तुझ को दुःख से छुड़ाया, तू उस अनासक्त मृग का गुण गा रहा है ॥८॥

राजा ने सोचा—यह मेरे साथ शिकार के लिए नहीं आया। सब हाल जानता है। कैसे जानता है ? इसे पूछूंगा। उसने नौवीं गाथा कही—

त्वं नु तत्थेव तदा अहोसि
उदाहु ते कोचि नं एतदक्खा,
विवत्तच्छदो नु सि सब्बदस्सी
जाणं नु ते ब्राह्मण भिंसरूपं॥९॥

[क्या तू उस समय वहीं था ? अथवा तुझे किसी ने यह कहा ? हे सर्वदर्शी ! तेरा कपाट खुला है। हे ब्राह्मण ! तू महान् ज्ञानी है ॥९॥]

ब्राह्मण ने यह प्रकट करते हुए कि "मैं सर्वज्ञ बुद्ध नहीं हूँ। केवल तेरी कही हुई गाथाओं की बातों के मिलाने से मुझे अर्थ प्रकट होता है" दसवीं गाथा कही—

न चेव अहं तत्थ तदा अहोसिं
न चापि मे कोचि नं एतदक्खा,
गाथापदानं च सुभासितानं
अत्थं तदानेन्ति जनिन्द धीरा॥१०॥

[न मैं वहाँ था और न मुझे किसी ने यह बताया। हे राजन् ! पण्डित-जन गाथाओं तथा सुभाषितों का अर्थ लगा लेते हैं ॥१०॥]

राजा ने उस पर प्रसन्न हो बहुत धन दिया। तब से वह दानादि पुण्य करने लगा। मनुष्य भी पुण्यवान् हो मर-मर कर स्वर्ग भरने लगे। एक दिन राजा पुरोहित को साथ ले निशाना लगाने के लिए उद्यान गया। तब देवेन्द्र शक्र ने बहुत से नये देवता और देवकन्याओं को देखकर सोचा—क्या कारण है ? उसे ध्यान लगाने से पता लगा कि सरभ-मृग ने राजा का नरक में से उद्धार कर शीलों में प्रतिष्ठित किया और राजा के प्रताप से जनता पुण्य करती है, इसी से स्वर्ग भरा जाता है। अब राजा 'निशाना लगाने के लिए'

उद्यान गया है। उसने विचार कर तै किया—मैं सिंहनाद कर, सरभ-मृग का उपकार कहला, अपना शक्रत्व प्रकट कर, आकाश में खड़े होकर धर्मोपदेश दे, मैत्री और पंचशीलों की महिमा कहला कर आऊँगा। राजा ने भी निशाना लगाने के लिए धनुष पर तीर चढ़ाया। उस समय शक्र ने अपने प्रताप से ऐसा किया कि राजा को अपने और निशाने के बीच में सरभ-मृग दिखायी दिया। राजा ने उसे देख तीर नहीं छोड़ा। शक्र ने पुरोहित के शरीर में प्रवेश कर राजा को इन गाथाओं से सम्बोधित किया—

आदाय पत्तिं परविरियघाति
चापे सरं किं विचिकिच्छसे तुवं,
नुन्नो सरो सरभं हन्तुं खिप्पं
अन्नं हि एतं वरपञ्ञ रञ्ञो॥११॥

[धनुष पर दूसरों के वीर्य्य को नष्ट करने वाला बाण चढ़ा कर अब तूं किस सन्देह में पड़ा है? यह तीक्ष्ण तीर शीघ्र सरभ को मारे। हे श्रेष्ठ-बुद्धि! यह राजा का भोजन है॥११॥]

अद्धा पजानामि अहं पि एतं
अन्नं मिगो ब्राह्मण खत्तियस्स,
पुब्बे कतं च अपचायमानो
तस्मा मिगं सरभं नो हनामि॥१२॥

[हे ब्राह्मण! यह मैं निश्चय से जानता हूँ कि मृग क्षत्रिय का भोजन है, किन्तु मैं पूर्वकृत उपकार की पूजा करता हूँ। इसीलिए सरभ-मृग को नहीं मारता हूँ॥१२॥]

तब शक्र ने दो गाथायें कहीं—

नेसो मिगो महाराज, असुरेसो दिसम्पति,
एतं हन्त्वा मनुस्सिन्द भवस्सु अमराधिपो॥१३॥
सचे च राजा विचिकिच्छसे तुवं
हन्तुं मिगं सरभं 'सहायकं मे'
सपुत्तदारो नर विरिय सेट्ठ
गन्ता तुवं वेतरणिं यमस्स॥१४॥

[महाराज, यह मृग नहीं है। यह दिशाओं का पति इन्द्र है। हे

राजन् ! इसे मार कर तुम देवेन्द्र हो जाओ ॥१३॥ हे राजन् ! यदि तुम्हें 'मेरा मित्र है' समझ कर सरभ-मृग को मारने में हिचकिचाहट होती ही है तो, वीर्य्य श्रेष्ठ ! तुम्हें अपने पुत्र-दारा सहित यम की वैतरणी को जाना होगा ॥१४॥]

तब राजा ने दो गाथायें कहीं—

कामं अहं जानपदा च सब्बे
पुत्ता च दारा च सहाय सङ्घा,
गच्छेमु तं वेतरणिं यमस्स
न त्वेव हञ्ञो यो मम पाणदस्स ॥१५॥
अयं मिगो किच्छगतस्स मय्हं
एकस्स कत्ता विवनस्मिं घोरे,
तं तादिसं पुब्बकिच्चं सरन्तो
जानं महाब्रह्मे कथं हनेय्यं ॥१६॥

[चाहे सारे जनपद के लोगों तथा पुत्र-दारा और मित्रों के साथ मैं यम की वैतरणी को चला जाऊँ तो भी जिसने मेरे प्राणों की रक्षा की है, मैं उसे नहीं मार सकता ॥१५॥ घोर वन में जब मैं अकेला दुखी था तब इस मृग ने मेरा उपकार किया था। हे महाब्रह्म ! मैं इसके उस पूर्व उपकार को जानता हुआ इसे कैसे मार सकता हूँ ? ॥१६॥]

तब शक्र ने पुरोहित के शरीर से निकल, शक्रत्व धारण कर, आकाश में स्थित हो, राजा के गुणों को प्रकाशित करते हुए दो गाथायें कहीं—

मित्ताभिराधी चिरमेव जीव
रज्जं इमं धम्म गुणे पसास,
नारीगणेहि परिचारयन्तो
मोदस्सु रट्ठे तिदिवे वासवो ॥१७॥
अक्कोधनो निच्च पसन्नचित्तो
सब्बातिथीया च योगो [च] भवित्वा,
दत्वा च भुत्वा च यथानुभावं
अनिन्दितो सग्गं उपोहि ठानं ॥१८॥

[हे मित्र-पालक ! तू चिरकाल तक जीवित रह और इस राज्य पर

धर्मानुसार शासन कर। जिस देव-लोक में वसु (=इन्द्र) रहता है, उसी प्रकार तू नारियों से सेवित हो प्रसन्नतापूर्वक रह ॥१७॥ क्रोध-रहित, नित्य प्रसन्न-चित्त, सभी अतिथियों तथा भिक्षुकों को देकर और स्वयं खा-पीकर तू निन्दा रहित रह, स्वर्ग को प्राप्त हो ॥१८॥]

इतना कह शक्र देव-राज ने 'महाराज ! मैं तुम्हें पकड़ने के लिए आया था, किन्तु तुम पकड़ में नहीं आये, अप्रमादी होकर रहो' कहा और उसे उपदेश दे, वह अपने निवास-स्थान को ही चला गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला--"भिक्षुओं, न केवल अभी किन्तु पूर्व-जन्म में भी सारिपुत्र संक्षिप्त उपदेश का विस्तृत अर्थ जानता था" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था। पुरोहित सारिपुत्र। सरभ तो मैं ही था।

चौदहवाँ परिच्छेद

१. पकिण्णक वर्ग

४८४. सालिकेदार जातक

"सम्पन्न सालिकेदारं......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मातृ-सेवक भिक्षु के बारे में कही—

क. वर्त्तमान कथा

यह कथा (-वस्तु) साम जातक[1] में आयेगी। शास्ता ने उस भिक्षु को बुलाकर पूछा—"भिक्षु! क्या तू सचमुच गृहस्थों का पालन-पोषण करता है?" "भन्ते! सचमुच।" "वे तेरे क्या लगते हैं?" "भन्ते! माता-पिता!" "भिक्षु! अच्छा। पुराने-पण्डितों ने तोते की योनि में जन्म ग्रहण करके भी बूढ़े माता-पिता को घोंसले में लिटा, चोंच से चोंगा ला (उनका) पालन किया है" कह शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में राजगृह में मगध राजा राज्य करता था। उस समय नगर से पूर्वोत्तर दिशा में सालिन्दिय नामक ब्राह्मण-ग्राम था। उसके पूर्वोत्तर दिशा में मगध के खेत थे। वहाँ कोसिय गोत्र नामक सालिन्दियवासी ब्राह्मण ने हजार करीष ले शालि (-धान) बोया। जब धान उग आये तो उसने पक्की बाड़ बनाकर किसी को पचास करीष, किसी को साठ करीष—इस प्रकार अपने ही आदमियों को पाँच सौ करीष खेत रखवाली करने के

१. साम जातक (५४०)।

लिए देकर शेष पाँच सौ करीष खेत एक मजदूर को मजदूरी[1] पर दे दिया। उसने वहाँ कुटी बनायी और रात-दिन वहीं रहने लग गया। खेत के पूर्वोत्तर भाग में एक पर्वत के किनारे पर बड़ा भारी सेमर का पेड़ था, जिस पर बहुत से तोते रहते थे। उस समय बोधिसत्व तोतों की उस मण्डली में शुक-राजपुत्र होकर पैदा हुआ था। बड़े होने पर वह सुन्दर, शक्तिशाली हुआ। उसका शरीर गाड़ी (के पहिये) की नाभि जितना था।

उसके पिता ने बुढ़ापा आने पर 'मैं अब दूर नहीं जा सकता, तू ही इस मण्डली का नेतृत्व कर' कह उसे राज्य सौंप दिया। उससे अगले दिन से उसने माता-पिता का चुगने जाना रोक दिया। तोतों की मण्डली के साथ हिमालय जा स्वयं उत्पन्न शाली-वन में से यथेच्छ शाली खा, आते समय माता-पिता के लिये पर्य्याप्त चोगा लेकर उनको पोसता। एक दिन उससे तोतों ने कहा—"पहले इस समय मगध-खेत में धान पकता था, अब क्या हुआ ?" "तो पता लगाओ" कह दो तोतों को भेजा। तोते जाकर मगध-खेत में उतरते समय उस मजदूरी से खेत की रखवाली करनेवाले आदमी के खेत में उतरे। उन्होंने शालीधान खाया और उसकी एक बाली ले जाकर बोधिसत्व के चरणों में रख कहा—"वहाँ ऐसा धान है।" अगले दिन वह तोतों की मण्डली सहित उस खेत में जा उतरा। तोते धान खाने लगे तो वह आदमी जहाँ-तहाँ तोतों के पीछे भाग कर भी तोतों को नहीं हटा सकता था। शेष तोते धान खाकर खाली मुँह जा रहे थे, किन्तु शुकराज बहुत-सी बालें इकट्ठी कर ले जाकर माता-पिता को देता था। अगले दिन से तोते वहीं धान खाने लगे।

तब उस आदमी ने सोचा—"यदि ये इस प्रकार और कुछ दिन खायेंगे तो कुछ (धान) न होगा। ब्राह्मण धान की कीमत लगवा कर मुझ पर कर्ज लाद देगा। जाकर उसे कहता हूँ।" उसने धान की मुट्ठी के साथ योग्य भेंट ली और ब्राह्मण के पास पहुँच, प्रणाम कर एक ओर खड़ा हुआ।

"क्यों आदमी ! धान के खेत में धान खूब हुआ है ?"

"हाँ ब्राह्मण ! हुआ है" कह उसने दो गाथायें कहीं—

---

१. भृति।

सम्पन्नं सालिकेदारं, सुवा भुञ्जन्ति कोसिय।
पटिवेदेमि ते ब्रह्मे, न नं वारेतुं उस्सहे॥१॥
एको व तत्थ सकुणो, सो तेसं सब्बसुन्दरो।
भुत्वा सालिं यथाकामं तुण्डेनादाय गच्छति॥२॥

[हे कोसिय ! भरे खेत को तोते खाते हैं। हे ब्राह्मण ! मैं तुझे सूचित करता हूँ। मैं उन्हें रोक नहीं सकता॥१॥ उन सब में सुन्दर एक तोता यथेच्छ धान खाकर चोंच में भर कर भी ले जाता है॥२॥]

ब्राह्मण ने उसकी बात सुन सुकराज के प्रति स्नेही हो रखवाले से पूछा—"हे आदमी ! जाल बाँधना जानता है ?"

"हाँ जानता हूँ।"

उसने गाथा कही—

ओड्डेतुं वालपासानि यथा बज्झेथ सो दिजो,
जीवं च नं गहेत्वान आनयेथ मं अंतिके॥३॥

[बालों के पास फैलें जिसमें वह पक्षी फँस जाय। उसे जीता ही पकड़ कर मेरे पास लाओ॥३॥]

यह सुन रखवाला प्रसन्न हुआ। खेत की कीमत आँक कर उसके सिर कर्जा लदने का डर नहीं रहा। उसने जाकर घोड़े (की पूँछ) के बालों को बटा और यह सुन कि आज यहाँ उतरेंगे, शुकराज के उतरने के स्थान का अन्दाजा लगाया। अगले दिन प्रातःकाल ही चाटी के जितना चौखटा गाड़ उस पर जाल ताना और कुटी में बैठ कर तोतों के आने की प्रतीक्षा करने लगा। तोतों सहित शुकराज भी जिह्वा लोलुप न होने के कारण जहाँ कल धान खाया था उसी स्थान पर लगे हुए जाल में पाँव फंसा कर उतरा। जब उसे पता लगा कि वह फँस गया है तो उसने सोचा—"यदि मैं अभी फँस जाने की आवाज लगाऊँगा, तो मेरे सम्बन्धी डर के मारे बिना चोगा लिये ही उड़ जायेंगे। जब तक यह चोगा नहीं चुग लेते तब तक सहन करता हूँ।" जब उसने देखा कि वह पेट भर चुग चुके तब उसने मृत्यु से भयभीत हो तीन बार फंस जाने की आवाज लगाई। सभी भाग गये। शुकराज ने 'मेरे इतने सम्बन्धियों में एक भी ऐसा नहीं जो रुक कर मेरी ओर देखता भी। मैंने क्या पाप-कर्म किया है ?' विलाप करते हुये यह गाथा कही—

एते भुत्वा च पीत्वा च पक्कमन्ति विहङ्गमा।
एको बद्धोस्मि पासेन, किं पापं पकतं मया॥४॥

[यह पक्षी खा पीकर उड़े जा रहे हैं। एक मैं ही जाल में फँस गया हूँ। मैंने क्या पापकर्म किया है ?]

रखवाले ने शुकराज के फँसने की आवाज सुनी और तोतों के आकाश में उड़ने का शब्द सुना तो सोचा--यह क्या ? वह कुटी से निकला और जाल की जगह पर पहुँच जब उसने शुकराज को देखा तो प्रसन्न हुआ कि जिसे फँसाने के लिये जाल फैलाया था वही फँस गया उसने शुक-राज को जाल से मुक्त किया और दोनों पाँव को एक में बाँध कर सालिन्दिय ग्राम पहुँच वह शुक-पोतक ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण ने अत्यन्त स्नेह के कारण बोधिसत्व को दोनों हाथों में अच्छी तरह ले, गोद में बिठा उससे बातचीत करते हुए दो गाथायें कहीं—

उदरं नून अञ्ञेसं सुव अच्चोदरं तव।
भुत्वा सालिं यथाकामं तुण्डेनादाय गच्छसि॥५॥
कोट्ठं नु तत्थ पूरेसि, सुव वेरं नु ते मया।
पुट्ठो मे सम्म अक्खाहि कुहिं सालिं निधीयसि॥६॥

[हे शुक ! दूसरों का उदर 'उदर' है, किन्तु (ऐसा लगता है कि) तेरा उदर 'अति-उदर' है। तू यथेच्छ धान खाकर चोंच में भी लेकर जाता है। हे शुक ! तू वहाँ ले जाकर कोठा भरता है। निश्चय से तेरा मुझसे बैर है। हे मित्र ! मैं तुझसे पूछता हूँ, मुझे बता कि तू धान कहाँ ले जाकर जमा करता है ? ॥५-६॥]

यह सुन शुकराज ने मधुर मनुष्य-वाणी में सातवीं गाथा कही—

न मे वेरं तया सद्धिं, कोट्ठो मय्हं न विज्जति,
इणं मुञ्चामिणं दम्मि सम्पत्तो कोटि सम्बलिं,
निधिंपि तत्थ निदहामि, एवं जानाहि कोसिय॥७॥

[न मेरा तुझसे बैर है, न मेरा कोठा है। मैं ऋण से मुक्त होता हूँ और ऋण देता हूँ। सेमर-वन में पहुँच वहाँ खजाना भी संग्रह करता हूँ—हे कोसिय ! यह जान॥७॥]

तब उसे ब्राह्मण ने पूछा—

कोविसं ते इणदानं, इण मोक्खो ते कोविसो,
निधिनिधानं अक्खाहि, अथ पासा पमोक्खसि ॥८॥

[तेरा ऋण देना कैसा है ? तेरी ऋण से मुक्ति कैसी है ? तू मुझे अपना खजाना जोड़ना बता—तब तू जाल से मुक्त होगा ॥८॥]

इस प्रकार ब्राह्मण से पूछे जाने पर शुकराज ने उसे समझाते हुये चार चार गाथायें कहीं—

अजातपक्खा तरुणा पुत्तका मय्ह कोसिय
ते मं तथा भरिस्सन्ति, तस्मा तेसं इणं ददे ॥९॥
माता पिता च मे बुद्धा जिण्णका गतयोब्बना,
तेसं तुण्डेन हातूना मुञ्चे पुब्बकतं इणं ॥१०॥
अञ्ञेपि तत्थ सकुणा खीणपक्खा सुदुब्बला,
तेसं पुञ्ञत्थिको दम्मि तं निधिं आहु पण्डिता ॥११॥
एदिसं मे इणदानं इणमोक्खो मे एदिसो
निधिनिधानं अक्खातं एवं जानाहि कोसिय ॥१२॥

[हे कोसिय ! मेरे तरुण पुत्र हैं जिनके अभी पर नहीं निकले हैं । वे भी मेरा इसी प्रकार पालन करेंगे, इसलिये उन्हें ऋण देता हूँ ॥९॥ मेरे माता पिता बूढ़े हो गये हैं । उनके लिये चोंच से ले जाकर पूर्व ऋण से मुक्त होता हूँ ॥१०॥ और भी पक्षी हैं, जिनको पर नहीं हैं तथा जो दुर्बल हैं उन्हें भी मैं पुण्य की आशा से देता हूँ—उसे पण्डित जन 'निधि' कहते हैं ॥११॥ यह मेरा ऋण-दान है, यह मेरा ऋण से मुक्त होना है और यह मेरा खजाना है—हे कोसिय ! ऐसा तू जान ॥१२॥]

ब्राह्मण ने बोधिसत्व की धार्मिक-कथा सुन प्रसन्न हो दो गाथायें कहीं—

भद्दको वतयं पक्खी दिजो परमधम्मिको,
एकच्चेसु मनुस्सेसु अयं धम्मो न विज्जति ॥१३॥
भुञ्ज सालिं यथाकामं सह सब्बेहि ञातिभि ।
पुन पि सुव पस्सेमु, पियं मे तव दस्सनं ॥१४॥

[यह द्विज (= द्विजन्मा) पक्षी अच्छा है, परं धार्मिक है । कुछ मनुष्यों

मैं भी यह धर्म नहीं है ।।१३।। अपने सभी सम्बन्धियों के साथ यथेच्छ धान खा है शुक ! तेरा दर्शन प्रिय है। हम फिर भी तुझे देखें ।।१४।।]

इस प्रकार बोधिसत्व से प्रार्थना कर उसकी ओर, प्रिय-पुत्र की भाँति मृदु-चित्त से देखते हुए उसने पाँव से बंधन खोला और सैकड़ों-पाक के तेल से उसके पैरों को माख, सुन्दर पीढ़े पर बिठाया। फिर सोने की थाली में मधु-खील खिला शर्बत. पिलाया। तब शुक-राज ने उसे 'ब्राह्मण ! अप्रमादी रह' कह उपदेश देते हुए गाथा कही—

भुत्तं च पीतं च तवस्समम्हि,
रती च नो कोसिय ते सकासे,
निक्खित्त दण्डेसु ददाहि दानं,
जिण्णे च माता पितरो भरस्सु।।१५।।

[हमने तेरे घर खाया पिया। हे कोसिय ! हमें तुझसे प्रेम है। तू दण्डत्यागियों को दान दे तथा बूढ़े माता-पिता का पालन कर ।।१५।।]

यह सुन ब्राह्मण ने प्रसन्न हो उल्लास प्रकट करते हुए गाथा कही—

लक्खी वत मे उदपादि अज्ज
यो अद्दसासिं पवरं दिजानं,
सुवस्स सुत्वान सुभासितानि
काहामि पुञ्ञानि अनप्पकानि।।१६।।

[आज मुझे लक्ष्मी प्राप्त हुई है जो यह मैंने द्विजों में श्रेष्ठ पक्षी को देखा। तोते के सुभाषित सुन कर मैं बहुत पुण्य करूँगा ।।१६।।]

बोधिसत्व ने ब्राह्मण के दिये हजार करीष अस्वीकार कर केवल आठ करीष स्वीकार किये। ब्राह्मण से खम्भे गड़वा दिये और उसे वह खेत समर्पित कर हाथ जोड़ कर विदा किया—स्वामी ! जायें, रोते हुये माता-पिता को अश्वासन दें। उसने प्रसन्न-चित्त हो धान की बालि ले जाकर माता-पिता के सामने रखी और कहा—"अम्मा-तात ! उठो।" वे आँसुओं सहित प्रसन्न-वदन उठे। उसी समय तोतों की मण्डली इकट्ठी हो गयी और पूछने लगी—

"देव ! कैसे मुक्त हुए ?" उसने उन्हें सारी कथा विस्तार से कही।

कोसिय ने भी शुकराज के उपदेशानुसार चल तब से धार्मिक श्रमण-ब्राह्मणों को महादान दिया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने अन्तिम गाथा कही—

सो कोसियो अत्तमनो उदग्गो
अन्नं च पानं च भिसं करित्वा
अन्नेन पानेन पसन्नचित्तो
सन्तप्पयी समणे ब्राह्मणे च॥१७॥

[उस कोसिय ने प्रसन्न-चित्त तथा उदग्र-चित्त हो बहुत से अन्न-पान का संग्रह कर प्रसन्नतापूर्वक श्रमण-ब्राह्मणों को अन्न-पान से सन्तर्पित किया॥१७॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, इस प्रकार मामा-पिता का पालन-पोषण पण्डितों की परम्परा है" कह आर्य-सत्यों को प्रकाशित कर 'जातक' का मेल बैठाया। सत्यों (के प्रकाशन) के अन्त में वह भिक्षु स्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय तोतों की मण्डली बुद्ध-परिषद थी। माता-पिता महाराज-कुल, रखवाला छन्न, ब्राह्मण आनन्द, शुक-राज तो मैं ही था।

४८५. चन्दकिन्नर जातक

"उपानीयतीदं मञ्ञे ....." यह शास्ता ने कपिलपुर के आश्रय से निग्रोधाराम में विहार करते समय राज-भवन में राहुल-माता के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

यह जातक पूरे-निदान से आरम्भ करके देना चाहिये। वह यह निदान-कथा लट्ठी वन में उरुवेलकस्सप का सिंहनाद अपण्णक जातक में कहा गया। उसके आगे कपिलवस्तु-गमन वेस्सन्तर जातक में आयेगी। शास्ता ने पिता के घर में बैठ भोजन के समय से पूर्व महाधम्मपाल जातक कही और भोजन के बाद वे 'राहुल-माता के निवास-गृह में बैठ उसकी प्रशंसा करते हुये चन्दकिन्नर जातक कहूँगा' सोच राजा के हाथ में पात्र लिवा दोनों अग्र-श्रावकों के साथ राहुल-माता के निवास-स्थान पर पहुँचे। उस समय उसकी अधीनता में चालीस हजार नर्तकियाँ रहती थीं, उनमें से एक हजार नौवे तो क्षत्रिय-कन्यायें ही थीं। उसने जब तथागत का आगमन सुना तो उन सब को आज्ञा दी कि वे काषाय-वस्त्र धारण कर लें। उन्होंने वैसा किया। शास्ता आकर बिछे आसन पर बैठे। वे सब एक ही साथ विलाप करने लगीं। महान कोलाहल हुआ। राहुलमाता भी विलाप कर, शोक का दमन कर, शास्ता को प्रणाम कर राजभवन में बड़े आदर भाव के साथ बैठी। राजा ने उसकी प्रशंसा आरम्भ की—"भन्ते ! मेरी पतोहू ने जब यह सुना कि तुमने काषाय धारण कर लिया है तो इसने भी काषाय धारण कर लिया, जब यह सुना कि तुमने माला आदि का धारण करना छोड़ दिया है तो इसने भी मालादि पहनना छोड़ दिया और भूमि पर ही सोने लगी, तुम्हारे प्रव्रजित होने पर विधवा-वत् हो, दूसरे राजाओं द्वारा भेजी गई भेंट अस्वीकृत की। इसकी तुम्हारे प्रति ऐसी दृढ़ भक्ति है।" इस

प्रकार राजा ने नाना तरह से उसकी प्रशंसा की। शास्ता ने 'महाराज, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं यदि अब यह मेरे इस अन्तिम-जन्म में मेरे प्रति अनुरक्त है, दृढ़ भक्तिमान है, इसका चित्त किसी भी दूसरे की ओर नहीं जा सकता, यह तो पशु-योनि में जन्म लेने पर भी मेरे प्रति दृढ़-भक्तिमान थी, इसका चित्त किसी भी दूसरे की ओर नहीं जा सकता था' कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख अतीत कथा.

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व हिमालय प्रदेश में किन्नर-योनि में पैदा हुआ। उसकी चन्दा नाम की भार्य्या थी। वे दोनों चन्द नाम के रजत-पर्वत पर रहते थे।

उस समय वाराणसी-नरेश अमात्यों को राज्य सौंप, दो काषाय वस्त्र धारण कर और पाँच आयुधों से सज्जित हो अकेला ही हिमालय को गया। वह मृग-मांस खाता हुआ एक क्षुद्र नदी का अनुसरण कर उसके साथ-साथ ऊपर चढ़ा। चन्द पर्वतवासी किन्नर वर्षा-ऋतु के समय नीचे नहीं उतरते थे, पर्वत पर ही रहते थे, गरमी के समय उतरते। उस समय वह चन्द-किन्नर अपनी भार्य्या के साथ (नीचे) उतर जहाँ-तहाँ सुगन्धी उड़ाते हुए, पुष्प-रेणु खाते हुए, पुष्प-वस्त्र पहने, लताओं रूपी डोलों पर झूलते हुए, और मधुर-स्वर से गाते हुए उस क्षुद्र नदी पर पहुँचे। फिर एक लौटने की जगह पर उतर फूलों को पानी में बिखेर जल-क्रीड़ा की। तब पुष्प-वस्त्र धारण कर रजत-वस्त्र सदृश बालु में पुष्प-शैय्या तैय्यार कर एक बाँस की पोरी ले, पुष्प-शैय्या पर बैठे। तब चन्द-किन्नर ने बाँसुरी बजाते हुए मधुर स्वर से गाया। चन्द किन्नरी ने कोमल हाथों को झुका कर उसके समीप ही खड़े हो नाचा और गाया। उस राजा ने उनकी आवाज सुनी तो बिना अपने पैरों की आवाज सुनाये, धीरे-धीरे आ छिप कर उन किन्नरों को देखा। उसने किन्नरी पर आसक्त हो 'इस किन्नर को बींध कर, इसका प्राणांत कर, इसके साथ सहवास करूँगा' सोच चन्द-किन्नर को बींध दिया। उसने वेदना से अभिभूत हो विलाप करते हुए चार गाथायें कहीं—

उपानीयतीवं मञ्ञे, चन्दे लोहितमद्देन मज्जामि,
विजहामि जीवितं, पाणा मे चन्दे निरुज्झन्ति॥१॥

ओसधि मे दुक्खं मे, हृदयं मे दह्यते, नितम्मामि
तव चन्दिया सोचन्तिया न नं अञ्ञेहि सोकेहि ॥२॥
तिणं इव वनं इव मिय्यामि नदी अपरिपुण्णियान सुस्सामि
तव चन्दिया सोचन्तिया न नं अञ्ञे हि सोकेहि ॥३॥
वस्सं व सरे पब्बतपादे इमानि अस्सूनि वत्तरे मय्हं
तव चन्दिया सोचन्तिया न नं अञ्ञेहि सोकेहि ॥४॥

[ऐसा लगता है कि यह जीवन ले जाया जा रहा है, रक्त के बहने से बेहोश होता जा रहा हूँ, जीवन छोड़ रहा हूँ, हे चन्द ! मेरे प्राणों का निरोध हो रहा है ॥१॥ मैं डूब रहा हूँ, मुझे दुःख है, मेरा हृदय जलता है, मैं कष्ट पा रहा हूँ--किसी ओर शोक से नहीं, केवल तेरी चिन्ता करती हुई की चिन्ता करके ॥२॥ तिनके की तरह, वन की तरह कुम्हला रहा हूँ। अपूर्ण नदी की तरह सूख रहा हूँ- किसी और शोक से नहीं, केवल तेरी चिन्ता करती हुई की चिन्ता करके ॥३॥ पर्वत के नीचे तालाब में जैसे वर्षा वैसे ही ये मेरे आँसू बहते हैं--किसी और शोक से नहीं, केवल तेरी चिन्ता करती हुई की चिन्ता करके ॥४॥]

बोधिसत्व इन चार गाथाओं से विलाप कर पुष्प-शैय्या पर ही पडा-पड़ा बेहोश हो पलट कर लेट रहा। राजा भी खड़ा ही रहा। किन्नरी ने बोधिसत्व के विलाप करते रहने पर भी अपने आनन्द में मस्त होने के कारण नहीं जाना कि वह बींधा गया है। किन्तु उसे बेहोश उलटा पड़ा देखा सोचा--मेरे स्वामी को क्या दुःख है ? जब उसने घाव में से खून बहता देखा तो वह प्रिय-स्वामी के शोक को न सह सकने के कारण जोर-जोर से विलाप करने लगी। राजा ने यह समझा कि किन्नर मर गया होगा अपने आपको बाहर निकाला। चन्दा ने उसे देखा तो यह समझा कि इसी चोर ने मेरे प्रिय स्वामी को बींधा होगा। उसने काँपते हुए, भाग कर पर्वत-शिखर पर खड़े हो, राजा को शाप देते हुए पाँच गाथायें कहीं--

पापो खो राजपुत्तो यो मे इच्छित पतिं वराकिया
विज्झि वनमूलस्मिं, सो यं विद्धो छमा सेति ॥५॥
इमं मय्हं हृदयसोकं पटिमुञ्चतु राजपुत्त तव माता,
यो मय्हं हृदयसोको किंपुरिसं अपेक्खमानाय ॥६॥

इमं मय्हं हदयसोकं पटिमुञ्चतु राजपुत्त तव जाया
यो मय्हं हदयसोको किंपुरिसं अपेक्खमानाय ॥७॥
मा च पुत्ते मा च पतिं अद्दक्खि राजपुत्त तव माता
यो किंपुरिसं अवधि अदूसकं मय्हं कामाहि ॥८॥
मा च पुत्ते मा च पतिं अद्दक्खि राजपुत्त तव जाया
यो किंपुरिसं अवधि अदूसकं मय्हं कामाहि ॥९॥

[पापी है वह राजपुत्र जिसने मुझ बिचारी के प्रिय पति को वन के मूल में बींध दिया। अब बिंधा हुआ जमीन पर पड़ा है ॥५॥ हे राजपुत्र ! यह जो उस किन्नर को चाहनेवाली का मेरा हृदय-शोक है, वह हृदय-शोक तेरी माता को प्राप्त हो ॥६॥ हे राजपुत्र ! यह जो उस किन्नर को चाहने वाली का मेरा हृदय-शोक है, वह हृदय-शोक तेरी भार्य्या को प्राप्त हो ॥७॥ हे राजपुत्र ! तूने जो मेरी कामना से मेरे निर्दोष किन्नर को मारा है, इसलिए मेरी कामना है कि तेरी माता को पुत्र और पति देखना न मिले ॥८॥ हे राजपुत्र ! तूने जो मेरी कामना से मेरे निर्दोष किन्नर को मारा है, इसलिये मेरी कामना है कि तेरी भार्य्या को पुत्र और पति देखना न मिले ॥९॥]

पर्वत पर खड़ी हो पाँच गाथाओं से विलाप करती हुई को राजा ने यह गाथा कही—

मा तुवं चंदे रोदि, मा सोचि वनतिमिरमत्तक्खि,
मम त्वं होहिसि भरिया, राजकुले पूजिता नारि ॥१०॥

[हे चन्दा तू रो मत। हे जंगल के अन्धकार सी आँखवाली तू सोच मत कर। तू मेरी भार्य्या होगी और राजकुल में पूजी जायगी ॥१०॥]

चन्दा ने उसकी बात सुनी तो "तू मुझे क्या कहता है ?" सिंह-नाद करती हुई दूसरी गाथा बोली—

अपि नूनाहं मरिस्सं न च पनाहं राजपुत्त तव हेस्सं
यो किंपुरिसं अवधि अदूसकं मय्हं कामाहि ॥११॥

[हे राजपुत्र ! तूने मेरी कामना से मेरे निर्दोष किन्नर को मार डाला है। मैं मर भले ही जाऊँ, किन्तु मैं तेरी नहीं होऊँगी ॥११॥]

उसने उसकी बात सुनी तो राग-रहित हो दूसरी गाथा कही—

अपि भीरुके अपि जीवितुकामिके किंपुरिसि गच्छ हिमवंतं,
तालिस्सतगरभोजने अरञ्ञे तं मिगारमिस्सन्ति ॥१२॥

[अरी डरपोक ! अरी जीवन-प्रेमी किन्नरी ! तू हिमालय को ही जा। तुझसे जगल में—जहाँ ताली और तगर का भोजन होता है—मृग रमण करेंगे ॥१२॥]

यह कहा और अपेक्षा-रहित होकर चला गया। जब उस किन्नरी ने जाना कि वह चला गया तो उसने चढ़कर बोधिसत्व का आलिङ्गन कर (उसे) पर्वत-शिखर पर ले जा, पर्वत-तल पर लिटाया और उसका सिर अपनी गोद में रख, बड़े जोर का विलाप करते हुए बारह गाथायें कहीं—

ते पब्बता ता च कन्दरा ता च गिरिगुहायो,
तत्थ तं अपस्सन्ती किंपुरिस कथं अहं कासं ॥१३॥
ते पण्णसन्थता रमनीया वाळमिगेहि अनुचिण्णा,
तत्थ तं अपस्सन्ती किंपुरिस कथं अहं कासं ॥१४॥
ते पुप्फसन्थता रमणीया वाळमिगेहि अनुचिण्णा,
तत्थ तं .... ॥१५॥
अच्छा सवन्ति गिरिवर नदियो कुसुमाभिकिण्णसोतायो,
तत्थ .... ॥१६॥
नीलानि हिमवतो पब्बतस्स कूटानि दस्सनेय्यानि,
तत्थ .... ॥१७॥
पीतानि हिमवतो पब्बतस्स कूटानि दस्सनेय्यानि,
तत्थ .... ॥१८॥
तम्बानि हिमवतो पब्बतस्स कूटानि दस्सनेय्यानि
तत्थ .... ॥१९॥
तुङ्गानि हिमवतो पब्बतस्स कूटानि दस्सनेय्यानि
तत्थ .... ॥२०॥
सेतानि हिमवतो पब्बतस्स कूटानि दस्सनेय्यानि
तत्थ .... ॥२१॥
चित्रानि हिमवतो .... ॥२२॥
यक्खगणसेविते गन्धमादने ओसधेहि संछन्ने

तत्थ तं अपस्सन्ती किंपुरिस कथं अहं कासं ॥२३॥
किंपुरिसं सेविते गन्धमादने ओसधेहि संछन्ने
तत्थ तं अपस्सन्ती किंपुरिस कथं अहं कासं ॥२४॥

[वे ही पर्वत हैं, वे ही कन्दरायें हैं, वे ही गिर-गुफाएँ हैं, (किन्तु) जब तू उनमें नहीं दिखाई देगा तो हे किन्नर ! मैं क्या करूँगी ? ॥१३॥ वे पत्ते बिछे हैं, वे रमणीय हैं, वहाँ बाल-मृग-विचरते हैं, किन्तु जब तू · · · क्या करूँगी ? ॥१४॥ वे पुष्प बिछे हैं · · · · करूँगी ॥१५॥ पुष्प बिखरी हुई पर्वत से निकलने वाली नदियाँ अच्छी तरह बहती हैं, किन्तु · · · ॥१६॥ हिमालय पर्वत के नीले शिखर दर्शनीय हैं, किन्तु · · · · · ॥१७॥ हिमालय पर्वत के पीले शिखर दर्शनीय हैं, किन्तु · · · · · · · ॥१८॥ हिमालय पर्वत के ताम्रवर्ण शिखर दर्शनीय हैं · · · · · · · · · · · ॥१९॥ हिमालय पर्वत के ऊँचे शिखर दर्शनीय हैं · · · · · · · · · · · · ॥२०॥ हिमालय पर्वत के श्वेत शिखर दर्शनीय हैं · · · · · · · · · · ॥२१॥ हिमालय पर्वत के सुन्दर शिखर दर्शनीय हैं · · · · · · · · · · ॥२२॥

यक्षों से सेवित, औषधियों से ढके गन्धनमादन पर्वत पर जब तू दिखाई नहीं देगा तो हे किन्नर ! मैं क्या करूँगी ? ॥२३॥ किन्नरों से सेवित, औषधियों से ढके गन्धमादन पर्वत पर जब तू दिखाई नहीं देगा तब में क्या करूँगी ? ॥२४॥]

इस प्रकार उसने बारह गाथाओं से विलाप कर बोधिसत्व की छाती पर हाथ धर कर देखा तो उसमें उष्णता थी। उसने सोचा--"चन्द्र में अभी प्राण है, इसी समय दोषारोपण-कर्म कर इसे जीवित करूँगी।" वह बोली—"क्या लोकपाल नहीं है ? अथवा चले गये हैं ? अथवा मर ही गये हैं ? वे मेरे प्रिय-स्वामी की रक्षा नहीं करते ?" इस प्रकार उसने देवता-दोषारोपण-कर्म किया। उसके शोक की अधिकता से शक्र का आसन गर्म हो गया। उसने ध्यान लगाकर वह कारण जान लिया और ब्राह्मण के वेष में आ कुण्डी से जल निकाल कर बोधिसत्व पर छिड़का। उसी समय विष अन्तर्धान हो गया, घाव भर गया, यह पता नहीं लगता था कि इस जगह तीर लगा। बोधिसत्व सुखी हो खड़ा हुआ। चन्दा ने प्रिय-स्वामी को निरोग देखा तो हर्षित हो शक्र के चरणों में प्रणाम करके अगली गाथा कही—

बन्दे ते अयिरब्रह्मे यो मे इच्छित पतिं वराकिया,
अमतेन अभिसिञ्च समागतास्मि पियतमेन ॥२५॥

[हे आर्य ब्राह्मण ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ। तूने मुझ विचारी के प्रिय स्वामी पर प्रियतम अमृत छिड़का ॥२५॥]

शक्र ने उन्हें उपदेश दिया। "अब से चन्द पर्वत से उतर मनुष्यों की बस्ती में मत जाना। इधर ही रहना।" इस प्रकार उपदेश दे शक अपने ही स्थान को चला गया। चन्दा ने भी 'स्वामी ! इस खतरे की जगह रहने से हमें क्या लाभ ? आ चन्द पर्वत ही चलें' कह अन्तिम गाथा कही—

विचराय दानि गिरिवर नदियो कुसुमाभिकिण्ण सोतायो,
नानादुम सवनायो पियंवदा अञ्ञमञ्ञस्स ॥२६॥

[अब हम फूल बिखरी हुई, श्रेष्ठ पर्वतों से बहने वाली, नाना प्रकार के वृक्षों की आवाज वाली नदियों के तट पर ही परस्पर मधुर भाषण करते हुए विचरे ॥२६॥]

शास्ता ने यह धर्म देशना ला, "न केवल अभी यह पहले भी मेरे प्रति दृढ़-भक्तिमान थी, इसका चित्त किसी भी दूसरे की ओर नहीं जा सकता था "कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा अनुरुद्ध था। चन्दा राहुल-माता किन्नर तो मैं ही था।

४८६. महाउक्कुस जातक

"उक्का मिला चा बन्धन्ति" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मित्तगन्धक उपासक के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह एक अवनत-परिवार का तरुण था। उसने अपने एक साथी को एक लड़की से शादी तै करने के लिए भेजा। उसने पूछा—"क्या समय पड़ने पर काम आने वाला उसका कोई मित्र या सहायक है?" "नहीं है। "तो पहले मित्र बनायें।" उसने उसका कहना मान पहले चार द्वार-पालों के साथ मैत्री की। फिर क्रमशः नगर-रक्षक, गणक तथा महामात्यादि के साथ मैत्री कर सेनापति तथा उपराजा के साथ भी मैत्री की। उनके साथ मैत्री कर राजा से मैत्री की। तब अस्सी महास्थविरों तथा आनन्द के साथ मैत्री कर तथागत के साथ मैत्री की। शास्ता ने उसे (त्रि) शरण तथा शीलों में प्रतिष्ठित किया। राजा ने भी उसे ऐश्वर्य्य दिया। वह मित्रगन्धक नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा ने उसे बड़ा घर दे उसका विवाह कराया। राजा से लगा सारी जनता ने भेंट भेजी। तब उसकी भार्य्या ने राजा द्वारा भेजी गई भेंट उपराज को, उपराज द्वारा भेजी गई भेंट सेनापति को (भेज) इसी प्रकार सारे नगरवासियों को बन्धन में बांध लिया। सातवें दिन महान-सत्कार कर, दसबल (धारी) को निमन्त्रण दे, बुद्ध-प्रमुख पाँच सौ भिक्षुओं को महादान दिया। भोजनान्तर शास्ता का दानानुमोदन सुन दोनों पति-पत्नी स्रोतपत्ति फल में प्रतिष्ठित हुए। धर्मसभा में बातचीत चली—"आयुष्मानो, मित्तगन्धक उपासक ने अपनी भार्य्या का वचन मान, सब के साथ मैत्री कर राजा से महान सत्कार प्राप्त किया। शास्ता के साथ मैत्री कर दोनों पति-पत्नी स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठत हुए।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत।" "भिक्षुओ, न केवल अभी इसने स्त्री के कारण महान ऐश्वर्य्य प्राप्त किया है, पूर्व जन्म में पशुयोनि

में उत्पन्न होने पर भी इसका कहना मान बहुत लोगों से मैत्री कर यह पुत्र-शोक से मुक्त हुआ" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय कुछ प्रत्यन्त देशवासी जहाँ-जहाँ बहुत मांस मिलता वहीं-वहीं गाँव बसा कर, जंगल में घूम, मृगादि मार, मांस लाकर स्त्री-बच्चों को पालते। उनके गाँव से थोड़ी ही दूर एक तालाब था, उसके दक्षिण की ओर एक चील रहता था, पश्चिम की ओर एक चील (नी) रहती थी, उत्तर की ओर मृगराज सिंह रहता था, और पूर्व की ओर रहता था उक्कुस पक्षी-राज। हाँ, तालाब के बीच की ऊँची जगह पर कछुवा रहता था। तब उस चील ने उस चील (नी) से कहा—"तू मेरी भार्य्या हो जा।" उसने उससे पूछा—तेरा कोई मित्र है? "भद्रे! नहीं है।" "हम पर कोई विपत्ति या कष्ट आ पड़े उसे दूर कर सकनेवाला मित्र होना चाहिये, मित्र बनाओ।" "भद्रे, किसके साथ मैत्री करूँ?" "पूर्व दिशा की ओर रहनेवाले उक्कुसराज से, उत्तर की ओर रहनेवाले सिंह से तथा तालाब के बीच में रहनेवाले कछुवे के साथ मैत्री करो।" उसने उसका कहना मान वैसा किया। तब उन दोनों ने सहवास किया, और उसी तालाब में एक द्वीप पर एक कदम्ब का वृक्ष था, जो चारों ओर के पानी से घिरा था, उसी पर घोसला बना रहने लगे। आगे चलकर उनके दो बच्चे हुए। जब उनके पर नहीं निकले थे तभी एक दिन वे जनपदवासी दिन भर जंगल में घूम, कुछ भी न पा सोचने लगे—खाली हाथ घर नहीं लौट सकते। मच्छ या कछुवे पकड़ेंगें। वे तालाब में उतरे, और उस छोटे से द्वीप पर पहुँच उस कदम्ब वृक्ष के नीचे लेटे। वहाँ उन्हें मच्छर खाने लगे। उन्हें भगाने के लिये अरणी रगड़ कर आग बनाई और धुआँ किया। धुआँ जाकर पक्षियों को लगा। बच्चे चिल्ला पड़े। जनपदवासियों ने वह शब्द सुना तो बोले—"भो, यह पक्षियों की आवाज है। मशाल बाँधो। हम भूखे नहीं सो सकते। पक्षियों का मांस खाकर ही सोयेंगे।" यह कह उन्होंने आग जलाई और मशाल बाँधी। चीलनी ने उनकी आवाज सुनी तो सोचा—"यह हमारे बच्चों को खाना चाहते हैं। हमनें ऐसे ही खतरे से बचने के लिये मित्र बनाये हैं। मैं पति को उक्कुस राज के पास भेजूंगी।"

उसने स्वामी को 'स्वामी ! जा। उक्कुस-राज को पुत्रों पर आई विपत्ति की सूचना दे' कह पहली गाथा कही—

उक्का मिला च बन्धन्ति दीपे
पजा ममं खादितुं पत्थयन्ति,
मित्तं सहायं च वदेहि सेनक
आचिक्ख जातिव्यसनं द्विजानं ॥१॥

[जनपद-वासी द्वीप में मशाल बाँध रहे हैं और मेरी सन्तान को खा जाना चाहते हैं। हे चील ! तू अपने मित्रों तथा सहायकों को सूचना दे और अपने सम्बन्धी पक्षियों को पुत्र पर आई विपत्ति कह ॥१॥]

वह शीघ्रता से उसके निवास-स्थान पर पहुँचा और आवाज लगाकर अपने आने की सूचना दी। आज्ञा मिलने पर पास पहुँचा और प्रणाम किया। जब उसने पूछा, "क्यों आया है ?" तो उसने दूसरी गाथा कही—

दिजो दिजानं पवरोसि पक्खि
उक्कुसराज सरणं ते उपेमि,
पजा ममं खादितुं पत्थयन्ति
लुद्दा मिलाचा, भव मे सुखाय ॥२॥

[हे पक्षी ! तू पक्षियों में श्रेष्ट है। हे उक्कुसराज ! मैं तेरी शरण आया हूँ। लोभी जंगली-आदमी मेरे बच्चों को खाना चाहते हैं। तू मेरे सुख का कारण हो ॥२॥]

उक्कुस-राज ने चील को 'डर मत' कह आश्वासन दिया और तीसरी गाथा कही--

मित्तं सहायं च करोन्ति पण्डिता
कालं अकाले सुखं आसयाना
करोमि ते सेनक एतमत्थं
अरियो हि अरियस्स करोति किच्चं ॥३॥

[पण्डित जन समय-असमय सुख की आशा से ही मित्र-सहायक बनाते हैं। हे चील ! मैं तेरा यह कार्य्य करूँगा। आर्य्य ही आर्य्य का काम करता है ॥३॥]

उसने उसे पूछा— क्यों मित्र, क्या जंगली आदमी वृक्ष पर चढ़

गये ?" "अभी चढ़े नहीं हैं, अभी तो मशाल ही बाँधते हैं।" "तो तू शीघ्र जा और मेरी सहायिका को आश्वासन दे, कह कि मैं आ रहा हूँ।" उसने वैसा ही किया। उक्कुस-राज भी जाकर कदम्ब-वृक्ष के पास ही जंगली आदमियों के वृक्षारोहण की ओर देखता हुआ एक वृक्ष के शिखर पर बैठा। जब एक जंगली आदमी चढ़ने लगा और घोंसले के पास पहुँचनेवाला हुआ तो उसने तालाब में डुबकी लगा परों और मुँह में पानी ला मशाल पर छिड़क दिया। वह बुझ गई। जंगली आदमियों ने सोचा कि इस चील और उसके बच्चों को खायेंगे। वे उतरे और मशाल जलाकर चढ़े। उक्कुस ने फिर बुझा दी। इस प्रकार जब-जब वह बाँधते तब-तब उसे बुझाते हुए आधी रात बीत गई। वह बहुत थक गया। पेट के नीचे फेफड़ा अन्दर जा धँसा और आँखें लाल हो गईं। यह देख चीलनी ने स्वामी से कहा—"स्वामी! उक्कुस-राज बहुत थक गया है। इसे थोड़ा विश्राम देने के लिये जाकर कच्छप-राज को कह।" उसने उसकी बात सुन उक्कुस के पास जा गाथा कही—

यं होति किच्चं अनुकम्पकेन
अरियस्स अरियेन कतं तवयिदं,
अत्तानुरक्खी भव मा अडय्ह
लच्छाम पुत्ते तयि जीवमाने ॥४॥

[जो दयालु के करने योग्य कार्य्य होता है वह तुम आर्य्य ने आर्य्य के लिये कर दिया। अब आप अपनी रक्षा करें, अपने को और न जलायें। आप जीते रहेंगे तो हमें हमारे पुत्र मिल जायेंगे ॥४॥

उसने उसकी बात सुन सिंहनाद करते हुए पाँचवीं गाथा कही—

तवेव रक्खावरणं करोन्तो
सरीरभेदापि न सन्तसामि,
करोन्ति हेते सखिनं सखारो
पाणं चजन्ति सतं एस धम्मो ॥५॥

[तुम्हारी रक्षा करते हुए यदि मेरा शरीर भी जाता रहे तो मुझे त्रास नहीं है। मित्र मित्रों के लिये ऐसा करते ही हैं। सत्पुरुषों का यह धर्म ही है कि वे प्राणों का भी त्याग कर देते हैं ॥५॥]

छठी गाथा तो शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर उसकी प्रशंसा करते हुए कही—

सुदुक्करं कम्मं अका अण्डजायं विहङ्गमो
अत्थाय कुररोपुत्ते अड्ढरत्ते अनागते ॥६॥

[उक्कुस-राज पक्षी ने चील के पुत्रों के लिये आधीरात तक परिश्रम करते रह कर बड़ा दुष्कर कार्य्य किया ॥६॥]

चील ने भी "मित्र उक्कुस! थोड़ी देर विश्राम ले" कहा, कछुवे के पास गया और उसे उठाया। कछुए ने पूछा—"मित्र! क्यों आया है?" "ऐसा खतरा पैदा हो गया, उक्कुस-राज प्रथम याम से परिश्रम करता हुआ कष्ट पा रहा है, इसलिए मैं तेरे पास आया हूँ" कह उसने सातवीं गाथा कही—

चुतापि एके खलितस्सकम्मुना
सित्तानुकम्पाय पतिट्ठहन्ति,
पुत्ता मं अट्टा, गतिं आगतोस्मि,
अत्थं चरेथ मम वारिछन्न ॥७॥

[कोई-कोई अपने कर्म से स्खलित होते हुए मित्रों की सहायता करते हैं। मेरे पुत्र कष्ट में हैं। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। हे कछुवे! मेरा अर्थ करें ॥७॥]

यह सुन कछुवे ने दूसरी गाथा कही—

धनेन धञ्ञेन च अत्तना वा
मित्तं सहायञ्च करोन्ति पण्डिता,
करोमि ते सेनक एतमत्थं,
अरियो हि अरियस्स करोति किच्चं ॥८॥

[पण्डित-जन धन-धान्य से तथा आत्म-त्याग से भी मित्र की सहायता करते हैं। हे चील! मैं तेरा यह काम करूँगा। आर्य ही आर्य के काम आता है ॥८॥]

थोड़ी ही दूर पड़े हुए उसके पुत्र ने पिता का वचन सुना तो उसने सोचा—मेरा पिता कष्ट न पाये, मैं पिता का काम करूँगा। उसने नौवीं गाथा कही—

अप्पोसुक्को तात तुवं निसीद
पुत्तो पितु चरति अत्थचरियं,
अहं चरिस्सामि तवेतं अत्थं
सेनस्स पुत्ते परितायमानो॥९॥

[तात! तू उत्सुकता रहित होकर बैठ। पुत्र पिता का काम करता है। मैं चील के पुत्र का त्राण करता हुआ तुम्हारा यह काम करूँगा॥९॥]

पिता ने उसे गाथा कही—

अद्धाहि तात सतं एस धम्मो
पुत्तो पितु यं चरेथ अत्थचरियं,
अप्पेव मं दिस्वा पवद्धकायं
सेनस्स पुत्ता न विहेठयेय्युं॥१०॥

[तात! निश्चय से यह सत्पुरुषों का धर्म है कि पुत्र पिता का काम करे। लेकिन सम्भव है कि मेरे बड़े शरीर को देख कर जंगली आदमी चील के बच्चों को कष्ट न दें॥१०॥]

यह कह बड़े कछुवे ने उसे विदा किया—"मित्र! डर मत। तू आगे आगे चल। मैं पीछे आता हूँ।" उसने पानी में गिर, गारा निकाला और द्वीप में पहुँच अग्नि बुझा डाली। जंगली आदमियों ने सोचा—"हमें चील के बच्चों से क्या! इस काणे कछुवे को पलट कर मारेंगे। यह हम सब के लिए पर्य्याप्त होगा।" उन्होंने कुछ लतायें लीं और रस्सी तथा पहने हुए चीथड़े ले उन्हें जहाँ-तहाँ बाँधा। किन्तु वह कछुवे को पलटा न सके। कछुआ उन्हें खींचता हुआ ले गया और जाकर गहरे पानी में पड़ा। वे भी कछुवे के लोभ से उनके साथ ही गिरे। उनके पेट में पानी चला गया। वे दुखी होकर बाहर निकले और 'भो! एक उक्कुस ने आधी रात तक मशाल बुझाई, अब इस कछुवे ने पानी में गिरा कर पानी पिलाया और हमें महोदर बना दिया, हम फिर आग जलायेंगे और अरुणोदय हो जाने पर भी चील के बच्चों को खायेंगे' सोच आग जलाना आरम्भ किया। चीलनी बोली—"स्वामी! यह किसी-न-किसी समय हमारे बच्चे खाकर ही जायेंगे। अपने मित्र सिंह के पास जा।" वह उसी क्षण उसके पास पहुँचा। "क्यों असमय में

गाया है?" पूछने पर उसने आरम्भ से सारा वृत्तान्त सुना ग्यारहवीं गाथा कही—

> पसू मनुस्सा मिगविरियसेट्ठ
> भयद्दिता सेट्ठं उपब्बजन्ति
> पुत्ता मं अट्टा, गतिं आगतोस्मि,
> त्वं नो सि राजा, भव मे सुखाय॥११॥

[हे मृगवीर्य्य श्रेष्ठ ! जितने पशु तथा मनुष्य हैं वे भयत्रस्त होने पर श्रेष्ठ के पास पहुँचते हैं। मेरे पुत्र दुखी हैं। मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। तू हमारा राजा है। हमारे सुख के लिए हो॥११॥]

यह सुन सिंह ने गाथा कही—

> करोमि ते सेनक एतमत्थं
> आयाम तं ते दिसतं बधाय,
> कथं हि विञ्ञू बहुसम्पजानो
> न वायमे अत्तजनस्सगुत्तिया॥१२॥

[हे चील ! मैं तेरा यह काम करता हूँ। आ, तेरे शत्रु के समूह के वध के लिये चलें। जो विज्ञ हैं, जो बहुत जानकार हैं वह आत्म-सदृश जन की रक्षा के लिये कैसे प्रयत्न नहीं करेगा?॥१२॥]

यह कह उसे बिदा किया—तू चल कर पुत्रों को सान्त्वना दे। सिंह मणि-वर्ण पानी को मर्दित करता हुआ चला। जंगली आदमियों ने उसे आता देखा तो सोचने लगे—"उक्कुस ने हमारी मशाल बुझा दी, कछुवे ने हमारे पहने चीथड़े भी हमसे छुड़ाये, अब तो हम गये—सिंह हमारी जान ही लेगा।" वे मृत्यु-भय के कारण जहाँ तहाँ भाग गये। सिंह ने आकर वृक्ष के नीचे कुछ नहीं देखा। उसके पास उक्कुस, कछुवा तथा चील आये और उसे प्रणाम किया। उसने उन्हें मैत्री का माहात्म बताया और यह कह कर कि अब से अप्रमादी होकर मैत्री-धर्म को अखण्ड रूप से निबाहो, चला गया। वे भी अपनी-अपनी जगह गये। चीलनी ने अपने पुत्रों को देखते हुए 'मित्रों के कारण हमें बच्चे मिले' सोच सुख पूर्वक रहने के समय चील के साथ बात करते हुए मित्र-धर्म को प्रकाशित करने वाली छः गाथायें कहीं—

मित्तञ्च कयिराथ सखा धरञ्च,
अयिरञ्च कयिराथ सुखेहि अयिरो,
निवत्थकोजोव सरे भिहन्त्वा
मोदाम पुत्तेहि समङ्गिभूता॥१३॥

[मित्र बनाये, सहायक बनाये, आर्य को चाहिये कि आर्य बनाये। जिस प्रकार कवच-धारी बाण से बच जाता है उसी प्रकार हम पुत्रों के साथ सुख पूर्वक रहते हैं॥१३॥]

सकमित्तस्स कम्मेन सहायस्सापलायिनो
कूजंतं उपकूजन्ति लोमसा हदयङ्गमं॥१४॥

[न भागने वाले अपने मित्र के पराक्रम से हम पक्षी मधुर-स्वर से आवाज करते हैं॥१४॥]

मित्तं सहायं अधिगम्म पण्डितो
सो भुञ्जती पुत्त पसुं धनं वा,
अहञ्च पुत्ता च पती च मय्हं
मित्तानुकम्पाय समङ्गिभूता॥१५॥

[मित्र की सहायता पाकर पण्डित आदमी पुत्र, पशु वा धन को प्राप्त होता है। मैं, पुत्र, और मेरा पति—हम मित्र की कृपा से एक जगह इकट्ठे हैं॥१५॥]

राजावता सूरवता च अत्थो
सम्पन्नसखिस्स भवन्तहेते,
यो मित्तवा यसवा उग्गतत्तो
अस्मिं च लोके मोदति कामकामी॥१६॥

[जो राजा वाला है, जो शूर-वाला है उसके अर्थ सिद्ध होते हैं। जो मित्र-धर्म से पूर्ण है, उसी के ये होते हैं। हे कामकामी! जो मित्रवान है, जो यशस्वी है, जो श्रीमान् है वह इस लोक में आनन्द मनाता है॥१६॥]

करणीयानि मित्तानि दलिद्देनापि सेनक
पस्स मित्तानुकम्पाय समग्गम्हा सञातके॥१७॥

[हे चील! दरिद्र को भी मित्र बनाने चाहिए। देख मित्र की कृपा से ही हम बच्चों के साथ इकट्ठे हैं॥१७॥]

सूरेन बलवन्तेन यो मेत्तिं कुरुते दिजो,
एवं सो सुखितो होति यथाहं त्वं च सेनक ॥१८॥

[हे चील, जो बलवान तथा शूर के साथ मैत्री करता है, वह उसी तरह सुखी होता है, जैसे मैं और तू ॥१८॥]

इस प्रकार उसने छः गाथाओं से मित्रधर्म की प्रशंसा की। वे सब मित्र जब तक जीते रहे अखण्ड रूप से मित्र-धर्म का पालन करते रहे और यथा-कर्म (परलोक) गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओ, न केवल अभी वह भार्य्या के कारण सुख को प्राप्त हुआ, पहले भी सुख को प्राप्त हुआ ही है" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय चील और चीलनी पति-पत्नी थे, पुत्र-कछुआ राहुल, पिता मौद्गल्यायन, उक्कुस सारिपुत्र, सिंह तो मैं ही था।

---

४८७. उद्दालक जातक

"खराजिना जटिला पङ्कदन्ता।..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक ढोंगी के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

यह ऐसे कल्याणकारी-शासन में प्रव्रजित होकर भी चारों आवश्यकताओं के लिए तीन प्रकार से ढोंग करता था। उसकी निन्दा करते हुए भिक्षुओं से धर्मसभा में बात चलाई—"आयुष्मानो! अमुक भिक्षु इस प्रकार के कल्याणकारी बुद्धशासन में प्रव्रजित होकर भी ढोंग करके जीविका चलाता है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओं! बैठे क्या बात-चीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत।" "न केवल अभी भिक्षुओं, यह ढोंगी है, यह पहले भी ढोंगी ही रहा है" कह पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उसका पुरोहित हुआ—पण्डित, मेधावी। वह एक दिन उद्यान-क्रीड़ा के लिये गया और वहाँ एक सुन्दर गणिका को देख उस पर आसक्त हो उसके साथ सहवास किया। उसे उससे गर्भ रह गया। जब उसे पता लगा कि गर्भ रह गया तो बोली—"स्वामी! मुझे गर्भ रह गया है। उत्पन्न होने पर नाम रखा जाता है। मैं 'आर्यक' का नाम रखना चाहती हूँ।" उसने सोचा कि वेश्या के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण इसे कुल का नाम तो दिया नहीं जा सकता, इसलिए बोला—"भद्रे! यह वायु की चोट खाने वाला वृक्ष है। इसका नाम है उद्दाल। यहाँ मिलने से इसका नाम उद्दालक रखना।" उसने उसे अपनी अँगूठी देकर कहा—"यदि लड़की हो तो उसका पालन करना, यदि पुत्र हो तो उसे बड़ा होने पर मुझे दिखाना।" आगे चलकर उसे पुत्र हुआ। उसका नाम उद्दालक रखा। उसने बड़े होने पर माँ से पूछा—माँ! मेरा पिता कौन है? "तात! पुरोहित।" "यदि ऐसा है तो 'वेद' सीखूँगा"

कह माता के हाथ से अँगूठी और आचार्य्य-भाग ले तक्षशिला पहुँचा। वहाँ प्रसिद्ध आचार्य्य के पास विद्या सीखते समय उसने एक तपस्वी मण्डली देखी। उसने सोचा—इनके पास श्रेष्ठ विद्या होगी। वह सीखूंगा।

विद्या के लोभ से वह प्रव्रजित हो गया और उनकी सेवा सुश्रूषा कर बोला—आचार्य्यों! जो विद्या तुम जानते हो, वह मुझे सिखाओ। उन्होंने जैसे स्वयं जानते थे वैसे उसे सिखाया। पाँच सौ तपस्वियों में से कोई एक भी उससे बढ़कर प्रज्ञावान नहीं था। वह ही उनमें सबसे अधिक प्रज्ञावान था। उन्होंने इकट्ठे हो उसे ही 'आचार्य्य' का पद दिया। उसने उन्हें पूछा—"मित्रो! तुम सदैव फल मूल खाते हुए जंगल में ही रहते हो, बस्ती में क्यों नहीं जाते?"

"मारिष! मनुष्य का दान देकर दानानुमोदन कराते हैं। धर्म-कथा कहलवाते हैं तथा प्रश्न पूछते हैं। हम इसी भय से वहाँ नहीं जाते।"

"मित्रो! यदि चक्रवर्ती राजा भी हो तो तुम मुझे लेकर आगे कर देना। उससे बातचीत करने का भार मुझ पर रहा। तुम मत डरो।" वह उनके साथ चारिका करता हुआ क्रमशः वाराणसी पहुँचा। वहाँ राजोद्यान में रह, अगले दिन सब के साथ द्वार-ग्राम में भिक्षाटन किया। लोगों ने बहुत दान दिया। तपस्वी फिर अगले दिन नगर में प्रविष्ट हुए। आदमियों ने महादान दिया। 'उद्दालक तपस्वी दानानुमोदन करता है, मंगल-प्रवचन करता है, प्रश्नों का उत्तर देता है' सोच लोगों ने श्रद्धावान हो बहुत सी वस्तुएँ दीं। सारा नगर चंचल हो उठा—पण्डित, गण-शासक धार्मिक तपस्वी आया है। राजा को भी यह सूचना दी गई। राजा ने पूछा—वे कहाँ रहते हैं? उत्तर मिला, "उद्यान में।" "अच्छा, आज उनके दर्शन के लिये जाऊँगा।" किसी ने जाकर उद्दालक से कहा—"राजा तुम्हें देखने के लिये आता है।" उसने ऋषि-मण्डली को बुलाकर कहा—"राजा आ रहा है। ऐश्वर्य्य-शालियों को एक दिन प्रसन्न कर लिया जाय तो फिर जीवन भर पर्य्याप्त रहता है।"

"आचार्य्य! क्या करना चाहिये?"

"तुममें से कुछ चिमगादड़-व्रत[1] करो। कुछ उकड़ूँ बैठो। कुछ

१. चिमगादड़ की तरह उलटे लटको।

काँटों की शैय्या पर लेटो। कुछ पंचाग्नि-ताप तपो। कुछ पानी में उतरो। कुछ जहाँ तहाँ बैठ कर मन्त्रों का जाप करो।" उन्होंने वैसा किया। स्वयं वह आठ दस पण्डित-वादियों को ले, मनोहर घोड़ी पर पुस्तक रख, शिष्यों से घिरा हुआ, बिछे हुए सराहने वाले आसन पर बैठा। उस समय राजा पुरोहित को साथ ले, बड़े ठाट-बाट के साथ पहुँचा और उन्हें "मिथ्या-तप" करते देख प्रसन्न हुआ कि ये लोग नरक-भय से मुक्त हैं। वह उद्दालक के पास पहुँचा, कुशल-क्षेम पूछी और एक ओर बैठा। उसने प्रसन्न हो पुरोहित के साथ बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

खराजिना जटिला पङ्कदन्ता
दुम्मुखरूपा ये मे जयन्ति
कच्चि नु ते मानुसके पयोगे
इदं विदू परिमुत्ता अपाया ॥१॥

[ये जो खुरदरा अजिन-चर्म ओढ़े हैं, ये जो जटायें बढ़ाये हैं, ये जो मैले दाँत वाले हैं, ये जो भद्दी शकल वाले हैं, ये जो (मन्त्र) जाप करते हैं, हे आचार्य्य! क्या यह मनुष्य-कर्त्तव्य कर, इस ज्ञान से नरक (भय) से मुक्त हैं? ॥१॥]

यह सुन पुरोहित ने 'यह राजा अयोग्य स्थान में श्रद्धावान् हुआ है, यहाँ चुप रहना उचित नहीं' सोच दूसरी गाथा कही—

पापानि कम्मानि करोथ राज
बहुस्सुतो चे न चरेय्य धम्मं
सहस्सवेदो पि न तं पटिच्च
दुक्खा पमुञ्चे चरणं अपत्वा ॥२॥

[हे राजन्! यदि बहुत श्रुत धर्माचरण न करे और पाप-कर्म करे तो सहस्र वेदज्ञ भी बिना आचरण किये अपने वेद-ज्ञान के कारण दुःख से मुक्त नहीं होता ॥२॥]

उसकी बात सुन उद्दालक ऋषि ने सोचा—"राजा जैसे तैसे ऋषि-मण्डली पर श्रद्धावान हुआ, किन्तु यह ब्राह्मण अति-चण्ड बैल की नाक पर प्रहार करता है, परोसी-थाली में कूड़ा फेंकता है। मैं इसके साथ बात करूँगा।" उसने उससे बातचीत करते हुए तीसरी गाथा कही—

सहस्सवेदो पि न तं पटिच्च
दुक्खा पमुञ्चे चरणं अपत्वा
मञ्ञामि वेदा अफला भवन्ति,
ससंयमं चरणं एव सच्चं ॥३॥

[सहस्र वेदज्ञ भी, बिना धर्माचरण किये, उस वेद-ज्ञान के कारण यदि दुःख से मुक्त नहीं होता, तो मैं समझता हूँ कि वेद निष्फल है, एक मात्र संयम-युक्त आचरण ही सत्य है ॥३॥]

तब पुरोहित ने चौथी गाथा कही—

न हेव वेदा अफला भवन्ति,
ससंयमं चरणं एव सच्च,
कित्ति हि पप्पोति आधिच्च वेदे
सन्ति पुनेति चरणेन दन्तो ॥४॥

[मैं वेदों को निष्फल नहीं करता हूँ, संयमयुक्त धर्माचरण तो सत्य है ही। वेदज्ञ कीर्ति प्राप्त करता है, धर्माचरण से युक्त संयमी पुरुष शान्ति पाता है ॥४॥]

यह सुन उद्दालक ने सोचा—"मैं इसके साथ विरोधी बन कर नहीं ठहर सकता। 'तेरा पुत्र हूँ' कहने पर स्नेह न करने वाला कोई नहीं है। मैं इसे 'पुत्र होने की' सूचना दूँगा।" उसने पाँचवीं गाथा कही—

मच्चा माता पिता बन्धू
येन जातो स येव सो,
उद्दालको अहं भोतो
सोत्थियाकुल बंसको ॥५॥

[माता-पिता और बन्धुओं का पालन-पोषण करना चाहिये। जिससे जो पैदा होता है, वह वही होता है। मैं आपके ही श्रोतृ कुल-वंश का उद्दालक हूँ ॥५॥]

"क्या तू निश्चय से उद्दालक है?"

"हाँ।"

"मैंने तेरी माँ को एक निशानी दी थी, वह कहाँ है?"

"ब्राह्मण! यह है।" कह उसने उसके हाथ में अँगूठी रख दी।

ब्राह्मण ने अँगूठी पहचान "निश्चय से तू ब्राह्मण है, किन्तु क्या ब्राह्मण-धर्म जानता है?" कह ब्राह्मण-धर्म पूछते हुए छठी गाथा कही--

कथ भो ब्राह्मणो होति, कथं भवति केवली,
कथं च परिनिब्बानं धम्मट्ठो कि ति वुच्चति ॥६॥

[भो! ब्राह्मण कैसे होता है, 'केवली' कैसे होता है, निर्वाण प्राप्त कैसे होता है और धर्म-स्थित किसे कहते हैं? ॥६॥]

उद्दालक ने उसे उत्तर देते हुए सातवीं गाथा कही—

निरं कत्वा अग्गिं आदाय ब्राह्मणो
आपो सिञ्चं यजं उस्सेति यूपं,
एवंकरो ब्राह्मणो होति खेमी
धम्मे ठितं तेन अमापयिंसु ॥७॥

[निरन्तर (यज्ञ) अग्नि लेकर ब्राह्मण अभिसिञ्चन करता हुआ यज्ञ के लिए यूप खड़ा करता है। ऐसा करने वाले ब्राह्मण का कल्याण होता है। इसी से उसे धर्म-स्थित कहते हैं ॥७॥]

यह सुन पुरोहित ने उसके बताये ब्राह्मण-धर्म की निन्दा करते हुए आठवीं गाथा कही—

न सुद्धी सेचनेन अत्थि न पि केवली ब्राह्मणो,
न खन्ति न पि सोरच्चं, न पि सो परिनिब्बुतो ॥८॥

[अभिसिञ्चन आदि से न शुद्धि होती है, न ब्राह्मण 'केवली' होता है, न उसे क्षमा होती है, न उसे संयम होता है और न वह परिनिर्वृत्त होता है ॥८॥]

तब उद्दालक ने 'यदि ऐसे ब्राह्मण नहीं होता तो कैसे होता है?' पूछते हुए नौवीं गाथा कही—

कथं सो ब्राह्मणो होति, कथं भवति केवली,
कथञ्च परिनिब्बानं धम्मट्ठो कि ति वुच्चति ॥९॥

[वह ब्राह्मण कैसे होता है, 'केवली' कैसे होता है, परिनिर्वाण-प्राप्त कैसे होता है और धर्म-स्थित कैसे कहलाता है? ॥९॥

पुरोहित ने उसे कहते हुए अगली गाथा कही—

अखेत्तबन्धू अममो निरासो
निल्लोभपापो भवलोभखीणो
एवं करो ब्राह्मणो होति खेमी
धम्मे ठितं तेन अमापयिंसु ॥१०॥

जिसके पास न खेत आदि हैं, जिसका न कोई बन्धु है, जिसकी न किसी से ममता है, जिसे न किसी चीज की आशा है, जिसे किसी प्रकार का पाप-लोभ नहीं है, जो संसार के लोभ से रहित है—ऐसा करने वाला ब्राह्मण होता है, ऐसा करने वाले का कल्याण होता है, ऐसा करने वाले को धर्म-स्थित कहते हैं॥१०॥]

तब उद्दालक ने गाथा कही—

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा
सब्बेव सोरता दन्ता सब्बेव परिनिब्बुता
सब्बेसं सीतिभूतानं अत्थि सेय्योव पापियो॥११॥

[क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी संयत होते हैं, सभी दान्त होते हैं तथा सभी परिनिर्वाण प्राप्त होते हैं। क्या सभी शान्त हुओं का कल्याण ही होता है? क्या किसी का बुरा होता है वा नहीं? ॥११॥]

'अर्हत्व प्राप्ति होने पर फिर नीच-ऊँच नहीं रहता' दिखाते हुए ब्राह्मण ने गाथा कही—

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा
सब्बेव सोरता दन्ता सब्बेव परिनिब्बुता,
सब्बेसं सीतिभूतानं नत्थि सेय्योव पापियो॥१२॥

[क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी (यदि) संयत होते हैं, दान्त होते हैं तथा परिनिर्वाण-प्राप्त होते हैं तो सभी शान्ति-प्राप्तों का कल्याण भी होता है, बुरा नहीं होता॥१२॥]

उसकी निन्दा करते हुए उद्दालक ने दो (?) गाथायें कहीं—

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा
सब्बेव सोरता दन्ता सब्बेव परिनिब्बुता

सब्बेसं सोत्तिभूतानं नत्थि सेय्योव पापियो,
पनट्ठं चरति ब्राह्मञ्ञं सोत्थिया कुलवंसतं ॥१३॥

[यदि क्षत्रिय, ब्राह्मण....सभी का कल्याण ही होता है, बुरा नहीं होता तो श्रोत्रिय वंश तथा ब्राह्मण्य नष्ट होता है ॥१३॥]

उसे पुरोहित ने उपमा से समझाते हुए दो गाथायें कहीं—

नानारत्तेहि वत्थेहि विमानं भवति छादितं,
न तेसं छाया वत्थानं, सो रागो अनुपज्जथ ॥१४॥
एवमेवं मनुस्सेसु सदा सुज्झन्ति मानवा
न तेसं जाति पुच्छन्ति धम्मं अञ्ञाय सुब्बता ॥१५॥

[नाना प्रकार के वस्त्रों से मण्डप छाया जाता है, किन्तु उन (वस्त्रों) की छाया में (वस्त्रों के) रंग नहीं दिखाई देते ॥१४॥ इसी प्रकार मनुष्यों में (सभी) मानव सदा शुद्ध होते रहते हैं। धर्म के जानकार संयमी-जन उनकी जाति नहीं पूछते ॥१५॥]

उद्दालक उसे पीछे न हटा सकने के कारण हत-प्रतिभ होकर बैठ गया—तब ब्राह्मण ने राजा से कहा—"महाराज! ये सभी ढोंगी हैं। ये सारे जम्बुद्वीप का ढोंग से ही नाश कर देंगे। उद्दालक को गृहस्थ बना इसे उप-पुरोहित बना लें। शेष जनों को भी गृहस्थ बना डाल और शस्त्र दे अपने सेवक बना लें।" "आचार्य्य! अच्छा" कह राजा ने वैसा किया। वे राजा की सेवा करते रहकर ही (परलोक) गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, न केवल अभी, यह पहले भी ढोंगी ही था" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय उद्दालक ढोंगी भिक्षु था, राजा आनन्द. पुरोहित तो मैं ही था।

४८८. भिस जातक

"अस्सं गवं रजतं जातरूपं······"यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते हुए उद्विग्न-चित्त-भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

(कथा—) वस्तु कुस[1] जातक में आयेगी। उस समय शास्ता ने पूछा—"भिक्षु ! क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है?" "भन्ते ! सचमुच" "किस कारण से?" "भन्ते ! काम-राग के कारण।" "भिक्षु ! इस प्रकार के कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित हो तू क्यों काम-राग के कारण उद्विग्न-चित्त हुआ? पुराने पण्डितों ने, जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे उस समय, बाहरी प्रव्रज्या ग्रहण कर, लोभ तथा कामुकता के कारण उत्पन्न संज्ञा को, शपथ ग्रहण कर दूर किया" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व अस्सी करोड़ धन वाले महा ऐश्वर्य्यशाली ब्राह्मण का पुत्र होकर पैदा हुआ। उसका नाम रखा गया महाकञ्चन कुमार। जब वह पाँव से चलने योग्य हुआ तब एक दूसरे पुत्र ने भी जन्म लिया। उसका नाम उपकञ्चनकुमार रखा गया। इस प्रकार क्रमशः सात पुत्र हुए। सब से छोटी एक लड़की हुई। उसका नाम कञ्चनदेवी रखा गया। महाकञ्चनकुमार बड़ा हो तक्षशिला से सब शिल्प सीख आया। उसके माता पिता ने उसकी गृहस्थी बसाने के उद्देश्य से कहा—"अपने समान जाति-कुल से लड़की ले आते हैं। अब तू घर बसा।"

"अम्मा-तात ! मुझे घर नहीं बसाना है। मुझे तीनों भव जलते हुए से, भयानक बन्धनागार से लगते हैं, कूड़ा फेंकने की जगह के समान घृणित लगते हैं, मैंने स्वप्न में भी मैथुन-धर्म का सेवन नहीं किया है, तुम्हारे

---

१. कुस जातक (५३१)।

दूसरे भी पुत्र हैं, उन्हें घर बसाने के लिये कहें।"

उसे बार-बार कहा गया। उसके मित्रों द्वारा कहलाया गया। किन्तु उसने इच्छा प्रकट नहीं की। तब उसके मित्रों ने पूछा--"मित्र तू किस चीज की आशा से काम-भोग नहीं चाहता है?" उसने उन्हें नैष्क्रमण की बात कही। यह सुन उसके माता पिता ने शेष पुत्रों को बुलाया। उन्होंने भी नहीं चाहा। कञ्चनदेवी ने भी इच्छा नहीं ही की। आगे चलकर माता-पिता का शरीरान्त हो गया। महाकञ्चन पण्डित ने माता-पिता के प्रति जो कर्त्तव्य था वह करके अस्सी करोड़ धन से दरिद्रों तथा राहियों को महादान दिया। फिर छः भाई-बहन, एक दास, एक दासी और मित्र को लेकर महान् अभिनिष्क्रमण कर हिमालय में प्रवेश किया! वे वहाँ कमल-सरोवर के पास रमणीय भूमि-प्रदेश में आश्रम बना, प्रव्रजित हो, बन के फल-मूल से गुजारा करने लगे।

वे जंगल जाते तो इकट्ठे ही जाते। जहाँ एक जना फल या पत्ते देखता वहाँ दूसरों को भी बुला लेता। वे सब देखा-सुना बतियाते हुए चुगते ऐसा ही हो जाता जैसे गाँव की मण्डी हो। तब आचार्य्य महाकञ्चन तपस्वी ने सोचा—'हमारे लिये यह अनुचित है कि हम अस्सी करोड़ धन छोड़कर प्रव्रजित हुए और अब फलाफल के लिये इस प्रकार लोभी बने घूमते हैं। अब से मैं ही फलाफल लाया करूँगा।" उसने आश्रम लौट सभी को बुलाया और वह बात समझाकर कहा—"तुम यहीं रहकर श्रमण-धर्म करो। मैं ही फलाफल लाया करूँगा।" तब उपकञ्चन आदि बोले—"आचार्य्य! हम आपके कारण प्रव्रजित हुए, आप यहीं श्रमण-धर्म करें। हमारी बहिन भी यहीं रहे। दासी भी उसके पास रहे। हम आठ जने बारी-बारी फलाफल लायेंगे। आप तीनों जने बारी से मुक्त रहेंगे।" उन सबने ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की। तब आठ-आठ जनों में से एक-एक जना बारी-बारी फलाफल लाता, शेष अपना अपना हिस्सा ले, निवास-स्थान पर जा, अपनी पर्ण-कुटी में ही रहते। अकारण इकट्ठे न हो सकते। जिसकी बारी होती वह फलाफल लाता और—वहाँ एक चहारदीवारी थी—पत्थर की शिला पर रख ग्यारह हिस्से करता। फिर घंटी की आवाज कर, अपना हिस्सा ले, निवास-स्थान को चला जाता। शेष घंटी की आवाज से बाहर आ, बिना किसी

चपलता के, सगौरव जाते और अपना अपना हिस्सा ला, निवास-स्थान पर आ, खाकर, श्रमण-धर्म करते। आगे चलकर वह भिस लाते और उसी को खाकर घोर तपस्या करते। वे इन्द्रियों के दमन-पूर्वक योगाभ्यास करते हुए रहने लगे।

उनके सदाचार की तेजस्विता से शक्र का भवन काँपा। 'ये कामनाओं से विमुक्त ऋषि हैं?'—यह शक्र को शङ्का हुई। उसने सोचा कि इनके ऋषि होने की परीक्षा करूँगा। उसने अपने प्रताप से बोधिसत्व के हिस्से का तीन दिन लोप कर दिया। उसने पहले दिन जब अपना हिस्सा न देखा तो सोचा—मेरा हिस्सा भूल गया होगा। दूसरे दिन सोचा—मेरा कुछ दोष हो गया होगा, प्रणाम-पूर्वक उसने मेरा हिस्सा नहीं रखा। तीसरे दिन उसने शाम को घंटी बजाई, सोचा—किस कारण से मेरा हिस्सा नहीं रखते? यदि मुझसे कोई दोष हुआ है तो मैं क्षमा माँग लूँगा। सबने इकट्ठे होकर पूछा—घंटी किसने बजाई? "तात! मैंने।" "आचार्य्य! किस कारण?" "तात! तीसरे दिन कौन फलाफल लाया था?" एक ने उठकर प्रणाम किया और खड़े होकर कहा—"आचार्य्य! मैं लाया।"

"जब तूने हिस्सा बाँटा था, तो मेरा हिस्सा रखा था?"

"हाँ आचार्य्य! मैंने बड़ा हिस्सा रखा था।"

"कल कौन लाया?"

दूसरे ने उठकर प्रणाम किया और कहा—"मैं।"

"मुझे याद किया था?"

"आप के लिये मैंने बड़ा हिस्सा रखा था।"

"आज कौन लाया था?"

दूसरा उठा और प्रणाम करके खड़ा हुआ।

"हिस्सा लगाते समय मुझे याद किया था?"

"आपके लिए बड़ा हिस्सा रखा था।"

"तात! आज तीन दिन से मुझे हिस्सा नहीं मिला है। पहले दिन हिस्सा न देख सोचा, हिस्सा बाँटने वाला मुझे भूल गया होगा, दूसरे दिन मुझसे कोई दोष हो गया होगा। आज तीसरे दिन यह सोच कि यदि अपराध हो गया हो तो तुमसे क्षमा माँगूंगा, तुम्हें घंटी बजाकर एकत्र किया। ये

भिस के हिस्से तुम कहते हो कि तुमने किये हैं, किन्तु मुझे नहीं मिले। मालूम होना चाहिए कि इन्हें चुराकर कौन खाने वाला है? यह बहुत अनुचित है कि कामभोग छोड़कर प्रव्रजित हुये और अब केवल भिस की चोरी हो!" उन्होंने उसकी बात सुनी तो सोचा—ओह! दुस्साहस। सभी को बड़ा संवेग हुआ। उस आश्रम में ज्येष्ठ-वृक्ष पर रहने वाला देवता भी उतर आकर उन्हीं के पास बैठा। मृत-वत होने का तमाशा दिखाने में होने वाले कष्ट को न सह सकने के कारण अपने स्थान से भागकर जंगल में आया हुआ एक हाथी समय समय पर ऋषि-मण्डली को नमस्कार करता था। वह भी आकर एक ओर खड़ा हो गया। साँप के साथ खेलने वाला एक बानर सपेरे के हाथ से छूट जंगल में चला आया था। वह भी वहीं रहता था। वह भी उस दिन ऋषि-गण को प्रणाम कर एक ओर बैठा। शक्र भी ऋषि-गण की परीक्षा लेने के लिये अदृश्य हो एक ओर खड़ा हुआ। उस समय बोधिसत्व के छोटे भाई उपकञ्चन तपस्वी ने बोधिसत्व की वन्दना कर तथा औरों के प्रति भी आदर प्रदर्शित कर पूछा—"आचार्य्य! क्या मैं दूसरों की बात न कह केवल अपनी निर्दोषता प्रमाणित कर सकता हूँ।"

"हाँ! कर सकता है।"

उसने ऋषि-गण के सामने खड़े हो "यदि मैंने तेरी भिसें खाई हों तो मैं ऐसा हो जाऊँगा" कहते हुए शपथ की और यह गाथा कही—

अस्सं गवं रजतं जातरूपं
भरियञ्च सो इध लभतं मनापं
पुत्तेहि दारेहि समङ्गि होतु
भिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि॥१॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हो उसे अश्व, घोड़े, चान्दी, सोना, सुन्दर-भार्या मिले। वह पुत्र-दारा से युक्त हो। (अर्थात् उसे इन प्रिय-वस्तुओं के वियोग से होने वाला दुःख सहना पड़े।) ॥१॥]

यह सुन ऋषि-गण ने कानों पर हाथ रखे—"मारिष! ऐसा मत कहो। तुम्हारी शपथ बहुत भारी है।" बोधिसत्व ने भी कहा—"तात! तुम्हारी शपथ बहुत भारी है। तुमने नहीं खाई। तुम अपने बिछे आसन पर बैठो।" उसके शपथ ग्रहण कर बैठने पर दूसरे भाई ने भी उठकर बोधिसत्व

को प्रमाण किया और शपथ-पूर्वक अपनी निर्दोषता प्रमाणित करते हुए दूसरी गाथा कही—

मालं च सो कासियं चंदनञ्च
धारेतु पुत्तस्स बहू भवन्ति
कामेसु तिब्बं कुरुतं अपेक्खं
भिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥२॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह काशी की मालाएँ और चन्दन धारण करे। उसके बहुत से पुत्र हों। वह काम-भोगों के प्रति तीव्र अनुरागी हो ॥२॥]

उसके बैठने पर शेष लोगों ने भी अपने-अपने विचारानुसार वह-वह गाथा कही—

पहूतधञ्ञो कसिमा यसस्सी
पुत्ते गिही धनिमा सब्बकामे
वयं अपस्सं घरं आवसातु
भिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥३॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह बहुत धन वाला हो, खेती वाला, ऐश्वर्य्यवान हो, उसके पुत्र हों, वह गृहस्थ हो, वह धनवाला हो, उसे सब काम-भोग प्राप्त हों और वह अपनी आयु की ओर भी न देखता हुआ घर में ही रहे ॥३॥]

सो खत्तियो होतु पसय्हकारी
राजाभिराजा बलवा यसस्सी
स चातुरंतं महिं आवसातु
भिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥४॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह जोरावर क्षत्रिय हो, वह बलवान्, यशस्वी राजाओं का भी राजा हो। वह चतुर्दिक पृथ्वी का मालिक हो ॥४॥]

सो ब्राह्मणो होतु अवीतरागो
मुहुत्तनक्खत्त पथेसु युत्तो

पूजेतु नं रट्ठपती यसस्सी
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥५॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हों वह अवीतराग हो, वह मुहूर्त और नक्षत्रों का मानने वाला हो, उसकी यशस्वी राजा पूजा करता हो ॥५॥]

अज्झायकं सब्बसमत्तवेदनं
तपस्सिनं मञ्ञतु सब्बलोको
पूजेतु नं जानपदा समेच्च
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥६॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हों उसे सारे लोक सब वेदों को समाप्त कर उन्हें पढ़ाने वाले तपस्वी मानें। उसे जनपद के सभी लोक आकर पूजें ॥६॥]

चतुस्सदं गामवरं समिद्धं
दिन्नं हि सो भुञ्जतु वासवेन
अवीतरागो मरणं उपेतु
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥७॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हों वह वासवदत्त के समान मनुष्य, धान्य, लकड़ी तथा पानी से युक्त समृद्ध गाँव का उपभोग करे। वह अवीतराग ही रह मृत्यु को प्राप्त हो ॥७॥]

सो गामणी होतु सहायमज्झे
नच्चेहि गीतेहि पमोदमानो
सा राजतो व्यसनं अलत्थ किञ्चि
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥८॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हों वह मित्रों सहित नृत्य, गीत में आनन्द मनाता हुआ गाँव का ग्रामणी हो। उसे राज्य से कोई भी कष्ट न हो ॥८॥]

यं एकराजा पठविं विजेत्वा
इत्थीसहस्सस्स उपेतु अग्गं

सीमन्तिनीनं पवरा भवात्
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥९॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह ऐसी स्त्री हो जिसे कोई एक राजा सारी पृथ्वी जीत कर, (सोलह) हजार स्त्रियों में प्रधान बना दे, जो सीमापतियों की स्त्रियों में श्रेष्ठ हो ॥९॥]

दासीनं हि सा सब्बसमागतानं
भुञ्जेय्य सादुं अविकम्पमाना
चरातु लाभेन विकत्थमाना
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥१०॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों सभी आगत-दासियों में निश्चल रहकर स्वादिष्ट भोजन करे और लाभ के लिये बात बनाती फिरे ॥१०॥]

आवासिको होतु महाविहारे
नवकम्मिको होतु कजङ्गलायं
आलोकसंधि दिवसा करोतु
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥११॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह महाविहार में नेवासिक भिक्षु[1] हों, कजङ्गल (-नगर) में नव-कर्मिक भिक्षु हो और दिन भर में एक ही वातपायन बनवा सके ॥११॥]

सो बज्झतु पाससतेहि छम्मो
रम्मा वना निय्यतु राजधानिं
तुत्तेहि सो हञ्ञतु पाचनेहि
मिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥१२॥

[हे ब्राह्मण ! जिसने तेरी भिस ली हों वह छः जगहों से बंधने वाला सौ बंधनों से बंधे, वह रम्यवन से राजधानी में ले जाया जाय और कांटेदार अंकुस से मारा जाय ॥१२॥]

अलक्कमाली निपुकण्णविद्धो
लट्ठोहतो सप्पमुखं उपेतु

---

१. जो निरन्तर विहार ही में रहता है।

२. जो नया विहार बनवाता है।

सक्कच्च बद्धो विसिखं चरातु
भिसानि ते ब्राह्मण यो अहासि ॥१३॥

[हे ब्राह्मण! जिसने तेरी भिस ली हों, उसके गले में माला पड़े, उसके कान जिस्त से बिंधे, वह लाठी से मारा जाकर साँप के मुंह में जाये और अच्छी तरह बाँधा जाकर गली-गली घूमे ॥१३॥]

जब उन तेरह जनो ने इस प्रकार शपथ की तो बोधिसत्व ने सोचा—कहीं ऐसा न हो कि यह मुझ पर सन्देह करें कि मैं ही अनष्ट को नष्ट कहता हूँ। मैं भी शपथ करता हूँ। उसने शपथ करते हुए चौदहवीं गाथा कही—

यो वे अनट्ठं नट्ठंति चाह
कामेव सो लभतं भुञ्जतं च
अगारमज्झे मरणं उपेतु
यो वा भोन्तो संकति कञ्चिदेव ॥१४॥

[जो अनष्ट को नष्ट कहे अथवा जो तुम में से किसी पर शङ्का करे वह गृहस्थी ही में रहकर काम-भोगों को प्राप्त कर उन्हें भोगता हुआ ही मरे ॥१४॥]

जब ऋषियों ने इस प्रकार शपथ की तो शक्र बोला—मत डरो। मैंने इनकी परीक्षा लेने के लिये ही भिसों को अन्तर्धान किया था। यह थूक के सदृश कामभोगों की निन्दा करते हुए शपथ करते हैं। मैं इनसे काम की निन्दा करने के कारण पूछता हूँ। उसने प्रकट हो बोधिसत्व को प्रणाम किया और पूछते हुए यह गाथा कही—

यदेसमाना विचरन्ति लोके
इट्ठं च कन्तञ्च बहुन्नं एतं
पियं मनुञ्ञं इध जीवलोके,
कस्मा इसयो न प्पसंसन्ति कामे ॥१५॥

[लोक में जिनकी खोज करते हुए (सभी) घूमते हैं, जो इस जीव-लोक में बहुत लोगों के इष्ट हैं, सुन्दर हैं, प्रिय हैं तथा मनोज्ञ हैं, ऋषि-गण उन काम-भोगों की क्यों प्रशंसा नहीं करते? ॥१५॥]

उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए बोधिसत्व ने दो गाथायें कहीं—

कामेसु वे हञ्ञरे बज्झरे च
कामेसु दुक्खञ्च भयञ्च जातं,
कामेसु भूताधिपति पमत्ता
पापानि कम्मानि करोन्ति मोहा ॥१६॥
ते पापधम्मा पसवेत्वा पापं
कायस्स भेदा निरयं वजन्ति
आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा
तस्मा इसयो न प्पससंति कामे ॥१७॥

[काम-भोगों के कारण आदमी मारा जाता है, बंधता है। काम भोगों में दुःख है, भय है। हे शक्र! काम-भोगों में मत्त लोग मोह के कारण पाप-कर्म करते हैं ॥१६॥ वे पापी-जन पाप-कर्म के पकने पर मरणानन्तर नरक को जाते हैं। ऋषि गण काम-भोगों के ये दुष्परिणाम देखकर ही काम-भोगों की प्रशंसा नहीं करते ॥१७॥]

शक्र ने बोधिसत्व की बात सुनी तो संवेग-युक्त हो बाद की गाथा कही—

विमंसमानो इसिनो भिसानि
तीरे गहेत्वान थले निधेसिं,
सुद्धा अपापा इसयो वसन्ति
एतानि ते ब्रह्मचारी भिसानि ॥१८॥

[मैंने ऋषियों की परीक्षा लेने की इच्छा से ही किनारे पर रखी हुई भिसों के नीचे स्थल पर रख दिया। अब मैं जान गया कि ऋषी-गण शुद्ध पाप-रहित होकर रहते हैं। हे ब्रह्मचारी! ये तेरी भिसें हैं ॥१८॥]

यह सुन बोधिसत्व ने गाथा कही—

न ते नटा नो पन कीळनेय्या
न बन्धवा नो पन ते सहाया,
किस्मि परत्थम्म सहस्सनेत्त
इसीहि त्वं कीलसि देवराज ॥१९॥

[हे सहस्र-नेत्र! न हम तेरे नट हैं, न क्रीड़ा के साधन हैं, न बन्धु हैं और न तेरे मित्र हैं। हे देवराज! तू किस कारण से ऋषियों के साथ

क्रीड़ा करता है? ॥१९॥]

तब शक्र ने क्षमा मांगते हुए बीसवीं गाथा कही—

आचरियो मे सि पिता व मय्हं
ए सा पतिट्ठा खलितस्स ब्रह्मे,
एकापराधं खम भूरिपञ्ञ
न पण्डिता कोधबला भवन्ति ॥२०॥

[हे ब्राह्मण! तू मेरा आचार्य्य है। तू मेरे पिता की तरह है। यही मुझ दोषी का सहारा है। हे भूरिप्रज्ञ! मेरे इस एक अपराध को क्षमा कर। पण्डितों का बल क्रोध नहीं होता ॥२०॥]

बोधिसत्व ने देवराज शक्र को क्षमा किया और ऋषि-मण्डली से स्वयं क्षमा माँगते हुए दूसरी गाथा कही—

सुवोसितं इसिनं एकरत्तं
यं वासवं भूतपतद्दस्साम,
सब्बेव भोन्तो सुमना भवन्तु
यं ब्राह्मणो पच्चादि भिसानि ॥२१॥

[यह जो भूत-पति को देखना मिला यह ऋषियों का यहाँ एक रात रहना भी सुवास ही है। आप सब लोग प्रसन्न हों। ब्राह्मण को अपनी भिसें मिल गईं ॥२१॥]

शक्र ऋषियों को प्रणाम कर देवलोक को ही गया। ऋषि-मण्डली भी ध्यान तथा अभिञ्ञा प्राप्त कर ब्रह्म-लोकगामी हुई।

शास्ता ने इस प्रकार यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, इस प्रकार पुराने पण्डितों ने शपथ करके कामनाओं का त्याग किया' कह सत्यों को प्रकाशित किया। सत्यों का प्रकाशन होने पर उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। 'जातक' का मेल बैठाते हुए तीन गाथायें कहीं—

अहं च सारिपुत्तो च मोग्गल्लानो च कस्सपो
अनुरुद्धो पुण्णो आनन्दो तदासुं सत्त भातरो ॥२२॥

भगिनी उप्पलवण्णा, दासी खुज्जुत्तरा तदा,
चित्तो गहपति दासो, यक्खो सातागिरो तदा ॥२३॥

पारिलेय्यो तदा नागो, मधुवा सेट्ठवानरो,
कालुदायि तदा सक्को, एवं धारेथ जातकं ॥२४॥

[उस समय मैं, सारिपुत्र, मौदगल्यान, काश्यप, अनुरुद्ध, पूर्ण तथा आनन्द सात भाई थे ॥२२॥ उत्पलवर्णा बहन थी, खुज्जुतरा दासी थी, चित्त गृहपति दास था, सातागिरि यक्ष था ॥२३॥ पारिलेय्यक हाथी था, मधुवा श्रेष्ठ बानर था, कालुदायी शक्र था—इस प्रकार जातक समझो ॥२४॥]

---

४८९. सुरुचि जातक

"महेसी रुचिनो भरिया......" यह शास्ता ने श्रावस्ती में मिगार माता के प्रासाद में बिहार करते हुए विसाखा महाउपासिका द्वारा प्राप्त आठ वरों के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह एक दिन जेतवन में धर्मकथा सुन भिक्षु-संघ सहित भगवान् को कल के लिए भोजन का निमन्त्रण देकर गई। उस रात के बीतने पर चारों-द्वीपों में होनेवाली महान् वर्षा हुई। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधन कर कहा—"भिक्षुओ, जैसे जेतवन में बरस रहा है, वैसे ही यह चारों द्वीपों में बरस रहा है। तुम अपनी देह भिगो लो। यह चारों द्वीपों में होने वाली अन्तिम वर्षा है।" फिर भीगी देह वाले भिक्षुओ को साथ ले तथागत जेतवन से अन्तर्धान हो विसाखा के एक कमरे में प्रकट हुए। उपासिका ने सोचा—"आश्चर्य्य है! अद्भुत है! तथागत कितने महान् ऋद्धिमान हैं, तथागत का कितना प्रताप है, घुटनों तक, कमर तक पानी की बाढ़ रहते हुए भी, एक भिक्षु के भी पाँव या चीवर भीगे नहीं हैं।" उसने हर्षित हो, उद्‌ग्र-चित्त हो, बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को (भोजन) परोसा और जब भगवान् सब करणीय कर चुके तब बोली—"भन्ते! मैं भगवान् से वरों की याचना करती हूँ।" "विसाखा! तथागत वरों से परे हैं।" "भन्ते! जो वर योग्य हैं, जो वर निर्दोष हैं।" "विसाखा, कहो।" "भन्ते! मैं चाहती हूँ कि जीवन भर भिक्षु-संघ को वर्षा-वस्त्र दूं, अतिथि-भोजन दूं, बाहर जाने वाले को भोजन दूं, रोगी-भोजन दूं, रोगी-सेवक को भोजन दूं, रोगी को दवाई दूं, सबको नित्य यवागू दूं, तथा भिक्षुणी-संघ को जीवन-भर नहाने का वस्त्र दूं।"

"विसाखा! तू किन बातों का विचार कर तथागत से आठ वर माँग रही है?"

विसाखा ने वरों का माहात्म्य बताया। तथागत बोले—"विसाखा!

साधु साधु ! विसाखा ! यह बहुत अच्छा है जो तू यह लाभ देख तथागत से आठ वर माँगती है। विसाखा ! आठ वरों की अनुज्ञा देता हूँ।" तथागत ने आठ वर दिये और (दान—) अनुमोदन करके चले गये। एक दिन जब शास्ता पूर्वाराम में विहार कर रहे थे तो धर्म-सभा में बात चली—"आयुष्मानो ! विसाखा महाउपासिका ने स्त्री होकर (भी) बुद्ध से आठ वर प्राप्त किये। वह कितनी गुणवान् है।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ, विसाखा ने न केवल अभी मुझसे वर प्राप्त किये हैं, पहले भी किये ही हैं" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में मिथिला में सुरुचि नाम का राजा राज्य करता था। उसको पुत्र हुआ, जिसका नाम उसने सुरुचिकुमार रखा। वह बड़ा होकर 'तक्षशिला में शिल्प सीखने' जाकर नगर-द्वार पर शाला में बैठा। वाराणसी-नरेश का भी ब्रह्मदत्तकुमार नाम का पुत्र था। वह भी वही जाकर जिस पाटे पर सुरुचिकुमार बैठा था। उसी पर बैठा। उन्होंने एक दूसरे से बात की और परस्पर विश्वासी बन इकट्ठे आचार्य्य के पास गये। वहाँ आचार्य्य-भाग दे, शिल्प सीख, थोड़े ही समय बाद आचार्य्य की आज्ञा ले वहाँ से चले। थोड़ी दूर एक साथ आकर जहाँ रास्ता फटता था वहाँ खड़े हो परस्पर आलिङ्गन किया और मित्र-धर्म की रक्षा का निश्चय किया—"यदि मेरा पुत्र होगा और तुम्हारी पुत्री (अथवा) तुम्हारा पुत्र होगा और मेरी पुत्री तो दोनों का परस्पर विवाह करेंगे।" जब वे राज्य करने लगे तो सुरुचि महाराज को पुत्र हुआ। उसका नाम सुरुचिकुमार ही रखा गया। ब्रह्मदत्त (कुमार) की लड़की हुई। उसका नाम सुमेधा रखा गया। सुरुचिकुमार बड़ा होकर तक्षशिला गया और शिल्प सीखकर आया। तब उसके पिता ने उसका राज्याभिषेक करने की इच्छा से सोचा—मेरे मित्र वाराणसी नरेश की लड़की है। उसे ही इसकी पटरानी बनाऊँगा। उसने उसके लिये बहुत सी भेंट देकर मन्त्रियों को भेजा। उनके आने से पूर्व ही वाराणसी-नरेश ने देवी से पूछा—"भद्रे ! स्त्री को (पुरुष से) विशेष दुःख कौनसा होता है ?" "देव ! सपत्नीं के रोष का दुःख।" "तो भद्रे ! हम अपनी एक

लड़की सुमेधादेवी को उस दुःख से मुक्त रखेंगे। जो इसे ही अकेली को ग्रहण करेगा, उसे ही देंगे।" जब अमात्य आये और उन्होंने उसका नाम लिया तो वह बोला—"भले ही मैंने अपने मित्र को पहले ही लड़की देने का वचन दिया है, लेकिन हम इसे स्त्रियों के ढेर में नहीं फेंकना चाहते। जो इसे ही अकेली को ग्रहण करेगा उसे ही देंगे।" उन्होंने राजा के पास सन्देशा भेजा। राजा ने यह कहला कर अस्वीकार किया कि हमारा राज्य बड़ा है। सात योजन का तो मिथिला-नगर ही है। तीन सौ योजन की राज्य-सीमा है। कम से कम सोलह हजार स्त्रियाँ होनी चाहिये। किन्तु सुरुचिकुमार ने सुमेधा के रूप-सौन्दर्य की बात सुनी तो सुनने मात्र से ही उस पर आसक्त हो माता-पिता को भेजा कि मैं उसे ही अकेली को ग्रहण करूँगा। मुझे स्त्रियों के ढेर से प्रयोजन नहीं। उसे ही लायें। उन्होंने उसका जी नहीं तोड़ा। बहुत धन भेजकर बड़ी शान-बान के साथ उसे मंगवाया और कुमार की पटरानी बना, दोनों का साथ ही अभिषेक किया। सुरुचि-महाराज नाम से धर्मानुसार राज्य करता हुआ वह उसके साथ प्रेमपूर्वक रहा। वह दस हजार वर्ष उसके घर में रही, किन्तु न उसे पुत्र हुआ न पुत्री। तब नगरवासियों ने राजाङ्गन में इकट्ठे हो शोर किया। "क्या है?" पूछने पर कहा—"और कोई दोष नहीं है। केवल आपके वंश की रक्षा करने वाला पुत्र नहीं है। आपकी एक ही देवी है। राज-कुलों में कम से कम सोलह हजार स्त्रियाँ होनी चाहिए। देव! बहुत सी स्त्रियाँ ग्रहण करें। किसी न किसी पुण्यवान् को पुत्र होगा।"

"तात! क्या कहते हो? मैं दूसरी स्त्री ग्रहण न करूँगा। मैं इसे वचन देकर लाया हूँ। मैं झूठ नहीं बोल सकता। मुझे स्त्रियों का ढेर नहीं चाहिये।"

राजा के अस्वीकार करने पर वे चले गये। सुमेधा ने उसकी बात सुन सोचा—"राजा तो सत्यवादी होने से दूसरी स्त्री नहीं लाता है। मैं उस के लिये लाऊँगी।" उसने राजा के लिये समान रूप से माता और भार्य्या का धर्म स्वीकार किया और अपनी रुची से हजार राज-कन्यायें, हजार अमात्य-कन्यायें, हजार गृहपति-कन्यायें, हजार हर समय नृत्य करने वाली स्त्रियाँ—इस प्रकार चार हजार स्त्रियाँ ले आईं। वे भी दस हजार वर्ष राज-

कुल में रहीं, किन्तु न उन्हें लड़का हुआ न लड़की। इसी प्रकार वह और भी चार-चार हजार तीन बार लाई। उन्हें भी न लड़का हुआ न लड़की। इस प्रकार सोलह हजार स्त्रियाँ लाई गईं। चालीस हजार वर्ष बीत गये। उस एक के साथ जो दस हजार वर्ष बीते उन्हें शामिल करके पचास हजार वर्ष हुए।

नगर वासियों ने इकट्ठे होकर फिर हल्ला किया। "यह क्या है?" पूछने पर निवेदन किया—"देव! अपनी स्त्रियों को आज्ञा दें कि वह पुत्र के लिये प्रार्थना करें।" राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और कहा—"भद्र देवियो! पुत्र के लिये प्रार्थना करो।" वे तब से पुत्र के लिये प्रार्थना करती हुई नाना प्रकार के देवताओं को नमस्कार करतीं, नाना प्रकार के व्रत रखतीं। सन्तान नहीं ही हुई। तब राजा ने सुमेधा को कहा—"भद्रे! पुत्र की प्रार्थना कर।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और पूर्णिमा-उपोसथ के दिन अष्टांगिक शील ग्रहण कर शयन-गृह में शीलों का विचार करती हुई योग्य आसन पर बैठी। शेष स्त्रियाँ बकरी-व्रत तथा गो-व्रत-ग्रहण कर उद्यान गई। सुमेधा के शील की तेजस्विता से शक्र भवन काँप गया। शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो उसे पता लगा कि सुमेधा पुत्र की प्रार्थना करती है। उसने निश्चय किया—इसे पुत्र देंगे। किन्तु जैसा-तैसा पुत्र नहीं दिया जा सकता। योग्य-पुत्र विचार करूँगा। उसने नळकार देवपुत्र की ओर देखा। वह पुण्यवान् प्राणी पूर्व-जन्म में वाराणसी में रहता था। उसने बीजने के समय, खेत पर जाते हुये देखा कि कोई प्रत्येक-बुद्ध (जा रहे) हैं। उसने दास-कमकारों को "बीजो" कह भेज दिया और स्वयं रुककर प्रत्येक-बुद्ध को घर ले गया। वहाँ भोजन करा, फिर गंगा-तट पर ले जा, पुत्र की सहायता से गूलर की जमीन और बाँस की दीवार की पर्णकुटी बनाई, दरवाजा लगाया, चंडक्रमण-भूमि बनाई और प्रत्येक बुद्ध को वहाँ तीन महीने बसाया। वर्षा-वास के बाद दोनों पिता-पुत्र ने उन्हें त्रिचीवर ओढ़ा विदा किया। इसी प्रकार उन्होंने सात प्रत्येक-बुद्धों को तीन तीन महीने उस पर्णकुटी में बसा त्रिचीवर दिये। ये भी कहा ही जाता है कि दोनों बाँस का काम करने वाले पिता-पुत्र ने गंगातट पर बाँसो को देखते हुए जब प्रत्येक-बुद्ध को देखा तो ऐसा किया। उनका जब शरीरांत हुआ तो वे त्रयोत्रिंश-भवन में पैदा हुए।

वहाँ छः काम-लोकों में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे महान् देवैश्वर्य्य का उपभोग करते हुए घूमने लगे। वे वहाँ से च्युत होकर ऊपर के देव-लोकों में पैदा होना चाहते थे। शक्र ने यह जान कि उनमें से एक तथागत होगा, उसके विमान-द्वार पर जा, उसके आने पर प्रणाम करके खड़े होने पर कहा—"मारिष! तुझे मनुष्य-लोक जाना होगा।"

"महाराज! मनुष्य-लोक घृणित है। प्रतिकूल है। वहाँ रहने वाले दानादि पुण्य करके देवलोक की इच्छा करते हैं। वहाँ जाकर क्या करूँगा?"

"मारिष! देवलोक के सभी भोग मनुष्य-लोक में भोगने मिलेंगे। पच्चीस योजक ऊँचे रतन-प्रसाद में रहना होगा। स्वीकार कर।"

उसने स्वीकार कर लिया। शक्र ने उससे प्रतिज्ञा कराई। फिर ऋषि भेस से राजोद्यान पहुँच अपने आपको उन स्त्रियों के ऊपर आकाश में घूमते हुए दिखाया और पूछा—"पुत्र का वरदान किसे दूं। कौन पुत्र-वरदान लेती है?"

एक साथ हजारों हाथ उठे—"भन्ते! मुझे दें। मुझे दें।" तब वह बोला—"मैं शीलवती को दूंगा। तुम्हारा क्या शील है? क्या सदाचार है?" उन्होंने उठाये हाथ समेट लिये और बोलीं—"यदि शीलवती को देना चाहता है, तो सुमेधा के पास जा।" वह आकाश से ही जा उसके घर की खिड़की में खड़ा हुआ। उसे कहा गया—"देवी! आ। एक देवराज तुम्हें पुत्र-वर देने के लिये आकाश से आ खिड़की में खड़ा है।" उसने बड़े गाम्भीर्य्य के साथ आकर खिड़की खोली और पूछा—"भन्ते! क्या तुम सचमुच शीलवती को पुत्र-वर देते हो!" "हाँ देता हूँ।" "तो मुझे दो।" "अपने शील बताओ, यदि मुझे अच्छा लगेगा, तो मैं पुत्र-वर दूंगा।" उसने उसकी बात सुनी तो कहा 'ले सुन' और अपने सदाचार का वर्णन करते हुए पन्द्रह गाथायें कहीं—

महेसी रुचिनो भरिया आनीता पठमं अहं,
दसवस्स सहस्सानि यं मं सुरुचिमानयि ॥१॥
साहं ब्राह्मण राजानं वेदेहं मिथिलग्गहं

नाभिजानामि कायेन वाचाय उद चेतसा,
सुरुचि अतिमञ्जित्व आविं वा यदि वा रहो ॥२॥
एतेन सच्चवज्जेन पुत्तो उप्पजतं इसे
मुसा मे भणमानाय मुद्धा फलतु सत्तधा ॥३॥
भत्तु मनापस्स पिता-माता चापि सुवामिनो
ते मं ब्रह्म विनेतारो याव अद्धेसु जीविते ॥४॥
साहं अहिंसारतिनी कामसा धम्मचारिनी
सक्कच्चं ते उपट्ठासिं रत्तिदिव अतन्दिता ॥५॥
एतेन सच्चवज्जेन पुत्तो............॥६॥
सोळित्थिसहस्सानि सह भरियानि ब्राह्मण
तासु इस्सा वा कोधो वा नाहु मय्हं कुदाचनं ॥७॥
हितेन तासं नन्दामि, न च मे काचि अप्पिया
अत्तानंवानुकम्पामि सदा सब्बा सपत्तियो ॥८॥
एतेन सच्चवज्जेन..............॥९॥
दासे कम्मकरे पेस्से ये च अञ्ञे अनुजीविनो
पोसेमि सह धम्मेन सदा पमुदितिन्द्रिया ॥१०॥
एतेन सच्चवज्जेन.............॥११॥
समणे ब्राह्मणे चापि अञ्ञे चापि वनिब्बके
तप्पेमि अन्नपानेन सदा पयतपाणिनी ॥१२॥
एतेन सच्चवज्जेन.............॥१३॥
चातुद्दसिं पञ्चदसिं याव पक्खस्स अट्ठमिं
पाटिहारिय पक्खञ्च अट्ठङ्गसुसमाहितं
उपोसथं उपवसामि सदा सीलेसु संवुता ॥१४॥
एतेन सच्चवज्जेन पुत्तो उप्पज्जतं इसे
मुसा मे भणमानाय मुद्धा फलतु सत्तधा ॥१५॥

[मैं महाराज रुचि की पटरानी हूँ, सब स्त्रियों में प्रथम। जब से वह मुझे लाया तब से हे ब्राह्मण! मैंने उस विदेह मिथिलेश सुरुचि का न प्रकट रूप में और न छिप कर ही मन, वाणी, कर्म से कभी अतिक्रमण किया ॥१—२॥ हे ऋषी! मेरे इस सत्यवचन के

कारण पुत्र होवे। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो मेरा सिर सात टुकड़े हो जाय ॥३॥ भर्ता और मेरे स्वामी के जो माता तथा पिता हैं के जब तक जीवित रहे मैं उनके आगे बिनीत रहो॥४॥ मैं अहिंसानुरक्त रही और सर्वांश में धर्मचारिणी रही। मैंने आलस्य-रहित हो रात दिन उसकी सेवा की॥५॥ हे ऋषी! मेरे इस सत्य-वचन के कारण...॥६॥ हे ब्राह्मण! मेरी सोलह हजार स्त्रियाँ सह-भार्य्या थीं उनके प्रति मेरे मन में न कभी ईर्षा हुई, न क्रोध हुआ॥७॥ मैं उनके हित में प्रसन्न रहती हूँ, उनमें से कोई मुझे अप्रिय नहीं' मैं अपना ही तरह उन सब सपत्नियों पर सर्वदा अनुकम्पा करती हूँ॥८॥ हे ऋषी! मेरे इस सत्यवचन के कारण... ॥९॥ दास, कर्म-कर तथा दूसरे उपजीवी-आदमियों का मैं सदा प्रसन्नचित्त रह पालन करती हूँ॥१०॥ हे ऋषी! मेरे इस वचन के कारण.... ॥११॥ श्रमण ब्राह्मण तथा दूसरे याचकों को मैं सदा मुक्तहस्त होकर अन्नपान से तृप्त करती हूँ॥१२॥ हे ऋषी! मेरे इस सत्यवचन के कारण....॥१३॥ चतुर्दशी, पूर्णिमा, पक्ष की अष्टमी और विशेष-दिनों में मैं सदा अष्टांगिक शील ग्रहण कर उपोसथ-वास करती हूँ॥१४॥ हे ऋषी! मेरे इस सत्यवचन के कारण...मेरा सिर सात टुकड़े हो जाय॥१५॥]

इस प्रकार सौ गाथाओं से भी, हजार गाथाओं से भी, न वर्णन किये जा सकने वाले अप्रमाण गुण हैं। उसने जब केवल पन्द्रह गाथाओं द्वारा अपने गुण कहे तभी शक्र ने बहुत काम होने के कारण उसकी बात बीच से काट कर 'तेरे गुण बहुत हैं, अद्भुत हैं' कह उसकी प्रशंसा करते हुए दो गाथायें कहीं—

सब्बे च ते धम्मगुणा राजपुत्ति यसस्सिनि
संविज्जन्ति तयि भद्दे ये त्वं कित्तेसि अत्तनि॥१६॥
खत्तियो जातिसम्पन्नो अभिजातो यसस्सिमा
धम्मराजा विदेहानं पुत्तो उप्पज्जते तवं॥१७॥

[हे राजपुत्री! हे यशस्विनी! जिन गुणों को तू अपने में कहती है वे सब गुण तुझमें हैं॥१६॥ तुझे क्षत्रिय, जातियुक्त, कुलीन, यशस्वी, धर्मराज, विदेह-पुत्र उत्पन्न होगा॥१७॥]

उसने उसकी बात सुन प्रसन्न हो उसे पूछते हुए दो गाथाएँ कहीं—

रुम्भि रजोजल्लधरो अघे वेहासयं ठितो
मनुञ्ञं भाससे वाचं यं मय्हं हृदयङ्गमं ॥१८॥
देवता नु सि सग्गम्हा इसिवासि महिद्धिको,
को वासि त्वं अनुप्पत्तो अत्तानं मे पवेदय ॥१९॥

[रूखा, धूल-धूसरित, अपतिघ आकाश में ठहर कर तू मेरे हृदय को अच्छी लगने वाली सुन्दर वाणी बोलता है ॥१८॥ क्या तू स्वर्ग का देवता है? अथवा महान् ऋद्धिवान् ऋषी है? अथवा तू जो आया है कौन है? मुझे बता ॥१९॥]

उसने उसे उत्तर देते हुए छः गाथायें कहीं—

य देवसघा वदन्ति सुधम्माय समगाता
सोहं सक्को सहस्सक्खो आगतोस्मितवंतिके ॥२०॥
इत्थि या जीवलोकस्मिं या होति समचारिनी
मेधाविनी सीलवन्ती सस्सुदेवापतिब्बता ॥२१॥
तादिसाय सुमेधाय सुचिकम्माय नारिया
देवा दस्सनं आयान्ति मानुसिया अमानुसा ॥२२॥
त्वं भद्दे सुचिण्णेन पुब्बे सुचरितेन च
इध राजकुले जाता सब्बकामसमिद्धिनी ॥२३॥
अयञ्च ते राजपुत्ति उभयत्थ कटग्गहो
देवलोकूपपत्ती च कित्ती इध जीविते ॥२४॥
चिरं सुमेधे सुखिनी धम्मं अत्तनि पालय,
एसाहं तिदिवं यामि, पियं मे तव दस्सनं ॥२५॥

[सुधर्मा (देवसभा) में एकत्र हुये देव-संघ (जिसे) सहस्राक्ष कहते हैं, वह मैं शक्र तेरे पास आया हूँ ॥२०॥ जीवलोक में जो स्त्री मेधाविनी होती है, जो शीलवती है, जिसे सास-श्वसुर देवता तुल्य होते हैं, जो पतिव्रता होती है, वैसी मेधाविनी, पवित्र कर्मों वाली नारी का दर्शन करने के लिये देवता आते हैं ॥२१-२२॥ भद्रे! सब कामनाओं को पूरा कर सकने वाली! तू पूर्व सुचरित के प्रताप से यहाँ राजकुल में पैदा हुई ॥२३॥ हे राजपुत्री! तेरे दोनों हाथ में लड्डू हैं—इस लोक में रहते कीर्ति और भविष्य में देव-लोक में जन्म ॥२४॥ हे सुमेधा! चिरकाल तक सुखी रह।

अपने धर्म का पालन कर। मैं देवलोक को जाता हूँ। मुझे तेरा दर्शन प्रिय है ॥२५॥]

'देव लोक में मुझे काम है, इसलिये जा रहा हूँ. तू अप्रमादी रहना' कह, उपदेश दे चला गया। नळकार-देव ने ब्राह्म-मुहूर्त में (देव-लोक) से च्युत हो उसकी कोख में जन्म ग्रहण किया। उसे पता लगा तो उसने राजा को सूचना दी। राजा ने गर्भ की रक्षा के लिये आवश्यक व्यवस्था की। उसने दस मास बीतने पर पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम महापणाद रखा गया। दोनों राष्ट्र के निवासियों ने राजांगन में एक-एक कार्षापण ला डाला—"स्वामी! यह हमारी ओर से पुत्र के लिये दूध का मूल्य।" बड़ा ढेर लग गया। राजा ने अस्वीकार किया, तो भी 'स्वामी! पुत्र बड़ा होगा तो यह उसके खर्चे के लिए होगा' कह बिना लिये ही चले गये। कुमार बड़े ठाट-बाट से बढ़ने लगा। बड़े होने पर वह सोलह वर्ष की आयु होते-होते ही सब शिल्पों में पारंगत हो गया। राजा ने पुत्र की आयु देखी तो देवी को कहा—"भद्रे! अपने पुत्र के राज्याभिषेक के समय इसके लिये एक रमणीय प्रासाद बनवाकर इसका राज्याभिषेक करेंगे।" उसने "देव! अच्छा" कह स्वीकार किया। राजा ने वास्तु-कला के आचार्यों को बुला कर कहा—"तात! बढ़इयों को ले जाकर हमारे निवास-स्थान से थोड़ी ही दूर पर मेरे पुत्र के लिये प्रासाद बनवाओ। उसका राज्याभिषेक करेंगे।" उन्होंने 'अच्छा' कहा और भूमि का चुनाव करने लगे। उस समय शक्र का आसन गर्म हुआ। उसने कारण जान विश्वकर्मा को बुला कर भेजा—"तात! जा महापणाद कुमार के लिये एक रतन-प्रासाद बना जिसकी लम्बाई-चौड़ाई आधे योजन की हो, किन्तु ऊँचाई पच्चीस योजन की हो।" उसने बढ़ई के वेष में बढ़इयों के पास जाकर कहा—"तुम प्रातःकाल की हाजरी खाकर आओ" उन्हें भेज उसने डण्डे से पृथ्वी पर प्रहार किया। उसी समय जैसा कहा गया है वैसा ही सात तलों का प्रासाद उठ खड़ा हुआ। महापणाद का प्रासाद-मङ्गल छत्र-धारण-मङ्गल तथा विवाह-मङ्गल तीनों एक साथ हुए। दोनों राष्ट्र के वासियों ने मङ्गल के स्थान पर इकट्ठे हो सात वर्ष मङ्गलोत्सव में ही बिता दिये। राजा ने भी उन्हें जाने को नहीं कहा। उनके वस्त्र, अलङ्कार, खाना, पीना सब कुछ राज्य-परिवार से ही मिला। सात

वर्ष बीतने पर वे हल्ला करने लगे। सुरुचि महाराज ने पूछा—क्या कारण है? वे बोले—महाराज! हमें मङ्गलोत्सव में खाते-पीते सात वर्ष बीत गये। यह मङ्गलोत्सव कब समाप्त होगा? राजा ने उत्तर दिया—तात! मेरा पुत्र अभी तक हँसा नहीं। जब वह हँसे तब चले जाना। जनता ने मुनादी करवा नटों को इकट्ठा किया। एक हजार नट इकट्ठे हो सात हिस्सों में बँट कर नाचे, किन्तु राजा को नहीं हँसा सके। उसने दिव्य नाटक देखे रहने से उनका नाचना उसे अच्छा नहीं लगा। तब भण्डुकर्ण और पण्डुकर्ण नाम के दो नटों ने जो चतुर थे, सोचा—हम राजकुमार को हँसायेंगे। भण्डुकर्ण ने राजद्वार पर एक बड़ा अतुल नाम का आम्रवृक्ष बनाया। फिर उस पर सूत का गोला फेंक उसकी शाखा में फँसा, सूत पर से अतुल वृक्ष पर चढ़ा। अतुलम्ब कुवेर का आम्रवृक्ष था। कुवेर के दासों ने उसे पकड़ उसके अङ्ग-अङ्ग काट डाले। शेष नटों ने उन्हें जोड़कर उन पर पानी छिड़का। वह फूलों का वस्त्र धारण कर, पहन, नाचता हुआ उठ खड़ा हुआ। महापनाद यह भी देख कर नहीं ही हँसा। पण्डुकर्ण नट ने राजाङ्गण में लकड़ियों की चिता बनायी और अपनी परिषद् के साथ आग में प्रवेश किया। उसके बुझ जाने पर उस पर पानी छिड़का गया। वह भी साथियों-सहित फूलों का वस्त्र धारण कर, पहन नाचता हुआ उठा। महापनाद यह भी देख कर नहीं हँसा। मनुष्य उसे हँसा न सकने पर घबराये। शक्र ने यह देख देव-नट को भेजा—"तात! जा महपनाद को हँसा कर आ।" उसने जाकर राजाङ्गण में खड़े हो अर्धाङ्ग (-नृत्य) दिखाया। एक ही हाथ, एक ही पाँव, एक ही आँख तथा एक ही दाढ़, नाचती थी, चलती थी, कूदती थी। शेष सब निश्चल था। उसे देख महापनाद थोड़ा मुस्कराया। जनता तो हँसती-हँसती हँसी न रोक सकने के कारण हाथ-पाँव पटक राजाङ्गण में ही गिरी। तब मङ्गलोत्सव समाप्त हुआ। शेष (कथा) यहाँ

पनादो नाम सो राजा
यस्स यूपो सुवण्णयो

महापनाद जातक के अनुसार कहनी चाहिए। महापनाद राजा दानादि पुण्यकर्म कर आयु के समाप्त होने पर देव-लोक गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओं', इस प्रकार विशाखा ने

पहले भी मुझसे वर प्राप्त किया ही है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय महापनाद भद्दजी था, सुमेधा देवी विशाखा, विश्वकर्मा आनन्द और शक्र तो मैं ही था।

---

४९०. पञ्चूपोसथ जातक

"अप्पोसुक्को दानि त्वं कपोत......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय पाँच सौ उपोसथ-व्रत रखने वाले उपासकों के बारे में कही—

क. वर्तमान कथा

उस समय शास्ता धर्म-सभा में चारों प्रकार की परिषद् के बीच अलङ्कृत-बुद्धासन पर बैठे थे। उन्होंने मृदु-चित्त से परिषद् की ओर देखा और यह जान कि आज उपासकों के बारे में धर्म-देशना चलेगी उपासकों को सम्बोधन कर पूछा—"उपासको! क्या तुमने उपोसथ-व्रत धारण किया है?" "भन्ते! हाँ" कहने पर "अच्छा किया है, उपोसथ (व्रत) पुराने पण्डितों की परम्परा है, पुराने पण्डित रागादि चित्त-मलों को दूर करने के लिए उपोसथ-व्रत रखते थे" कह उनके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में मगधराष्ट्र आदि तीन राष्ट्रों के बीच एक जंगल था। बोधिसत्व महान् ऐश्वर्यशाली ब्राह्मणकुल में जन्म ले, बड़े होने पर काम-भोग छोड़ निकले। वह उस जंगल में जा आश्रम बना वहीं रहने लगा। उसके आश्रम से थोड़ी ही दूर पर एक बाँस के जंगल में अपनी भार्य्या के साथ एक कबूतर रहता था, एक बाम्बी में एक साँप, एक झाड़ी में एक शृगाल और एक (दूसरी) झाड़ी में एक रीछ। वे चारों समय-समय पर ऋषी के पास जा धर्म सुनते।

एक दिन कबूतरी के साथ कबूतर घोंसले से निकल चुगने गया। पीछे आती हुई कबूतरी को एक बाज लेकर भाग गया। उसकी चिल्लाहट सुनी तो कबूतर ने रुक कर देखा कि वह उसे ले जा रहा है। बाज भी उसे चिल्लाती हुई को ही मार कर खा गया। उसके वियोग में रागाग्नि से जलते

हुए कबूतर ने सोचा—"यह राग मुझे अत्यन्त कष्ट देता हैं। मैं अब बिना इसका दमन किये चुगने नहीं जाऊँगा।" उसने चुगने जाने का रास्ता छोड़ा और तपस्वी के पास जा रागाग्नि को शान्त करने के लिए उपोसथ-व्रत ग्रहण कर एक ओर पड़ रहा।

सर्प भी 'भोजन खोजने के लिए निवास स्थान से निकल, प्रत्यन्त-ग्राम में गौओं के चरने की जगह भोजन खोजता। तब गाँव के चौधरी का सर्वश्वेत मंगल बैल चुगकर लौटा। वह एक बाम्बी पर पाँस और घुटने टेक सींग से मिट्टी उछालता हुआ खेलता था। साँप गौओं के पाँव की आवाज से डर कर उस बाम्बी में जाने लगा। उस पर बैल का पाँव पड़ गया। उसने क्रोधित हो उसे डस लिया। बैल वहीं मर गया। ग्रामवासियों ने जब सुना कि बैल मर गया तो वे सभी इकट्ठे होकर आये और रोये। उन्होंने गन्ध-मालादि से उसकी पूजा की, गढ़ा खोदा और उसमें डाल कर चले गये। उनके चले जाने पर साँप बाहर निकला और सोचने लगा—मैंने क्रोध करके इसकी जान ले जनता को शोकाकुल किया। अब मैं बिना इस क्रोध का दमन किये भोजन के लिए न निकलूँगा। वह रुका और आश्रम पहुँच क्रोध का दमन करने के लिए उपोसथ-व्रत ग्रहण कर एक ओर पड़ रहा।

गीदड़ ने भी शिकार खोजते हुए एक मरा हाथी देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ—मुझे बड़ा शिकार मिला। उसने जाकर सूण्ड पर मुँह मारा। ऐसा हुआ जैसे खम्भे पर मुँह मारा हो। वहाँ कुछ स्वाद नहीं आया तो दाँतों पर मुँह मारा। ऐसा हुआ जैसे पत्थर पर मुँह मारा हो। पेट में मुँह मारा। ऐसा हुआ जैसे किसी टोकरे पर मुँह मारा हो। पूँछ पर मुँह मारा। ऐसा हुआ, जैसे लोहे के थाल (?) में मुँह मारा हो। तब उसने गुदा में मुँह मारा। ऐसा लगा जैसे घी के पूए खाने को मिले हों। लोभ के मारे खाता-खाता वह पेट में जा पहुँचा। वहाँ भूख लगती तो माँस खाता, प्यास लगती तो खून पीता, लेटना होता तो आँतें और फुफ्फुस फैला कर लेट रहता। उसने सोचा—यहीं मुझे खाना-पीना और सोना मिलता हैं, अन्यत्र जाकर क्या करूँगा? वह वहीं मौज करता हुआ, बाहर न निकल पेट में ही रहा। आगे चल कर धूप-हवा से हाथी की लाश सूखने पर गुदा-मार्ग बन्दहो गया। पेट में पड़े-पड़े गीदड़ का रक्त-मांस सूख गया। वह पाण्डु-वर्ण

हो गया। निकलने का रास्ता न दिखायी देता था। तब एक दिन अकाल-मेघ वर्षा। गुदा-मार्ग भीग कर कोमल पड़ गया। उसमें से प्रकाश दिखायी देने लगा। गीदड़ ने छेद देख गुदा-मार्ग पर सिर से चोट मारी—बहुत देर से कष्ट पा रहा हूँ। इस छेद से भागूँगा। उसके तंग रास्ते से निकलने के समय उसके भीगे हुए शरीर के सारे बाल गुदा-मार्ग में लग गये। वह ताड़ के पेड़ की तरह बिना बालों वाला होकर निकला। उसने सोचा—"मैंने लोभ के कारण यह दुःख अनुभव किया। अब बिना इसे जीते शिकार न ग्रहण करूँगा।" वह उस आश्रम में पहुँचा और लोभ का निग्रह करने के लिए उपोसथ-व्रत का समादान कर एक ओर पड़ रहा।

रीछ भी अति-इच्छा के वशीभूत हो जंगल से निकल मलय राष्ट्र के प्रत्यन्त-ग्राम में पहुँचा। ग्रामवासियों को जब पता लगा कि रीछ आया है तो उन्होंने धनुष तथा दण्ड हाथ में ले जिस झाड़ी में वह घुसा था उसे घेर लिया। रीछ लोगों से अपने को घिरा जान झाड़ी से निकल कर भागा। उस भागते हुए को ही लोगों ने धनुष और डण्डों से पीटा। खून बहते हुए फूटे सिर को लेकर वह अपने निवास-स्थान को लौटा और सोचने लगा—"यह दुःख मुझे अति इच्छा के वशीभूत होने से ही हुआ। अब बिना इसे जीते शिकार ग्रहण नहीं करूँगा।" वह उस आश्रम में पहुँचा और अति-इच्छा का निग्रह करने के लिए उपोसथ-व्रत का समादान कर एक ओर पड़ रहा।

तपस्वी अपनी 'जात' के कारण अभिमानी हो ध्यान लाभ न कर सकता था। तब प्रत्येक बुद्ध ने उसका अभिमानी होना जान सोचा—"यह खराब प्राणी नहीं है, यह बुधङ्कुर है, यह इसी काल में सर्वज्ञता प्राप्त करेगा। इसके अभिमान का मर्दन कर इसे समापत्ति लाभ कराऊँगा!" जिस समय वह पर्णकुटी में बैठा था उसी समय प्रत्येक-बुद्ध उत्तर हिमालय से आकर उसके पत्थर के पटड़े पर बैठे। उसने बाहर निकल जब उसे अपने आसन पर बैठा देखा तो अभिमान के कारण अप्रसन्न हो, उसके पास जा चुटकी बजाकर कहा—हे चाण्डाल! हे मनहूस! हे मुण्डक! हे श्रमणक! तेरा नाश हो। तू मेरे बैठने के स्थान पर क्यों बैठा है? उसने उसे उपदेश दिया—"हे सत्पुरुष! तू अभिमानी क्यों है? मुझे प्रत्येक-बोधि ज्ञान प्राप्त

है। तू इसी कल्प में सर्वज्ञ-बुद्ध होगा। तू बुद्धङ्कुर है। तू पारमिताएँ पूर्ण करता हुआ आ रहा है। इतना समय और व्यतीत होने पर बुद्ध होगा। बुद्धत्व प्राप्त होने के जन्म में सिद्धत्थ नाम होगा।" इस प्रकार नाम, गोत्र, कुल, अग्रश्रावक और सभी बातें बता, पूछा : किस लिए अभिमान के अधीन हो कठोर बोलता है? यह तेरे योग्य नहीं है। उसने उसके ऐसा कहने पर भी न उसे प्रणाम किया, न यही पूछा कि मैं कब बुद्ध होऊँगा? तब प्रत्येक-बुद्ध "यह जान ले कि तेरी 'जाति' से मेरे गुण बड़े हैं। यदि सामर्थ्य है तो मेरी तरह आकाश में विचर" कह, आकाश में ऊपर उठ, अपने पाँव की धूलि उसकी जटाओं में डालते हुए उत्तर-हिमालय को ही चले गये। तपस्वी ने उसके चले जाने पर संविग्न-चित्त हो सोचा—"यह श्रमण इस प्रकार भारी शरीर होने पर भी, हवा में उड़ाये रूई के फाहे की तरह उड़ गया। मैं 'जाति' के अभिमान के कारण इस प्रकार प्रत्येक-बुद्ध को न नमस्कार ही कर सका, न यही पूछा कि मैं कब बुद्ध होऊँगा? 'जाति' क्या करेगी? इस लोक में सदाचार ही बड़ी चीज है। यह अभिमान बढ़कर मुझे नरक में ले जायगा। मैं अब बिना इस अभिमान को जीते फलाफल के लिए नहीं जाऊँगा।" वह कुटिया में घुसा और अभिमान का निग्रह करने के लिए उपोसथ-व्रत ग्रहण कर लकड़ी की शैय्या पर बैठा। उस महाज्ञानी कुलपुत्र ने अभिमान को जीत लिया। तब वह योग-विधि का अभ्यास कर अभिञ्ञा तथा समापत्तियाँ प्राप्त कर, निकल कर, चंक्रमण-भूमि में पत्थर के आसन पर बैठा। तब कबूतर आदि उसके पास आये और प्रणाम करके एक ओर बैठे। बोधिसत्व ने कबूतर से पूछा—तू दूसरे दिन इस तरह नहीं आता। चोगा चुगने जाता है। क्या आज उपोसथ-व्रत लिया है? "भन्ते! हाँ।" "किस कारण से?" पूछते हुए बोधिसत्व ने पहली गाथा कही—

अप्पोसुक्को दानि तुवं कपोत
विहङ्गम न तव भोजनत्थो,
खुदंपिपासं अधिवासयन्तो
कस्मा भवं पोसथिको कपोत ॥१॥

[हे कबूतर! तू इस समय प्रयत्न-रहित है। हे पक्षी! क्या तुझे भोजन नहीं चाहिए? हे कबूतर! तू भूख-प्यास को सहन करके उपोसथ-

व्रती क्यों बना है? १॥]

यह सुन कबूतर ने दो गाथाएँ कहीं—

अहं पुरे गिद्धिगतो कपोतिया
अस्मिं पदे सस्मिं उभो रमाय
अत्यग्गही साकुणिको कपोतिं
अकामको ताय विना अहोसिं॥२॥
नाना भवा विप्पयोगेन तस्सा
मनोमयं वेदनं वेदियामि,
तस्मा अहं पोसथं पालयामि,
रागो ममं मा पुनरागमासि॥३॥

[मैं पहले अपनी कबूतरी के प्रति बहुत आसक्त था। हम दोनों इस प्रदेश में रमण करते थे। उस कबूतरी को बाज ने पकड़ लिया। मुझे उसके बिना कुछ अच्छा नहीं लगता॥२॥ उसके मरने से जो उसका वियोग हुआ मैं उसके कारण चैतसिक दुःख भोगता हूँ। मैं इसलिए उपोसथ-व्रत करता हूँ कि राग फिर न उत्पन्न हो॥३॥]

जब कबूतर ने अपनी उपोसथ-व्रत की बात कह ली, तो बोधिसत्व ने सर्पादि से एक-एक करके पूछा। उन्होंने भी गाथार्थ-रूप से कहा—

अनुज्जुगामि उरगद्दुजिव्ह
दाठावुधो घोरविसोसि सप्प
खुद्दं पिपासं अधिवासयन्तो
कस्मा भवं पोसथिको नु दीघो॥४॥

[हे सर्प! तू सीधा नहीं चलता है। हे उरग! तेरी दो जिह्वा हैं। तेरी दाढ़ तेरा शस्त्र है और तू भयानक विषैला है। तू भूख-प्यास को सहन करके उपोसथ-व्रती क्यों हुआ? ॥४॥]

उसभो अहू बलवा गामिकस्स
चलक्ककू वण्णबलूपपन्नो
सो मं अक्कमि, तं कुपितो अदंसिं,
दुक्खाभितुन्नो मरणं उपागमि॥५॥
ततो जना निक्खमितवान गामा

कन्दित्वा रोदित्वा उपक्कमिंसु,
तस्मा अहं पोसथं पालयामि
कोधो मम मा पुनरागमासि ॥६॥

[गाँव के चौधरी का वर्ण बल से युक्त शक्तिशाली साण्ड था। उसने मुझ पर पैर रख दिया। मैंने उसे क्रोध से डस लिया। वह दुःख को प्राप्त हो मर गया ॥५॥ तब गाँव से लोग आकर रो-पीट कर चले गये। इसलिए मैं उपोसथ-व्रत का पालन करता हूँ कि मुझे फिर क्रोध न आये ॥६॥]

मतान मंसानि बहू सुसाने,
मनुञ्ञरूपं तव भोजनेतं,
खुदं पिपासं अधिवासयन्तो
कस्मा भवं पोसथिको सिगालो ॥७॥

[श्मशान में मृत-प्राणियों का बहुत माँस है और यह तेरा सुन्दर भोजन है। हे गीदड़! तू भूख-प्यास को सहन करता हुआ उपोसथ-व्रती क्यों हुआ है? ॥७॥]

पविस्सं कुच्छिं महतो गजस्स
कुणपे रतो हत्थिमंसे पगिद्धो
उण्हो च वातो तिखिणा च रस्मियो
ते सोसयुं तस्स करीसमग्गं ॥८॥
किसो च पण्डू च अहं भदन्ते
न मे अहु निक्खमनाय मग्गो
महा च मेघो सहसा पवस्सि
सो तेमयि तस्स करीसमग्गं ॥९॥
ततो अहं निक्खमिस्सं भदन्ते,
चन्दो यथा राहुमुखा पमुत्तो,
तस्मा अहं पोसथं पालयामि,
लोभो ममं मा पुनरागमासि ॥१०॥

[मैं मृत-लाश के प्रति आसक्त हो हाथी-माँस खाने के लोभ से बड़े हाथी के पेट में चला गया था। तीक्ष्ण-किरणों और गर्म-हवा ने उसका गुदा-मार्ग सुखा डाला ॥८॥ भदन्त! मैं कृष और पाण्डु-वर्ण हो

गया। मेरे निकलने का मार्ग नही रहा। सहसा महान् वर्षा हुई। उससे उसका गुदा-मार्ग भीग कर नरम पड़ा ॥९॥ भदन्त! तब मैं उसमें से ऐसे निकला मानो राहु के मुंह से चन्द्रमा निकला हो। इसलिए मैं उपोसथ-व्रत का पालन करता हूँ कि यह लोभ फिर उत्पन्न न हो ॥१०॥]

वम्मीकथूपस्मिं किपिल्लकानि
निप्पोथयन्तो तुवं पुरे चरासि
खुदं पिपासं अधिवासयन्तो
कस्मा भवं पोसथिको नु अच्छो ॥११॥

[हे रीछ! पहले तो तू वल्मीक-स्तूप के दीमकों को खाता फिरा करता था। तू भूख-प्यास को सहन करता हुआ क्यों उपोसथ व्रती हुआ है? ॥११॥]

सकं निकेतं अतिहीळयानो
अतिच्छताय मलय अगञ्छिं,
ततो जना निक्खमित्वान गामा
कोदण्डकेन परिपोथयिंसु मं ॥१२॥
सो भिन्नसीसो रुहिरक्खितङ्गो
पच्चागमासिं सकं निकेतनं,
तस्मा अहं पोसथं पालयामि
अतिच्छता मा पुनरागमासि ॥१३॥

[अपने घर की अवहेलना कर अति-इच्छा के कारण मलय-राष्ट्र गया। वहाँ आदमियों ने गाँव से निकल मुझे डण्डे से पीटा ॥१२॥ वहाँ से मैं रक्त बहाता हुआ फूटा सिर लेकर अपने घर लौट आया। इसलिए मैं उपोसथ-व्रत का पालन करता हूँ कि फिर अति-इच्छा न उत्पन्न हो ॥१३॥]

इस प्रकार उन चारों जनों ने अपना-अपना उपोसथ कर्म कह, बोधिसत्व को प्रणाम कर पूछा—"भन्ते! और दिन आप इस समय फला-फल के लिए जाते थे, आज क्यों न जाकर, किसलिए उपोसथ-व्रती हुए?" उन्होंने यह गाथा कही—

यं नो अपुच्छिथ तुवं भदन्ते
सब्बेव ब्याकरिम्हा यथा पजानं
मयं पि पुच्छाम तुवं भदन्ते
कस्मा भवं पोसथिको व ब्रह्मे ॥१४॥

[भदन्त ! तुमने जो हमसे पूछा, वह हम सब ने जैसा जानते थे बताया। भदन्त ! हम भी तुमसे पूछते हैं कि तुम क्यों उपोसथ-व्रती हुए ? ॥१४॥]

उसने भी उन्हें बताया—

अनूपलित्तो मम अस्समम्हि
पच्चेकबुद्धो मुहुत्तं निसीदि,
सो मं अवेदी गतिं आगतिं च
नामञ्च गोत्तं चरणं च सब्बं ॥१५॥
एवं पहं नग्गहे तस्स पादे
न चापि नं मानगतेन पुच्छि,
तस्मा अहं पोसथं पालयामि
मानो ममं न पुनरागमासि ॥१६॥

[मेरे आश्रम में जीवन-मुक्त प्रत्येक-बुद्ध थोड़ी देर बैठे। उन्होंने मेरी गति, अगति, नाम, गोत्र, आचरण सब कुछ मुझे बताया ॥१५॥ इतना होने पर भी मैंने न प्रणाम किया और न अभिमान के कारण उनसे कुछ पूछा। इसलिए मैं उपोसथ-व्रत का पालन करता हूँ कि मेरे मन में फिर अभिमान न पैदा हो ॥१६॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने अपना उपोसथ-व्रत का कारण बता उन्हें उपदेश दे विदा किया और स्वयं पर्णकुटी में प्रवेश किया। शेष भी यथा-स्थान गये। बोधिसत्व ध्यान-प्राप्त हो ब्रह्मलोकगामी हुए। शेष भी उसके उपदेशानुसार चल स्वर्ग-लोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, "उपासको ! उपोसथ पुराने पण्डितों की परम्परा है, उपोसथ-वास करना चाहिए" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय कबूतर अनुरुद्ध था, रीछ काश्यप, गीदड़ मौद्गल्यायन, सर्प सारिपुत्र, तपस्वी तो मैं ही था।

४९१. महामोर जातक

"सचे हि त्याहं धनहेतु गहितो......" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस भिक्षु को शास्ता ने "भिक्षु! क्या तू सचमुच उद्विग्न-चित्त है?" पूछ "भन्ते! सचमुच" उत्तर देने पर कहा—"भिक्षु! यह नन्दी-राग तेरे जैसे को क्यों नहीं हिला देगा? सुमेरु-पर्वत को उखाड़ फेंक सकने वाली हवा क्या आस-पास के पुराने पत्तों से घबरायेगी? पूर्व समय में उसने सात सौ वर्ष तक राग से बचे रह सकने वाले प्राणियों को भी हिला दिया।" शास्ता ने यह कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ने प्रत्यन्त-प्रदेश में मोरनी की कोख में जन्म ग्रहण किया। गर्भ पूरा होने पर माता चुगने की जगह अण्डा गिरा कर चली गयी। यदि माता स्वस्थ हो और उसे सर्प आदि किसी प्राणी से हानि न पहुँचे तो अण्डा नष्ट नहीं होता। इसलिए वह अण्डा कणिकार की कली की तरह सुनहरे रंग का हो, पक कर प्राकृतिक नियमानुसार फूटा। उसमें से सुनहरे रंग का मोर-बच्चा निकला। उसकी दोनों आँखें जिञ्जु फल के समान थीं। चोंच मूंगे की थी। लाल रंग की तीन लकीरें गर्दन पर से होकर पीठ के बीच से गयी। बड़ा होने पर उसका शरीर सामान लादने की गाड़ी की तरह था और था सुन्दर। सब नील-वर्ण मोरों ने इकट्ठे हो उसे राजा बनाया। एक दिन उसने सरोवर में पानी पीते हुए अपने रूप-सौन्दर्य की ओर देख कर सोचा—"मैं सब मोरों की अपेक्षा अधिक सुन्दर हूँ। यदि मैं इनके साथ आदमियों के आने-जाने की जगह रहूँगा तो मुझे खतरा हो सकता है। हिमालय जाकर अकेला

सुख की जगह रहूँगा।" वह रात के समय जब मोर सो रहे थे, बिना किसी को सूचना दिये, हिमालय जा, तीन पर्वत-पंक्तियाँ लाँघ, चौथी में, जहाँ जंगल में कमल से ढका हुआ एक सरोवर था, उस सरोवर के पास पर्वत के सहारे स्थित एक बड़े न्यग्रोध वृक्ष की शाखा पर जा बैठा। उस पर्वत के मध्य में सुन्दर गुफा थी। उसने वहीं रहने की इच्छा की और उसके सामने पर्वत-तल पर रहने लगा। वह जगह ऐसी थी कि उस पर न नीचे से चढ़ा जा सकता था, न ऊपर से उतरा जा सकता था। इसलिए वह पक्षी, बिल्ले, सर्पादि तथा मनुष्यों के भय से मुक्त था। "यह मेरे लिए सुख की जगह है" सोच वह उस दिन वहीं रहा। अगले दिन पर्वत-गुफा में से निकल वह पर्वत के शिखर पर पूर्वाभिमुख हो बैठा। वह उदय होते हुए सूर्य को देख अपनी दिन भर की रक्षा के लिए 'उदेतयं चक्खुमा एकराजा' परित्राण-धर्म-देशना कहता। फिर चुगने की जगह उतर चोगा लेता। शाम को आकर पर्वत के शिखर पर बैठ अस्त होते हुए सूर्य्य को देख अपनी रात की सुरक्षा के लिए 'अपेतयं चक्खुमा एकराजा' परित्राण-धर्म-देशना कहता। वह इस प्रकार वहाँ रहता था।

एक दिन एक शिकारी-पुत्र ने जंगल में घूमते समय उसे पर्वत के शिखर पर बैठे देखा। उसने घर लौट मरने के समय पुत्र से कहा—"तात! चौथी पर्वत-पंक्ति के जंगल में एक सुनहरा मोर है। यदि राजा पूछे तो कहना।" एक दिन वाराणसी नरेश की क्षेमा नाम की पटरानी ने बड़े प्रातः एक स्वप्न देखा। स्वप्न इस प्रकार था—सुनहरा मोर धर्मोपदेश देता था। वह 'साधु, साधु' कहती हुई धर्मोपदेश सुनती थी। मोर धर्मोपदेश दे, उठ कर चला गया। उसकी यह कहती हुई ही आँख खुल गई कि मोर-राजा जाता है, उसे पकड़ो। जागने पर जब उसे पता लगा कि यह स्वप्न था तो उसने सोचा यदि कहूँगी कि 'स्वप्न है' तो राजा महत्त्व न देगा, यदि कहूँगी कि 'दोहद' उत्पन्न हुआ है तो राजा आदर करेगा। वह दोहद-ग्रस्त की भाँति होकर पड़ रही। राजा ने पास आकर पूछा—भद्रे! क्या कष्ट है? "मुझे 'दोहद' उत्पन्न हुआ है?" "भद्रे! क्या चाहती है?" "देव! सुनहरे मोर से धर्मोपदेश सुनना।" "भद्रे! ऐसा मोर कहाँ मिलेगा?"

"देव! यदि नहीं मिलेगा तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे।"

"भद्रे ! चिन्ता न कर। यदि कहीं भी होगा, मिलेगा।"

राजा ने उसे सान्त्वना दे, जाकर सिंहासन पर बैठ अमात्यों से पूछा—"भो ! देवी सुनहरे मोर का धर्मोपदेश सुनना चाहती है। क्या सुनहरे मोर होते हैं ?"

"देव ! ब्राह्मण जानते होंगे।"

राजा ने ब्राह्मणों से पूछा। ब्राह्मण बोले—"महाराज ! हमारे लक्षण-मन्त्रों में आया है कि जल-जातों में मछली, कछुवे और कर्कट सुनहरे वर्ण के होते हैं. स्थल-जातों में मृग हंस, मोर और तीतर। ये पशु और मनुष्य स्वर्ण-वर्ण होते हैं।" राजा ने अपने राज्य के शिकारियों को बुलाकर पूछा—"क्या किसी ने सुनहरा मोर देखा है ?" शेष लोगों ने कहा—नहीं देखा है। जिसके पिता ने कहा था वह बोला—मैंने भी नहीं देखा है, किन्तु मेरे पिता का कहना था कि अमुक स्थान पर सुनहरा मोर है। राजा ने उसे बहुत धन देकर बिदा किया। कहा—मित्र ! जा उसे बाँध ले आ। यह मुझे और देवी को प्राण-दान के समान होगा। वह स्त्री-बच्चों को धन दे वहाँ पहुँचा। बोधिसत्व को देख उसने जाल फैलाया। "आज फँसेगा, आज फँसेगा" प्रतीक्षा करते-करते वह मर गया। बोधिसत्व जाल में नहीं फँसे। देवी भी बिना इच्छा पूरी हुए ही मर गई। राजा को क्रोध आया कि उस मोर के कारण मेरी प्रिय भार्या मर गई। उसने वैर के वशीभूत हो "हिमालय की चौथी पंक्ति में सुनहरा मोर रहता है। उसका मांस खाने वाला अजर-अमर हो जाता है" सोने की पट्टी पर लिखाया और उसे एक मजबूत संदूकची में बन्द कराकर वह मर गया।

तब एक दूसरा राजा हुआ। उसने पट्टी के अक्षर देख अजर-अमर होने की इच्छा से उसे पकड़ने के लिए एक शिकारी भेजा। वह भी वहीं मर गया। इस प्रकार छह राज-परम्पराएँ बीत गयीं। छह शिकारी वहीं मर गये। सातवें राजा द्वारा जो सातवाँ शिकारी भेजा गया उसने 'आजकल' करते-करते सात वर्ष तक फँसा न सकने के कारण सोचा—"इस मोर-राज के पाँव में फन्दा न पड़ने का क्या कारण है ?" उसने खोजते हुए देखा कि वह प्रातः-सायं परित्राण-धर्म-देशना का पाठ करता है। तब उसने सोचा—"यहाँ दूसरा मोर नहीं है। यह ब्रह्मचारी होगा। ब्रह्मचर्य के प्रताप से और

परित्राण-धर्म-देशना के प्रताप से इसके पाँव में फन्दा नहीं पड़ता। वह अच्छी तरह प्रतीक्षा कर प्रत्यन्त-जनपद जाकर एक मोरनी फँसा लाया। फिर उसे ऐसी शिक्षा दी कि वह चुटकी बजाने पर आवाज लगाती और ताली पीटने पर नाचती। वह उसे लेकर गया और बोधिसत्व के परित्राण-धर्म-देशना कहने से पहले ही जाल फैला, चुटकी बजाकर मोरनी से आवाज लगवायी। मोर ने उसकी आवाज सुनी। उसी समय उसका सात सौ वर्ष से सोया पड़ा काम-राग चोट खाये सर्प के फन की तरह उठ खड़ा हुआ। वह रागाभिभूत हो परित्राण-धर्म-देशना नहीं कर सका और शीघ्रता से उसके पास जा पाँव में फन्दा फँसाकर ही आकाश से नीचे उतरा। सात सौ वर्ष तक जो फन्दा नहीं पड़ा था वह उसी क्षण पाँव में पड़ा। शिकारी ने उसे लाठी के सिरे पर लटके देख सोचा—"इस मोर-राज को छह शिकारी नहीं फँसा सके। मैं भी सात वर्ष तक नहीं फँसा सका। आज यह इस मोरनी के कारण काम-राग के वशीभूत हो परित्राण-धर्म-देशना न कह सकने के कारण आकर फन्दे में फँस गया है और अब सिर लटकाये है। मैंने इस प्रकार के सदाचारी को कष्ट दिया। इस प्रकार के प्राणी को किसी दूसरे को भेंट करने के लिए ले जाना ठीक नहीं है। मैं राजा के दिये सत्कार को लेकर क्या करूँगा? मैं इसे छोड़ता हूँ।" उसने फिर सोचा—"यह हाथी के बल का है सामर्थ्यवान। हो सकता है मेरे पास जाने पर यह सोचे कि वह मुझे मारने के लिए आता है और यह मृत्यु से भयभीत हो फड़फड़ा कर अपने पाँव या पंख तोड़ ले। मैं बिना पास जाये, छिपे रहकर ही तीर से इसका बन्धन काटूँगा। तब यह स्वयं ही यथा-रुचि उड़ जायगा।" उसने छिपकर धनुष पर तीर चढ़ाया और उसे खींचा। मोर ने भी सोचा—यह शिकारी मुझ कामातुर को बन्धन में फँसा जान निश्चिन्त नहीं बैठा रह सकता। वह कहाँ है? इधर-उधर देखने पर जब उसे दिखायी दिया कि वह धनुष ताने खड़ा है तो यह समझा कि वह उसे मार कर ले जाना चाहता होगा उसने मृत्यु से भयभीत हो उससे जीवन-दान माँगते हुए पहली गाथा कही—

सचे हि त्याहं धनहेतु गाहितो
मा मं बधी, जीवगाहं गहेत्वा
रञ्ञोव मं सम्म उपन्ति नेहि

मञ्ञे धनं लच्छसि नप्परूपं ॥१॥

[यदि तूने मुझे धन के लिए पकड़ा है तो तू मेरा वध मत कर। मुझे जीते जी राजा के पास ले जा। मैं समझता हूँ कि राजा तुझे बहुत धन देगा ॥१॥]

यह सुन शिकारी ने विचार किया—मोर-राज सोचता है कि इसने मुझे मारने के लिए ही तीर चढ़ाया है। मैं इसे आश्वासन दूँगा। उसने उसे सान्त्वना देते हुए दूसरी गाथा कही—

नें मे अयं तुह्य वधाय अज्ज
समाहितो चापवरे खुरप्पो,
पासञ्च त्याहं अधिपातयिस्सं
यथासुखं गच्छतु मोरराज ॥२॥

[मैंने आज यह तेरे मारने के लिए धनुष पर तीर नहीं चढ़ाया है। हे मोर-राज! मैं तेरा बन्धन काट डालूँगा। तू सुखपूर्वक जा ॥२॥]

तब मोर-राज ने दो गाथाएँ कहीं—

यं सत्तवस्सानि मं अनुबन्धि
रत्तिं दिवं खुप्पिपासं सहन्तो
अथ किस्स मं पासवसूपनीतं
पमुत्तवे इच्छसि बन्धनस्मा ॥३॥
पाणातिपाता विरतो नु सज्ज,
अभयं नु ते सब्बभूतेसु दिन्नं
यं मं तुवं पासवसूपनीतं
पमुत्तवे इच्छसि बन्धनस्मा ॥४॥

[सात वर्ष तक भूख-प्यास सहकर तूने रात-दिन मेरा पीछा किया। तूने किसलिए मुझे बन्धन में फाँसा? और अब किसलिए बन्धन से मुक्त करना चाहता है? ॥३॥ क्या तू आज प्राणि-हिंसा से विरत हो गया? क्या तूने आज सभी प्राणियों को अभय-दान दे दिया, जो तू मुझे बन्धन में बँधे हुए को बन्धन से मुक्त करने की इच्छा करता है ॥४॥]

इसके आगे प्रश्नोत्तर हैं। शिकारी—

पाणातिपाता विरतस्स ब्रूहि

अभयं च यो सब्बभूतेसु देति
पुच्छामि तं मोरराज तं अत्थं
इति चुतो किं लभते सुखं सो॥५॥

[हे मोर-राज! मैं तुझसे पूछता हूँ मुझे बता कि जो प्राणि-हिंसा से विरत होता है, जो सब प्राणियों को अभय देता है, वह यहाँ से परलोक जाने पर किस सुख को प्राप्त होता है? ॥५॥]

मोर-राजा—

पाणातिपाता विरतस्स ब्रूमि
अभयञ्च यो सब्बभूतेसु देति
दिठ्ठेव धम्मे लभते पसंसं
सग्गं च सो याति सरीरभेदा॥६॥

[जो प्राणि-हिंसा से विरत रहता है, जो सब प्राणियों को अभय देता है, वह इसी जन्म में प्रशंसा को प्राप्त होता है और मरने पर स्वर्ग जाता है॥६॥]

शिकारी—

न सन्ति देवा, इच्चाहु एके
इधेव जीवो विभवं उपेति
तथा फलं सुकतदुक्कतानं
दत्तुपञ्ञत्तञ्च वदन्ति दानं
तेसं वचो अरहतं सद्दहानो
तस्मा अहं सकुणे बाधयामि॥७॥

[कुछ लोगों का कहना है कि देवता नहीं हैं। जीव यहीं विनाश को प्राप्त होता है। इसी प्रकार उसके सुकृत-दुष्कृत का फल भी। दान देना तो मूर्खों द्वारा बताया गया है—ऐसा कहते हैं। मैं उन "अरहतों" के वचन में विश्वास कर पक्षियों को बाँधता हूँ॥७॥]

यह सुन बोधिसत्व ने 'परलोक का अस्तित्व' बताने के लिए, बन्धन की लकड़ी से नीचा सिर किये लटकते हुए उसको गाथा कही—

चन्दो च सुरियो च उभो सुदस्सना
गच्छन्ति ओभासयं अन्तलिक्खे

इमस्स लोकस्स परस्सा वा ते,
कथं नु ते आहू मनुएस लोके ॥८॥

[चाँद और सूर्य्य दोनों अन्तरिक्ष को प्रकाशित करते हुए जाते हैं, और अच्छी प्रकार दिखाई देते हैं। मनुष्यलोक में उन्हें इस लोक का कहा जाता है। अथवा परलोक का ?॥८॥]

शिकारी ने गाथा कही—

चन्दो च सुरियो च उभो सुदस्सना
गच्छन्ति ओभासयं अन्तलिक्खे
परस्स लोकस्स न ते इमस्स
देवाति ते आहु मनुस्सलोके ॥९॥

[चाँद और सूर्य्य दोनों अन्तरिक्ष को प्रकाशित करते हुए जाते हैं और अच्छी प्रकार दिखाई देते हैं। मनुष्य लोक में उन्हें इस लौक के नहीं परलोक के ही देवता कहा जाता है ॥९॥

उसे बोधिसत्व ने कहा—

एत्थेव ते निहता हीनवादा
अहेतुका ये न वदन्ति कम्मं
तथा फलं सुकतवुक्कतानं
दत्तुपञ्जत्तं ये च वदन्ति दानं ॥१०॥

[इसी कथन से वे हीन मत वाले जो शुद्धि-अशुद्धि को अहेतुक कहते हैं, जो न 'कर्म' करते हैं और न सुकृत-दुष्कृतों का फल कहते हैं और जो दान देना मूर्खों द्वारा कहा गया बताते हैं, परास्त हो गये ॥१०॥]

उसने बोधिसत्व के कथन की सत्यता पर विचार करके दो गाथाएँ कहीं—

अद्धा हि सच्चं वचनं तवेतं,
कथं हि दानं अफलं वदेय्य
तथा फलं सुकतवुक्कतानं
दत्तुपञ्चत्तञ्च कथं भवेय्य ॥११॥

[निश्चय से तेरा यह वचन सत्य है। दान और सुकृत-दुष्कृत निष्फल कैसे हो सकते हैं? और दान देना मूर्खों द्वारा कहा गया कैसे हो सकता है ? ॥११॥]

कथं करो किंति करो किं आचरं
किं सेवमानो केन तपो गुणेन,
अक्खाहि मे मोरराजा तं अत्थं
यथाहं नो निरयं पतेय्यं ॥१२॥

[हे मोरराज! मुझे बता कि मैं कैसे करने से, क्या करने से, किस आचरण से, किस अभ्यास से, किस तप-गुण से नरक में पड़ने से बच सकता हूँ ॥१२॥]

यह सुन बोधिसत्व ने 'यदि मैं इस प्रश्न का उत्तर दूंगा तो ऐसा होगा कि मनुष्य-लोक में कोई उत्तर दे सकने वाला नहीं है। मैं उसे वहीं धार्मिक श्रमण-ब्राह्मणों के होने की बात कहता हूँ' सोच दो गाथायें कहीं—

ये केचि अत्थि समणा पथव्या
कासाववत्था अनगारिया ते,
पातोव पिण्डाय चरन्ति काले
विकालचरिया विरताहि सन्तो ॥१३॥
ते तत्थ कालेन उपसंकमित्वा
पुच्छेहि सन्ते मनसो पियं सिया,
ते ते पवक्खन्ति यथा पजानं
इमस्स लोकस्स परस्स चत्थं ॥१४॥

[जो पृथ्वी पर काषाय वस्त्रधारी अनागारिक श्रमण हैं, वे समय से प्रातःकाल ही भिक्षाटन के लिये निकलते हैं। शान्त-पुरुष विकाल-चर्या से विरत होते हैं॥१३॥ उन शान्त-पुरुषों के पास उचित समय पर पहुँच, जो मन में हो वह पूछो। वे यथाज्ञान तुझे इस और परलोक की बात बतायेंगे ॥१४॥]

इस प्रकार कह उसे नरक का भय दिखाया। वह तो पारमिताओं को पूर्ण किये हुए प्रत्येक-बुद्ध प्राणी था। वह सूर्य्य रश्मियों के स्पर्श की ओर देखकर खिले हुए पद्म की तरह परिपक्व-ज्ञानी हो विचरता था। वह जिस प्रकार खड़ा हुआ उसकी धार्मिक कथा सुन रहा था, उसी प्रकार खड़े ही खड़े संस्कारों पर विचार कर और उनका अनित्य, दुःख अनात्म-स्वरूप होना समझ प्रत्येक-बोधी ज्ञान का लाभी हुआ। उसका ज्ञान-लाभ और बोधिसत्व

का बन्धन मुक्त होना एक ही समय हुआ। प्रत्येक-बुद्ध ने सब चित्त-मलों का नाश कर संसार-सागर के अन्त पर खड़े हो गाथा कही—

तचं व जिण्णं उरगो पुरानं
पण्डूपलासं हरितो दुमो व
एसप्पहीनो मम लुद्दभावो
पजहामहं लुद्दक भावमज्ज ॥१५॥

[जैसे सर्प पुरानी केचुली को छोड़ देता है, जैसे हरे पत्तों वाला पेड़ (सूखे) पीले पत्तों को छोड़ देता है, उसी प्रकार मैं लोभ से मुक्त हुआ। आज मैं लोभ को छोड़ता हूँ॥१५॥]

यह उल्लास-वाक्य कह उसने सोचा—मैं सब क्लेश-बन्धनों से मुक्त हो गया। किन्तु मेरे घर पर बहुत से पक्षी बँधे पड़े हैं। उन्हें कैसे मुक्त करूँगा? उसने बोधिसत्व से पूछा—मोर-राज! मेरे घर बहुत से पक्षी बँधे हैं। उन्हें कैसे मुक्त करें? प्रत्येक-बुद्धों से भी बढ़कर सर्वज्ञबोधिसत्वों का उपाय-ज्ञान होता है। इसलिये उसे कहा—जिस उपाय से सब चित्त-मलों का नाश कर प्रत्येक-बोधि ज्ञान प्राप्त किया उसी को लेकर सत्य-क्रिया करो। सारे जम्बूद्वीप में कोई प्राणी बंधा न रहेगा। उसने बोधिसत्व के दिए उपदेशानुसार सत्य-क्रिया करते हुए गाथा कही—

ये चापि मे सकुणा अत्थि बद्धा
सतानि नेकानि निवेसनस्मि
तेसं पहं जीवितं अज्ज दम्मि
मोक्खञ्च ते पत्ता सकं निकेतनं ॥१६॥

[घर पर जो अनेक सौ बंधे हुए पक्षी हैं उन्हें मैं आज जीवन-दान देता हूँ। वे मुक्त हुए। अब वे अपने अपने घर (जाएँ) ॥१६॥]

उसकी इस सत्य-क्रिया से वे सब असमय ही बन्धन से मुक्त हो प्रसन्नता की आवाज लगाते हुए अपनी जगह गये। उस समय उन उनके घर पर, बिल्ली तक से लेकर सभी प्राणी, सारे जम्बुद्वीप में बन्धन मुक्त हो गये थे। प्रत्येक-बुद्ध ने हाथ उठा कर सिर पर फेरा। उसी समय गृहस्थ-वेष अन्तर्धान हो गया। प्रव्रजित-वेष प्रकट हुआ। उसने साठ वर्ष के स्थविर की तरह आच्छादित हो, आठों परिष्कार धारण कर 'तूने मेरा बहुत उपकार

किया' कह मोरराज की हाथ जोड़कर परिक्रमा की। फिर आकाश में उड़कर नन्दमूलक पर्वत को गया। मोरराज भी लकड़ी के सिरे पर से उड़कर, चोगा ले, अपने निवास-स्थान को ही गया।

अब शिकारी के सात वर्ष तक बन्धन हाथ में लिये घूमते रह कर भी, मोर-राज के ही कारण उसके दुःख से मुक्त होने की बात प्रकाशित करते हुए शास्ता ने अंतिम गाथा कही—

लुद्दो चरो पासहत्थो अरञ्ञे
बाधेतुं मोराधिपति यसस्सिं
बंधित्वा मोराधिपति यसस्सिं
दुक्खा पमुञ्ची यथाहं पमुत्तो॥१७॥

[यशस्वी मोर-राज को बाँधने के लिये शिकारी हाथ में बंधन लिये जंगल में घूमा। यशस्वी मोर-राज को बंधन में बाँधकर वह जैसे मैं दुःख से मुक्त हुआ उसी प्रकार दुःख से मुक्त हो गया॥१७॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना कर सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। (सत्य-प्रकाशन के) अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु ने अर्हत्व प्राप्त किया। उस समय मोर-राजा मैं ही था।

४९२. तच्छ सूकर जातक

"**यदेसमाना विचरिम्ह...**" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय दो बूढ़े स्थविरों के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

महाकोशल नरेश ने राजा बिम्बिसार को लड़की देते हुए लड़की की स्नान-सामग्री के मूल्य-स्वरूप काशी-ग्राम दिया। अजात-शत्रु द्वारा पिता की हत्या कर दिये जाने पर प्रसेनजित ने वह गाँव छीन लिया। उसके लिये उनका युद्ध होने पर पहले अजात-शत्रु जीता। कोसल नरेश ने पराजित होने पर अमात्यों से पूछा—"अजात-शत्रु को कैसे पकड़ें?"

"महाराज! भिक्षु मन्त्रणा में कुशल होते हैं। गुप्त-चरों को भेज विहार में भिक्षुओं की बातचीत सुनवानी चाहिए।"

राजा ने 'अच्छा' कह आदमियों को बुलाकर कहा—"आओ, तुम विहार जाकर छिपी जगह में खड़े हो भदन्तों की बातचीत सुनो।" जेतवन में भी बहुत से राज-पुरुष प्रव्रजित थे। उनमें से दो बृद्ध स्थविर विहार के सिरे पर पर्णकुटी में रहते थे—एक का नाम था धनुग्गहतिस्स स्थविर, दूसरे का मन्तिदत्त स्थविर। वे सारी रात सोकर बड़े प्रातः उठे। उनमें से धनुग्गह तिस्स स्थविर ने आग जलाकर कहा—"भन्ते! दत्त स्थविर।"

"भन्ते! क्या?"

'क्या सो रहे हैं?"

"नहीं सोता नहीं हूँ, क्या करना है?"

"भन्ते! यह कोशलराज बड़ा मूर्ख है, केवल हांडी भर भात ही खाना जानता है।"

"उससे भन्ते! क्या?"

"वह उस अजातशत्रु से हार गया है, जो उसके पेट के कीड़े के बराबर है।"

"भन्ते। उसे क्या करना चाहिए ?"

"भन्ते! दत्त-स्थविर। युद्ध तीन तरह का होता है—शकट-व्यूह वाला, चक्र-व्यूह वाला, पद्म-व्यूह वाला। अजात-शत्रु को पकड़ने वाले को चाहिए कि शकट-व्यूह की रचना करके पकड़े। अमुक पर्वत-खण्ड में, दोनों ओर शूर-पुरुषों को रख, आगे सेना दिखा, जब ज्ञात हो कि शत्रु अन्दर घुस आया है, तो गर्ज कर और कूद कर जाल में फँसी हुई मछली की तरह उसे मुट्ठी में कर ही पकड़ा जा सकता है।"

नियुक्त आदमियों ने यह बात सुन राजा से कही। राजा ने बड़ी भारी सेना ले जाकर वैसा किया और अजात-शत्रु को पकड़ जंजीर से बाँधा। इस प्रकार कुछ दिन तक उसका मान मर्दन कर 'फिर ऐसा न करना' कह मुक्त कर दिया। उसने उसे वजिरकुमारी नाम की लड़की दी और बड़ी शान से बिदा किया। भिक्षुओं में बातचीत चली कि कोशल-राज ने धनुग्गह तिस्स स्थविर के बताए तरीके से अजात-शत्रु को पकड़ा। धर्म-सभा में भी यही बातचीत चली। शास्ता ने आकर 'भिक्षुओ' बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?' पूछ 'अमुक बातचीत' कहने पर 'भिक्षुओ' न केवल अभी धनुग्गाह तिस्स स्थविर पहले भी युद्ध-सञ्चालन में चतुर रहा है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में नगर के द्वारग्राम पर रहने वाला एक बढ़ई लकड़ी के लिये जंगल गया। वहाँ उसने गढ़े में गिरे हुए एक सुअर के बच्चे को देखा। वह उसे ले आया और तच्छक-सूकर नाम रख उसे पोसा। सुअर उसका बड़ा काम करता था—थूथनी से वृक्षों को उलट-पलट देता, दाढ़ में बाँधकर काला धागा खींचता तथा मुंह से पकड़कर कुल्हाड़ी और मोंगरी ला देता! बड़ा होने पर वह बड़ा बलवान बड़े शरीर वाला हो गया। बढई उसे पुत्र की तरह प्यार करने लगा। उसने उसे जंगल में भेज दिया कि यहाँ रहने पर उसे कोई मार न दे। उसने सोचा—"मैं इस जंगल में अकेला न रह सकूंगा रिश्तेदारों को खोज उनके साथ रहूँगा।" उसने घने जंगल में सूअरों को खोजते हुए जब बहुत से सूअर देखे तो सन्तुष्ट हो तीन गाथाएँ कहीं—

यदेसमाना विचरिम्ह पब्बतानि वनानि च
अन्वेसं विचरिं ञाती ते मे अधिगता मया ॥१॥
बहुं इदं मूलफलं, भक्खो चायं अनप्पको,
रम्माचिमा गिरिनदियो, फासु वासो भविस्सति ॥२॥
इधेवाहं वसिस्सामि सह सब्बेहि ञातिभि
अप्पोस्सुक्को निरासकी असोको अकुतोभयो ॥३॥

[जिन्हें पर्वतों और वनों में खोजता हुआ फिरा, वे रिश्तेदार मुझे मिल गये ॥१॥ यहाँ बहुत मूल-फल हैं, यहाँ बहुत भोजन-सामग्री है यह नदी-पर्वत रमणीय हैं। यहाँ सुख-पूर्वक रहना होगा ॥२॥ मैं यहाँ पर सभी रिश्तेदारों के साथ उत्सुकता-रहित आशंका-रहित तथा भय-रहित होकर विचरूँगा ॥३॥]

सूअरों ने उसकी बात सुन चौथी गाथा कही—

अञ्ञं हि लेनं परियेसा, सत्तु नो इध विज्जति,
सो तच्छ सूकरे हन्ति इधागन्त्वा वरं वरं ॥४॥

[दूसरी गुफा खोज, हमारा शत्रु यहां रहता है। हे तच्छ! वह यहाँ आकर अच्छे-अच्छे सुअरों को मारता है ॥४॥]

को नम्हाकं इध सत्तु को ञाती सुसमागते
अप्पधंसे पधंसेति, तं मे अक्खाय पुच्छिता ॥५॥

[हे ञातीगण! मेरे आने पर मुझे बताओ मैं पूछता हूँ कि यहाँ हमारा शत्रु कौन है? कौन है जो हन नाश न किये जा सकने वालों का नाश करता है ॥५॥]

उद्धग्गराजि मिगराजा बली दाठावुधो मिगो,
सो तच्छ सूकरे हन्ति इधागन्त्वा वरं वरं ॥६॥

[हे तच्छ! धारियों-वाला मृगराज, बलवान्, जिसकी दाढ़ें ही उसके आयुध हैं, ऐसा व्याघ्र यहाँ आकर अच्छे-अच्छे सूअरों को मार कर खाता है ॥६॥]

न नो दाठा न विज्जन्ति, बलं काये समूहतं
सब्बे समग्गा हुत्वान वसं काहाम एककं ॥७॥

[क्या हमारी दाढ़ें नहीं हैं? क्या हमारे शरीर का बल जाता रहा

है? हम सब इकट्ठे होकर एक को पराजित करेंगे ॥७॥]

हदयङ्गमं कण्णसुखं वाचं भाससि 'तच्छक,
यो पि युद्धे पलायेथ तं पि पच्छा हनामसे ॥८॥

[हे तच्छक! तू हृदय को लगने वाली तथा कर्ण-मधुर वाणी बोल रहा है। युद्ध से जो भागेगा उसे हम पीछे से मारेंगे ॥८॥]

बढ़ई-सुअर ने सभी सूअरों को एकमत करके पूछा—व्याघ्र किस समय आयेगा? "आज प्रातःकाल वह एक को ले गया, कल फिर प्रातःकाल आयेगा।" वह युद्ध करने में कुशल था। 'यहाँ खड़े रहकर जीता जा सकता है, वह इस प्रकार भूमि-प्रदेश (के महत्व) को जानता था। इसलिए उसने एक स्थान निश्चित करके, रात रहते ही सूअरों का खाना समाप्त करा, बहुत प्रातःकाल ही उसने 'युद्ध में शकट-व्यूह आदि तीन प्रकार के होते हैं' कह इस प्रकार व्यवस्था की:—पद्म-व्यूह बनाओ। बीच में क्षीर-पायी सुअर के बच्चों को रखो। उन्हें घेर कर उनकी माताएँ खड़ी हों। उन्हें घेर कर बन्ध्या सूअरियाँ। उसके बाद सुअर-बच्चे। उनके बाद छोटे-छोटे दाँतों वाले तरुण-सूअर। उनके बाद बड़े-बड़े दातों वाले। उनके बाद बूढ़े सूअर। उसके बाद जहाँ-तहाँ, दस-दस करके, बीस-बीस करके, तीस-तीस करके सेना की टुकड़ियाँ स्थापित कीं। उसने अपने लिए एक गढ़ा और व्याघ्र के गिरने के लिए छाज की शक्ल का एक ढलवाँ खुदवाया। दोनों गढ़ों के बीच में अपने खड़े होने के लिए थड़ा बनवाया। बलवान् सुअरों को साथ ले वह जहाँ-तहाँ अन्य सुअरों के दिल को बढ़ावा देता हुआ घूमने लगा। उसके ऐसा करते-करते ही सूर्य्योदय हो गया।

तब व्याघ्र राज कुटिल जटिल (तपस्वी) के आश्रम से निकल कर पर्वत तल पर खड़ा हुआ। उसे देख सूअर बोले—"भन्ते! हमारा वैरी आ गया है।" "डरो मत, जो कुछ यह करे तुम उसका उलटा करो।" व्याघ्र ने शरीर हिलाकर पीछे हटते हुए पेशाब किया। सूअरों ने भी वैसा ही किया। व्याघ्र ने सूअरों को देखते हुए महान्-नाद किया। उन्होंने भी वैसा ही किया। उसने उनकी करनी देख सोचा—ये पहले जैसे नहीं हैं। आज मेरे विरोध में टोलियाँ बाँधे खड़े हैं। ऐसा लगता है कि इनकी व्यवस्था करने वाला इनका सेना-नायक भी है। आज मुझे इनके पास नहीं जाना

चाहिए।" वह मृत्यु-भय से भयभीत हो कुटिल तपस्वी के पास गया। उसने उसे खाली-हाथ आता देख नौवीं गाथा कही—

पाणातिपाता विरतो नु अज्ज
अभयं नु ते सब्बभूतेसु दिन्नं,
दाठा नु ते मिग विरियं न सन्ति
यो संघपत्तो कपणो व झायसि ॥९॥

[हे व्याघ्र! क्या तू आज प्राणि-हिंसा से विरत हो गया है? क्या तू ने सब प्राणियों को अभय-दान दिया है? क्या तेरी दाढ़ी में जोर नहीं है? (क्या कारण है कि) तू सुअरों के समूह में पहुँचकर भी दरिद्र की तरह सोच रहा है? ॥९॥]

तब व्याघ्र ने तीन गाथायें कही—

न मे दाठा न विज्जन्ति, बलं काये समूहतं
ञाती च दिदस्वान् समङ्गी एकतो
तस्मा झायामि वनम्हि एकको ॥१०॥
इमस्सुदं यन्ति दिसो दिसं पुरे
भयट्टिता लेनगवेसिनो पुथु
ते दानि सङ्गम्म रसन्ति एकतो,
यत्थट्ठिता दुप्पसहज्ज ते मया ॥११॥
परिणायकसम्पन्ना सहिता एकवादिनो
ते मं समग्गा हिंसेय्युं, तस्मा नेसं अपत्थये ॥१२॥

[मेरे दांत अब बींधते नहीं हैं, शरीर-बल जाता रहा। सभी रिश्तेदारों को एक साथ इकट्ठा हुआ देखता हूँ। इसीलिये जंगल में अकेला चिन्ता-युक्त घूमता हूँ ॥१२॥ पहले ये भय-ग्रस्त हो अपनी गुफाओं को खोजते हुए अलग-अलग भाग जाते थे अब ये इकट्ठे होकर एक साथ आवाज लगाते हैं। आज ये जहाँ खड़े हैं, मैं वहाँ इन पर आक्रमण नहीं कर सकता ॥११॥ इनके नेता हैं, ये इकट्ठे हैं, इनका एक-मत है। ये इकट्ठे होकर मुझे मार डाल सकते हैं। इसलिये मैं इन्हें नहीं चाहता ॥१२॥]

यह सुन कुटिल तपस्वी बोला—

एकोव इन्दो असुरे जिनाति
एको व सेनो हन्ति द्विजो पसय्ह
एको व ब्यग्घो मिगसङ्घपत्तो
वरं वरं हन्ति, बलं हि तादिसं ॥१३॥

[अकेला इन्द्र असुरों को जीत लेता है, एक बाज पक्षियों के समूह को जीत लेता है, एक व्याघ्र मृगों के समूह में पहुँचने पर उनसे अच्छे अच्छों को मार लेता है—उसका बल वैसा ही होता है ॥१३॥]

तब व्याघ्र बोला—

न हेव इन्द्रो न सेनो न पि ब्यग्घो मिगाधिपो,
समग्गे सहिते ञाती ब्यग्घे च कुरुते वसे ॥१४॥

[न इन्द्र, न बाज, न मृगेन्द्र ही इकट्ठे हुए रिश्तेदार व्याघ्र-सदृश सुअरों को वश में कर सकता है ॥१४॥]

फिर तपस्वी ने उसे उत्साहित करते हुए दो गाथायें कहीं—

कुम्भीलका सकुणका सङ्घिनो गणचारिनो,
सम्मोदमाना एकज्झं उप्पतन्ति डयन्ति च ॥१५॥
तेसं च उय्हमानानं एक एत्थ अपक्कति
तं सेनो नितालेति, वेय्यग्घी येव सा गति ॥१६॥

[कुंभीलक नाम के पक्षी समूह में गण में साथ रहते हैं। वे प्रसन्नता पूर्वक एक साथ उड़ते हैं ॥१५॥ उन उड़ने वालों में एक पृथक पीछे रह जाता है। उसे बाज मार लेता है। यही व्याघ्र की भी बात है ॥१६॥]

यह कहकर उसने उसे उत्साहित करते हुए कहा—"हे व्याघ्र राज! तुम अपने बल को नहीं पहचानते हो। डरो मत। केवल तू चिंघाड़ मार कर छलांग लगा। एक साथ दो भी जाने वाले नहीं रहेंगे।" उसने वैसा किया।

इसी बात को प्रकट करने के लिए यह गाथा कही गई—

उस्साहितो जटिलेन लुद्देनामिसचक्खुना
दाठ दाठिसु पक्खन्दि मञ्ञमानो यथा पुरे ॥१७॥

[लोभी, दुनियाबी तपस्वी से उत्साहित होकर व्याघ्र ने उन्हें पूर्ववत् ही समझ सुअरों पर आक्रमण किया ॥१७॥]

वह आकर पर्वत तल के नीचे ही खड़ा हुआ। सुअरों ने बढ़ई-सुअर से कहा—स्वामी! डाकू फिर आ गया है। उसने उन्हें सान्त्वना दी कि "डरो मत" और दोनों गढ़ों के बीच शड़े पर खड़ा हुआ। व्याघ्र ने जोर से बढ़ई-सुअर पर आक्रमण किया। बढ़ई-सुअर पलट कर पीछे की ओर पहले गढ़े में जा गिरा। व्याघ्र जो न रोक सकने के कारण जाकर सूप की तरह ढलवान वाले गढ़े में गिर कर ढेरी हो गया। बढ़ई-सुअर ने शीघ्रता की। उसकी जांघों के बीच में दांतों को गड़ा हृदय तक फाड़ता चला गया। उसने उसका मांस खाया और दांतों से घसीट कर उसे गढ़े से बाहर खींच लाकर कहा—इस दास को लो। पहले आये हुए को एक-एक मुंह मारना भर मिला। जो पीछे आये वे यही कहते आये कि व्याघ्र-मांस कैसा होता है? बढ़ई-सुअर ने गढ़े से निकल सुअरों की ओर देखकर कहा—"क्या तुम भली प्रकार सन्तुष्ट नहीं हुए हो?" "स्वामी! अभी एक व्याघ्र को लिया है अभी एक दस-व्याघ्र नायक बचा है।"

"यह कौन है?"

"व्याघ्र जो-जो मांस लाता उसे खाने वाला कुटिल तपस्वी।"

"तो आओ, उसे पकड़ें" कह उसके साथ शीघ्रता से चला। तपस्वी 'व्याघ्र को देर हो रही है' सोचता हुआ बैठा व्याघ्र की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसने सुअरों को आते देखा तो सोचा—प्रतीत होता है कि यह व्याघ्र को मार कर अब मुझे मारने आ रहे हैं वह भाग कर एक गूलर के पेड़ पर चढ़ गया। सुअर बोले—वृक्ष पर चढ़ गया। पूछा—कौन्-सा पेड़ है? "गूलर का पेड़?" "तो चिन्ता मत करो। अभी इसे लेते हैं।" उसने तरुण-सुअरों को बुलाकर वृक्ष की जड़ में से मिट्टी हटवाई। तब सुअरियों से मुंह भर-भर जल मंगवाया। इस प्रकार एक सीधी उतरी हुई जड़ मात्र रह गई। तब शेष सभी सुअरों को 'तुम जाओ' कह, दूर हटा, घुटनों के बल बैठ, दाढ़ों से जड़ खोदी। कुल्हाड़े की चोट से काटने की तरह काटा गया। वृक्ष उलट कर भूमि पर आ पड़ा। कुटिल तपस्वी के गिरते ही उसे बीच में ही दबोच उसका मांस खा गये। उस आश्चर्य को देख वृक्ष-देवता ने गाथा कही—

साधु सम्बहुला ञाती अपि रुक्खा अरञ्ञजा
सूकरेहि समग्गेहि ब्यग्घो एकायने हतो ॥१८॥

[रिश्तेदारों का इकट्ठे होना अच्छा है, चाहे जंगल में पैदा हुए वृक्ष हीं क्यों न हों? इकट्ठे हुए सुअरों ने व्याघ्र को एक ही बार में मार डाला ॥१८॥]

उन दोनों के मरने को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने अगली गाथा कही--

ब्राह्मणञ्चेव ब्यग्घञ्च उभो हन्त्वान सूकरा
आनन्दिनो पमुदिता महानादं अनादिसुं ॥१९॥

[सुअरों ने तपस्वी और व्याघ्र दोनों की हत्या कर प्रसन्न हो आनन्द से महान् घोष किया ॥१९॥]

फिर बढ़ई-सुअर ने पूछा—"क्या तुम्हारा और भी कोई शत्रु है?"

"स्वामी! नहीं है।" उन्होंने उसका अभिषेक कर राजा बनाने की इच्छा से पानी की खोज की। उन्होंने तपस्वी का (पानी) पीने का शंख देखा। उस दक्षिणावर्त शंख-रत्न को भर कर पानी लाया गया और बढ़ई को गूलर-वृक्ष के नीचे बिठा कर अभिषिक्त किया। अभिषिक्त जल से अभिषेक कर चुकने पर उसकी सुअरी को भी पटरानी बनाया। तब गूलर के भद्र-पीठ पर बिठा, दक्षिणावर्त शंख से अभिषेक किया गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने अन्तिम गाथा कही—

तें सु उदुम्बर मूलस्मि सूकरा सुसमागता
तच्छकं अभिसिञ्चिसु त्वं नो राजासि इस्सरो ॥२०॥

[उन सुअरों ने उस गूलर की छाया में बैठ कर उस बढ़ई का अभिषेक किया—तू हमारा ईश्वर है, राजा है ॥२०॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओ, न केवल अभी धनुग्गह युद्ध-सञ्चालन में चतुर है, यह पहले भी हुआ ही है" कहकर जातक का मेल बैठाया। उस समय जटिल तपस्वी देवदत्त था। बढ़ई-सुअर धनुग्गह तिस्स था। वृक्ष-देवता तो मैं ही था।

४९३. महावाणिज जातक

"वाणिजा समिति कत्वा·····" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय श्रावस्ती-वासी व्यापारियों के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वे व्यापार के लिये जाते समय शास्ता को महा दान दे और त्रिशरण तथा पञ्चशील ग्रहण कर बोले—"भन्ते! यदि सकुशल लौटेंगे तो फिर आप के चरणों में प्रणाम करेंगे।" वे पाँच सौ गाड़ियाँ ले निकले। कान्तार में पहुँच, मार्ग का ध्यान न रहने से रास्ता भूल ऐसे जंगल में जा पहुँचे जहाँ न पानी मिलता था न आहार। तब वहाँ घूमते-घूमते उन्होंने एक गूलर का वृक्ष देखा जो एक नाग के अधिकार में था। उन्होंने गाड़ियाँ खोल दी और उस वृक्ष की छाया में बैठे। जब उन्होंने देखा कि उसके पत्ते पानी से भीगे हुए से हैं और उसकी शाखाएँ पानी से भरी-सी है तो सोचा—"ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृक्ष में पानी है। हम इसकी पूर्व की शाखा काटें। यह हमें पानी देगा।"

तब एक ने वृक्ष पर चढ़कर शाखा को काटा। ताड़ के तने जितनी ऊँची पानी की धार निकली। उसमें नहाकर और उसका पानी पीकर दक्षिण-दिशा की शाखा काटी। उसमें से नाना प्रकार का श्रेष्ठ भोजन निकला। उसे खाकर पश्चिम-दिशा की शाखा काटी। उनमें से अलंकृत स्त्रियाँ निकलीं। उनके साथ रमण कर उत्तर-दिशा की शाखा काटी। उसमें से सात रत्न निकले। उन्हें ले पाँच सौ गाड़ियाँ भर वे वापिस श्रावस्ती लौटे और धन को छिपा, धूप-माला आदि हाथ में ले, जेतवन पहुँचे। वहाँ शास्ता को प्रणाम कर (उनकी) पूजा कर, एक ओर बैठ, धर्मोपदेश सुना। अगले दिन महादान देकर कहा—"भन्ते! हम अपने धन-दाता देवता को अपने इस दान में हिस्सेदार बनाते हैं।" शास्ता ने भोजनानन्तर

पूछा--"तुम किस वृक्ष-देवता को हिस्सेदार बनाते हो?" व्यापारियों ने गूलर के पेड़ से धन-प्राप्त होने की कथा शास्ता से निवेदन की। शास्ता ने कहा--"तुम ने मात्रज्ञ होने से, तृष्णा के वशीभूत न होने के कारण धन प्राप्त किया। किन्तु पूर्व समय के लोगों ने मात्रज्ञ न होने से तृष्णा के वशीभूत होने के कारण प्राण और धन गंवाया।" उनके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय के वाराणसी नगर....वही कान्तार....वही गूलर का पेड़। व्यापारियों ने रास्ता भूल उसी गूलर के वृक्ष को देखा। उस बात को शास्ता ने अभिसम्बुद्ध होने पर कहते हुए ये गाथाएँ कही—

वाणिजा समितिं कत्वा नाना रट्ठातो आगता
धनहाराय पक्कमिंसु एकं कत्वान गामणिं॥१॥
ते तं कंतारं आगम्म अप्पभक्खं अनोदकं
महा निग्रोधं अद्दक्खुं सीतच्छायं मनोरमं॥२॥
ते च तत्थ निसीदित्वा तस्स रुक्खस्स छादिया
वाणिजा समचिन्तेसु बाला मोहेन पारुता॥३॥
अद्दायते अयं रुक्खो अपि वारिं च सन्दति,
इङ्घ अस्स पुरिमं साखं मयं छिन्दाम वाणिजा॥४॥
सा च छिन्ना व पग्घरि अच्छं वारिं अनाविलं,
ते तत्थ नहात्वा च पिवित्वा च यावतिच्छिंसु वाणिजा॥५॥
दुतियं समचिन्तेसुं बाला मोहेन पारुता
इङ्घ अस्स दक्खिणं साखं मयं छिन्दाम वाणिजा॥६॥
सा च छिन्ना व पग्घरि सालिमंसोदनं बहुं
अप्पोदवण्णे कुम्मासे सिंगि विदल सूपियो॥७॥
ते तत्थ भुत्वा च पिवित्वा च यावतिच्छिंसु वाणिजा
ततियं समचिन्तेसुं बाला मोहेन पारुता॥८॥
इङ्घ अस्स पच्छिमं साखं मयं छिन्दाम वाणिजा
सा च छिन्नाव पग्घरि नारियो समलङ्कता॥९॥

विचित्र वत्थाभरणा आमुत्तमणिकुण्डला
अपि सु वाणिजा एका नारियो पण्णवीसति ॥१०॥
समन्ता परिकरिंसु तस्स रुक्खस्स छादिया
ते ताहि परिवारेत्वा यावतिच्छिंसु वाणिजा ॥११॥
चतुत्थं सम चिन्तेसुं बाला मोहेन पारुता
इङ्घ अस्स आरं साखं मयं छिन्दाम वाणिजा ॥१२॥
सा च छिन्ना व पग्घरि मुत्ता वेलुरिया बहू
रजतं जात रूपं च कुत्तियो पटियानि च ॥१३॥
कासिकानि च वत्थानि उद्दियाने च कम्बले
ते तत्थ भारे बन्धित्वा यावतिच्छिसुं वाणिजा ॥१४॥
पञ्चमं समचिंतेसुं बाला मोहेन पारुता
इङ्घ अस्स मूलं छिन्दाम, अपि भिय्यो लभामसे ॥१५॥
अथ उट्ठहि सत्तवाहो याचमानो कतञ्जली
निग्रोधो किं अपरज्झति वाणिजा, भद्दं अत्थु ते ॥१६॥
वारिदा पुरिमा साखा, अन्नपानञ्च दक्खिणा,
नारिदा पच्छिमा साखा, सब्बकामे च उत्तरा,
निग्रोधो किं अपरज्झति वाणिजा, भद्दं अत्थु ते ॥१७॥
यस्स रुक्खस्स छायाय निसीदेय्य सयेय्य वा
न तस्स साखं भञ्जेय्य, मित्तदूभो हि पापको ॥१८॥
ते च तस्स अनादियित्वा एकस्स वचनं बहू
निसिताहि कुठारी हि मूलतो तं उपक्कमुं ॥१९॥

[नाना राष्ट्रों से आये हुए व्यापारियों ने 'समिति' बनाई और एक को प्रधान बना धन कमाने के लिए चल पड़े ॥१॥ वे उस कान्तार में पहुँचे जहाँ भोजन और जल नहीं था और वहाँ उन्होंने शीतल छाया वाले सुन्दर बड़े वृक्ष को देखा ॥२॥ उस वृक्ष की छाया में बैठकर उन मूर्ख व्यापारियों ने मूढ़ ग्रस्त हो सोचा ॥३॥ यह वृक्ष जल-मय है और इसमें से पानी बहता है। हम व्यापारी इसकी पूर्व की शाखा काटें ॥४॥ उस शाखा में से कटने पर अच्छा सुन्दर पानी निकला। उन व्यापारियों ने यथेष्ट पिया और स्नान किया ॥५॥ तब उन मूर्ख मूढ़-ग्रस्त व्यापारियों ने दूसरी

बात सोची—हम व्यापारी इसकी दक्षिण शाखा काटें॥६॥ उसके कटने पर उसमें से बहुत-सा शालिमांसोदन अल्प-जल क्षीर सदृश कुल्माश अदरक तथा मूंग की दाल निकली॥७॥ उन व्यापारियों ने उसे यथेच्छ खाया पिया। तब उन मूर्ख मूढ़-ग्रस्त व्यापारियों ने तीसरी बात सोची॥८॥ हम व्यापारी इसकी पश्चिम की शाखा काटें। उस शाखा के कटने पर उसमें से समलंकृत नारियाँ निकलीं॥९॥ सुन्दर वस्त्रों तथा आभरणों वाली और मणि-कुण्डल धारण किये हुए वे पच्चीस नारियाँ एक-एक व्यापारी के लिए (एक-एक ?) थीं॥१०॥ उस वृक्ष की छाया में वे चारों ओर खड़ी हो गईं। उन व्यापारियों ने उनसे घिरे रहकर यथेच्छ (आनन्द मनाया) ॥११॥ उन मूर्ख मूढ़-ग्रस्त व्यापारियों ने चौथी बात सोची—हम व्यापारी इसकी उत्तर की शाखा काटें॥१२॥ उस शाखा के कटने पर उसमें से मोती बहुत से बिल्लौर, चांदीं, सोना, वस्त्र और श्वेत-कम्बल (निकले) ॥१३॥ काशी के वस्त्र तथा उत्तर के (?) कम्बल (मिले)। उन्होंने उनकी यथेच्छ गठरियाँ बांध लीं॥१४॥ तब उन मूर्ख-मूढ़ग्रस्त व्यापारियों ने सोचा हम इसकी जड़ ही खोद दें। बहुत मिलेगा॥१५॥ तब सत्थवाह उठा और उसने हाथ जोड़कर कहा—हे व्यापारियो! तुम्हारा भला हो। इस गूलर-वृक्ष ने तुम्हारा क्या अपराध किया है॥१६॥ पूर्व की शाखा ने जल दिया दक्षिण की शाखा ने अन्न-पान दिया, पश्चिम की शाखा ने नारियाँ दीं उत्तर की शाखा ने सब कामनाएँ पूरी कीं। हे व्यापारियो! तुम्हारा भला हो। इस गूलर-वृक्ष ने तुम्हारा क्या अपराध किया है? ॥१७॥ जिस वृक्ष की छाया में बैठे या लेटे उसकी शाखा न तोड़े क्योंकि मित्र-द्रोह पाप है॥१८॥ उन बहुत से व्यापारियों ने उस एक की बात का आदर न कर तेज कुल्हाड़ियों से उसे काटना आरम्भ किया॥१९॥]

जब वे उसे काटने के लिए वृक्ष के नीचे पहुँचे तो नागराजा ने देख कर सोचा—"मैंने इन प्यासों को पानी दिया फिर दिव्य भोजन तब शयनासन और सेवा करने वाली नारियाँ, तब पाँच सौ गाड़ियाँ भरकर रत्न। अब ये कहते हैं कि मेरे वृक्ष को जड़ से काटेंगे। ये अत्यन्त लोभी हैं। सत्यवाह को छोड़ शेष सभी को मार डालना चाहिए।" उसने सेना को आज्ञा दी—इतने सशस्त्र योद्धा निकलें, इतने धनुषधारी तथा इतने ढाल-तलवार धारी।

इस बात को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने यह गाथा कही—

ततो नागा निक्खमिंसु सन्नद्धा पण्णवीसति
धनुग्गहानं तिसता छ सहस्सा च वम्मिनो॥२०॥

[तब पच्चीस सशस्त्र योद्धा-नाग निकले, तीन सौ धनुषधारी और छः हजार ढाल-तलवार-धारी॥२०॥]

तब नागराजा ने आज्ञा दी—

एते हनथ बन्धथ, मा वो मुञ्चित्थ जीवितं,
ठपेत्वा सत्थवाहं सब्बे भस्मं करोथ ने॥२१॥

[इन्हें बाँधकर मार दो। किसी को जीता न छोड़ो। सत्यवाह के अतिरिक्त इन सबको भस्म कर दो॥२१॥]

नागों ने वैसा ही किया। फिर उत्तर के आस्तरण आदि वस्त्रों को पाँच सौ गाड़ियों पर लाद, सत्यवाह को साथ लिया और उन गाड़ियों को स्वयं हांका। वाराणसी पहुँच सारा धन उसके घर में संभाल कर रख दिया। फिर उसकी आज्ञा ले नाग-भवन वापिस आए।

यह अर्थ जान शास्ता ने उपदेश देने के लिए दो गाथायें कहीं—

तस्मा हि पण्डितो पोसो सम्पस्सं अत्थं अत्तनो
लोभस्स न वसं गच्छे हनेय्यारिसकं मनं॥२२॥
एतं आदिनवं ञत्वा तण्हा दुक्खस्स सम्भवं
वीततण्हो अनादानो सतो भिक्खु परिब्बजे॥२३॥

[इसलिए पण्डित आदमी को चाहिए कि अपने हित का ख्याल कर लोभ के वशीभूत न हो और अपने लोभी शत्रु-मन को मार डाले॥२२॥ यह जान कि तृष्णा से ही दुःख पैदा होता है, आदमी को चाहिए कि वह तृष्णा-रहित, आसक्ति-रहित तथा स्मृतिमान रह भिक्षु हो प्रव्रज्या ग्रहण करे॥२३॥]

यह धर्म-देशना ला, "उपासको! इस प्रकार पूर्व समय में व्यापारी लोभ के वशी-भूत हो महाविनाश को प्राप्त हुए। इसलिए लोभ के वशीभूत न होना चाहिए" कह सत्यों को प्रकाशित कर शास्ता ने जातक का मेल बैठाया। (सत्यों के अन्त से वे व्यापारी स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुए) उस समय नागराजा सारिपुत्र था। सत्यवाह तो मैं ही था।

---

४९४. साधीन जातक

"अब्भुतो वत लोकस्मि......" यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय उपोसथ-व्रत रखने वाले उपासकों के बारे में कही।

क: वर्तमान कथा

उस समय शास्ता ने 'उपासको! पुराने पण्डित अपने उपोसथ-व्रत के कारण मनुष्य-शरीर से ही देव-लोक पहुँच, चिरकाल तक वहाँ रहे'...उनके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख: अतीत कथा

पूर्व समय में मिथिला में साधीन नाम का राजा धर्मानुसार राज्य करता था। उसने चारों द्वारों पर, नगर के बीच में तथा अपने राजभवन के द्वार पर—इस प्रकार छः दान-शालायें बनवा सारे जम्बुद्वीप को हिलाते हुए महादान दिया। प्रति दिन छः लाख खर्च होते। वह पाँच शीलों की रक्षा करता और उपोसथ-व्रत रखता। राष्ट्र-वासी भी उसके उपदेशानुसार चल, दानादि पुण्य कर्म कर, मरने पर देव-लोक से ही पैदा होते। सुधम्म देव सभा में बैठे हुए (लोग) देव-राज के सदाचार आदि गुणों की ही प्रशंसा करते थे। यह सुन शेष देवताओं ने भी राजा को देखना चाहा। शक्र देवराज ने उनके मन की बात जान कर पूछा—साधीन राजा को देखना चाहते हो?

"हाँ, देव!"

उसने मातली को आज्ञा दी—जा, वेजयन्त रथ को जोत, साधीन को ले आ। उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और रथ जोत कर विदेह राष्ट्र गया। उस दिन पूर्णिमा थी। मालती ने जिस समय आदमी शाम का भोजन खाकर (अपने अपने) द्वार पर आराम से बैठे थे चन्द्रमण्डल के साथ रथ भेजा। आदमी कहने लगे—दो चन्द्र-मण्डल उगे हैं। फिर जब

देखा कि रथ चन्द्रमण्डल को छोड़ चला आ रहा है तो बोले—"यह चन्द्रमा नहीं है। यह रथ है। प्रतीत होता है कि कोई देव-पुत्र है। यह मनोमय सैन्धव-घोड़ों से युक्त रथ किसके लिए आ रहा है? किसी दूसरे के लिए नहीं, हमारे राजा के लिए ही होगा। हमारा राजा धार्मिक है। वह धर्म-राजा है।" उन्होंने प्रसन्न हो हाथ जोड़ खड़े हो पहली गाथा कही—

अब्भुतो वत लोकस्मिं उप्पज्जि लोमहंसनो
दिब्बो रथो पातुरअहु वेदेहस्स यसस्सिनो ॥१॥

[लोक में अद्भुत लोमहर्षण करने वाली बात हुई है। यशस्वी विदेह-नरेश के लिए दिव्य-रथ प्रकट हुआ है ॥१॥]

मातली भी रथ ले आया। मनुष्यों ने हाथ में गन्धमाला आदि ले उसकी पूजा की। उसने तीन बार नगर की प्रदक्षिणा की और राजद्वार पर जा पहुँचा। वहाँ रथ को रोक, पिछली ओर की खिड़की के बरामदे में खड़ा कर. उसे रथ पर चढ़ने के लिए तैयार कर खड़ा किया। उस दिन राजा ने भी दान-शाला को देखते हुए 'इस प्रकार दान दो' आज्ञा दे. उपोसथ व्रत ग्रहण कर दिन बिताया था। अमात्य गणों से घिरा हुआ वह अलंकृत महान तल्ले पर पूर्व खिड़की की ओर मुँह किए बैठा धार्मिक बातचीत कर रहा था। मातली ने उसे रथ पर चढ़ने के लिए बुलाया और चढ़ा कर ले गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने ये गाथाएँ कहीं—

देवपुत्तो महिद्धिको मातलि देवसारथि,
निमन्तयित्थ राजानं वेदेहं मिथिलग्गहं ॥२॥
एहियं रथं आरुय्ह राजसेट्ठ दिसम्पति
देवा दस्सनकामा ते तावतिंसा सइन्दका
सरमाना हि ते देवा सुधम्मायं समच्छरे ॥३॥
ततो च राजा साधीनो पमुखो रथं आरुहि
सहस्सपुत्तं आरुय्ह अगा देवान सन्तिके ॥४॥
तं देवा पहिनंदिसु दिस्वा राजानं आगतं
स्वागतं ते महाराज अथो ते अदुरागतं,
निसीद दानि राजिसि देवराजस्स सन्तिके ॥५॥

सक्को पि पटिनन्दित्थ वेदेहं मिथिलग्गहं
निमन्तयी च कामेहि आसनेन च वासवो॥६॥
साधु खो सि अनुप्पत्तो आवासं वसवत्तिनं
वस देवेसु राजिसि सब्बकामसमिद्धिसु
तावतिंसेसु देवेसु भुञ्ज कामे अमानुसे॥७॥

[देव-पुत्र देव सारथी महाऋद्धिवान् मातली ने मिथिला के विदेह राजा को निमन्त्रण दिया॥२॥ हे दिशाओं के स्वामी! हे राज श्रेष्ठ! आओ और इस रथ पर चढ़ो। इन्द्र सहित त्रयोत्रिंश-लोक के देवता तुम्हारा दर्शन करना चाहते हैं। वे तुम्हारी याद करते हुए सुधम्मा में हैं॥३॥ तब वह प्रमुख राजा रथ-पर चढ़ा। वह उस हजार (घोड़ों) वाले रथ पर चढ़ देवताओं के पास गया॥४॥ उस राजा को आया देख; देवताओं ने आनन्द मनाया। वे बोले—हे महाराज! आप हमारे समीप आये हैं, आप का स्वागत है। हे राजर्षि अब आप देवराज के समीप बैठें॥६॥ शक्र ने भी विदेह मिथिलेश को देख कर आनन्द मनाया। वासव ने भी उसे काम-भोगों तथा आसन पर (साथ) बैठने का निमन्त्रण दिया॥६॥ "अच्छा हुआ, जो तू वशीवर्तियों के निवास-स्थान पर आ गया। हे राजर्षि! सब काम भोगों वाले देव-लोक में रह और त्रयोत्रिंश देव-लोक में दिव्य काम-भोगों का आनन्द ले"॥७॥

देवराज शक्र ने उसे दस हजार योजन का देव-नगर, ढाई करोड़ अप्सरायें तथा आधा वेजयन्त प्रासाद बीच में से बाँट कर दिया। इस प्रकार उसकी सम्पत्ति का उपभोग करते हुए मनुष्य-गणना के हिसाब से सात सौ वर्ष बीत गये। उसी शरीर से देव-लोक में रहते समय उसके पुण्य का क्षय हो गया, अरति पैदा हुई। तब उसने शक्र के साथ बातचीत करते हुए गाथा कही—

अहं पुरे समागतो रमामि
नच्चेहि गीतेहि च वादितेहि,
सोदानि अज्ज न रमामि सग्गे,
आयुं नु खीणो, मरणं नु सन्तिके
उदाहु मूळ्होस्मि जनिन्दसेठ॥८॥

[पहले मैं स्वर्ग जाने पर नृत्य, गीत तथा वाद्य से आनन्दित होता था। आज मुझे स्वर्ग में मजा नहीं आ रहा है। क्या मेरी आयु का क्षत हो गया है? क्या मेरी मृत्यु समीप है? अथवा हे देवेन्द्र! क्या मैं मूढ़ हो गया हूँ? ॥८॥]

तब शक्र बोला—

न चायु खीणं, मरणं ते दूरे,
न चापि मूळहो नरविरियसेट्ठ,
तवञ्च पुञ्ञानि परित्तकानि
सेसं विपाकं इध वेदयतो ॥९॥
वस देवानुभावेन राजसेट्ठ दिसम्पति,
तावतिंसेसु देवेसु भुञ्ज कामे अमानुसे ॥१०॥

[तेरी आयु क्षीण नहीं हुई है। तेरा मरना दूर है। हे नरवीर्य्य-श्रेष्ठ! तू मूढ़ता को भी प्राप्त नहीं हुआ है। यहाँ कर्म-फल का भोग करने वाले तेरे पुण्य कर्म थोड़े गये हैं॥९॥ हे राज-श्रेष्ठ! हे दिशाओं के स्वामी! तू यहाँ त्रयोत्रिंश देव-लोक से देवताओं के प्रताप से रह और दिव्य कामभोगों का सेवन कर॥१०॥]

बोधिसत्व ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा—

यथा याचितकं यान यथा याचितकं धनं
एवं सम्पदं एव एतं यं परतो दानपच्चया ॥११॥
न चाहं एतं इच्छामि यं परतो दानपच्चया,
संकतानि पुञ्ञानि तं मे आवेणियं धनं ॥१२॥
सोहं गन्त्वा मनुस्सेसु काहामि कुसलं बहुं,
दानेन समचरियाय संयमेन दमेन च
यं कत्वा सुखितो होति न च पच्छानुतप्पति ॥१३॥

[जैसे दूसरे की माँगी हुई गाड़ी, जैसे दूसरे का माँगा हुआ धन उसी प्रकार यह है जो दूसरे के दान-स्वरूप मिलता है॥११॥ मैं जो दूसरे के दान-स्वरूप मिले उसकी इच्छा नहीं करता हूँ। अपने किए हुए पुण्य-कर्म ही मेरा परम्परागत धन है॥१२॥ इसलिए मैं मनुष्य-लोक में जाकर बहुत पुण्य-कर्म करूँगा। मैं समानता का बर्ताव करूँगा। मैं संयम तथा

(इन्द्रिय) दमन से काम लूंगा, जिससे आदमी सुखी होता है और पश्चात्ताप नहीं करता॥१३॥]

(उसकी बात सुन शक्र ने मातली को आज्ञा दी—"जा साधीन राजा को मिथिला ले जाकर उद्यान में उतार आ।" उसने वैसा ही किया। राजा उद्यान में घूम रहा था। माली ने देखा, पूछा और जाकर नारद राजा से कहा। उसने राजा के आने का समाचार सुन, माली को आज्ञा दी कि तू पहले पहुँच, उसके तथा मेरे लिए दो आसन बिछा दे। उसने वैसा किया। राजा ने पूछा—

"तू किस के लिए दो आसन बिछाता है।"

"एक आपके लिए, एक अपने राजा के लिए।"

तब राजा ने ऐसा दूसरा कौन प्राणी है, जो मेरे पास आसन पर बैठेगा' कह एक आसन पर बैठ दूसरे पर पाँव रख लिया। नारद राजा आया और उसके चरणों में प्रणाम कर एक ओर खड़ा हुआ। वह सातवीं पीढ़ी में उसका नाती लगता था और उस समय उसकी आयु सौ वर्ष की ही थी। बोधिसत्व ने अपने पुण्य-प्रताप से इतना समय गुजार दिया। उसने नारद को हाथ से पकड़, उद्यान में घूमते हुए तीन गाथायें कही—

इमानि तानि खेत्तानि इमं निक्खं सुकुण्डलं
इमा ता हरितानोपा इमा नज्जो सवन्तियो॥१४॥
इमा [ता] पोक्खरणियो रम्मा चक्कवाकूपकूजिता
मन्दालकेहि सञ्छन्ना पदुमुप्पलकेहि च
यस्स इमानि ममायिंसु किं नु ते दिसत गता॥१५॥
तानीध खेत्तानि सो भूमभागो
ते आरामा ते वन मे पचारा
तं एव मय्हं जनतं अपस्सतो
सुञ्ञं व मे नारद खायते दिसा॥१६॥

[ये वे ही खेत हैं, ये पानी के गोलाकार नाले हैं, ये दोनों ओर की हरी हरी भूमि है, तथा ये बहने वाली नदियाँ हैं॥१४॥ ये रमणीय पुष्करणियाँ हैं जिन पर चक्रवाक गूंजते हैं और जहाँ मन्दालक (?) और

पद्म तथा कमल उगते हैं। किन्तु वे जो उन्हें प्यार करते थे वे सब किस दिशा को गये? ॥१५॥ वे ये खेत हैं, वही यह भूमि भाग है, वही ये आराम हैं, वही ये मेरी वन-विहार भूमियाँ हैं। किन्तु हे नारद! अपने उन जनों को न देखकर मुझे ये दिशायें शून्य लगती हैं॥१६॥]

तब नारद बोला—"देव! आप को देव-लोक गये अब सात सौ वर्ष बीत गये। मैं सातवाँ नाती हूँ। आपके सभी सेवक मृत्यु को प्राप्त हुए। यह आपका राज्य है। इसका भोग करें।" राजा ने उत्तर दिया—"तात नारद! मैं यहाँ राज्य के लिए नहीं आया। मैं यहाँ पुण्य करने के लिए आया हूँ। मैं पुण्य ही करूँगा।" और उसने ये गाथायें कहीं—

दिट्ठा मया विमाना ओभासेन्ता चतुद्दिसा
सम्मुखा देवराजस्स तिदसानञ्च सम्मुखा॥१७॥
वुत्थं मे भवनं दिब्बं भुत्ता कामा अमानुसा
तावतिंसेसु देवेसु सब्बकामसमिद्धिसु॥१८॥
सोहं एतादिसं दिस्वा पुञ्ञायम्हि इधागतो,
धम्मं एव चरिस्सामि, नाहं रज्जेन अत्थिको॥१९॥
अदण्डावचरं मग्गं सम्मासम्बुद्धदेसितं
तं मग्गं पटिपज्जि... येन गच्छन्ति सुब्बता॥२०॥

[मैंने चारों ओर चमकते हुए विमानों को देखा है, देवताओं तथा देवेन्द्र को आमने-सामने॥१७॥ ... काम भोगों से युक्त त्रयोत्रिंश-लोक में मैं दिव्य-भवन में रहा हूँ और दिव्य काम-भोगों को भोगा है॥१८॥ यह सब देख कर मैं यहाँ पुण्य करने के लिए आया हूँ। मैं यहाँ धर्म ही करूँगा। मुझे राज्य नहीं चाहिए॥१९॥ मैं सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांगिक मार्ग पर चलूँगा जिस पर (सभी) बुद्ध चलते हैं॥२०॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने सर्वज्ञता-ज्ञान से इन गाथाओं को संक्षिप्त करके कहा। नारद ने फिर कहा—"देव! राज्यानुशासन करें।" "तात! मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं। सात सौ वर्षों में समाप्त होने वाला दान सप्ताह भर में ही देना चाहता हूँ।" नारद ने 'अच्छा' कह उनका वचन स्वीकार किया और महादान दिलवाया। राजा ने सप्ताह भर दान दिया और सातवें दिन शरीर-त्याग कर त्रयोत्रिंश-भवन में उत्पन्न हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'इस प्रकार उपोसथ-व्रत लेना उचित है' दिखा सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उपासकों में से कुछ स्रोतापन्न, कुछ सकृदागामी हुए। उस समय नारद राजा आनन्द था। शक्र अनुरुद्ध, साधीन राजा तो मैं ही था।

४६५. दस ब्राम्हण जातक

"राजा अवोच विधुरं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय असदृश दान के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

यह कथा आठवें निपात के सुचिर जातक में विस्तार पूर्वक आ ही गई है। राजा ने वह दान देते हुए शास्ता को प्रधान बना पाँच सौ भिक्षुओं को चुन, ले महाक्षीणस्रवों को ही दान दिया। उसके गुण की चर्चा करते हुए भिक्षुओं ने धर्मसभा से बात चलाई—"आयुष्मानो, राजा ने असदृश दान देते हुए चुन कर महान् फल प्राप्ति के ही स्थान में दिया।" शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर शास्ता ने 'भिक्षुओं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि कोशल-नरेश मेरे सदृश बुद्ध का सेवक हो विवेकपूर्ण दान देता है, पुराने पण्डितों ने बुद्ध के न रहने पर भी विवेकपूर्ण दान दिया है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कुरु राष्ट्र में इन्द्रप्रस्थ नगर में युधिष्ठिर गोत्र का कुरु-नरेश राज्य करता था। उसका विधु (दु) र नाम का अमात्य अर्थ-धर्म में अनुशासन करता था। राजा ऐसा दान देता था कि सारे जम्बुद्वीप में हलचल मच जाती। उस दान के लेनेवालों में एक भी ऐसा नही होता था जो पाँच शीलों की भी रक्षा करता हो। सभी दुःशीलवान्। दान से राजा को सन्तोष न होता। राजा ने सोचा कि विवेकपूर्ण दान महान् फल का दाता होता है। उसने सदाचारियों को दान देने की इच्छा से विचार किया कि विधुर-पण्डित के साथ मन्त्रणा करूँगा। उसने उसके सेवा में आने पर, आसन पर बिठवा प्रश्न पूछा—इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने आधी गाथा कही। आगे राजा और विधुर का प्रश्नोत्तर है।

राजा अवोच विधुरं धम्मकामो युधिट्ठिलो ॥१॥

[धर्मकामी राजा युधिष्ठिर ने विधुर से कहा ॥१॥]

ब्राह्मणे विधुर परियेसं सीलवन्ते बहुस्सुते ॥१॥

[विधुर सदाचारी बहुश्रुत ब्राह्मणों को खोज ॥१॥]

विरते मेथुना धम्मा ये मे भुञ्जेय्य भोजनं
दक्खिणं सम्म दस्साम
यत्थ दिन्नं महप्फलं ॥२॥

[जो मैथुन-धर्म से विरत हों, जो मेरा भोजन ग्रहण करें। मैं उन्हें दक्षिणा दूँगा, जिन्हें दक्षिणा देने से महान् फल हो ॥२॥]

दुल्लभा ब्राह्मणा देव सीलवन्तो बहुस्सुता
विरता मेथुना धम्मा ये ते भुञ्जेय्य भोजनं ॥३॥

[हे देव! सदाचारी बहुश्रूत ब्रा ँण जो मैथुन-धर्म से विरत हो और तुम्हारा भोजन करें दुर्लभ हैं ॥३॥]

दस खलु महाराज या ता ब्राह्मणजातियो,
ते सं विभङ्गं विचयं वित्थारेन सुणोहि मे ॥४॥

[हे महाराज! ब्राह्मण जाति में दस तरह के ब्राह्मण हैं। मैं उनके प्रकार-विस्तार पूर्वक कहता हूँ—सुनें ॥४॥]

पसिब्बके गहेत्वान पुण्णे मूलस्स संवुते
ओसधिकायो मन्येन्ति नहायन्ति जपन्ति च ॥५॥
तिकिच्छक समा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥६॥

[जड़-मूल से भरी हुई मुँह बन्द थैलियाँ लेकर वे दवाइयों की पोटलियाँ बाँध-बाँधकर (आदमियों को) देते हैं, स्नान करते हैं और (मन्त्र) जाप करते हैं। राजन्! वे चिकित्सक-समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने उनके बारे में बता दिया। अब कहें कि क्या उनको निमन्त्रण देने के लिए उनके पास जायें? ॥५-६॥]

अपेता ते ब्राह्मञ्ञा
न ते वुच्चन्ति ब्राह्मणा
अञ्ञे विधुर परियेस सीलवन्ते बहुस्सुते ॥७॥

विरते मेथुना धम्मा ये मे भुञ्जेय्य भोजनं
दक्खिणं सम्म दस्साम यत्थ दिन्नं महप्फलं ॥८॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं। उन्हें ब्राह्मण नहीं कहते। हे विधुर! दूसरे सदाचारी बहुश्रुत ब्राह्मणों की खोज करो, जो मैथुन-धर्म से विरत रहते हों और जो मेरा भोजन ग्रहण करें। मैं उन्हें दक्षिणा दूंगा जिन्हें देने से महान् फल होगा ॥७-८॥]

किंकणिकायो गहेत्वान घोसेन्ति पुरतो पि ते,
पेसनानि पि गच्छन्ति, रथचरियासु सिक्खरे,
परिचारकसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥९-१०॥

[वे घंटियाँ लेकर आगे-आगे बजाते चलते हैं, सन्देशवाहक भी बनते हैं, रथ हाँकना भी सीखते हैं। राजन्! वे सेवक-समान हैं। किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने....॥९-१०॥]

अपेता ते ब्राह्मञ्ञा,
न ते....................॥११-१२॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं, उन्हें ॥११-१२॥]

कमण्डलुं गहेत्वान वङ्कदण्डञ्च ब्राह्मणा
पच्चुपेस्सन्ति राजानो गामेसु निगमेसु च
नादिन्ने वुट्ठहिस्साम गामम्हि च वनम्हि च
निग्गाहकसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥१३-१४॥

[टेढ़ा-मेढ़ा डण्डा और कमण्डलु लेकर ब्राह्मण ग्राम-निगम में राजाओं की सेवा में रहते हैं। वे गाँव और वन में बैठ जाते हैं और कहते हैं कि जब तक हमें दोगे नहीं तब तक हम नहीं उठेंगे। हे राजन्! वे कर वसूल करने वालों की तरह हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने...॥१३-१४॥]

अपेता ते ब्राह्मञ्ञा
न ते.......................॥१५-१६॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं, उन्हें ॥१५-१६॥]

परूलहकच्छ नखलोमा पङ्कदन्ता रजस्सिरा
ओकिण्णा रजरेणुहि याचका विचरन्ति ते,
खाणुघातसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥१७-१८॥

[जिनके बाल और नाखून बढ़े हुए हैं, जिनके दांत मैले हैं, जिनके सिर में धूल है, जिनकी देह पर राख-मिट्टी लिपटी है और जो माँगते फिरते हैं। हे राजन् ! वे गाड़े हुए ठूँठ के समान हैं किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज ! मैंने....॥१७-१८॥]

अपेता ते ब्राह्मञ्जा
न ते.....................॥१९-२०॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं, उन्हें ॥१९-२०॥]

हारीटकं आमलकं अम्बजम्बु विभीटकं
लबुजं दन्तपोणानि बेलुवा पदरानि च
राजायतनं उच्छुपुटं धूमनेत्तं मधुञ्जनं
उच्चावचानि पणियानि विपणेन्ति जनाधिप,
वाणिजकसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥२१-२२॥

[हरड़, आँवला, आम, जामुन, ?, लौकी, दातुन, बिल्व की लकड़ी तख्ते, राजायतन (की लकड़ी), ऊख की टोकरियाँ, हुक्का (?), शहद, अञ्जन, तथा अन्य महँगे-सस्ते सामान बेचते हैं। हे राजन् ! वे बनियों के समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज ! मैंने..... ॥२१-२३॥]

अपेता ते ब्राह्मञ्जा
न ते.....................॥२४-२५॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं, उन्हें.....॥२४-२५॥]

कसिं वाणिज्जं कारेन्ति, पोसयन्ति अजेलके,
कुमारियो पवेच्छन्ति, विवाहन्तावहन्ति च,
समा अम्बट्ठवेस्सेहि, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥२६-२७॥

[खेती, व्यापार करते हैं, भेड़ बकरी पालते हैं, कुमारियों को (धन लेकर दूसरों को) देते हैं, तथा आवाह-विवाह कराते हैं। वे गृहस्थ तथा गृहपतियों के समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने....॥२६-२७॥]

अपेता ते ब्रह्मञ्ञा
न ते.........................॥२८-२९॥

वे ब्राह्मण्य से दूर हैं, उन्हें....॥२८-२९॥]

निक्खन्तभिक्खं भुञ्जन्ति गामेस्वेक पुरोहिता,
बहू ते पटिपुच्छन्ति अण्डच्छेदा तिलञ्छका
पसू पि तत्थ हञ्ञन्ति महिसा सूकरा अजा,
गोघातकसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे॥३०-३१॥

[ग्रामों में कुछ पुरोहित ऐसे भी हैं जो बँधी हुई भिक्षा खाते हैं, जिन्हें बहुत से लोग (नक्षत्र आदि) पूछते हैं, जो बैलों का अण्ड (कोष) छेदन करते हैं तथा जो उन्हें दागते हैं। उनके यहाँ पशुओं की भी हत्या होती है— भैंसों की, सूअरों की तथा बकरियों की। हे राजन्! वे गो-घातक समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने.. .. ॥३०-३१॥]

अपेता ते ब्रह्मञ्ञा
न ते.........................॥३२-३३॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं। उन्हें....॥३२-३३॥]

असिचम्मं गहेत्वान खग्गं पग्गय्ह ब्राह्मणा
वेस्सपथेसु तिट्ठन्ति, सत्थ अब्बाहयन्ति पि,
समा गोपनिसादेहि, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे॥३४-३५॥

[कुछ ब्राह्मण ढाल-तलवार लेकर व्यापारियों के रास्ते पर खड़े हो जाते हैं। वे काफिले से सौ हजार लेकर उसे (जंगल से) पार भी करा देते हैं। वे ग्वालों तथा निषादों के समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने......३४-३५॥]

अपेता ते ब्रह्मञ्ञा
न ते.........................॥३६-३७॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं। उन्हें....॥३६-३७॥]

अरञ्ञे कुटिक कत्वा कुटानि कारयन्ति ते,
ससबिलारे बाधेन्ति आगोधा मच्छकच्छपं,
लुद्दका ते महाराज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा,
अक्खाता ते महाराज तादिसे निपतामसे ॥३८-३९॥

[आरण्य में कुटी बनाकर जाल बिछाते हैं और उसमें खरगोश, बिल्लों से लेकर गोध तथा मछ्ली-कछुवे पर्यन्त फँसाते हैं। हे महाराज! वे शिकारी-समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं। हे महाराज! मैंने... ॥३८-३९॥]

अपेता ते ब्रह्मञ्ञा
न ते.........................॥४०-४१॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं। उन्हें....॥४०-४१॥]

अञ्ञे धनस्स कामाहि हेट्ठा मञ्चे पसक्खिता
राजानो उपरि नहायन्ति सोमयागे उपट्ठिते,
मलमज्जनसमा राज, ते पि वुच्चन्ति ब्राह्मणा
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥४२-४३॥

[दूसरे ब्राह्मण धन के लोभ से मञ्चों के नीचे लेट जाते हैं और सोम-यज्ञ के अवसर पर राजा लोग उन मन्चों पर बैठ कर नहाते हैं। हे राजन! वे मैल में स्नान करने वाले के समान हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मण कहलाते हैं, हे महाराज! मैंने .. ..॥४२-४३॥]

अपेता ते ब्रह्मञ्ञा
न ते.........................॥४४-४५॥

[वे ब्राह्मण्य से दूर हैं। उन्हें....॥४४-४५॥]

इस प्रकार इन कहे जाने वाले ब्राह्मणों की चर्चा कर सच्चे-ब्राह्मणों का प्रकाश करने के लिए दो गाथायें कहीं—

अत्थि खो ब्राह्मणा देव सीलवन्तो बहुस्सुता
विरता मेथुना धम्मा ये ते भुञ्जेय्यु भोजनं ॥४६॥

एकञ्च भत्तं भुञ्जन्ति न च मज्जं पिवन्तिते,
अक्खाता ते महाराज, तादिसे निपतामसे ॥४७॥

[हे देव! सदाचारी बहुश्रुत ब्राह्मण भी हैं जो मैथुन-धर्म से विरत हैं और जो तुम्हारा भोजन ग्रहण करेंगे। वे एक ही (बार) भोजन करते हैं और मद्य-सेवन नहीं करते। हे महाराज! मैंने उनके बारे में बता दिया। अब कहें कि क्या उनको निमन्त्रण देने के लिए उनके पास जायें? ॥४६-४७॥]

राजा ने उसकी बात सुनकर पूछा—"मित्र विधुर! इस प्रकार के अग्र-दक्षिणेय्य ब्राह्मण कहाँ रहते हैं?"

"महाराज! उत्तर हिमालय से नन्दमूलक पर्वत पर।"

"तो पण्डित! अपने सामर्थ्य से मेरे लिए उन ब्राह्मणों को खोज।" उसने प्रसन्न-चित्त हो यह गाथा कही—

एते खो ब्राह्मणा विधुर सीलवन्तो बहुस्सुता,
एते विधुर परियेस, खिप्पं च ते निमन्तय ॥४८॥

[हे विधुर! ये शीलवान् बहुश्रुत ब्राह्मण हैं। इन्हें खोज और शीघ्र निमन्त्रण देकर ला ॥४८॥]

बोधिसत्व ने 'अच्छा' कह उसका कहना स्वीकार किया और कहा—

"महाराज! सारे नगर को अलंकृत करा मुनादी करा दें कि सब नगरवासी दान देकर उपोसथ-व्रती हो तथा शील ग्रहण करें। आप भी परिजन सहित उपोसथ-व्रती हो।" इतना कह स्वयं प्रातःकाल ही खा-पीकर उपोसथ-व्रत ले, चमेली के फूलों को टोकरी मँगवा, पाँच अंगों को भूमि पर प्रतिष्ठित कर नमस्कार किया। राजा ने भी ऐसे ही किया। तब उसने प्रत्येक-बुद्धों के गुणों का अनुस्मरण कर प्रणाम किया और फूलों की आठ मुट्ठियाँ आकाश की ओर फेंक कर कहा—"उत्तर हिमालय में नन्दमूलक पर्वत पर रहने वाले पाँच सौ प्रत्येक-बुद्ध कल हमारा निमन्त्रण ग्रहण करें।" उस समय वहाँ पाँच सौ प्रत्येक-बुद्ध रहते थे। पुष्प जाकर उन पर गिरे। उन्होंने ध्यान लगाकर उस बात को जान लिया और बोले—"मित्रो! हमें विधुर पण्डित ने निमन्त्रित किया है। यह कोई सामान्य प्राणी नहीं है। यह बुद्धङ्कुर है। यह इसी कल्प में बुद्ध होगा। हम इसका संग्रह करेंगे।"

उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। पुष्पों के लौट कर न आने से बोधिसत्व जान गये कि निमन्त्रण स्वीकृत हो गया। उन्होंने कहा—"महाराज! कल प्रत्येक-बुद्ध आयेंगे। सत्कार-सम्मान की तैयारी करें।" राजा ने अगले दिन महान् सत्कार की तैयारी कर ऊँचे तल्ले पर अत्यन्त मूल्यवान आसन बिछवाये। प्रत्येक-बुद्ध अनोतप्त सरोवर पर शारीरिक कृत्यों से निवृत्त हो, समय देख, आकाश मार्ग से आ राजाङ्गन में उतरे। राजा और बोधिसत्व ने प्रसन्न मन से उनके हाथ से भिक्षा-पात्र लिये। फिर प्रासाद पर ले जाकर बिठाया। वहाँ दक्षिणोदक, दे, श्रेष्ठ भोजन परोसा। भोजनानन्तर अगले दिन के लिए....इस प्रकार सात दिन तक निमन्त्रण दे, महादान तथा सभी परिष्कार दिये। वे दानानुमोदन कर आकाश-मार्ग से वहीं गये। परिष्कार भी उन ही के साथ गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि मेरे सेवक कोशल-नरेश ने विवेकपूर्ण दान दिया है, पुराने पण्डितों ने बुद्ध के उत्पन्न न होने पर भी दिया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था। विधुर पण्डित मैं ही था।

---

४९६. भिक्खा परम्परजातक

"सुखुमालरूपं दिस्वा..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक गृहस्थ के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह श्रद्धावान् था, भक्त। तथागत और संघ का नियमित रूप से बहुत आतिथ्य करता। एक दिन सोचने लगा—"मैं बुद्ध-रत्न तथा संघ-रत्न को नित्य प्रणीत भोजन तथा बढ़िया वस्त्र देकर उनका महान् सत्कार करता हूँ, अब मैं धर्म-रत्न का भी सत्कार करूँगा। धर्म-रत्न का सत्कार करने के इच्छुक को क्या करना चाहिए।" उसने बहुत सी सुगन्धी तथा मालाएँ लीं और जेतवन पहुँच तथागत को प्रणाम करके पूछा—"भन्ते! मैं धर्मरत्न का सत्कार करना चाहता हूँ। धर्म-रत्न का सत्कार करने के इच्छुक को क्या करना चाहिए?" शास्ता ने उत्तर दिया—"यदि धर्म-रत्न का सत्कार करने की इच्छा हो तो धर्म के भण्डारी आनन्द का सत्कार करना चाहिए।" उसने 'अच्छा' कहा और स्थविर को निमन्त्रित कर अगले दिन उन्हें बड़े सत्कार से अपने घर ले गया। वहाँ बड़े मूल्यवान् आसन पर बिठाया और सुगन्धि तथा माला आदि से पूजा कर नाना प्रकार का बढ़िया भोजन खिलाया। फिर तीन चीवरों के योग्य बहुत मूल्यवान् वस्त्र दिये। स्थविर ने भी सोचा—"यह सत्कार धर्म-रत्न का किया गया है। यह मेरे योग्य नहीं है। यह अग्रस्थानीय धर्म-सेनापति सारिपुत्र के योग्य है।" उसने वह भिक्षा और वस्त्र विहार ले जाकर सारिपुत्र को दे दिये। उन्होंने भी सोचा कि यह सत्कार तो धर्म-रत्न का किया गया। यह तो निश्चय से धर्म-स्वामी सम्यक् सम्बुद्ध के ही योग्य है। उन्होंने वह बुद्ध को दे दिये। शास्ता ने अपने से श्रेष्ठतर किसी को न देख भिक्षा तथा तीनों चीवरों का वस्त्र ग्रहण किया। भिक्षुओं ने धर्म-सभा में बात-चीत चलाई—"आयुष्मानो! अमुक गृहस्थ ने धर्म-रत्न का सत्कार करने के लिए धर्म-भण्डारी आनन्द स्थविर को दान दिया

स्थविर ने 'यह मेरे योग्य नहीं है' सोच धर्म-सेनापति को दिया। उसने भी 'यह मेरे योग्य नहीं है' सोच तथागत को दिया। शास्ता ने अपने से श्रेष्ठ किसी दूसरे को न देख, अपने ही धर्म-स्वामी होने के कारण 'यह मेरे ही योग्य' है' सोच भिक्षा और चीवरों का वस्त्र ग्रहण किया। इस प्रकार यह भिक्षा यथायोग्य क्रम से स्वामी के ही चरणों में जा पहुँची। शास्ता नें आकर 'भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?' पूछा 'अमुक बात चीत' कहने पर 'भिक्षुओ, न केवल अभी भिक्षा क्रमशः यथायोग्य के पास जाती है, पहले भी गई ही है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त (चार) अगतियों में न पड़, दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा, धर्म से राज्य करता था। इतना होने पर भी उसका न्यायालय शून्यवत् हो गया। तब राजा अपने दुर्गुणों की खोज में निकला। उसे अपने महल, नगर तथा द्वार-ग्राम में कोई उसका दुर्गुण कहने वाला न दिखाई दिया तो 'जनपद में खोजने के लिए' उसने राज्य अमात्यों को सौंपा और पुरोहित को साथ ले, भेष बदल निकला। जब उसे काशी राष्ट्र में भी घूमने पर कोई उसका दुर्गुण कहने वाला न मिला तो वह प्रत्यन्त-देश के एक निगम में पहुँच (नगर-) द्वार से बाहर की शाला में बैठा। उस समय उसी निगम का रहने वाला एक अस्सी करोड़ सम्पत्ति का मालिक गृहस्थ बड़े ठाट-बाट से नहाने जा रहा था। उसने शाला में बैठे सुवर्ण वर्ण सुकुमार शरीर राजा को देखा। उसके मन में स्नेह जाग्रत हुआ। उसने शाला में जा उसे वहीं रहने के लिए कहा और घर जाकर नाना प्रकार के बढ़िया भोजन तैयार करा बड़ी शान से भोजन के बरतन लिवा कर पहुँचा। उस समय हिमालय-वासी पाँच-अभिज्ञा-प्राप्त तपस्वी आकर वहीं बैठा था। नन्दमूलक पर्वत से प्रत्येक-बुद्ध भी आकर वहीं बैठे थे। गृहस्थ ने राजा का हाथ धुलवाया और नाना प्रकार के बढ़िया भोजनों तथा सूप-व्यञ्जनों से थाली सजा राजा को दी। राजा ने वह ले, पुरोहित ब्राह्मण को दी। ब्राह्मण ने ले तपस्वी को दी। तपस्वी प्रत्येक-बुद्ध के पास पहुँचा और बायें हाथ से भोजन की थाली तथा दाहिने हाथ से कमण्डल ले

दक्षिणोदक दे (भिक्षा-) पात्र में भोजन डाला। उन्होंने बिना किसी को निमन्त्रित किये बिना पूछे भोजन किया। उनका भोजन हो चुकने पर गृहस्थ ने सोचा—मैंने राजा को भोजन दिया, राजा ने ब्राह्मण को, ब्राह्मण ने तपस्वी को, तपस्वी ने प्रत्येक-बुद्ध को दिया। प्रत्येक-बुद्ध ने बिना किसी को पूछे भोजन किया। इन सब के इस इतने दान का क्या कारण है? और इसका बिना किसी को पूछे भोजन करने का क्या कारण है? मैं क्रमशः पूछूँगा। उसने एक एक के पास जाकर, प्रणाम करके पूछा। उन्होंने भी उसे उत्तर दिया।

सुखुमालरूपं दिस्वान रट्ठा विवन आगतं।
कूटागारूपेतं महासयनं उपोषितं ॥१॥
तस्स ते पेमकेनाहं अदासि भद्दं ओदनं।
सालीनं विचितं भत्तं सुचि मंसूपसेचनं ॥२॥
तं त्वं भत्तं पटि गय्ह ब्राह्मणस्स अदापयि।
अत्तना अनसित्वान, को यं धम्मो, नमत्थु ते ॥३॥

[अपने राष्ट्र से जंगल में आये हुए सुकुमार-स्वरूप तुम को देखा। श्रेष्ठ महल को प्राप्त हो महान् शयनासन पर बैठे। तुम से स्नेह हो जाने के कारण मैंने श्रेष्ठ भोजन दिया—सालि का चुना हुआ धान था, पवित्र था, मांस के साथ था। उस भोजन को तू ने लेकर स्वयं न खा, ब्राह्मण को दे दिया। तुझे नमस्कार है, यह तेरा कौन सा धर्म है? ॥१-३॥]

आचरियो ब्राह्मणो मय्हं किच्चाकिच्चेसु व्यावटो।
गरु च आमन्तणीयो च, दातुं अरहामि भोजनं ॥४॥

[यह ब्राह्मण मेरा आचार्य्य है, यह मेरे कृत्याकृत्य में लगा रहता है, यह आदरणीय है, यह निमन्त्रण देने योग्य है, इसे मेरा भोजन देना उचित है ॥४॥]

ब्राह्मणं दानि पुच्छामि गोतमं राजपूजितं।
राजा ते भत्तं पादासि सुचिं मंसूपसेचनं ॥
तं त्वं भत्तं पटिग्गय्ह इसिस्स भोजनं अदा।
अखेतञ्ञूसि दानस्स, को यं धम्मो नमत्थु ते ॥५-६॥

अब मैं राज-पूजित गोतम ब्राह्मण को पूछता हूँ। राजा ने तुझे पवित्र, मांस-युक्त भोजन दिया। उस भोजन को लेकर तू ने ऋषी को दे दिया। तू दान के क्षेत्र को नहीं जानता है। तुझे नमस्कार है, यह तेरा क्या धर्म है? ॥५-६॥]

भरामि पुत्ते दारे च घरेसु गथितो अहं।
भुञ्ज मानुसके कामे अनुसासामि राजिनो॥७॥
आरञ्ञकस्स इसिनो चिररत्तं तपस्सिनो।
वुद्धस्स भावितत्तस्स दातुं अरहामि भोजनं॥८॥

[मैं पुत्र-दारा का पोषण करता हूँ। मैं गृहस्थी में आसक्त हूँ। मैं मनुष्य-लोक के भोगों को भोगता हुआ राजा का अनुशासन करता हूँ॥७॥ मेरे लिए इस चिरकाल के तपस्वी, आरण्यक, वृद्ध, अभ्यासी तपस्वी को भोजन देना योग्य है॥८॥]

इसिञ्च दानि पुच्छामि किसं धमनिसंथतं।
परूळहकच्छनखलोमं पङ्कदन्तं रजस्सिरं॥
एको अरञ्ञे विहरसि, नावकङ्खसि जीवितं।
भिक्खु केन तया सेय्यो यस्स त्वं भोजनं अदा॥९-१०॥

[अब मैं कृष, धमनी मात्र गात वाले इस ऋषी को जिसके बाल और नाखून बढ़े हैं, जिसके दाँतों पर मैल है और जिसके सिर में धूल है पूछता हूँ—तू अकेला जंगल में रहता है। क्या तुझे जीवन की अपेक्षा नहीं है? जिसे तूने भोजन दे दिया वह भिक्षु तुझसे किस प्रकार श्रेष्ठ है? ॥९-१०॥]

खणन्त आलुकलम्बानि बिळालितक्कळानि च।
धुनं सामाकनीवारं सङ्घारियं पसारियं॥११॥
साकं भिसं मधुं मंसं बदरामलकानि च।
तानि आभत्वा भुञ्जामि, अत्थि मे सो परिग्गहो॥१२॥
पचन्तो अपचन्तस्स अममस्स सकिञ्चनो।
अनादानस्स सादानो दातुं अरहामि भोजनं॥१३॥

[आलू तथा ताल के कन्दों को खन कर और बिळालि (?) तथा तक्कल कन्दों को खन कर, सामाक तथा नीवार धान को कूट फैलाकर,

शाक, मिस, मधु मांस, बेर (?) और आँवले--इन सब को लाकर मैं खाता हूँ! यह सब मेरा परिग्रह है। मैं स्वयं पकाने वाला हूँ, इसलिए न पकाने वाले को; सकिञ्चन हूँ, इसलिए आकञ्चन को; ग्रहण करने वाला हूँ, इसलिए ग्रहण न करने वाले को मेरा भी भोजन देना योग्य है ॥१३॥]

भिक्खुञ्च दानि पुच्छामि तुण्हींआसीन सुब्बतं।
इसि ते भत्तं पादासि सुचिं मंसूपसेचनं।
तं त्वं भत्तं पटिग्गय्ह तुण्हिं भुञ्जसि एकको।
नाञ्ञं कञ्चि निमन्तेसि, कोयं धम्मो नमत्थु ते ॥१४-१५॥

[अब मैं चुप बैठे हुए सुव्रती भिक्षु से पूछता हूँ। ऋषी ने तुझे पवित्र, मांसयुक्त भोजन दिया। तू उसे लेकर चुप-चाप अकेला भोजन करता है। तू किसी को खाने के लिये नहीं पूछता है? तुझे नमस्कार है, यह तेरा क्या धर्म है? ॥१४-१५॥]

न पचामि न पाचेमि न छिन्दामि न छेदये।
तं मं अकिञ्चनं ञत्वा सब्बपापेहि आरतं ॥१६॥
वामेन भिक्खं आदाय दक्खिणेन कमण्डलुं।
इसि मे भत्तं पादासि सुचिं मंसूपसेचनं ॥१७॥
एते हि दातुं अरहन्ति समणा सपरिग्गहा।
पच्चनीकं अहं मञ्ञे यो दातारं निमन्तये ॥१८॥

[न पकाता हूँ, न पकवाता हूँ; न काटता हूँ, न कटवाता हूँ; इस प्रकार मुझे अकिञ्चन तथा सब पापों से दूर जान कर ऋषी ने बायें हाथ में भोजन तथा दाहिने हाथ में कमण्डल ले, पवित्र, मांस युक्त भोजन दिया ॥१६-१७॥ ये संग्रही हैं, परिग्रही हैं--इसलिये इनके लिये यह उचित है कि ये मुझे दें। मैं समझता हूँ कि देने वाले को भोजन करने के लिये निमन्त्रण देना मिथ्या जीविका है ॥१८॥]

उसकी बात सुन गृहस्थ ने प्रसन्न-चित्त हो दो अंतिम गाथायें कहीं--

अत्थाय वत मे अज्ज इधागच्छि रथेसभो।
इतो पुब्बे न जानामि यत्थ दिन्नं महप्फलं ॥१९॥
रट्ठेसु गिद्धा राजानो, किच्चाकिच्चेसु ब्राह्मणा।
इसी मूलफले गिद्धा, विप्पमुत्ता च भिक्खवो ॥२०॥

[राजा आज मेरे कल्याण के लिए इधर आया। इससे पहले मैं नहीं जानता था कि कहाँ दान देने का अधिक फल है॥१९॥ राजागण राष्ट्रों में आसक्त हैं, ब्राह्मण कृत्याकृत्यों में आसक्त हैं, ऋषी-गण फल-मूल में आसक्त हैं, भिक्षु (सब-भवों से) मुक्त हैं॥२०॥]

प्रत्येक -बुद्ध उसे धर्मोपदेश दे अपने निवास-स्थान को ही चला गया। उसी प्रकार तपस्वी। किन्तु राजा कुछ दिन उसके पास रह कर वाराणसी ही गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओ, न केवल अभी भिक्षा यथायोग्य प्राप्त होती है पहले भी हुई है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय का गृहस्थ धम्म-रत्न का सत्कार करने वाला गृहस्थ, था, राजा आनन्द था, पुरोहित सारिपुत्र, हिमालय में तपस्या करने वाला तो मैं ही था।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

१. वीसति निपात (वर्ग)

४९७. मातङ्ग जातक

"कुतो नु आगच्छसि सम्मवासि....." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उदेनवंस राजाओं के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस समय आयुष्मान पिण्डोल-भारद्वाज जेतवन से आकाश-मार्ग से जा बहुत करके कोसाम्बी में उदयन-नरेश के उद्यान में ही दिन बिताने के लिए जाते। पूर्व-जन्म में स्थविर ने राज्य करते हुए दीर्घकाल तक उसी उद्यान में बड़ी मण्डली के साथ सम्पत्ति का मजा लूटा था। वह उस पूर्व (जन्म के) परिचय के कारण वहीं दिन बिताने के लिए रह, फलसमापत्ति सुख से समय बिताते। एक दिन जब वह सुपुष्पित शालवृक्ष के नीचे जाकर बैठे थे, उदयन सप्ताह भर महान पान पी 'उद्यान-क्रीड़ा खेलने के लिए' बड़ी मण्डली के साथ उद्यान पहुँचा और मंगल शिला पर एक स्त्री की गोद से लेटा-लेटा शराब के नशे के कारण सो गया। जो स्त्रियाँ बैठी गा रही थीं उन्होंने वाद्य छोड़े और उद्यान जा फल फूल चुनने लगीं। जब उन्होंने स्थविर को देखा तो जाकर प्रणाम कर बैठीं। स्थविर बैठे धर्म-कथा कह रहे थे। उस स्त्री ने भी देह हिलाकर राजा को जगा दिया। उसने पूछा—वे चण्डालनियाँ कहाँ गईं? उत्तर दिया—"एक श्रमण को घेर कर बैठी हैं।" वह गुस्सा हुआ और जाकर स्थविर को बुरा भला कहा। फिर 'अच्छा, श्रमण को लाल चीटियों से कटवाता हूँ' कह स्थविर के शरीर पर लाल चीटों का दोना छुड़वा दिया। स्थविर ने आकाश में खड़े हो उसे उपदेश दिया। फिर जेतवन में गन्धकुटी के द्वार पर ही उतरे। तथागत ने पूछा—कहाँ से आये? वह

समाचार कहा। शास्ता ने 'भारद्वाज! न केवल अभी उदयन प्रव्रजितों को कष्ट देता है, इसने पूर्वजन्म में दिया ही है' कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व नगर के बाहर चाण्डाल-योनि में पैदा हुए। उनका नाम रखा गया मातङ्ग। आगे चलकर बड़े होने पर मातङ्ग-पण्डित नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस समय वाराणसी सेठ की एक लड़की शकुन मानने वाली थी।[1] वह एक दो महीने में एक बार बड़ी मण्डली के साथ बाग में उद्यान क्रीड़ा के लिए जाती। एक दिन बोधिसत्व किसी काम से नगर में जा रहे थे। बोधिसत्व ने नगर में प्रवेश करते समय नगर-द्वार के भीतर दिट्ठमङ्गलिका को देखा। वह एक ओर जा, लग कर खड़ा हुआ। दिट्ठमङ्ग-लिका ने कनात में से देख कर पूछा—"यह कौन है?"

'आर्ये! चाण्डाल है।"

"न देखने योग्य दृश्य दिखाई देते हैं" कह उसने सुगन्धित जल से आँखें धोईं और लौट पड़ी! उसके साथ आए हुए आदमी गुस्से में भर कर बोले—"रे दुष्ट चाण्डाल। आज तेरे कारण हमारी मुफ्त की शराब और भोजन जाता रहा।" वे मातङ्ग-पण्डित को हाथों और पाँव से पीट कर बेहोश करके गये। थोड़ी देर में जब उसे होश आया तो उसने सोचा—दिट्ठमङ्गलिका के आदमियों ने मुझ निर्दोष को अकारण पीटा है, अब मुझे दिट्ठमङ्गलिका मिलेगी तभी उठूंगा, नहीं मिलेगी तो नहीं उठूंगा। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर वह जाकर उसके पिता के निवास-स्थान के द्वार पर पड़ रहा। उसने पूछा—"क्यों पड़ा है?"

"और कोई कारण नहीं, मुझे दिट्ठमङ्गलिका चाहिए।" एक दिन बीता, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ तथा छठा दिन बीता। बोधिसत्वों का

---

१. दिट्ठमङ्गलिका।

संकल्प पूरा होता ही है, इसलिए सातवें दिन दिट्ठमङ्गलिका बाहर कर उसे दे दी गई। वह बोली—"स्वामी उठें। आपके घर चलें।"

"भद्रे'। तेरे आदमियों ने मुझे अच्छी तरह पीटा है, मैं दुर्बल हूँ। मुझे उठाकर पीठ पर चढ़ाकर ले चल।" उसने वैसा किया और नगर-वासियों के सामने ही नगर से निकल चण्डाल-ग्राम को गई। बोधिसत्व ने जाति-भेद की मर्य्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए उसे कुछ दिन घर में रखा। फिर सोचा—' मैं केवल प्रव्रजित होकर ही इसे श्रेष्ठ लाभ तथा यश प्राप्त करा सकूंगा, और किसी उपाय से नहीं।" उसने उसे बुलाकर कहा—'भद्रे'। मैं यदि जंगल से कुछ न लाऊँगा तो हमारी जीविका नहीं चलेगी। मेरे आने तक घबराना नहीं। मैं जंगल जाऊँगा।" घर वालों को भी उसने उसका ख्याल रखने के लिए कहा। जंगल पहुँच उसने श्रमण-प्रव्रज्या ग्रहण की और अप्रमादी रह सातवें दिन आठ समापत्तियाँ और पाँच अभिज्ञा प्राप्त कीं। 'अब दिट्ठमङ्गलिका का सहारा बन सकूंगा' सोच वह ऋद्धि-बल से जाकर चाण्डाल ग्राम के द्वार पर उतरा और दिट्ठमङ्गलिका के घर के द्वार पर पहुँचा। उसका आना सुनकर वह बाहर निकली और रोने पीटने लगी—"स्वामी! मुझे अनाथ करके क्यों प्रव्रजित हो गये?"

"भद्रे!' चिन्ता मत कर। तेरी पूर्व सम्पत्ति से भी अधिक सम्पत्ति वाली बनाऊँगा। लेकिन क्या तू परिषद के बीच में इतना कह सकेगी कि मेरा स्वामी मातङ्ग नहीं है, महा ब्रह्मा है?"

"स्वामी! हाँ कह सकूंगी।"

"तो अब यदि कोई पूछे कि तेरा स्वामी कहाँ है, तो कहना ब्रह्मलोक गया है? "कब आयेगा?" पूछे तो उत्तर देना कि आज से सातवें दिन पूर्णिमा के चन्द्रमा को तोड़कर आयेगा। उसे यह कह वह हिमालय को ही चला गया। दिट्ठमङ्गलिका ने भी वाराणसी में परिषद के बीच जहाँ तहाँ वैसे ही कहा। लोगों ने विश्वास कर लिया—"वह महाब्रह्मा है, इसलिये दिट्ठमङ्गलिका के पास नहीं जाता है, यह ऐसा होगा।" बोधिसत्व ने भी पूर्णिमा के दिन जब चन्द्रमा अपने मार्ग के मध्य में था, ब्रह्मा का रूप धारण कर सारे काशी राष्ट्र तथा बारह योजन की वाराणसी को एक-प्रकाश कर, चन्द्रमा को फोड़ नीचे उतर, वाराणसी के ऊपर तीन बार चक्कर काटा!

वह जनता द्वारा गन्ध माला आदि से पूजित हो चण्डाल-ग्राम की ओर गया। ब्रह्म-भक्तों ने इकट्ठे हो चण्डाल-ग्राम पहुँच, दिट्ठमङ्गलिका का घर शुद्ध वस्त्रों से छा दिया। भूमि को चार प्रकार की सुगन्धियों से लीप दिया। फूल बिखेर दिये। धूनी दी। वस्त्रों का चँदवा तान महाशयन बिछाया। सुगन्धित प्रदीप जला द्वार पर चांदी के वर्ण की बालू बिखेरी। फूल बिखेरे और ध्वजायें बाँधी। इस प्रकार के अलंकृत घर में बोधिसत्व उतरे और अन्दर जाकर थोड़ी देर शय्या पर बैठे। उस समय दिट्ठमङ्गलिका ऋतुवती थी, उसने अंगूठे से उसकी नाभी को छू दिया। उससे उसकी कोख में गर्भ प्रतिष्ठित हो गया। बोधिसत्व ने उसे सम्बोधित कर कहा—"भद्रे! तुझे गर्भ रह गया है। तुझे पुत्र होगा। तू और तेरा पुत्र भी श्रेष्ठ लाभ तथा यश को प्राप्त होंगे। तेरा चरणोदक सारे जम्बुद्वीप के राजाओं के लिए अभिषेक-जल होगा। तेरे नहाने का जल अमृतौषध होगा, जो इसे सिरपर छिड़केंगे वे सर्वदा के लिए रोग मुक्त हो जायेंगे। मनहूस (प्राणी) से बचेंगे। तेरे चरणों में सिर रखकर प्रणाम करने वाले हजार देकर प्रणाम करेंगे, उसी प्रकार सुनाई देने की सीमा के अन्दर खड़े होकर प्रणाम करने वाले सौ देंगे, दिखाई देने की सीमा के अन्दर खड़े होकर प्रणाम करने वाले एक कार्षापण देकर प्रणाम करेंगे। अप्रमादी होकर रहो।" इस प्रकार उसे उपदेश दे, घर से निकल जनता की आँखों के ही सामने ऊपर उठ चन्द्र-मण्डल में प्रवेश किया। ब्रह्मभक्तों ने इकट्ठे हो खड़े ही खड़े रात बिता दी। प्रातःकाल ही दिट्ठमङ्गलिका को सोने की पालकी में बिठा उन्होंने उसे सिर पर उठाया और नगर में ले गये। महाब्रह्मा की भार्य्या है समझ जनता ने सुगन्धित माला आदि से उसकी पूजा की। जिन्हें चरणों में सिर रखकर प्रणाम करना मिलता वे हजार देते, जो सुनाई देने की सीमा के अन्दर खड़े हो प्रणाम करते वे सौ देते, जो दिखाई देने की सीमा के अन्दर खड़े हो प्रणाम करते वे एक कार्षापण देते। इस प्रकार बारह योजन की वाराणसी से लेकर घूमने से अट्ठारह करोड़ धन प्राप्त किया।

फिर नगर की परिक्रमा कर नगर के बीच में महामण्डप बनवाया और कनात तनवाकर बड़े ठाट-बाट के साथ उसे वहाँ बसाया। मण्डप के पास ही सात द्वार कोठों वाला तथा सात तल्ले वाला प्रासाद बनवाया जाने लगा

भवननिर्माण का बड़ा भारी कार्य्य आरम्भ हुआ। दिट्ठमङ्गलिका ने मण्डप में ही पुत्र को जन्म दिया।

उसके नाम-करण के दिन ब्राह्मणों ने इकट्ठे होकर मण्डप में पैदा होने के कारण मण्डव्य कुमार ही नाम रखा। प्रासाद दस महीने में समाप्त हुआ। तब से वह बड़े ऐश्वर्य्य के साथ रहने लगी। मण्डव्य कुमार भी बड़ी शान के साथ बड़ा होने लगा। जब यह सात आठ वर्ष का हुआ तभी जम्बुद्वीप में उत्तमाचार्य्य इकट्ठे हुए। उन्होंने उसे तीनों वेद पढ़ाये। सोलह वर्ष की आयु होने पर उसने ब्राह्मणों का भोजन बाँध दिया। सोलह हजार ब्राह्मण नियमित भोजन करते। चौथे द्वार-कोठे पर ब्राह्मणों को दान दिया जाता था।

एक दिन बड़े उत्सव के दिन बहुत सी खीर पकवाई गई। सोलह हजार ब्राह्मण चौथे द्वार-कोठे में बैठ स्वर्ण-वर्ण घृत तथा मधु और खाण्ड से सिक्त खीर खाते थे। कुमार भी सब अलङ्कारों से अलङ्कृत हो, सोने की खड़ाऊँ पर चढ़, हाथ में सोने का दण्डा लिये यह कहता घूम रहा था कि यहाँ मधु दो और यहाँ घृत दो। उस समय मातङ्ग-पण्डित हिमालय के आश्रम में बैठा था। उसने सोचा कि दिट्ठमङ्गलिका के पुत्र का क्या हाल है? यह देख कि वह अनुचित रास्ते पर जा रहा है उसने सोचा कि मैं आज ही जानकर माणवक का दमन कर, उससे जिन्हें दान देने से महान् फल होता है उन्हें दान दिलाकर आऊँगा। वह आकाश मार्ग से अनोतप्त-सरोवर पहुँचा, मुख प्रक्षालन आदि किया। फिर मनोशिलातल पर खड़े हो लाल कपड़ा धारण कर, काय-बन्धन बाँधा और पासुकूल-संघाटी पहन, मिट्टी का बरतन ले, आकाश मार्ग से जा चौथे द्वार-कोठे की दानशाला में ही उतर एक ओर खड़ा हुआ। मण्डव्य ने इधर उधर देखते हुए जब उसे देखा तो सोचा—ऐसा बद-सूरत, यक्ष जैसा यह प्रव्रजित है! उससे पूछा—यहाँ तू कहाँ से आया है? उसने उससे बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

कुतो नु आगच्छसि सम्भवासि।
ओतल्लको पंसुपिसाचको व॥
सङ्कार चोलं पटिमुञ्च कंठे।
को रे तुवं होहिसि अदक्खिणेय्यो॥१॥

[हे चीथड़ेधारी! हे गंदे वस्त्र वाले! हे पांसु-पिशाच सदृश! तू यह गले में कूड़े के ढेर पर से उठाये वस्त्र पहन कर कहाँ से आया है और कौन है? ॥१॥]

यह सुन बोधिसत्व ने कोमल चित्त से ही उससे बातचीत करते हुए दूसरी गाथा कही—

अन्नं तव इदं पकतं यसस्सि,
तं खज्जरे भुञ्जरे पिय्यरे च,
जानासि त्वं परदत्तूपजीविं,
उत्तिट्ठपिण्डं लभतं सपाको ॥२॥

[हे यशस्वी! तेरे घर यह अन्न पका है। उसे (लोग) खा पी रहे हैं। तू जानता है कि हम दूसरों द्वारा दिया ही खाकर जीने वाले हैं। उठ! चाण्डाल को भी कुछ भोजन मिले ॥२॥]

तब मण्डव्य ने गाथा कही—

अन्नं मम इदं पकतं ब्राह्मणानं
अत्तत्थाय सद्दहतो मम इदं,
अपेहि एत्थ, किं इधट्ठितोसि,
न मा दिसा तुय्हं ददन्ति जम्म ॥३॥

[मेरे यहाँ जो अन्न पका है वह ब्राह्मणों के लिए है, यह मेरी श्रद्धा के कारण आत्म-हित के लिए है। यहाँ से दूर हट! यहाँ क्या खड़ा है। हे दुष्ट! मेरे जैसे तुझे दान नहीं देते हैं ॥३॥]

तब बोधिसत्व ने गाथा कही—

थले च निन्ने च वपन्ति बीजं
अनूपखेत्ते फलं आससाना,
एताय सद्धाय ददाहि दानं,
अप्पेव आराधये दक्खिणेय्ये ॥४॥

[जिस प्रकार (कृषक) फल की आशा से ऊँचे स्थल पर भी बीज बोते हैं और नीचे स्थल पर भी। और वे पानी की जगह भी बीज बोते हैं। इसी प्रकार तू भी ऐसी ही श्रद्धा से सबको दान दे। सम्भव है तू दान-देने योग्यों का (भी) सत्कार कर सके ॥४॥]

तब मण्डव्य ने गाथा कही—

खेत्तानि मय्हं विदितानि लोके
येसाहं बीजानि पतिट्ठपेमि,
ये ब्राह्मणा जाति मन्तूपपन्ना
तानीध खेत्तानि सुपेसलानि ॥५॥

[मैं लोक में जो (दान-) क्षेत्र हैं उन्हें जानता हूँ। उन्हीं में मैं बीज डालता हूँ। जो जाति तथा मन्त्रों से युक्त ब्राह्मण हैं वे ही इस संसार में अच्छे खेत हैं ॥५॥]

तब बोधिसत्व ने दो गाथायें कहीं—

जाति मदो च अतिमानिता च
लोभो च दोसो च मदो च मोहो
एते अगुणा येसु च सन्ति सब्बे
तानीध खेत्तानि अपेसलानि ॥६॥
जाति मदो च अतिमानिता च
लोभो च दोसो च मदो च मोहो
एते अगुणा येसु न सन्ति सब्बे
तानीध खेत्तानि सुपेसलानि ॥७॥

[जाति-मद, अभिमान, लोभ, द्वेष, मद तथा मूढ़ता—ये सब अवगुण जिनमें हैं वे इस लोक में अच्छे (दान-)क्षेत्र नहीं हैं ॥६॥ जाति मद, अभिमान, लोभ, द्वेष, मद या मूढ़ता—ये सब अवगुण जिनमें नहीं हैं, वे ही इस लोक में अच्छे (दान) क्षेत्र हैं ॥७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के बार बार बोलने से उसे क्रोध आ गया। 'यह बहुत बकवास करता है, ये द्वारपाल कहाँ गये, इस चाण्डाल को निकालते नहीं हैं' कहते हुए उसने गाथा कही—

क्वत्थेव भट्ठा उपजोतियो च
उपज्झायो अथवा भण्डकुच्छि
इमस्स दण्डं च वधं च दत्वा
गले गहेत्वा खलयाथ जम्मं ॥८॥

[इस प्रकार उपजोति, उपज्झाय तथा भण्डकुच्छि कहाँ चले गये? इसे दण्ड दें और मारें। इस दुष्ट को गले से पकड़ कर धुन डालें॥८॥]

वे भी उसकी बात सुन जल्दी से आ पहुँचे और बोले—"देव! क्या करें?"

"तुमने इस दुष्ट चाण्डाल को देखा?"

"देव! नहीं देखते हैं। वह भी नहीं जानते हैं कि कहाँ से आया? यह कोई माया-धारी या जादूगर होगा।"

"अब क्या खड़े हो?"

"देव! क्या करें?"

"इसके मुंह को पीट कर तोड़ दो, डण्डों और बासों की लाठियों से इसकी पीठ उवाड़ दो, मारो, गले से पकड़ इस दुष्ट को धुन डालो! यहाँ से निकाल बाहर करो।"

अभी जब वे बोधिसत्व तक पहुँचे ही नहीं थे, बोधिसत्व ने आकाश में खड़े हो गाथा कही—

गिरिं नखेन खनसि अयो दन्तेन खादसि
जातवेदं पदहसि यो इसिं परिभाससि॥९॥

[जो ऋषी को भला-बुरा कहता है वह नाखून से पर्वत खोदता है, अथवा दांत से लोहा काटता है अथवा आग को निगलता है॥९॥]

यह गाथा कह बोधिसत्व उस माणवक और ब्राह्मणों के देखते ही देखते आकाश में जा पहुँचे।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने गाथा कही—

इदं वत्वान मातङ्गो इसि सच्चपरक्कमो
अन्तलिक्खस्मिं पक्कामि ब्राह्मणानं उदिक्खतं॥१०॥

[यह कहकर सत्य-पराक्रमी मातङ्ग ब्राह्मणों की आँख के सामने ही आकाश को चला गया॥१०॥]

उसने प्राचीन दिशा की ओर जा एक गली से उतर ऐसा दृढ़-संकल्प किया कि उसके पाँव के चिन्ह दिखाई दें। वहाँ पूर्व-द्वार के पास भिक्षाटन करके मिला जुला भोजन प्राप्त किया और एक शाला में बैठ वह मिला जुला भोजन खाया। नगर-देवताओं से जब यह सहन न हो सका कि

यह राजा हमारे आर्य को दुख देने वाली बात कहता है तो वे आये। बड़े यक्ष ने उसकी गर्दन पकड़ कर मरोड़ी, शेष देवताओं ने शेष ब्राह्मणों की गर्दन पकड़ कर मरोड़ी। बोधिसत्व के चित्त की कोमलता के कारण 'उसका पुत्र है' जान मारा नहीं, केवल कष्ट दिया। मण्डव्य का सिर घूम कर पीठ की ओर हो गया। हाथ-पाँव सीधे होकर कड़े हो गये, आँखें बदल कर मुर्दे के समान हो गईं। वह लकड़ी-शरीर होकर गिर पड़ा। शेष ब्राह्मण मुंह से थूक गिराते हुए इधर उधर लोटते थे। दिट्ठमङ्गलिका को सूचना दी गई—आर्ये! तेरे पुत्र को कुछ हो गया है। वह जल्दी से आई और पुत्र को देख कर बोली—यह क्या! उसने गाथा कही—

आवेठितं पिट्ठितो उत्तमाङ्गं
बाहं पसारेति अकम्मनेय्यं
सेतानि अक्खीनि यथा मतस्स,
को मे इयं पुत्तं अकासि एवं ॥११॥

[इसका सिर पीठ की ओर घुमा दिया गया है। यह निकम्मी बाँहों को फैलाता है। इसकी आंखें मृत व्यक्ति के समान श्वेत हो गई हैं। मेरे पुत्र को ऐसा किसने कर दिया है? ॥११॥]

वहाँ खड़े हुए लोगों ने उसे बताने के लिए गाथा कही—

इधागमा समणो दुम्मवासी
ओतल्लको पसुं पिसाचको व
सङ्कार चोलं परिमुच्च कण्ठे
सो ते इमं पुत्तं अकासि एवं ॥१२॥

यहाँ एक चीथड़ेधारी श्रमण आया। वह गंदे वस्त्र पहने था। वह पंसु पिशाच सदृश था। वह गले में कूड़े के ढेर से उठाए वस्त्र पहने था। उसी ने तेरे पुत्र का ऐसा हाल किया है॥१२॥]

उसने यह सुना तो सोचा—और किसी की ऐसी सामर्थ्य नहीं है। निस्सन्देह मातङ्ग पण्डित ही होगा। वह धीर पुरुष मैत्री भावना युक्त है। वह इतने आदमियों को कष्ट पहुँचा कर नहीं जायेगा। 'वह किस ओर गया होगा?' पूछते हुए उसने गाथा कही—

कतमं दिसं अगमा भूरिपञ्ञो,
अक्खाथ मे माणवा एतमत्थं,
गन्त्वान तं पटिकरेसु अच्चयं,
अप्पेव नं पुत्तं लभेसु जीवितं ॥१३॥

[वह बहु-प्रज्ञ किस ओर गया है? हे तरुणो! मुझे यह बताओ। हम उसके पास जाकर अपना अपराध क्षमा करवायें। सम्भव है हमारे पुत्र को जीवन लाभ हो जाय ॥१३॥]

वहाँ खड़े हुए तरुणों ने उसे इस प्रकार कहा—

वेहासयं अगमा भूरिपञ्ञो
पथद्धुनो पन्नरसे व चन्दो,
अपि चापि सो पुरिमं दिसं अगच्छि
सच्चप्पटिञ्ञो इसि साधुरूपो ॥१४॥

[वह बहु-प्रज्ञ आकाश की ओर गया है। पूर्णिमा के चन्द्रमा की भान्ति वह (आकाश-) मार्ग के बीचोबीच गया है। और वह साधु-स्वरूप सत्य-प्रतिज्ञ ऋषि पूर्व दिशा की ओर गया है ॥१४॥]

उसने उनकी बात सुन अपने स्वामी को खोजने का निश्चय किया। सोने का कलश और सोने का प्याला लिया, दासियों सहित वह वहाँ पहुँची जहाँ बोधिसत्व ने अपने चरण-चिन्हों के दिखाई देने का दृढ़-संकल्प किया था। उसके अनुसार जा वह जिस समय बोधिसत्व पीढ़े पर बैठ भोजन कर रहे थे, उनके पास पहुँची और प्रणाम करके एक ओर खड़ी हुई। उसने उसे देख थोड़ा भात पात्र में छोड़ा। दिट्ठमङ्गलिका ने स्वर्ण-कलश से उसे पानी दिया। उसने वहीं हाथ धो मुख-प्रक्षालन किया। उसने उसे यह पूछते हुए कि किसने मेरे पुत्र की शकल बिगाड़ी, गाथा कही—

आवेठितं पिट्ठितो उत्तमङ्गं
बाहं पसारेति अकम्मनेय्यं
सेतानि अक्खीनि यथा मतस्स
को मे इमं पुत्त अकासि एवं ॥१५॥

[अर्थ ऊपर दिया ही है।]

इसके बाद की गाथायें उनके प्रश्नोत्तर हैं—

यक्खा हवे सन्ति महानुभावा
अन्वागता इसयो साधुरूपा,
ते दुट्ठचित्तं कुपितं विदित्वा
यक्खा हि ते पुत्तं अकंसु एवं॥१६॥

[साधुरूप ऋषियों को देख महानुभाव यक्ष उनके पीछे आये। उन्होंने ही तेरे पुत्र को दुष्ट-चित्त तथा क्रोधित देख इस प्रकार बना दिया है॥१६॥]

यक्खा च मे पुत्तं अकंसु एवं,
त्वं एव मे मा कुद्धो ब्रह्मचारि,
तुम्हें व पादे सरणं गतास्मि
अन्वागता पुत्तसोकेन भिक्खु॥१७॥

[यदि यक्ष मेरे पुत्र पर क्रोधित हुए हैं तो हे ब्रह्मचारी! तू मुझपर क्रोधित न हो। हे भिक्षु! मैं पुत्र-शोक से दुखी हो तुम्हारी ही शरण आई हूँ॥१७॥]

तदेव हि एतरहिं च मय्हं
मनोपदोसो मम नत्थि कोचि,
पुत्तो च ते वेद मदेन मत्तो
अत्थं न जानाति अधिच्च वेदे॥१८॥

[उस समय और इस समय भी मेरे मन में कुछ द्वेष नहीं है। तेरा पुत्र वेद-मत से मस्त हुआ है। उसने वेद पढ़ कर अर्थ नहीं जाना॥१८॥]

अद्धा हवे भिक्खु मुहुत्तकेन
सम्मुय्हते व पुरिसस्स सञ्ञा
एकापराधं खम भूरिपञ्ञ,
न पण्डिता कोध बला भवन्ति॥१९॥

[भिक्षु! ऐसा होता ही है कि क्षण भर में मनुष्य की बुद्धि मोह को प्राप्त हो जाती है। हे बहु-प्रज्ञ! उसके एक दोष को क्षमा करें। पण्डितों का बल क्रोध नहीं है॥१९॥]

इस प्रकार उसके क्षमा मांगने पर बोधिसत्व ने 'तो यक्षों को भगाने के लिए अमृतौषध बताता हूँ' कह गाथा कही—

इदञ्च मम्हं उत्तिट्ठपिण्डं
मण्डव्यो भुञ्जतु अप्पपञ्ञो,
यक्खा च ते नं न विहेठयेय्युं
पुत्तो ते होहिति सो अरोगो॥२०॥

[यह मूर्ख मण्डव्य मेरा यह जूठा-भोजन खाये। उससे इसे यक्ष कष्ट नहीं देंगे और तेरा पुत्र निरोग हो जायगा॥२०॥]

उसने बोधिसत्व की बात सुन सोने का प्याला आगे बढ़ाया—स्वामी! अमृतौषध दे। बोधिसत्व ने जूठी काँची उसमें डालकर कहा—"इसमें से पहले आधी काँची अपने पुत्र के मुँह में डालकर शेष चाटी में पानी से मिलाकर बाकी ब्राह्मणों के मुँह में डाल। सभी निरोग हो जायेंगे।" इतना कह वह ऊपर उठकर हिमालय ही चला गया। उसने भी उस प्याले को सिर पर ले "मुझे अमृतौषध मिला है" कहते हुए घर जाकर पहले पुत्र के मुँह में डाली। यक्ष भाग गया। उसने धूली पोंछते हुए उठ कर पूछा—माँ! यह क्या? "अपने किये को तू ही जानेगा। आ तात! अपने दक्षिणा-देने योग्यों का हाल देख। उसे उन्हें देख कर पश्चात्ताप हुआ।

तब उसकी माता ने "तात मण्डव्य! तू मूर्ख है। दान देने के महा फल स्थान को नहीं पहचानता है। इस तरह के लोग दान देने योग्य नहीं होते। अब से इन दुश्शीलों को दान मत दे। शीलवानों को दे।" कह ये गाथायें कहीं—

मण्डव्य बालोसि परित्तपञ्ञो
यो पुञ्ञखेत्तानं अकोविदो सि,
महक्कसावेसु ददासि दानं
किलिट्ठ कम्मेसु असञ्ञतेसु॥२१॥
जटा च केसा अजिनानि वत्था
जरूदपानं व मुखं परूलहं,
पजं इमं पस्सथ रूम्मरूपिं
न जटाजिनं तायति अप्पपञ्ञं॥२२॥

येसं रागो च दोसो च अविज्जा च विराजिता
खीणासवा अरहन्तो तेसु दिन्नं महप्फलं ॥२३॥

[हे मण्डव्य! तू अल्प-बुद्धि है। तू मूर्ख है। तू पुण्य-क्षेत्र नहीं पहचानता है। तू असंयत् चित्त-मैल धारी, महान् दोषियों को दान देता है ॥२१॥ कुछ लोगों की जटायें हैं, केश हैं, अजिनचर्म के वस्त्र हैं, मुंह पुराने कुएँ के समान बालों से भरा है। इन चीथड़ेधारी लोगों को देखो। अल्प-प्रज्ञ आदमी की जटा और अजिन चर्म से मोक्ष नहीं होती ॥२२॥ जिनके राग, द्वेष तथा अविद्या जाती रही है, जो क्षीणाश्रव हैं, जो अरहत हैं उन्हें देने में महान् फल है ॥२३॥]

इसलिए तात! अब से इस प्रकार के उपशीलों को दान न दे लोक में जो आठ समापत्ति-लाभी तथा पञ्च अभिज्ञा प्राप्त धार्मिक श्रमण ब्राह्मण हैं तथा प्रत्येक बुद्ध हैं उन्हें दान दे। तात! आ अपने कुल के निकटस्थ लोगों को अमृत पिला निरोग करूँगी।" यह उसने जूठी-काञ्जी मँगवाई और पानी की चाटी में मिलवा सोलह हजार ब्राह्मणों के मुंह पर छिड़कवाया। एक एक जना थूकी पोंछता हुआ उठ खड़ा हुआ।

ब्राह्मणों ने उन्हें अब्राह्मण बना दिया---इन्होंने चण्डाल का जूठा पिया है। वे लज्जित होकर वाराणसी से निकले और मेद राष्ट्र में जा मेद राजा के पास रहने लगे। मण्डव्य वहीं रहने लगा।

उस समय वेत्रवती नगरी के पास वेत्रवती नदी के किनारे जातिमन्त नाम का एक ब्राह्मण प्रव्रजित हुआ। वह 'जाति' के कारण बहुत अभिमानी था। बोधिसत्व उसका अभिमान चूर-चूर करने के लिए वहाँ आ, उसके पास ही नदी के ऊपर की ओर रहने लगे। उसने एक दिन दातुन कर यह संकल्प कर उसे नदी में गिराया कि यह दातुन जाकर जातिमन्त की जटाओं में लगे। जब वह पानी का आचमन करने लगा तो वह जाकर उसकी जटाओं में लगी। उसने यह देखकर कहा—तेरा बुरा हो! यह मनहूस कहाँ से? 'इसका पता लगाऊँगा' सोच वह पानी के स्रोत के ऊपर गया। वहाँ उसने बोधिसत्व को देखकर पूछा—क्या जात है? "चाण्डाल हूँ।" तूने नदी में दातुन गिराई?" "हाँ, मैंने गिराई।" "तेरा बुरा हो, चाण्डाल मनहूस, यहाँ मत रह, स्रोत के नीचे की ओर रह। उसके नीचे जाकर रहने

पर भी उसके गिराये हुए दातुन स्रोत से उलटे जा उसकी जटाओं में लगते। वह बोला--'तेरा बुरा हो। यदि यहाँ रहेगा तो आज से सातवें दिन तेरा सिर सात टुकड़े हो जायगा।"

बोधिसत्व ने सोचा— यदि मैं इसके प्रति क्रोध करूँगा तो मेरा शील अरक्षित होगा। मैं उपाय से ही इसका अभिमान चूर-चूर करूँगा।" उसने सातवें दिन सूर्योदय रोक दिया। मनुष्य क्रोधित हो जातिमन्त तपस्वी के पास पहुँचे और पूछा— भन्ते! तुम सूर्योदय नहीं होने देते? वह बोला— "यह मेरा काम नहीं है, नदी के किनारे एक चाण्डाल रहता है, यह उस-का काम होगा।" आदमियों ने बोधिसत्व के पास पहुँच पूछा—"भन्ते! तुम सूर्योदय नहीं होने देते?" "आयुष्मानो! हाँ।" क्यों?" "तुम्हारे कुल विश्वस्त तपस्वी ने मुझ निरपराध को शाप दिया है। वह आकर जब मेरे पाँस में गिर कर क्षमा माँगेगा तब सूर्य को मुक्त करूँगा।" वे गये और उसे खींच कर लाये और बोधिसत्व के पैरों में गिरा कर क्षमा मंगवाई और प्रार्थना की—"भन्ते सूर्य को मुक्त करें।"

"मैं नहीं छोड़ सकता, यदि मैं छोड़ दूगा तो उसका सिर सात टुकड़े हो जायगा।"

"भन्ते! क्या करें?"

उसने "मिट्टी लाओ" कह मिट्टी का डला मँगवाया। फिर 'इसे तपस्वी के सिर पर रख 'तपस्वी को पानी में उतारो' कह तपस्वी को पानी में उतरवा सूर्य को मुक्त किया। सूर्य्य-रश्मि का स्पर्श होते ही मिट्टी के ढेले के सात टुकड़े हो गये। तपस्वी ने पानी में गोता लगाया। उसका दमन कर बोधिसत्व ने जिज्ञासा की—"सोलह हजार ब्राह्मण कहाँ रहते हैं?" पता लगा कि मेद राष्ट्र के पास। उनका दमन करने की इच्छा से वह ऋद्धि से वहाँ पहुँचा और नगर के पास उतर भिक्षापात्र ले नगर में भिक्षाटन के लिए निकला। ब्राह्मणों ने सोचा—यदि यह यहाँ एकाध दिन भी रह गया तो हमें अप्रतिष्ठित कर देगा। उन्होंने शीघ्रता से जाकर राजा को कहा— "एक मायाधर, जादूगर आया है। उसे पकड़वायें।" राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। बोधिसत्व मिला-जुला भोजन ले एक दीवार के सहारे एक चबूतरे पर बैठ कर खाने लगे। जिस समय ध्यान दूसरी ओर था उस

समय भोजन करते हुए ही उसे राजा के आदमियों ने आकर तलवार से मार डाला। वह मर कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ।

इस जातक में बोधिसत्व कोण्ड (?) का दमन करने वाले हुए। वह इस पर निर्भरता (?) में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। देवताओं ने क्रोधित हो सारे मेद-राष्ट्र पर गर्म गारे की वर्षा की और राष्ट्र को अराष्ट्र कर दिया। इसीलिए कहा गया है—

उपहञ्ञमाने मेज्झा मातङ्गस्मि यसस्सिने
सपारिसज्जो उच्छिन्नो मेज्झरञ्ञं तदा अहु ॥२४॥

[यशस्वी मातङ्ग के मारे जाने के कारण उस समय मेद राज्य और उसकी सारी परिषद् नष्ट हो गई ॥२४॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'न केवल अभी, पहले भी उदयन ने प्रव्रजितों को कष्ट दिया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय मण्डव्य उदयन था। मातङ्ग पण्डित तो मैं ही था।

---

४९८. चित्तसम्भूत जातक

"सब्बं नरानं सफलं सुचिन्नं. . ." यह शास्ता ने जेतवन से विहार करते समय आयुष्मान महाकाश्यप के साथ प्रेम पूर्वक रहने वाले दो साथी—भिक्षुओं के बारे में कही।

क: वर्तमान कथा

उनका परस्पर बहुत विश्वास था। सभी कुछ आपस में बाँटते थे। भिक्षाटन के लिए इकट्ठे जाते और इकट्ठे ही वापिस लौटते। पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते थे। धर्मसभा में बैठे भिक्षु उनके विश्वास की ही चर्चा कर रहे थे। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बात चीत" कहने पर "भिक्षुओ, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है यदि यह एक जन्म में परस्पर विश्वासी हैं, पुराने पण्डितों ने तीन चार जन्मान्तरों तक भी मित्र-भाव नहीं त्यागा" कह पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में अवन्ति राष्ट्र में उज्जैनी में अवन्ति-महाराज राज्य करते थे। उस समय उज्जैनी के बाहर चण्डाल ग्राम था। बोधिसत्व ने वहाँ जन्म ग्रहण किया। एक दूसरे प्राणी ने भी उसकी मासी का पुत्र होकर जन्म ग्रहण किया। उनमें से एक का नाम चित्त था, दूसरे का सम्भूत। उन दोनों ने बड़े होकर चण्डालवंश धोपन (?) नाम का सीखा। एक दिन उज्जैनी-नगर-द्वार पर शिल्प दिखाने की इच्छा से एक ने उत्तर-द्वार पर शिल्प दिखाया, दूसरे ने पूर्व-द्वार पर।

उस नगर में दो दुष्ट-मङ्गलिकायें थीं—एक सेठ की लड़की, दूसरी पुरोहित की लड़की। उन दोनों ने बहुत सा खाद्य-भोज्य लिया और उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाने की इच्छा से एक उत्तर-द्वार से निकली तथा दूसरी पूर्व-द्वार से। उन्होंने उन चण्डाल-पुत्रों को शिल्प दिखाते देखा तो पूछा—ये

कौन हैं? "चाण्डाल-पुत्र।" उन्होंने सुगन्धित जल से आँखें धोई और वहीं से वापिस हो गई—न देखने योग्य देखा। जनता ने उन दोनों को पीट कर बहुत पीड़ा पहुँचाई—'रे दुष्ट चाण्डालो! तुम्हारे कारण हमें मुफ्त की शराब और भोजन नहीं मिला।" जब उन्हें होश आया तो दोनों एक दूसरे के पास गये और एक जगह मिलकर एक दूसरे को दुःख-समाचार कहा और रोये-पीटे। तब उन्होंने सोचा—क्या करें? तब निश्चय किया—"यह दुःख हमें अपनी 'जाति' के कारण हुआ। हम चाण्डाल कर्म न कर सकेंगे। 'जाति' छिपाकर ब्राह्मण-विद्यार्थी बन तक्षशिला जाकर शिल्प सीखेंगे।" वे तक्ष-शिला पहुँचे और धर्म शिष्य बन कर प्रसिद्ध आचार्य्य के पास विद्या ग्रहण करने लगे। जम्बुद्वीप से दो 'चाण्डाल' जाति. छिपा कर विद्या ग्रहण कर रहे हैं—यह बात कही सुनी जाने लगी। उन दोनों में से चित्त पण्डित का विद्या-ग्रहण समाप्त हो गया था, सम्भूत का अभी नहीं।

एक दिन एक ग्रामवासी ने आचार्य्य को पाठ करने के लिए निमन्त्रण दिया। उसी दिन रात को वर्षा होकर मार्ग के कन्दरा आदि भर गये। आचार्य्य ने प्रातःकाल ही चित्त पण्डित को बुलवा कर कहा—"तात! मैं न जा सकूंगा। तू विद्यार्थियों को साथ ले जा और मंगल-पाठ कर अपना हिस्सा खाकर हमारा हिस्सा ले आना" वह 'अच्छा' कह विद्यार्थियों को साथ लेकर गया। जब तक ब्रह्मचारीगण स्नान करें तथा मुंह धोयें तब तक आदमियों ने ठंडी होने के लिए खीर परोस कर रख दी। वह अभी ठंडी नहीं हुई थी तभी ब्रह्मचारी आकर बैठ गये आदमियों ने 'दक्षिणोदक' दे उनके सामने थालियाँ रखीं। सम्भूत ने एकदम मूढ की तरह से खीर को ठंढी समझ खीर पिंड लेकर मुंह में डाल लिया। उसका मुंह ऐसे जलने लगा मानों लोहे का गर्म गोला मुंह में चला गया हो वह काँप गया और होश ठिकाने न रख सकने के कारण चित्त पण्डित की ओर देख चण्डाल-भाषा में बोल पड़ा—"अरे! ऐसा हैं!" उसने भी उसी प्रकार ध्यान न रख चण्डाल भाषा में ही कहा—निगल निगल ब्रह्मचारियों ने परस्पर एक दूसरे की ओर देखा—यह क्या भाषा है? चित्त पण्डित ने मंगल पाठ किया। ब्रह्मचारियों ने (वहाँ से) निकल पृथक पृथक हो जहाँ तहाँ बैठ भाषा की परीक्षा की और पता लगा लिया कि यह चण्डाल भाषा है। तब उन्होंने

उन दोनों को पीटा—रे दुष्ट चाण्डालो! इतने दिन तक 'हम ब्राह्मण हैं' कह कर हमें धोखा दिया। तब एक सत्पुरुष ने 'हटो' कह कर उन्हें बचाया और उपदेश दिया—यह तुम्हारी 'जाति' का दोष हैं, जाओ कहीं प्रव्रजित होकर जीवो। ब्रह्मचारियों ने जाकर आचार्य्य को कह दिया कि ये चण्डाल हैं। वे भी जंगल में जा ऋषियों की प्रव्रज्या के ढंग पर प्रव्रजित हुए। फिर थोड़े ही समय बाद वहाँ से च्युत होकर नेरञ्जरा नदी के किनारे मृगी की कोख में जन्म ग्रहण किया। वे माता की कोख में से निकलने के समय से ही इकट्ठे चरते, पृथक पृथक न रह सकते।

एक दिन वह चर चुकने के बाद सिर से सिर, सींगों से सींग, थोथनी से थोथनी मिलाये खड़े चुगाली कर रहे थे। एक शिकारी ने शक्ति चला एक ही चोट में दोनों की जान ले ली। वहाँ से च्युत होकर नर्मदा के किनारे वह होकर पैदा हुए। वहाँ भी वे बड़े होने पर चोगा चुगने के बाद सिर से सिर, चोंच से चोंच मिला कर खड़े थे। एक चिड़ीमार ने उन्हें देखा और एक ही झटके में पकड़ कर मार डाला।

किन्तु, वहाँ से च्युत होकर चित्त-पण्डित तो कोसम्बी में पुरोहित का पुत्र होकर पैदा हुआ सम्भूत-पण्डित उत्तर पाञ्चाल राजा का पुत्र होकर। नाम करण के दिन से उन्हें अपने पूर्व जन्म याद आ गये। उनमें से सम्भूत पण्डित को क्रमशः याद न रह सकने के कारण केवल चण्डाल का जन्म ही याद था, किन्तु चित्त-पण्डित को क्रमशः चारों जन्म याद थे। वह सोलह वर्ष का होने पर(घर से) निकला और ऋषी-प्रव्रज्या ग्रहण कर ध्यान-अभिज्ञा लाभी हो ध्यान-सुख का आनन्द लेता हुआ समय बिताने लगा।

सम्भूत पण्डित ने पिता के मरने पर छत्र धारण किया। उसने छत्र धारण करने के दिन ही मंगल-गीत के रूप में उल्लास-वाक्य के तौर पर दो गाथायें कही। उन्हें सुन यह हमारे राजा का मंगल गीत है' करके रनिवास की स्त्रियाँ तथा गन्धर्व उसी गीत को गाते थे। क्रमशः सभी नगर-निवासी भी यह हमारे राजा का प्रिय गीत है' समझ उसे ही गाने लगे।

चित्त पण्डित ने हिमालय में रहते ही रहते सोचा—क्या मेरे भाई सम्भूत ने अभी छत्र धारण किया है, अथवा नहीं किया है। उसे पता लगा कि धारण कर लिया है। तब उसने सोचा—अभी नया-राज्य है। अभी

समझा न सकूंगा। बूढ़े होने पर उसके पास जा, धर्मोपदेश दे उसे प्रव्रजित करूँगा।" वह पचास वर्ष के बाद जब राजा के लड़के लड़की बड़े हो गये, ऋद्धि से वहाँ पहुँचे और जाकर उद्यान में उतर, मङ्गल-शिला पर स्वर्ण-प्रतिमा की तरह बैठे।

उस समय एक लड़का उस गीत को गाता हुआ लकड़ियाँ बटोर रहा था। चित्त-पण्डित ने उसे बुलाया। वह आकर प्रणाम करके खड़ा हुआ। उससे पूछा—"तू प्रातःकाल से यही एक गीत गाता है, क्या और नहीं जानता?"

"भन्ते! और भी अनेक गीत जानता हूँ। किन्तु ये हमारे राजा के प्रिय-गीत हैं, इस लिए इन्हें ही गा रहा हूँ।"

"क्या राजा के गीत के विरुद्ध गीत गाने वाला भी कोई है?"

"भन्ते! कोई नहीं।"

"तू राजा के गीत के विरुद्ध गीत गा सकेगा?"

"जानूंगा तो गा सकूंगा।

"तो तू राजा के दो गीत गाने पर, इसे तीन गीत करके गाना। राजा के पास जाकर गाना। राजा प्रसन्न होकर तुझे बहुत ऐश्वर्य्य देगा।" उन्होंने उसे गीत दे विदा किया। वह शीघ्र माँ के पास गया और सज-सजा कर राजद्वार पर पहुँचा। वहाँ उसने कहलवाया—एक लड़का आपके साथ प्रति-गीत गायेगा। राजा ने कहलवाया—आ जाय। उसने जाकर प्रणाम किया। राजा ने पूछा—"तात! तू प्रति-गीत गायेगा?"

"हाँ देव! सारी राज्य परिषद् इकट्ठी करायें।"

जब सारी राज्य-परिषद् इकट्ठी हो गई तब उसने राजा से कहा—देव! आप अपना गीत गायें, मैं प्रति-गीत गाऊँगा।

राजा ने दो गाथायें कहीं—

सब्बं नरानं सफलं सुचिण्णं,
न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि,
पस्सामि सम्भूतं महानुभावं
सकम्मना पुञ्जफलूपपन्नं ॥१॥

सब्बं नरा' सफलं सुचिण्णं,
न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि,
कच्चि नुचित्तस्स पि एव एव
इद्धो मनो तस्स यथापि मय्हं ॥२॥

[आदमियों के किए हुए सभी कर्म फल देते हैं, किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। मैं देखता हूँ कि महानुभाव सम्भूत अपने कर्म से पुण्य-फल को प्राप्त हुआ है॥१॥ आदमियों के किए सभी कर्म फल देते हैं, किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। कदाचित् चित्त का भी मन मेरे ही मन की तरह समृद्ध होगा॥२॥]

उसके गीत के बाद लड़के ने गाते हुए तीसरी गाथा कही—

सब्बं नरानं सफलं सुचिण्णं,
न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि,
चित्तं विजानाहि तत्थ एव देव,
इद्धो मन तस्स यथापि तुय्हं॥३॥

[आदमियों के किए हुए सभी कर्म फल देते हैं, किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। हे देव! यह जानें कि चित्त का मन भी तुम्हारे मन ही की तरह समृद्ध है॥३॥]

यह सुन राजा ने चौथी गाथा कही—

भवं नु चित्तो, सुतं अञ्ञतो ते,
उदाहु ते कोचि नं एतदक्खा,
गाथा सुगीता, न मं अत्थि कङ्खा,
ददामि ते गाम वरं सतं च॥४॥

[क्या तू चित्त है, अथवा तूने अपने को चित्त कहने वाले किसी से यह गाथा सुनी है, अथवा तुझे किसी ऐसे आदमी ने जिसने चित्त को देखा कही हो यह गाथा कही है? मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि गाथा अच्छी प्रकार कही गई है। मैं तुझे सौ गाँव देता हूँ॥४॥]

तब लड़के ने पांचवीं गाथा कही—

न चाहं चित्तो, सुतं अञ्ञतो मे,
इसी च मे एतमत्थं असंसि,

गन्त्वान रञ्ञो पटिगाहि गाथं,
अपि ते वरं अत्तमनो ददेय्य ॥५॥

[मैं चित्त नहीं हूँ। मैंने यह अन्यत्र से ही सुनी है। (तुम्हारे उद्यान में बैठे हुए एक ऋषी) ने ही मुझे यह सिखाया है कि जाकर राजा के सामने यह गाथा कहो। वह सन्तुष्ट होकर वर दे सकता है ॥५॥]

यह सुन राजा ने सोचा—वह मेरा भाई चित्त होगा अभी जाकर उसे देखूंगा। उसने आदमियों को आज्ञा देते हुए दो गाथायें कहीं—

योजेन्तु वे राजरथे सुकते चित्त सिब्बने,
कच्छं नागानं बन्धत्थ, गीवेय्यं पटिमुञ्चथ ॥६॥
आहञ्ञरं भेरिमुदिंगसङ्खे,
सीघानि यानानि च योजयन्तु
अज्जेव अहं अस्समं तं गमिस्स
यत्थेव दक्खिस्सं इसिं निसिन्नं ॥७॥

[सुन्दर सिलाई वाले, अच्छे बने हुए रथ जोते जायें हाथियों को कसो और उनके गले में मालायें (आदि) डालो ॥६॥

भेरी, मृदङ्ग तथा शङ्ख बजे। शीघ्र यान जोते जायें। आज ही मैं उस आश्रम में जाऊँगा जहाँ जाकर बैठे हुए ऋषी को देखूंगा ॥७॥]

उसने यह कहा और श्रेष्ठ रथ पर चढ़ शीघ्र जाकर उद्यान के द्वार पर रथ छोड़ चित्त पण्डित के पास पहुँचा। वहाँ प्रणाम कर एक ओर खड़े हो प्रसन्न मन से आठवीं गाथा कही—

सुलद्ध लाभा वत मे अहोसि
गाथा सुगीता परिसाय मज्झे,
सो हं इसिं सील वतूपपन्नं
दिस्वा पतीतो सुमनो हमस्मि ॥८॥

[परिषद के बीच से कही हुई गाथा के कारण आज मुझे बड़ा लाभ हुआ। आज मैं शील-व्रत से युक्त ऋषी को देख कर प्रीति-युक्त तथा प्रसन्न हूँ ॥८॥]

चित्त पण्डित को देखने के समय से ही उसने प्रसन्न हो "मेरे भाई के लिए पलंग बिछाओ" आदि आज्ञा देते हुए नौवीं गाथा कही—

आसनं उदकं पज्जं पटिगण्हातु नो भवं
अग्घे भवन्तं पुच्छाम, अग्घं कुरुतु नो भवं ॥९॥

[आप आसन तथा पादोदक ग्रहण करे। हम आप से अर्घ्य के बारे में पूछ रहे हैं। आप हमारा अर्घ्य ग्रहण करें ॥९॥]

इस प्रकार मधुर स्वागत कर राज्य के बीच में से दो टुकड़े करके देते हुए यह गाथा कही—

रम्मं च ते आवसथं करोन्तु
नारीगणेहि परिचारयस्सु,
करोहि ओकासं अनुग्गहाय
उभो पि इमं इस्सरियं करोम ॥१०॥

[तुम्हारे लिए सुन्दर भवन बनायें और नारी-गण तुम्हारी सेवा में रहें। मुझ पर कृपा करके मुझे आज्ञा दें। हम दोनों मिलकर यहाँ राज्य करें ॥१०॥]

उसकी यह बात सुन चित्त-पण्डित ने धर्मोपदेश देते हुए छः गाथायें कहीं—

दिस्वा फलं दुच्चरितस्स राज
अथो सुचिण्णस्स महाविपाकं
अत्तानमेव पटिसञ्ञमिस्सं
न पत्थये पुत्तं पसुं धनं वा ॥११॥
दसेव इमा वस्स दसा मच्चानं इध जीवितं,
अप्पत्तं एव तं ओधिं नलो छिन्नो व सुस्सति ॥१२॥
तत्थ का नन्दिका खिड्डा का रति का धनेसना,
किं मे पुत्तेहि दारेहि, राज मुत्तोस्मि बन्धना ॥१३॥
सोहं सुप्पजानामि, मच्चु मे नप्पमज्जति,
अन्तकेनाधिपन्नस्स का रति का धनेसना ॥१४॥
जाति नरानं अधमा जनिन्द
चण्डाल योनी दि पदा कनिट्ठा
सकेहि कम्मेहि सुपापकेहि
चण्डाल गब्भे अवसिम्ह पुब्बे ॥१५॥

चण्डालाहूम्ह अवन्तीसु मिगा ने रञ्जरं पति
उक्कुसा नम्मदा तीरे, त्यज्ज ब्राह्मण खत्तिया ॥१६॥

[हे राजन्! दुष्कर्मों का बुरा फल देखकर और शुभकर्मों का महान-विपाक देखकर मैं अपने आपको ही संयत रक्खूंगा—मुझे पुत्र, पशु तथा धन नहीं चाहिए ॥११॥]

प्राणियों का जीवन यहाँ दस दशाब्दों का ही है। बिना उस अवधी को पहुँचे ही प्राणी टूटे बांस के समान सूख जाता है ॥१२॥ ऐसी अवस्था से क्या आनन्द, क्या क्रीड़ा, क्या मजा, क्या धन की खोज! मुझे पुत्र तथा दान से क्या प्रयोजन? राजन! मैं बन्धन से मुक्त हूँ ॥१३॥ यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मृत्यु मुझे नहीं भूलेगी। जब मृत्यु सिर पर हो तो क्या मजा और क्या धन की खोज ॥१४॥ हे राजन्! चण्डाल योनि आदमियों में निकृष्ट और अधम जाति है। हम अपने पाप कर्मों के ही कारण पहले चण्डाल-योनि में उत्पन्न हुए ॥१५॥ अवन्ती में चण्डाल हुए, नेरञ्जरा के तट पर मृग, नर्मदा के तट पर (?) बाज़ और आज वही ब्राह्मण क्षत्रिय ॥१६॥]

इस प्रकार पूर्व समय की विकृष्ट योनियों का प्रकाशन कर अब इस जन्म के भी आयु-सस्कारों के सीमित होने की बात कह पुण्य की प्रेरणा करते हुए चार गाथायें कहीं—

उपनीयतो जीवितं अप्पमायु
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा,
करोहि पञ्चाल मम एत वाक्यं,
मा कासि कम्मानि दुक्खुद्रयानि ॥१७॥
उपनीयती जीवितं अप्पमायु
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा,
करोहि पञ्चाल मम एत वाक्यं,
मा कासि कम्मानि दुक्खप्फलानि ॥१८॥
उपनीयती जीवितं अप्पमायु
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा,

करोहि पञ्चाल मम एत वाक्यं,
मा कासि कम्मानि रजस्सिरानि॥१९॥
उपनीयती जीवितं अप्पमायु
वण्णं जरा हन्ति नरस्स जीवतो
करोहि पञ्चाल मम एत वाक्यं,
मा कासि कम्मं निरयूप पत्तिया॥२०॥

[अल्पायु प्राणी को (मृत्यु के पास) ले जाती है। जरा-प्राप्त के लिए रक्षा का कोई उपाय नहीं है। हे पाञ्चाल। मेरा यह कहना कर—ऐसे कर्म जिनसे दुःख उत्पन्न हो मत कर॥१७॥....ऐसे कर्म जिनका फल दुःख हो मत कर॥१८॥....ऐसे कर्म जो चित्त-मैल रूपी धूल से ढके हों मत कर॥१९॥ अल्पायु प्राणी को (मृत्यु के पास) ले जाती है। जरा प्राणी के वर्ण का नाश कर देती है। हे पाञ्चाल! मेरा यह कहना कर—ऐसे कर्म मत कर जो नरक में उत्पत्ति का कारण हों॥२०॥]

बोधिसत्व के ऐसा कहते रहने पर राजा ने प्रसन्न हो तीन गाथायें कहीं—

अद्धा हि सच्चं वचनं तव एतं,
यथा इसी भाससि एव एतं,
कामा च मे सन्ति अनप्परूपा
ते दुच्चजा मा विसकेन भिक्खु॥२१॥

[हे ऋषो! जिस तरह से तू कहता है उसी तरह से तेरा यह कहना निश्चयात्मक रूप से सत्य है किन्तु हे भिक्षु! मेरे पास बहुत काम-भोग (के-साधन) हैं और उन्हें मेरे जैसा नहीं छोड़ सकता॥२१॥]

नागो यथा पंकमज्झे ब्यसन्नो
पस्सं थलं नाभिसम्भोति गन्तुं
एव पहं कामपंके ब्यसन्नो
न भिक्खुनो मग्गं अनुब्बजामि॥२२॥

[जिस तरह से दलदल में फंसा हुआ हाथी स्थल दिखाई देने पर भी वहाँ नहीं जा सकता, उसी प्रकार मैं भी काम-भोग के दलदल में फँसा हुआ भिक्षु के मार्ग को नहीं ग्रहण कर सकता॥२२॥]

यथा पि माता च पिता च पुत्तं
अनुसासरे किं ति सुखी भवेय्य
एवं पि मं त्वं अनुसास भन्ते
यं आचरं पेच्च सुखी भवेय्यं ॥२३॥

[जिस प्रकार माता-पिता पुत्र के सुख की कामना से उसका अनुशासन करते हैं, उसी प्रकार भन्ते! आप मुझे उपदेश दें जिससे मैं आगे सुखी होऊँ ॥२३॥]

तब उसे बोधिसत्व ने कहा—

न चे तुवं उस्सहसे जनिन्द
कामे इमे मानुसके पहातुं
धम्मं बलिं पट्ठपयस्सु राज
अधम्मकारो च ते माहु रट्ठे ॥२४॥
दूता विधावन्तु दिसा चतस्सो
निमन्तका समन ब्राह्मणानं,
ते अन्नपानेन उपट्ठहस्सु
वत्थेन सेनासन पच्चयेन च ॥२५॥
अन्नेन पानेन पसन्न चित्तो
सन्तप्पय समण ब्राह्मणे च,
दत्वा च भुत्वा च यथानुभावं
अनन्दियो सग्गं उपेति ठानं ॥२६॥
सचे च तं राज मदो सहेय्य
नारी गणेहि परिचारयंतं
कूमं एव गाथं मनसी करोहि
मासेहि चेनं परिसाय मज्झे,
अब्भोकास सयो जन्तु वजन्त्या रवीरपायितो
परिकिण्णो सुपानेहि स्वज्ज राजाति वुच्चति ॥२८॥

[हे राजन्! यदि तू इन मानवी काम-भोगों को छोड़ने का साहस नहीं कर सकता तो यह कर कि धार्मिक-कर लिया जाय और तेरे राष्ट्र से अधार्मिक-काम न हो ॥२४॥ तेरे दूत चारों दिशाओं में जाकर श्रमण-

ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर लायें। तू अन्न-पान, वस्त्र, शयनासन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं से उनकी सेवा कर॥२५॥ प्रसन्नतापूर्वक श्रमण-ब्राह्मणों को अन्न-पान से सन्तुष्ट कर। यथासामर्थ्य दान देने और खाने वाला निन्दा-रहित हो स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है॥२६॥ हे राजन्! यदि नारी-गण से घिरे होने पर तुझ पर राज मद सवार हो जाय तो इस गाथा को मन में करना और परिषद के सामने बोलना॥२७॥ खुले आकाश के नीचे सोने वाला प्राणी, चलती फिरती माता द्वारा दूध पिलाया गया (प्राणी), कुत्तों से घिरा हुआ (प्राणी) आज राजा कहलाता है॥२८॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उसे उपदेश देकर 'मैंने तुझे उपदेश दे दिया। अब तू चाहे प्रव्रजित हो चाहे न हो। मैं स्वयं अपने कर्म के फल को भोगूंगा' कहा और आकाश में उठकर उसके सिर पर धूलि गिराते हुए हिमालय को ही चले गये। राजा ने भी यह देखा तो उसके मन में वैराग्य पैदा हुआ। उसने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपा और सेना को सूचित कर हिमालय की ही ओर चला गया। बोधिसत्व को उसका आना ज्ञात हुआ तो ऋषी-मण्डली के साथ आ वह उसे लेकर गये और प्रव्रजित कर योग-विधि सिखाई उसने ध्यान लाभ किया इस प्रकार वे दोनों ब्रह्म लोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना 'इस प्रकार भिक्षुओं, पुराने पण्डित तीन चार जन्मों तक भी परस्पर दृढ़ विश्वासी रहे' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सम्भूत पण्डित आनन्द था। चित्त पण्डित तो मैं ही था।

४९९. सिवि जातक

"दुरे अयस्सं थेरो..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय असदश दान के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह (कथा) आठवें परिच्छेद के सोवीर जातक में आई ही है।[1] उस समय राजा ने सातवें दिन सब परिष्कार दे दानानुमोदन की प्रार्थना की। शास्ता बिना दानानुमोदन किए ही चले गये। राजा ने प्रातःकाल का भोजन कर विहार जाकर पूछा—भन्ते! अनुमोदन क्यों नहीं किया? शास्ता ने "महाराज, परिषद अशुद्ध है" कह "न वे कदरिया देवलोक वजन्ति"[2] गाथा से धर्मोपदेश दिया। राजा ने प्रसन्न हो सहस्र मूल्य के शिवदेश के बने हुए उत्तरा संघ से तथागत की पूजा की और तब नगर में प्रवेश किया।

अगले दिन धर्मसभा में बातचीत चली—आयुष्मानो! कोशल राजा ने असदश दान दिया। किन्तु, वह वैसे दान से भी असन्तुष्ट ही रहा। दस बल (धारी) के धर्मोपदेश करने पर उसने फिर लाखता के मूल्य का, शिवि के देश का बना हुआ वस्त्र दिया। अयुष्मानो! राजा का दान से संतोष नहीं ही होता। शास्ता ने आकर पूछा—"भिक्षुओ! बैठे क्या बात चीत कर रहे हो? "अमुक बात चीत" कहने पर "भिक्षुओ, बाहरी वस्तु का दान देना आसान है। पुराने पण्डितों ने सारे जम्बुद्वीप को हिला देते हुए प्रति छः सात हजार का त्याग कर दान दिया। किन्तु बाहरी वस्तु के दान से असन्तुष्ट हो और यह समझ कि "प्रिय का दाता

---

१. सोवीर जातक (४२४)।

२. कंजूस लोग देव लोक नहीं जाते हैं।

प्रिय वस्तु को प्राप्त होता है' उन्होंने आगत याचकों की आँखें निकाल कर दे दीं" वह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में शिवि राष्ट्र के अरिट्ठपुर नगर में शिवि महाराजा राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ। शिविकुमार नाम रखा गया। वह बड़ा होने पर तक्षशिला गया। शिल्प सीख कर पिता को शिल्प दिखा उपराजा बना। फिर पिता के मरने पर राजा से, (चार) आगतियों से बच दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा धर्मानुसार राज्य करने लगा। उसने चारों द्वारों पर, नगर के बीच तथा राजभवन के द्वार पर छः दान शालाएँ बनवाई, जिन में वह प्रतिदिन छः सात हजार खर्च करके दान दिलवाता था। आठवीं, चतुर्दशी और पूर्णिमा के दिन नित्य दानशाला से जाकर दान का निरीक्षण करता था। वह एक बार पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल श्वेत-छत्र के नीचे राजसिंहासन पर बैठा था। उस समय उसने अपने दान पर विचार करते हुए जब कोई भी ऐसी बाहरी वस्तु नहीं देखी जो उसने दान न की हो तो वह सोचने लगा—"कोई ऐसी बाहरी वस्तु नहीं है जो मैंने न दी हो किन्तु बाहरी दान से मेरा सन्तोष नहीं होता। मैं निजी दान देना चाहता हूँ। क्या अच्छा हो यदि आज जब मैं दानशाला में जाऊँ तो कोई याचक मुझसे बाहरी वस्तु न माँगकर निजी ग्रहण करे। यदि कोई मुझसे हृदय-मांस ग्रहण करना चाहेगा। तो मैं छुरी से छाती चीर, स्वच्छ जल में से नाल सहित कमल उखाड़ने की तरह रक्त-बिन्दु चूआता हुआ हृदय-माँस निकाल कर दे दूंगा। यदि शरीर माँस ग्रहण करना चाहेगा तो अक्षर खोदने की रूखानी से छीलते हुए की तरह शरीर माँस उतार कर दे दूंगा। यदि कोई मेरा रक्त लेना चाहेगा तो मुंह के अन्दर डाल कर निकाले हुए बरतन की तरह (उसे) रक्त से भर दूंगा। यदि कोई चाहेगा कि मेरे घर का काम नहीं चलता, मेरे घर चलकर दास बन कर रहे तो राज भेष छोड़ बाहर खड़ा हो अपनी सूचना दे दास कर्म करूँगा। यदि कोई मेरी आँखें माँगेगा तो ताड़ का गुद्दा निकालने की तरह आँखें निकालकर दे दूंगा।" इस प्रकार उसने—

यं किञ्चि मानुसं दानं अदिन्नं मे न विज्जति।
यो पि याचेय्य मं चक्खुं ददेय्यं अविकम्पितो॥

[कोई ऐसा मानुषी दान नहीं है जो मैं न दे सकूं। यदि कोई मेरी आँख माँगेगा तो वह भी मैं बिना काँपे दे दूंगा।]

सोचा! तब सोलह घड़ों से स्नान कर, सब अलङ्कारों से सज कर, नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन खा, अलङ्कृत हाथी के कन्धे पर बैठ दानशाला में पहुँचा। शक्र ने उसका विचार जान सोचा—"शिवि राजा आज जो याचक आये उसे आँखें निकाल कर देने की बात सोचता है। वह दे सकेगा अथवा नहीं?" उसकी परीक्षा लेने के लिए शक्र ने बूढ़े अन्धे-ब्राह्मण की शकल बनाई और जिस समय राजा दानशाला में पहुँचा उसने एक ऊँची जगह पर खड़े हो हाथ उठा कर राजा की जय बुलाई। राजा ने उसकी ओर हाथी बढ़ा कर पूछा—"ब्राह्मण! क्या कहता है?" शक्र बोला—"महाराज। तुम्हारे दान-संकल्प का जो कीर्ति-घोष हुआ है उसने सारे लोकों वासियों को स्पर्श किया है। मैं अन्धा हूँ। तुम्हारे पास दो आँखें हैं।"

इस प्रकार उसने आँख की याचना करते हुए दो गाथायें कहीं—

दूरे अपस्सं थेरो व चक्खुं याचितुं आगतो।
एक नेत्ता भविस्साम, चक्खुं मे देहि याचितो॥१॥

[दूर रहने वाला बूढ़ा आँख माँगने के लिए आया हूँ। मैं माँग रहा हूँ। मुझे आँख दें। दोनों एक एक आँख वाले हो जायेंगे॥१॥]

यह सुन बोधिसत्व ने 'अभी मैं प्रासाद पर बैठा बैठा सोच कर आया। मेरा कितना बड़ा लाभ है! आज मेरा मनोरथ पूरा होगा। जैसा पहले कभी नहीं दिया, ऐसा दान दूंगा।' सोच, प्रसन्न हो दूसरी गाथा कही—

केनानुसिट्ठो इध मागतो सि,
वनिब्बक चक्खु पथानि याचितुं
सुदुच्चजं याचसि उत्तमङ्गं,
यं आहु नेत्तं पुरिसेन दुच्चजं॥२॥

[हे याचक! तू किसके कहने से यहाँ आँखें माँगने आया है?

तु कठिनाई से देने योग्य उत्तमङ्ग माँग रहा है, जिस नेत्र को सब कठिनाई से देने योग्य कहते हैं ॥२॥]

यं आहु देवेसु सुजम्पतीति
मघवा ति नं आहु मनुस्स लोके,
तेनानूसिट्ठो इध-मागतोस्मि
वनिब्बको चक्खु पथानि याचितुं ॥३॥
वनिब्बको मय्ह वणिं अनुत्तरं,
ददाहि मे चक्खु पथानि याचितो,
ददाहि मे चक्खु पथं अनुत्तरं
यं आहु नेत्तं पुरिसेन दुच्चयं ॥४॥

[जिसे देव-लोक में सुजम्पति कहते हैं और मनुष्य-लोक में 'मघवा' कहते हैं, मैं याचक उसके कहने से आखें माँगने आया हूँ ॥२॥ मैं याचक हूँ। मुझे आँखें माँगने पर, सर्वश्रेष्ठ दान दे। मुझे सर्वश्रेष्ट आँखें दे जिन आखों के दान को लोग कठिनाई से दे सकने योग्य दान कहते हैं ॥४॥]

येन अत्थेन आगञ्छि यं अत्थं अभिपत्थयं
ते ते इज्झन्तु सङ्कप्पाः लभ चक्खूनि ब्राह्मग ॥५॥
एकं ते याचमानस्स उभयानि ददामहं,
स चक्खुमागच्छ जनस्स पेक्खतो,
यदिच्छसे त्वं त्तं ते समिज्झतु ॥६॥

[जिस बात के लिए आया है, जिस बात की इच्छा करता है; तेरे वे संकल्प पूरे हों। हे ब्राह्मण आँखें प्राप्त कर ॥५॥ तू एक आँख माँगता है, मैं तुझे दोनों देता हूँ। तू लोगों की नजर के सामने आँख वाला होकर जा। जो तू चाहता है, वह तेरी इच्छा पूर्ण हो ॥६॥]

राजा ने इतना कह चुकने पर सोचा---"यहीं मेरा आँख निकाल कर देना ठीक न होगा।" वह ब्राह्मण को लेकर अन्दर रनिवास में गया और राजासन पर बैठ सीवक नामक वैद्य को बुलवा कर कहा—"मेरी आँखें निकाल।" सारे नगर में हल्ला हो गया कि हमारा राजा आँखें निकाल ब्राह्मण को देना चाहता है। तब सेनापति आदि रानियों, नागरिकों, तथा

अन्तःपुर के लोगों सभी ने इकट्ठे हो राजा को रोकते हुए तीन गाथायें कही—

मा नो देव अदा चक्खुं, मा नो सब्बे पराकरि,
धनं देहि महाराज मुत्ता वेळुरिया बहू ॥७॥
युत्ते देव रथे देहि आजानीये चलङ्कते,
नागे देहि महाराज हेमकप्पनवाससे ॥८॥
यथा तं सिवयो सब्बे सयोग्गा सरथा सदा
समन्ता परिकरव्युं एवं देहि रथेसभ ॥९॥

[हे देव! आँखें न दें। हम सब को न छोड़ें। महाराज! बहुत से मोती, वेळुरिय—धन—दें ॥७॥ हे देव! जुते हुए रथ दें। सजे हुए आजानीय घोड़े दें। महाराज! स्वर्ग-वस्त्रों से सजे हाथी दें ॥८॥ जिस प्रकार हम सब शिवि के लोग तुम्हें अपनी गाड़ियों और रथों के साथ चारों ओर से घेरे रहें—हे राजन्! ऐसा दान दें ॥९॥]

तब राजा ने तीन गाथायें कहीं—

यो वे दस्सं ति वत्वान अदाने कुरुते मनो
भुम्या सो पतितं पासं गीवाय पटिमुञ्चति ॥१०॥
यो वे दस्सं ति वत्वान अ.ाने कुरुते मनो
पापा पापतरो होति सम्पत्तो यम सादनं ॥११॥
यं हि याचे तं हि ददे, ं न याचे न तं ददे,
स्वाहं तं एव दस्सामि यं मं याचति ब्राह्मणो ॥१२॥

[जो "दूंगा" कह कर न देने की इच्छा करता है, वह पृथ्वी पर पड़े हुए बन्धन को अपनी गर्दन में डालता है ॥१०॥ जो दूंगा "कहकर न देने की इच्छा करता है, वह पापी से भी पापीतर होता है और यम के पास पहुँचता है ॥११॥ जो माँगे वही दे, जो न माँगे वह न दे। इसलिए मैं वही दूंगा जो मुझे ब्राह्मण माँगता है ॥१२॥]

तब अमात्यों ने उससे यह पूछते हुए कि किस चीज़ की प्रार्थना करते हुए आँखों का दान कर रहे हो, गाथा कही—

आयुं नु वण्णं नु सुखं बलं नु
किं पत्थयानो नु जनिन्द देसि,

कथं हि राजा सिविनं अनुत्तरो
चक्खूनि दज्जा परलोक हेतु॥१३॥

[हे राजन्! तुम आयु, वर्ण, सुख तथा बल में से किस चीज की प्रार्थना करते हुए आँखों का दान कर रहे हो? शिवियों का श्रेष्ठ राजा परलोक के लिए आँखें कैसे दे देगा? ॥१३॥]

उन्हें राजा ने गाथा कही—

न वाहं एतं यससा ददामि,
न पुत्तं इच्छे न धनं न रट्ठं,
सतञ्च धम्मो चरितो पुराणो,
इच्चेव दाने रमते मनो ममं॥१४॥

[न मैं ऐश्वर्य्य के लिए देता हूँ और न मैं पुत्र, धन तथा राष्ट्र की इच्छा करता हूँ। यह सत्पुरुषों का धर्म है। यह पुराना चरित्र है। इसीलिए दान देने में मुझे आनन्द आता है॥१४॥

सम्यक् सम्बुद्ध ने भी सेनापति सारिपुत्र को चरिया-पिटक का उपदेश देते हुए 'मुझे दोनों आँखों से भी सर्वज्ञता-ज्ञान प्रियतर है' प्रकट करने के लिए गाथा कही है—

न मे देस्सा उभो चक्खू, अत्तानं मे न देस्सियं,
सब्बञ्जुतं पियं मय्हं, तस्मा चक्खुं अदासहं॥

[न मुझे दोनों चक्षुओं से द्वेष है, न मुझे अपना आप ही अप्रिय है, मुझे सर्वज्ञता प्रिय है—इसलिए मैंने आँखें दीं।]

बोधिसत्व की बात सुन कर जब अमात्य अप्रतिभ हो गये तो बोधिसत्व ने सीवक वैद्य को गाथा कही—

सखा च मित्तो च ममासि सीवक
सुसिक्खितो, साधु करोहि मे वचो,
लद्ध त्वं चक्खूनि ममं जिगिंसतो
हत्थेसु ठपेहि वनिब्बकस्स॥१५॥

[हे सीवक! तू मेरा सखा है, मित्र है, सुशिक्षित है। अच्छा तू मेरा कहना कर। मेरी इच्छा के अनुसार तू मेरी आँखें निकाल कर याचक के हाथ में रख॥१५॥]

तब उसे सेवक ने कहा—"देव! चक्षुदान बड़ी भारी बात है। सोच लें।"

"मैंने सोच लिया है। तू देर मत कर। मेरे साथ बहुत बात मत कर।"

उसने सोचा—मेरे जैसे सुशिक्षित वैद्य के लिए यह अनुचित है कि राजा की आँखों में शस्त्र डालूं। उसने नाना प्रकार की दवाइयाँ पीस भैषज्य-चूर्ण को नीले कमल में भर दक्षिण आँख में फूंका। आँख पलट गई। वेदना आरम्भ हुई। "राजन्! सोच लो। आँख को ठीक करने की मेरी जिम्मेवारी है" "तात! चालू रखो देर मत करो" उसने भर कर फिर फूंका। आँख। आँख के खोल में से निकल गई। बड़ी वेदना हुई। "महाराज! विचार कर लें। मैं आँख को पूर्ववत् कर सकूंगा।" देर मत करें।" उसने तीसरी बार तीव्रतर (औषध) भर कर फूंका। औषध के जोर से आँख घूम कर आँख के खोल में से निकल नसरूपी सूत में लटकने लगी।" राजन्! सोच लें। फिर पूर्ववत् कर सकने की मेरी सामर्थ्य है।" "देर मत करें।" अत्यन्त वेदना हुई। खून बहने लगा। पहने हुए वस्त्र रक्त से भीग गये। रानियाँ तथा अमात्य राजा के चरणों में गिर रोने पीटने लगे—"देव! आँखें मत दें।" राजा ने वेदना को सहन कर लिया और बोला—"तात! देर मत करें।" उसने "देव! अच्छा" कहा और बायें हाथ से आँख पकड़ी तथा दाहिने हाथ में शस्त्र ले, आँख के सूत्र को काट, आँख (ले) बोधिसत्व के हाथ में रख दी। उसने बाईं आँख से दाहिनी आँख को देख, वेदना को सहन करके, ब्राह्मण को बुलवाया—'ब्राह्मण, आ। मुझे इस आँख से सौ गुना, हजार गुना सर्वज्ञतारूपी आँख ही प्रिय है। इस आँख का देना सर्वज्ञता-रूपी आँख प्राप्त करने का कारण हो।" वह आँख ब्राह्मण को दी। उसने वह आंख उठा कर अपनी आंख से लगाई। उसके प्रताप से वह आंख खिले नीले कमल की तरह हो गई। बोधिसत्व ने बाईं आंख से उसकी वह आँख देख सोचा—"ओह! मेरा अक्षि-दान सुदान हुआ।" उसने आंतरिक प्रीति से निरन्तर स्पष्ट होने के कारण दूसरी आंख भी दे दी। शक्र ने वह आंख भी अपनी आंख से लगाई और राजभवन से निकल, जनता की आंखों के सामने ही नगर से निकल देवलोक गया

तुम्हें आँख प्राप्त होगी।" "तो मेरा दान सुफल हुआ" कह सत्य क्रिया करते हुए उसने यह गाथा कही—

ये यं याचितुं आयन्ति नानागोत्ता बनिब्बका
यो पि मं याचते तत्थ सो पि मे मनसो पियो,
एतेन सच्चवज्जेय चक्खु मे उपपज्जय ॥२३॥

[नाना गोत्रों के जो भी याचक मुझ से मांगने आते हैं और जो भी याचक मुझसे मांगते हैं, वे सब मुझे मन से प्रिय हैं—मेरे इस सत्य कथन (के प्रताप) से मेरी आँख ठीक हो जाय ॥२३॥]

उसके कहने के साथ ही पहली आँख ठीक हो गई। तब दूसरी आँख की उत्पत्ति के लिए दो गाथायें कही—

यं मं सो यचिंतु अगा देहि चक्खुं ति ब्राह्मणो
तस्स चक्खूनि पादासिं ब्राह्मणस्स बीनब्बिनो ॥२४॥
भिय्यो मं अविसि पीति सोमनस्सञ्च अनप्पकं,
ए तेत सच्चवज्जेन दुतियं मे उपपज्जत्थ ॥२५॥

[जो वह ब्राह्मण-याचक मुझसे आँख मांगने आया कि आँख दे, मैंने उसे आँखें दी ॥२४॥ तब मेरे मन में बहुत प्रीत और असीम सौमनस्य का भाव उदय हुआ। इस सत्य (के प्रताप) से मेरी दूसरी आँख उग आये ॥२५॥

उसी क्षण दूसरी आँख भी उत्पन्न हो गई। उसकी वे आंखें न स्वाभाविक थी और न दिव्य। शक्र ब्राह्मण को दी गई आँख फिर पूर्व-अवस्था में नहीं लाई जा सकती। उपहत वस्तु होने पर दिव्य चक्षु उत्पन्न नहीं होती। उसकी वे आँखें सत्य पारमिता चक्षू कही गई हैं। उनकी उत्पत्ति के समय ही शक्र के प्रताप से सारी राज्य परिषद् इकट्ठी हो गई थी। शक्र ने जनता के सामने उसकी प्रशंसा करते हुए दो गाथायें कहीं—

धम्मेन भासिता गाथा सिवीनं रठ्ठवद्धन,
एतानि तव नेत्तानि दिब्बानि पटिदिय्यरे ॥२६॥
तिरोकुड्डं तिरोसेलं समतग्गयह पब्बतं
समन्ता योजन सतं दस्सनं अनुभोन्तु ते ॥२७॥

[हे शिवि-नरेश! तुम्हारी कही हुई गाथायें धर्मानुसार हैं। ये तुझे दिव्य नेत्र दिये जा रहे हैं॥२६॥ दीवार के पार, शिला के पार तथा पर्वत को छेदकर भी चारों ओर सौ योजन तक तुम्हें दिखाई दे॥२७॥]

इस प्रकार उसने आकाश में खड़े हो जनता के बीच में ये गाथायें कह बोधिसत्व को "अप्रमादी रहना" उपदेश दिया और देवलोक चला गया। जनता से घिरे हुए बोधिसत्व ने भी बड़े ठाट-बाट के साथ नगर में प्रवेश किया और चन्दन प्रासाद पर जा चढ़े। सारे शिवि राष्ट्र में यह बात फैल गई कि उसे आँख प्राप्त हो गई। राष्ट्रवासी उसके दर्शन के लिए बहुत भेंट ले लेकर आए। बोधिसत्व ने सोचा कि यहाँ जो इतनी जनता इकट्ठी है, इसके बीच में मैं दान की महिमा कहूँगा। उसने राजद्वार पर बड़ा मण्डप बनवाया और श्वेत-छत्र के नीचे राज-सिंहासन पर बैठ नगर में मुनादी करवा सब श्रेणियों को इकट्ठा करवाया। उसने उन्हें "हे शिविराष्ट्र-वासियो! मेरी इन दिव्य आँखों को देखकर अब से बिना दिए मत खाओ" कह धर्मोपदेश देते हुए चार गाथायें कहीं—

को नीध वित्तं न ददेय्य याचितो
अपि विसिट्ठं सुपियं पि अत्तनो,
तद् इङ्घ सब्बे सिवयो समागता
दिब्बानि नेत्तानि मं अज्ज पस्सथ॥२८॥
तिरो कुड्डं तिरो सेलं समतिग्गय्ह पब्बतं
समन्ता योजन सतं दस्सनं अनुभोन्ति ये॥२९॥
न चागमत्ता परमत्थि किञ्चि
मच्चानं इध जीविते,
दत्वाम मानुसं चक्खुं
लद्धं मे चक्खुं अमानुसं॥३०॥
एतं पि दिस्वा सिवयो देथ दानानि भुञ्जथ,
दत्वा च भुत्वा च यथानुभाव
अनिन्दिता सग्गं उपेथ ठानं॥३१॥

[कौन सा ऐसा धन है जो माँगने पर भी न दिया जाय, चाहे अपना विशेष अथवा अत्यन्त प्रिय भी क्यों न हो? यहाँ आये हुए सभी

सिवि-निवासी आज मेरे दिव्य-नेत्र देखे ॥२८॥ मेरी ये आँखें दीवार के पार, शिला के पार, पर्वत को भी छेद कर चारों ओर सौ योजन तक देखती है ॥२९॥ जीवन में यहां आदमी के लिए त्याग से बढ़कर कुछ नहीं है। मानुषी आँख देकर आज मैंने दिव्य आँख प्राप्त की ॥३०॥ यह बात भी देख कर हे शिवि राष्ट्रवासियों! दान दो और खाओ पियो। यथासामर्थ्य देकर और खा पीकर अनिन्दित रहकर स्वर्ग-स्थान को प्राप्त होवो ॥३१॥

इन चारों गाथाओं से धर्मोपदेश दे उसके बाद प्रति अर्ध-मास, प्रति पन्द्रहवें दिन जनता को इकट्ठा कर नित्य इन्हीं गाथाओं से धर्मोपदेश दिया। यह सुन जनता दानादि पुण्य-कर्म कर देव-लोक को भरती हुई ही (परलोक) गई।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला "भिक्षुओ, इस प्रकार पुराने पण्डितों ने बाहरी दान से असन्तुष्ट रह आये हुए याचकों को अपनी आँखें निकाल कर दीं" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सीवक वैद्य आनन्द था। शक्र अनुरुद्ध। शेष परिषद बुद्ध-परिषद। सिवि-राजा तो मैं ही था।

---

५०० सिरिमन्द जातक

"पञ्ञायुपेतं सिरिया विहीनं...सिरिमन्द प्रश्नमहाउम्मग[1] जातक में आयेगा।

१. महाउम्मग जातक (५४६)।